प्रेरणा एवं शुभाशीष :

परमपूज्य - मुनिश्री १०८ क्षमासागर जी

परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ उदार सागर जी

परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ सम्यक्त्व सागर जी

समग्र - आचार्य श्री विद्यासागर जी

प्रकाशक - समग्र प्रकाशन, सागर (म प्र)

मुद्रक - शकुन प्रिन्टर्स, ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

समग्र
आचार्य श्री विद्यासागर

समग्र प्रकाशन परिवार

- बैनाडा परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- सुमेरमल पाड्या एवं पाड्या परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- पवन कुमार, अशोक कुमार, निर्मल कुमार, विनोद कुमार दोशी, इन्दौर एव बाकानेर (म.प्र.)
- सजय जैन पिताश्री स्व. खेमचद जैन (मेक्स) एव राजेन्द्रकुमार पिताश्री पूरनचद जैन, इन्दौर (म.प्र.)
- भवरलाल पाटई एवं पाटई परिवार, गुना (म.प्र.)
- सतोष कुमार जयकुमार जैन, सागर (म.प्र.)

प्राप्ति स्थान ·
संतोषकुमार जयकुमार जैन (बैंटरीवाला)
कटरा बाजार, सागर (म.प्र.)

अनुक्रम

प्रवचनामृत

गुरुवाणी

प्रवचन पारिजात

प्रवचन पंचामृत

प्रवचन प्रदीप

प्रवचन पर्व

पावन-प्रवचन

प्रवचन प्रमेय

प्रवचनिका

☐ समाचीन धर्म

आचार्य कुदकुद के रहते हुए भी आचार्य समन्तभद्र का महत्व एवं लोकोपकार किसी प्रकार कम नहीं है। हमारे लिए आचार्य कुदकुद पिता तुल्य है और आचार्य समन्तभद्र करुणामयी मा के समान है। वही समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि देशयामि समीचीन धर्मम कर्मनिवर्हणम्, ससार दुखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। अर्थात् मै समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा। यह समीचीन धर्म कैसा है? 'कर्मनिवर्हणम्' अर्थात् कर्मो का निर्मूलन करने वाला है और 'सत्त्वान्' प्राणियों को ससार के दुखो से उबारकर उत्तम सुख मे पहुँचाने वाला है।

आचार्य श्री ने यहाँ 'सत्त्वान्' कहा अकेला 'जैनान्' नहीं कहा। इससे सिद्ध होता है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष से सबधित नहीं है। धर्म निर्बन्ध है निस्सीम है, सूर्य के प्रकाश की तरह। सूर्य के प्रकाश को हम बधन युक्त कर लेते हैं दीवारें खींचकर, दरवाजे वनाकर, खिडकियाँ लगाकर। इसी तरह आज धर्म के चारों ओर भी सम्प्रदायो की दीवारे सीमाएँ खींच दी गयी है।

गगा नदी हिमालय से प्रारम्भ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल मे अगणित प्राणी किलोले करते है उसके जल से आचमन करते है उसमे स्नान करते है उसका जल पीकर जीवन रक्षा करते हैं अपने पेड पौधो को पानी देते है खेतों को हरियाली से सजा लेते है। इस प्रकार गगा नदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा सम्प्रदाय की नहीं है वह सभी की है। यदि कोई उसे अपना वतावे तो गगा का इसमे क्या दोष? ऐसे ही भगवान वृषभदेव अथवा भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति विशेष का आधिपत्य सभव नहीं है। यदि कोई आधिपत्य रखता है तो यह उसकी अज्ञानता है।

धर्म और धर्म को प्रतिपादित करने वाले महापुरुष सम्पूर्ण लोक की अक्षय निधि हैं। महावीर भगवान की सभा मे क्या केवल जैन ही बैठते थे? नहीं उनकी धर्मसभा मे देव, देवी, मनुष्य, स्त्रियाँ पशुपक्षी सभी को स्थान मिला हुआ था। अत धर्म किसी परिधि से बंधा हुआ नहीं है उसका क्षेत्र प्राणी मात्र तक विस्तृत है।

आचार्य महाराज अगले श्लोक में धर्म की परिभाषा का विवेचन करते हैं वे लिखते हैं कि सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्म, धर्मेश्वरा विदु:। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति.।। अर्थात् (धर्मेश्वरा) गणधर परमेष्ठी (सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि) समीचीन दृष्टि, ज्ञान और सद्आचरण के समष्टि रूप को (धर्म विदु:) धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (भवपद्धति· भवन्ति) संसार पद्धति को बढ़ाने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है। वही धर्म है। औषधि पर आस्था, औषधि का ज्ञान और औषधि को पीने से ही रोगमुक्ति संभव है। इतना अवश्य है कि जैनाचार्यों ने सद्दृष्टि पर सर्वाधिक बल दिया है। यदि दृष्टि में विकार है तो निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना असंभव ही है।

कार, चाहे कितनी अच्छी हो वह आज ही फैक्टरी से बनकर बाहर क्यों न आयी हो, किंतु यदि उसका चालक मदहोश है तो वह गंतव्य तक पहुँच नहीं पायेगा। वह कार को कहीं भी टकराकर चकनाचूर कर देगा। चालक का होश ठीक होना अनिवार्य है तभी मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग का पथिक जब तक होश में नहीं है जब तक उसकी मोह नींद का उपशमन नहीं हुआ तब तक लक्ष्य की सिद्धि अर्थात मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व का विकार, दृष्टि से निकलना चाहिये तभी दृष्टि समीचीन बनेगी, और तभी ज्ञान भी सुज्ञान बन पायेगा। फिर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र-मोहनीय के उपशम से आचरण भी परिवर्तित करना होगा तब मोक्षमार्ग की यात्रा निर्बाध पूरी होगी।

ज्ञान-रहित आचरण लाभप्रद न होकर हानिकारक ही सिद्ध होता है। रोगी की परिचय करने वाला यदि यह नहीं जानता कि रोगी को औषधि का सेवन कैसे कराया जाए तो रोगी का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। अत· समीचीन दृष्टि, समीचीन ज्ञान और समीचीन आचरण का समष्टि रूप ही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

□□

निर्मल दृष्टि

☐ **दर्शन विशुद्धि मात्र सम्यक् दर्शन नहीं है दृष्टि में निर्मलता होना दर्शन विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिंतन से।**

कार्य से कारण की महत्ता अधिक है क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। फूल न हो तो फल की प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ लोग ऐसे भगवान की कल्पना करते हैं जो उनकी सब इच्छाओ की पूर्ति करे। 'खुदा महरबान तो गधा पहलवान' ऐसा लोग कहते हैं। इसीलिए महावीर को बहुत से लोग भगवान मानने को तैयार नहीं। किन्तु सत्य/तथ्य ये है कि भगवान बनने के पहले तो शुभाशुभ कार्य किए जा सकते है, भगवान बनने के बाद नहीं।

भगवान महावीर जब पूर्व जीवन मे नदराज चक्रवर्ती थे, तब उनको एक विकल्प हुआ कि "मे सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करूँ" और इसी विकल्प के फलस्वरूप उन्हे तीर्थकर प्रकृति का वध हुआ। कल्याण करने के लिये भी बधन स्वीकार करना पडा। ये बधन चेष्टा पूर्वक किया जाता है तो इस बधन के पश्चात् मुक्ति होती है। यदि माँ केवल अपनी ही ओर देखे तो बच्चो का पालन सम्भव नहीं होगा।

'पर' के कल्याण मे भी 'स्व' कल्याण निहित हैं ये बात दूसरी है कि फिर दूसरे का कल्याण हो अथवा न भी हो। किसान की भावना यही रहती है कि "वृष्टि समय पर हुआ करे" और वृष्टि तो जब भी होगी सभी के खेतो पर होगी किन्तु जब किसान फसल काटता है तो अपनी ही काटता है, किसी दूसरे की नहीं। अर्थात् कल्याण सबका चाहता है किन्तु पूर्ति अपने ही स्वार्थ की करता है।

दर्शन-विशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है। दृष्टि मे निर्मलता का होना दर्शन-विशुद्धि है और दृष्टि मे निर्मलता आती है तत्व चिन्तन से।

हमारी दृष्टि बडी दोषपूर्ण है। हम देखते तो अनेक वस्तुएँ हैं किन्तु उन्हे हम साफ नहीं देख पाते। हमारी ऑखो पर किसी न किसी रग का चश्मा लगा हुआ है। प्रकाश का रग कैसा है,आप बतायें। क्या यह लाल है? क्या हरा या पीला है? नहीं प्रकाश का कोई वर्ण नहीं। वह तो वर्णातीत है, किन्तु विभिन्न रग वाले काच

के सम्पर्क से हम उस प्रकाश को लाल, पीला या हरा कहते है, इसी प्रकार हमारा स्वरूप क्या है? 'अवर्णोऽहं' मेरा कोई वर्ण नहीं, 'अरसोऽहं' मुझ मे कोई रस नहीं, 'अस्पर्शोऽहं' मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। किन्तु इस स्वय को आप पहिचान नहीं पाते। यही है हमारी दृष्टि का दोष।

हम पदार्थो मे इष्टअनिष्ट की धारणा बनाते है। कुछ पदार्थो को इष्ट मानते है, जिन्हे हम हितकारी समझते है। कुछ पदार्थो को अनिष्ट मानते है, अहितकारी समझते है। पर वास्तव मे कोई पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी हमारी दृष्टि का दोष है।

इसी प्रकार जैनाचार्यो ने बताया है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न। ऊपर का आवरण ये शरीर केवल एक छिलके के समान है यह उन्होने अनुभव द्वारा बताया है किन्तु हम अनुभव की बात भी नही मानते। हमारी स्थिति वच्चे जैसी है। दीपक जलता है तो बच्चे को यह समझाया जाता है कि इसे छूना नहीं। उसे दीपक से बचाने की भी चेष्टा की जाती है किन्तु फिर भी वह बच्चा उस दीपक पर हाथ धर ही देता है और जब एक बार जल जाता है तो फिर वह उस दीपक के पास अपना हाथ नहीं ले जाता। हमारी दृष्टि का परिमार्जन तभी समझा जायेगा, जब हम प्रत्येक वस्तु को उसके असली रूप मे देखे/समझे।

यह दर्शन विशुद्धि लाखो-करोड़ो मे से एक को होती है, किन्तु होगी ये विशुद्धि केवल मन्दकषाय मे ही। शास्त्रीय भाषा मे दर्शन-विशुद्धि चौथे गुणस्थान मे आठवे गुणस्थान के प्रथम भाग तक हो सकती है। सद्गृहस्थ की अवस्था से लेकर उत्कृष्ट मुनि की अवस्था तक यह विशुद्धि होती है। श्रेणी मे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु होगा मद कषाय के सद्भाव मे। दूसरे के कल्याण की भावना का विकल्प जब होगा, तब बध होगा। तीर्थकर प्रकृति एक निकाचित बध है जो मोक्ष ही ले जायेगा।

कल शास्त्रीजी मेरे पास आये थे। साथ मे गोम्मटसार की कुछ प्रतियाँ लाये थे। उसमे एक बात बडे मार्के की देखने को मिली। तीर्थकर प्रकृति का उदय चौदहवे गुणस्थान मे भी रहता है। जब जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है तब यह तीर्थकर प्रकृति अपनी विजयपताका फहराते हुए चलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायो से ही कर्मबन्ध होता है और कषायो से ही कर्मो का निर्मूलन होता है। जैसे पानी से ही कीचड़ बनता है पानी में ही घुलकर यह गगा के जल का भाग बन जाता है। जिसे लोग सिर पर चढ़ाते है और उसका आचमन करते है। 'कॉटा ही कॉटे को निकालता है, यह सभी जानते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना और दर्शन मे एक मौलिक अन्तर है। दर्शन विशुद्धि मे केवल तत्वचिन्तन ही होता है, विपयो का चिन्तन नहीं चलता, किन्तु दर्शन मे विषय चिन्तन भी सम्भव है।

दर्शन-विशुद्धि भावना चार स्थितियो मे भायी जा सकती है। प्रथम मरण के समय, द्वितीय भगवान के सम्मुख, तृनीय अप्रमत्त अवस्था मे और चौथे कषाय के मन्दोदय में।

तीर्थकर प्रकृति पुण्य का फल है "पुण्यफला अरहता।", किन्तु इसके लिये पुण्य कार्य पहले होना चाहिए। प्रवृत्ति ही निवृत्ति की साधिका है। राग से ही वीतरागता की ओर प्रयाण होता है। एक सज्जन न मुझ से कहा– महाराज, आप एक लगोटी लगा ले तो अच्छा हो, क्योंकि आपके रूप को देखकर राग की उत्पत्ति होती है।" मैंने कहा– "भैया, तुम जो चमकीले-भडकीले कपडे पहिनते हो, उससे राग बढता है अथवा यथाजात अवस्था से। नग्न दिगम्बर रूप तो परम वीतरागता का साधक है। विशुद्धि मे आवरण कैसा? विशुद्धि मे तो किसी भी प्रकार का बाहरी आवरण बाधक है साधक तो वह किसी अवस्था मे हो नहीं सकता। अन्तरग का दर्शन तो यथाजात रूप द्वारा ही हो सकना है, फिर भी यदि इस रूप को देख कर किसी को राग का प्रादुर्भाव हो, तो मै क्या कर सकता हूँ। देखने वाला भले ही मेरे रूप को न देखना चाहे तो अपनी ऑखो पर पट्टी बॉध ले। पानी किसी को कीचड थोडे ही बनाना चाहता है। जिसकी इच्छा कीचड बनने की हुई उसकी सहायता अवश्य कर देता है। पानी एक ही है। जव वह मिट्टी मे गिरता है तो उसे कीचड बना देता है। जब वह बालू मे गिरता है तो उसे सुन्दर कणदार रेत मे परिवर्तित कर देता है। वही पानी जब पत्थर पर गिरता है तो उसके रूपरग को निखार देता है। पानी एक ही है, किन्तु जो जैसा बनना चाहता है उसकी वैसी ही सहायता कर देता है। इसी प्रकार नग्न रूप वीतरागता को पुष्ट करता है किन्तु यदि कोई उससे राग का पाठ ग्रहण करना चाहे, तो ग्रहण करे, इसमें उस नग्न रूप का क्या दोष? ये तो दृष्टि का खेल है।

□□

विनयावनति

☐ **विनय जब अंतरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में प्रदर्शित होती है।**

विनय का महत्त्व अनुपम है। यह वह सोपान है जिस पर आरूढ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है और ऋजुता का प्रतीक है। यह विनय तत्त्व-मथन से ही उपलब्ध हो सकता है। विनय का अर्थ है सम्मान, आदर, पूजा आदि। विनय से हम आदर और पूजा तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सभी विरोधियो पर विजय भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रोधी, कामी, मायावी, लोभी सभी विनय द्वारा वश मे किये जा सकते है। विनयी दूसरो को भलीभाँति समझ पाता है और उसकी चाह यही रहती है कि दूसरा भी अपना विकास करे। अविनय मे शक्ति का विखराव है विनय मे शक्ति का केन्द्रीकरण है। कोई आलोचना भी करे तो हम उसकी चिन्ता न करे। विनयी आदमी वही है जो गाली देने वाले के प्रति भी विनय का व्यवहार करता है।

एक जगल मे दो पेड़ खड़े है— एक वड़ का और दूसरा वेत का। वड का पेड़ घमण्ड में चूर है। वह वेत के पेड से कहता है— "तुम्हारे जीवन से क्या लाभ है? तुम किसी को छाया तक नहीं दे सकते और फल तथा फूल का तो तुम पर नाम ही नहीं। मुझे देखो, मै कितनों को छाया देता हूँ यदि मुझे कोई काट भी ले तो मेरी लकडी से वैठने के लिए सुन्दर आसनो का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से तो दूसरो को पीटा ही जा सकता है।'' सव कुछ सुनकर भी वेत का पेड मौन रहा। थोडी देर में मोसम ऐसा हो जाता है कि तूफान और वर्षा दोनो साथ-साथ प्रारम्भ हो जाते है। कुछ ही क्षणो मे वेत का पेड़ साष्टाग दण्डवत् करने लगता है, झुक जाता है। किन्तु वड का पेड़ ज्यो का त्यों खडा रहा। देखते-देखते ही पॉच मिनट मे तूफान ने उसे उखाड फेका। वेत का पेड़ जो झुक गया था, तूफान के निकल जाने पर फिर ज्यो का त्यों खड़ा हो गया। विनय की जीत हुई अविनय हार गया। जो अकडता है, गर्व करता है उसकी दशा विगडती ही है।

हमे शब्दों की विनय भी सीखना चाहिये। शब्दों की अविनय से कभी-कभी वडी

हानि हो जाती है। एक भारतीय सज्जन एक बार अमेरिका गये। वहाँ उन्हे एक सभा मे बोलना था। लोग उन्हे देखकर हँसने लगे और जब वे बोलने के लिये खडे हुये तो हँसी ओर अधिक बढ़ने लगी। उन भारतीय सज्जन को थोड़ा क्रोध आ गया, मच पर जाते ही उनका पहला वाक्य था 'पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते है।'' अव क्या था। सारी सभा मे हलचल मच गई और सभा अनुशासन से बाहर हो गई। पर तत्काल ही उन भारतीय सज्जन ने थोड़ा विचार कर कहना शुरू किया– "क्षमा करे, पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख नहीं होते।'' इन शब्दों को सुनकर सभा मे फिर शान्ति हो गई और सव लोग यथास्थान बैठ गये। देखो, अर्थ मे कोई अन्तर नहीं था, केवल शब्द-विनय द्वारा वह भारतीय सबको शान्त करने मे सफल हो गया।

विनय जब अन्तरग मे प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है आँखों मे से फूटती है, शब्दो मे उद्भूत होती है और व्यवहार मे भी प्रदर्शित होती है। विनय गुण समन्वित व्यक्ति की केवल यही भावना होती है कि सभी मे यह गुण उद्भूत हो जाय। सभी विकास की चरम सीमा प्राप्त कर ले।

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया, "महाराज, आप अपने पास आने वाले व्यक्ति से बैठने को भी नहीं पूछते। बुरा लगता है। आप मे इतनी भी विनय नहीं, महाराज।'' मैने उनकी बात बडे ध्यान से सुनी और कहा। "भैया, एक साधु की विनय और आपकी विनय एक-सी कैसे हो सकती है? आपको मैं कैसे कहूँ "आइये बैठिये।'' क्या यह स्थान मेरा है? और मान लो कोई केवल दर्शन मात्र क लिए आया हो तो? इसी तरह मै किसी से जाने की भी कैसे कह सकता हूँ? मै आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ? कोई मान लो रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो तो मैं उन वाहनो की अनुमोदना कैसे करूँ जिनका मै वर्षो पूर्व त्याग कर चुका हूँ। और मान लो कोई केवल परीक्षा करना चाहता हो तो, उसकी विजय हो गयी और मै पराजित हो जाऊँगा। आचार्यो का उपदेश मुनियो के लिए केवल इतना ही है कि वे हाथ से कल्याण का सकेत करे और मुख का प्रसाद विखेर दे। इससे ज्यादा उन्हे कुछ और नहीं करना है।

"मैत्री, प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु।'' यह सूत्र है। तब मुनि आपके प्रति कैसे अविनय की भावना रख सकता है। उसे तो कोई गाली भी दे तो भी वह सबके प्रति मैत्री-भाव ही रखता है। जगल में दगल नहीं करता, मगल मे अमगल नहीं करता। वह तो सभी के प्रति मगल-भावना से ओतप्रोत है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये
तार्कूं सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।

साधु की मुद्रा तो ऐसी वीतरागतामय होती है जो दूसरो को आत्मानुभव का

प्रबल साधक वन जाती है।

फिर एक बात और भी है। अगर किसी को विठाना दूसरो को अनुचित मालूम पडे अथवा स्थान इतना भर जाय कि फिर कोई जगह ही अवशेप न रहे तो ऐसे मे मुनि महाराज वहाँ से उठना पसन्द करेगे अथवा उपसर्ग समझ कर वैठे रहेगे तो भी उनकी मुद्रा ऐसी होगी देखन वाला भी उनकी साधना और तपस्या को समझ कर शिक्षा ले सके। विच्छू के पास एक डक होता है। जो व्यक्ति उसे पकड़ने का प्रयास करता है, वह उसको डक मार ही देता है। एक वार ऐसा हुआ। एक मनुष्य जा रहा था, उसने देखा, कीचड़ मे एक विच्छु फँसा हुआ है। उसने उसे हाथ से जैसे ही वाहर निकालना चाहा, विच्छू ने डक मारने रूप प्रसाद ही दिया, और कई वार उसे निकालने की कोशिश मे वह डक मारता रहा, तव लोगो ने उससे कहा– "वावले हो गये हो। ऐसा क्यो किया तुमने?" "अरे भाई विच्छु ने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया, इसमें मेरा वावलापन क्या?" उस आदमी ने ये उत्तर दिया। इसी प्रकार मुनिराज भी अपना काम करते हैं। वे तो मगल की कामना करते है और *गाली देने वाले उन्हे गाली देने का काम करते है।* तव तुम कैसे कह सकते हो कि साधु किसी के प्रति अविनय का भाव रख सकता है।

शास्त्रो मे अभावो की वात आई है। जिसमे प्राग्भाव का तात्पर्य है "पूर्व पर्याय का वर्तमान मे अभाव" और प्रध्वसाभाव का अभिप्राय है "वर्तमान पर्याय मे भावी पर्याय का अभाव"। इसका मतलव है कि जो उन्नत है वह गिर भी सकता है और जो पतित है वह उठ भी सकता है। और यही कारण है कि सभी आचार्य महान् तपस्वी भी त्रिकालवर्त्ती तीर्थकरो को नमोस्तु प्रस्तुत करते हैं और भविष्यत् काल के तीर्थकरो को *नमोस्तु करने में भावी नय की अपेक्षा सामान्य ससारी जीव भी* शामिल हो जाते है तव किसी की अविनय का प्रश्न ही नहीं है। आपकी अनत शक्ति को भी सारे तपस्वियो ने पहिचान लिया हे, चाहे आप पहिचाने अथवा नहीं। आप सभी मे केवल ज्ञान की शक्ति विद्यमान है यह वात भी कुन्दकुन्दादि महान आचार्यो द्वारा पहचान ली गई है।

अपने विनय गुण का विकास करो। विनय गुण से असाध्य कार्य भी सहज साध्य बन जाते हैं। यह विनय गुण ग्राह्य है, उपास्य है, आराध्य है। भगवान महावीर कहते हैं– *"मेरी उपासना चाहे न करो, विनय गुण की उपासना जरूर करो।* विनय का अर्थ यह नहीं है कि आप भगवान के समक्ष तो विनय करे और पास-पडोस मे अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पडौसी को भी यथायोग्य विनय करो। कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करो। "मानेन तृप्ति न तु भोजनेन" अर्थात् सम्मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं, अत विनय करना सीखो, विनय गुण आपको सिद्धत्व प्राप्त करा देगा। □□

सुशीलता

☐ **निरतिचार शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालने में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं वे भी तिर जाते हैं।**

शील से अभिप्राय स्वभाव से है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना ही "शीलव्रतेष्वनतिचार" कहलाता है। व्रत से अभिप्राय नियम, कानून अथवा अनुशासन से है। जिस जीवन मे अनुशासन का अभाव है वह जीवन निर्बल है। निरतिचार व्रत पालन से एक अद्भुत बल की प्राप्ति जीवन मे होती है। निरतिचार का मतलब ही यह है कि जीवन अस्त-व्यस्त न हो, शान्त और सबल हो।

रावण के विषय मे यह विख्यात है कि वह दुराचारी था किन्तु वह अपने जीवन मे एक प्रतिज्ञा मे आबद्ध भी था। उसका व्रत था कि वह किसी नारी पर बलात्कार नहीं करेगा, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे नहीं भोगेगा और यही कारण था कि वह सीता को हरण तो कर लाया किन्तु उनका शील भग नहीं कर पाया। इसका कारण केवल उसका व्रत था, उसकी प्रतिज्ञा थी। यद्यपि यह सही है कि यदि वह सीताजी के साथ बलात्कार का प्रयास भी करता तो भस्मसात हो जाता किन्तु उसी प्रतिज्ञा ने उसे ऐसा करने से रोक लिया।

ये 'निरतिचार' शब्द बडे मार्के का शब्द है। व्रत के पालन मे यदि कोई गडबड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी गहरी छाप पडती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते है बिना प्रभावित हुये रह नहीं सकते। जैसे कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती, उसकी सुगन्ध तो स्वत चारो ओर व्याप्त हो जाती है। वैसी ही इस व्रत की महिमा है।

'अतिचार' और 'अनाचार' मे भी बड़ा अन्तर है। 'अतिचार' दोष है जो लगाया नहीं जाता, प्रमादवश लग जाता है। किन्तु अनाचार तो सम्पूर्ण व्रत को विनष्ट करने

की क्रिया है। मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन मे पूर्ण सचेष्ट रहते है जैसे कई चुॅगी चौकियॉ पार कर गाडी यथास्थान पहॅुच जाती है उसी प्रकार मुनिराज को भी वत्तीस अन्तराय टालकर निर्दोष आहार और अन्य उपकरण आदि ग्रहण करना पड़ते है।

निरतिचार व्रत पालन की महिमा अद्‌भुत है। एक भिक्षुक था। झोली लेकर एक द्वार पर पहॅुचा रोटी मॉगने। रूखा जवाब मिलने पर भी नाराज नहीं हुआ बल्कि आगे चला गया। एक थानेदार को उस पर तरस आ गया और उसने उस भिक्षुक को रोटी देने के लिए वुलाया। पर भिक्षुक थोड़ा आगे जा चुका था इसलिए उसने एक नौकर को रोटी देने भेज दिया। 'मै रिश्वत का अन्न नहीं खाता भइया।' ऐसा कहकर वह भिक्षुक आगे वढ़ गया। नौकर ने वापिस आकर थानेदार को भिक्षुक द्वारा कही गयी बात सुना दी और वे शब्द उस थानेदार के मन मे गहरे उतर गये। उसने सदा-सदा के लिए रिश्वत लेना छोड़ दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके निर्दोष व्रत ने थानेदार की जिन्दगी सुधार दी। जो लोग गलत तरीके से रुपये कमाते हैं वे दान देने मे अधिक उदारता दिखाते है। वे सोचते है कि इसी तरह थोड़ा धर्म इकट्‌ठा कर लिया जाय किन्तु धर्म ऐसे नहीं मिलता। धर्म तो अपने श्रम से निर्दोष रोटी कमा कर दान देने मे ही है।

अग्रेजी मे कहावत है कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, उससे भी ऊँचा एक जीवन है जो व्रत साधना से उसे प्राप्त हो सकता है। आज हम मात्र शरीर के भरण-पोषण मे लगे है। व्रत, नियम और अनुशासन के प्रति भी हमारी रुचि होनी चाहिये। अनुशासन विहीन व्यक्ति सबसे गया बीता व्यक्ति है। अरे भइया। तीर्थकर भी अपने जीवन मे व्रतो का निर्दोष पालन करते हैं। हमे भी करना चाहिए।

हमारे व्रत ऐसे हो जो स्वय को सुखकर हो और दूसरों को भी सुखकर हों। एक सज्जन जो सभवत ब्राह्मण थे मुझसे कहने लगे– 'महाराज, आप वड़े निर्दयी हैं। देने वाले दाता का आप आहार नहीं लेते। तो मैने उन्हे समझाया-भइया। देने वाले और लेने वाले दोनो व्यक्तियो के कर्म का क्षयोपशम होना चाहिये। दाता का तो दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है पर लेने वाले का भी भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता लेने वाले के साथ जवर्दस्ती नहीं कर सकता क्योकि लेने वाले के भी कुछ नियम, प्रतिज्ञाये होती है। जिन्हे पूरा करके ही वह आहार ग्रहण करता है।

साराश यही है कि सभी को कोई न कोई व्रत अवश्य लेना चाहिये, वे व्रत नियम वड़े मौलिक है। सभी यदि व्रत ग्रहण करके उनका निर्दोष पालन करते रहे तो कोई कारण नहीं कि सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न न हो। □□

निरन्तर ज्ञानोपयोग

☐ **ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है उसे सुखाया नहीं जा सकता; बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान का नाश नहीं किया जा सकता है उसे स्व-पर कल्याण की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। यही ज्ञानोपयोग है।**

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' शब्द तीन शब्दो से मिलकर बना है– अभीक्ष्ण + ज्ञान + उपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान का उपयोग करना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। आत्मा के अनन्तगुण हैं और उनके कार्य भी अलग-अलग है। ज्ञान गुण इन सभी की पहिचान कराता है। सुख जो आत्मा का एक गुण है उसकी अनुभूति भी ज्ञान द्वारा ही सभव है। ज्ञान ही वह गुण है जिसकी सहायता से पाषाण मे से स्वर्ण को, खान मे से हीरा, पन्ना को पृथक् किया जा सकता है। अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है उसका विकास किया जा सकता है।

आज तक इस ज्ञान धारा का प्राय दुरुपयोग ही किया गया है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता, केवल उस प्रवाह के मार्ग को हम बदल सकते है उसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता केवल उसे स्व-पर हित के लिये उपयोग मे लाया जा सकता है। ज्ञान का दुरुपयोग होना विनाश है और ज्ञान का सुदपयोग करना ही विकास है, सुख है, उन्नति है। ज्ञान के सदुपयोग के लिये जागृति परम आवश्यक है। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है जो पेड पर बैठा है और पेड़ के नीचे बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश-हवास खो देता है। अपने पखो की शक्ति को भूल बैठता है और स्वय घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है तो उसमे दोष कबूतर का ही है। हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे बल्कि जो ज्ञान द्वारा जाने जाते है उन ज्ञेय पदार्थो की कदर कर रहे हैं। होना इससे विपरीत चाहिए था अर्थात् ज्ञान की कदर होना चाहिए।

ज्ञेयो के सकलन मात्र मे यदि हम ज्ञान को लगा दे और उनके समक्ष अपने को हीन मानने लग जाये तो यह ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान का सदुपयोग तो यह

है कि हम अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दें और यह अन्तर्यात्रा एक वार नहीं, दो वार नहीं, बार-वार अभीक्ष्ण करने का प्रयास करें। यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है आत्म-मल को धोने वाला है। जैसे प्रभात वेला की लालिमा के साथ ही वहुत कुछ अधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा का अधकार भी विनष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। अत ज्ञानोपयोग सतत् चलना चाहिये।

'उपयोग' का दूसरा अर्थ है चेतना। अर्थात् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपनी खोज चेतना की उपलब्धि का अमोघ साधन है। इसके द्वारा जीव अपनी असली सम्पत्ति को बढाता है, उसे प्राप्त करता है उसके पास पहुँचता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र नहीं है। शब्दों की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती सरस्वती की पूजा का मतलव तो अपनी पूजा से है, स्वात्मा की उपासना से है। शाब्दिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है इससे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। शाब्दिक ज्ञान तो केवल शीशी के लेविल की तरह है यदि कोई लेविल मात्र घोट कर पी जाय तो क्या उससे स्वास्थ्य-लाभ हो जायेगा? क्या रोग मिट जायेगा नहीं, कभी नहीं। अक्षर ज्ञानधारी वहुभाषाविद् पण्डित नहीं है। वास्तविक पण्डित तो वह है जो अपनी आत्मा का अवलोकन करता है।'' स्वात्मान पश्यति य स पण्डित ।'' पढ़-पढ़ के पण्डित वन जाये किन्तु निज वस्तु की खवर न हो तो क्या वह पण्डित है? अक्षरों के ज्ञानी पण्डित अक्षर का अर्थ भी नहीं समझ पाते। 'क्षर' अर्थात् नाश होने वाला और 'अ' के मायने 'नहीं' अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, अजर-अमर हूँ; यह अर्थ है अक्षर का, किन्तु आज का पडित केवल शब्दों को पकड़ कर भटक जाता है।

शब्द तो केवल माध्यम है अपनी आत्मा को जानने के लिए, अन्दर जाने के लिए। किन्तु हमारी दशा उस पडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवन से भी हाथ धो वैठता था। एक पंडित काशी से पढ़कर आये। देखा, नदी किनारे मल्लाह भगवान की स्तुति मे संलग्न है। वोले– "ए मल्लाह! ले चलेगा नाव में, नदी के पार।'' मल्लाह ने उसे नाव में विठा लिया। अव चलते-चलते पडित जी रौव झाड़ने लगे अपने अक्षर ज्ञान का। मल्लाह से वोले– "कुछ पढ़ा-लिखा भी है? अक्षर लिखना जानता है?'' मल्लाह तो पढा लिखा था ही नहीं सो कहने लगा पंडितजी मुझे अक्षर ज्ञान नहीं है। पडित वोले तव तो विना पढ़े तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ हो गया। अभी नदी में थोड़े और चले थे कि अचानक पूर आ गयी, पडित जी घवराने लगे। नाविक वोला पंडितजी मैं अक्षर लिखना नहीं जानता किन्तु तैरना

जरूर जानता हूँ। अक्षर ज्ञान न होने से मेरा तो आधा जीवन गया परन्तु तैरना न जानने से तो आपका सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

हमे तैरना भी आना चाहिये। तैरना नहीं आयेगा तो हम ससार समुद्र से पार नहीं हो सकते। अत दूसरो का सहारा ज्यादा मत ढूँढो। शब्द भी एक तरह का सहारा है। उसके सहारे, अपना सहारा लो। अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करो।

ज्ञेयो का संकलन मात्र तो ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञेयो मे मत उलझो, ज्ञेयों के ज्ञाता को प्राप्त करो। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही मैं कौन हूँ, इसका उत्तर प्राप्त हो सकता है।

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखे।
दृग ज्ञान सुख वलमय सदा नहिं आन भाव जु मो विखें।।
मैं साध्य साधक मे अवाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिंड चंड अखण्ड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनि तैं।।

शुद्धोपयोग की यह दशा इसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अत मात्र साक्षर वने रहने से कोई लाभ नहीं है। 'साक्षर' का विलोम 'राक्षस' होता है। साक्षर मात्र वने रहने मे राक्षस बन जाने का भी भय है। अत अन्तर्यात्रा भी प्रारम्भ करे, ज्ञान का निरन्तर उपयोग करे अपने को शुद्ध वनाने के लिए।

हम अमूर्त है, हमे छुआ नही जा सकता, हमे चखा नहीं जा सकता, हमे सूँघा नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी हम मूर्त्त वने हुये है क्योंकि हमारा ज्ञान मूर्त्त मे सजोया हुआ है। अपने उस अमूर्त्त स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञान की धारा को अन्दर आत्मा की ओर मोडने पर ही सम्भव है। □□

संवेग

☐ **जिस प्रकार ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के नहीं होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।**

सवेग का मतलब है ससार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणो मे यह सवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है-- सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों मे से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव मे स्त्री का शृगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर मदिर की कोई शोभा नहीं है। वैसे ही बिना सवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। सवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलकार है।

सवेग एक उदासीन दशा है जिसमे रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्‌गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ मुनि महाराज तक मे प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग-पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार मे, उठने, बैठने और लेटने की सभी क्रियाओ मे सदैव जाग्रत रहता है सजग रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। साधु का रास्ता तो मनन और चितन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसे सवेग-समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ है। आप कहते हैं कि हम 'वीर' की सन्तान हैं। बात सही है। आप 'वीर' की सन्तान तो अवश्य है, किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थो मे आप 'वीर' की सन्तान तभी कहे जायेगे जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेगे।

सवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविराम गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा, सर्कस मे तार पर चलने वाला न ताली बजाने वालो की ओर देखता है और न ही लाठी लेकर खड़े आदमी को देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है उसका उद्देश्य तो

एकमात्र सतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात सवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं हाता। ससार से 'भीति' सम्यग्दर्शन का अनन्य अग है। वीतराग सम्यग्दर्शन मे ये 'सवेग' अधिक घनीभूत होता है। सवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुडा हुआ है। इस सवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। सवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकाक्षाये छूट जाती है जहॉ सवेग होता है वहॉ विषयो की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप मे प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोगो का वर्णन तो किया जाता है किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चो के बीच रहकर बडा दु खी होता है। उसकी पत्नी उससे कहती है– "भरत जी इतने बडे परिवार के बीच कैसे रहते होगे। जहॉ छयानवै हजार रानियॉ, अनेको बच्चे और अपार सम्पदा थी। उनके परिणामो मे तो कभी क्लेश हुआ हो ऐसा सुना ही नहीं गया।" वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरत जी सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास मे भेज देते है। उस व्यक्ति के हाथ पर तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि "सब कुछ देख आओ, लेकिन इस कटोरे मे से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिये अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।" वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा, सारे समय बूँद न गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया, 'मित्र जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियॉ, चौदह रत्न, ये छयानवे हजार रानियॉ ये सब मेरी नहीं है। मेरी निधि तो मेरे अतरग मे छिपी हुई है– ऐसा विचार करके ही मै इन सबके बीच शात भाव से रहता हूँ।"

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है। इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि ही लुट जायेगी।

"कर्म चोर चहुँ ओर सरवस लूटें सुध नहीं"

सवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। चाहे वह कहीं भी रहे। किन्तु सवेग से रहित व्यक्ति स्वर्गिक सुखो के बीच भी दु ख का अनुभव करता है और दुखी ही रहता है। □□

त्यागवृत्ति

☐ **त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहचान जब हो जाती है तब विषय सामग्री निरर्थक लगती है और उसका त्याग सहज सरलता से हो जाता है।**

यथाशक्ति त्याग को "शक्ति-तस्त्याग' कहते है। "शक्ति अनुलध्य यथाशक्ति'' अर्थात् शक्ति की सीमा को पार न करना और साथ ही अपनी शक्ति को नहीं छिपाना इसे यथाशक्ति कहते है और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्ति-तस्त्याग कहा जाता है।

भारत मे जितने भी देवो के उपासक है, चाहे वे कृष्ण के उपासक हो, चाहे वे राम के उपासक हो अथवा बुद्ध के उपासक हो, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्त्व देते है। ऐसे ही महावीर के भी उपासक है। किन्तु महावीर के उपासको की विशेषता यही है, कि उनके त्याग मे शर्त नहीं है। हठग्राहिता नहीं है। यदि त्याग मे कोई शर्त है तो वह त्याग महावीर का कहा हुआ त्याग नहीं है।

सामान्य रूप से त्याग की आवश्यकता हर क्षेत्र मे है। रोग की निवृत्ति के लिए, स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए, जीवन जीने के लिए और इतना ही नहीं, मरण के लिए भी त्याग की आवश्यकता है। जो ग्रहण किया है उसी का त्याग होता है, पहले ग्रहण फिर त्याग यह क्रम है। ग्रहण होने के कारण ही त्याग का प्रश्न उठता है। अब त्याग किसका किया जाये? तो अनर्थ की जड़ का त्याग, हेय का त्याग किया जाये। कूडा-कचरा, मल आदि ये सब हेय पदार्थ है। इन हेय पदार्थो के त्याग मे कोई शर्त नहीं होती, न ही कोई मुहूर्त निकलवाना होता है क्योकि इनके त्याग के विना न सुख है न शान्ति। इन्हे त्यागे विना तो जीवन भी असम्भव हो जायेगा।

त्याग करने मे दो बातो का ध्यान रखना परम अपेक्षणीय है। पहला यह कि

दूसरो की देखा देखी त्याग नहीं करना और दूसरा ये कि अपनी शक्ति की सीमा का उल्लघन नहीं करना क्योकि इससे सुख के स्थान पर कष्ट की ही आशका अधिक है।

त्याग मे कोई शर्त नहीं होनी चाहिए। किन्तु हमेशा से आपका त्याग ऐसा ही शर्तयुक्त रहा है। दान के समय भी आपका ध्यान आदान मे लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये के सवा सौ रुपये प्राप्त करने के लिये त्याग करता है तो यह कोई त्याग नहीं माना जायेगा। यह दान नहीं है आदान है। एक विद्वान ने लिखा है कि दान तो ऐसा देना चाहिये जो दूसरे हाथ को भी मालूम न पडे। यदि त्याग किये हुये पदार्थ मे लिप्सा लगी रही इच्छा बनी रही, यदि इस पदार्थ के भोगने की वासना हमारे मन मे चलती रही और अधिक प्राप्ति की आकाक्षा बनी रही तो यह त्याग नहीं कहलायेगा।

बाह्य मलो के साथ-साथ अतरग मे रागद्वेष रूपी मल भी विद्यमान है जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसका त्याग करना/छोडना ही वास्तविक त्याग है। ऐसे पदार्थो का त्याग करना ही श्रेयस्कर है जिनसे रागद्वेष, विषय-कषायो की पुष्टि होती है।

अजमेर मे एक सज्जन मेरे पास आये और बोले– "महाराज, मेरा तो भाव पूजा मे मन लगता है, द्रव्य पूजन मे नहीं।'' तो मैने कहा भइया ये तो दान से बचने के लिए पगडण्डियॉ है। पेट पूजा के लिए कोई भाव-पूजा की बात नहीं करता। इसी तरह भगवान की पूजा के लिये सस्ते पदार्थो का उपयोग करना और खाने-पीने के लिये उत्तम से उत्तम पदार्थ लेना यह भी सही त्याग नहीं है। कई लोग तो ऐसा सोचते है कि भगवान महावीर ने तो नासा-इन्द्रिय को जीत ही लिया है। तब उनके लिये सुरभित सुगन्धित पदार्थ क्यो चढ़ाना, ये हमारे मन की विचित्रता है। पूजा का मतलब तो यह है कि भगवान के सम्मुख गद्‌गद् होकर विषयो और कषायो का समर्पण किया जाये। जब तक इस प्रकार का समग्र-समर्पण नहीं होता तब तक पूजा की सार्थकता नहीं है।

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहिचान जब हो जाती है, उस समय विषय-सामग्री कूडा-कचरा बन जाती है और उसका त्याग सहज हो जाता है। इस कूड़े-कचरे के हटने पर अपनी अन्तरग की मणि अलौकिक ज्योति

के साथ प्रकाशित हो उठती है। त्याग से ही आत्मारूपी हीरा चमक उठता है। जैसे कूड़ा-कचरा जब साफ हो जाता है तब जल निर्बाध प्रवाहित होने लगता है इसी प्रकार विषय-भोगों का कूड़ा-कचरा जब हट जाता है तो ज्ञान की धारा निर्बाध अन्दर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

"आतम के अहित विषय-कषाय इनमें मेरी परिणित न जाये" और

"यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अबतो त्याग निज पद बेइये।।

ये राग तपन पैदा करता है। विषय-कषाय हमे जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है। यह 'पर' पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम आस्रव में जीवित रहे हैं निर्जरा कभी हमारा लक्ष्य नहीं रहा। इसलिये दु:ख उठाते रहे। जब तक हम भोगों का विमोचन नहीं करेंगे, उपास्य नहीं बन पायेंगे।

योग जीवन है, भोग मरण है। योग सिद्धत्व को प्रशस्त करने वाला है और भोग नरक की ओर ले जाने वाला है। आस्था जागृत करो। विश्वास/आस्था के अभाव में ही हम स्व-पद की ओर प्रयाण नहीं कर पाये हैं। त्याग के प्रति अपनी आस्था मजबूत करो ताकि शाश्वत सुख को प्राप्त कर सको। □□

सत्-तप

☐ **तप, दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। अग्नि की तपन को पार करके ही वह पात्र के रूप में उपयोगी बन जाती है।**

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियो की पद-रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशसा केवल इन महर्षियो, योगियो और तपोपूत पुरुषो द्वारा ही नहीं गायी गयी, अन्य पुरुषो, कवियो ने भी तप की यशोगाथा गायी है। राष्ट्र कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है–

नारायण नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्रपद ने की है जिसकी शुभाराधना।

भोगासक्त देवो ने भी इस तप-साधना की प्रशसा की है। वे स्वर्गो से उतरकर उनका कीर्तन-पूजन करने के लिये आते है जो नर से नारायण बनने की साधना मे लगे है।

तप दोषो की निवृत्ति के लिये परम रसायन है। मिट्टी भी तप कर ही पूज्य बनती है। जब वह अग्नि की तपन को पार कर लेती है तब पक्के पात्र घडे आदि का रूप धारण कर लेती है और आदर प्राप्त करती है। कहा भी है पहले कष्ट फिर मिष्ट। पदार्थ की महत्ता वेदना सहकर ही होती है।

आप दु खी होने पर सुख का रास्ता ढूँढते हैं और साधु समागम मे आते है। साधु-समागम मे सुख मानकर भी यदि कुछ प्राप्त नहीं करते तो आपका आना व्यर्थ ही होगा। जिस भू-तल पर हम रहते है वह एक प्रकार का जक्शन है। प्रत्येक दिशा मे यहॉ से मार्ग जाते है। यहॉ से नरक की ओर यात्रा की जा सकती है, स्वर्ग जाया जा सकता है, पशु-योनि को पाया जा सकता है, मनुष्य भी पुन हुआ जा सकता है और परमात्मा पद की उपलब्धि भी की जा सकती है। जहॉ भी जाना चाहे जा सकते हैं। साधना स्वाश्रित है।

गृहस्थी मे आतप है, कष्ट है, छटपटाहट है। जैसे पूडी कडाही मे छटपटाती

है, वही दशा गृहस्थ की होती है। तप द्वारा उस कष्ट का निवारण सभव है। एक बार गृहस्थ मे मेरी बॉह मोच गयी थी, मैंने "स्लोन्स वाम" लगायी। उससे सारा दर्द धीरे-धीरे जाता रहा। इसी तरह ससार की वेदना को मिटाने के लिये तप रूपी बाम का उपयोग करना होगा। कार्य सिद्धि के लिए तप अपनाना ही होगा। लोहे की छड़ आदि जव टेढ़ी हो जाये तो केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते है। उसी प्रकार विषय और कषाय के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिये आत्मा को तपाना ही एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

इच्छा का निरोध कौन करे? वानर? नहीं नर, केवल नर। वानर तो पशु है। नारकी भी नहीं कर सकते। देव भी नहीं कर सकते। ये सब तो अपनी गलती का प्रायश्चित कर सकते है। साधना तो केवल नर ही कर सकता है। धन्य है नर साधना! नर-पद एक ऐसा मैदान है जहॉ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे "धन्य है हमारी यह सुहाग नगरी! फिरोजाबाद! इसने आचार्य महावीर कीर्ति जैसी मूर्ति को उत्पन्न किया।" ठीक है महावीर कीर्ति महाराज यहॉ पैदा हुये और उन्होने साधना द्वारा अपना कल्याण किया, किन्तु आपको क्या मिला? आप भी महावीर कीर्ति महाराज जैसे बने क्या? महावीर कीर्ति महाराज जैसे तपस्वी आपके लिये आदर्श तो बन सकते है आपकी कालिमा का सकेत दे सकते है किन्तु वे स्वय आपकी कालिमा मिटा नहीं सकते, दर्पण आपके मुख पर लगे धब्बे को दिखा सकता है लेकिन वह धब्बा जब भी मिटेगा आपके प्रयास से ही मिटेगा। आपको यह मनुष्य जीवन मिला है तो साधना करना ही चाहिये। अन्यथा आप जानते ही है 'तप' का विलोम 'पत' होता है अर्थात् गिरना। साधना के अभाव मे पतन ही होगा।

इच्छाऐ प्रत्येक के पास है किन्तु इच्छा का निरोध केवल तप द्वारा ही सभव है यदि इच्छाओ का निरोध नहीं हुआ, तो ऐसा तप भी तप नहीं कहा जायेगा 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा भी होती है। यदि तप करने से आकुलता हो और निर्जरा न हो तो वह तप भी तप नहीं है। साधन वही है जो साध्य को दिला दे, कारण वही साधकतम है जो कार्य को सम्पन्न करा दे, औषधि वही है जो रोग की निवृत्ति कर दे, तप वही है जो नर से नारायण बना दे।

गृहस्थ भी घर मे थोडी वहुत साधना कर सकता है किन्तु आज तो वह भी नहीं होती। आज का गृहस्थ तो राग द्वेष और विषय कषाय में अनुरक्त रह कर उपास्य की मात्र शब्दिक उपासना कर रहा है। एक राजा था वह अपने राज्य मे दुष्टो का निग्रह करता था और शिष्ट प्रजा का पालन करता था। एक बार लोगो ने राजा

से शिकायत की– 'महाराज, आपके राज्य मे एक व्यक्ति ऐसा पैदा हो गया है जो आपकी आज्ञा का पालन नहीं करता और न ही आपका राज्य छोड़ना चाहता है।'' उसे राजा ने बुलाकर बडे प्रेम से उसकी आवश्यकताओ की जानकारी ली। एक-एक करके उसने अपनी ढेरो आवश्यकताये राजा के सामने रखी। राजा को बडा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति इतनी इच्छाऍं तो रखता है परतु पुरुषार्थ कुछ भी नहीं करना चाहता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है परतु आज तो आविष्कार जितने अधिक हो रहे है उतनी ही अधिक आवश्यकताये बढ़ रही है। राजा को उस व्यक्ति की इतनी प्रबल इच्छाये देख कर उसे अपने राज्य से निकल जाने का आदेश देना पड़ा। इच्छाओ के कारण उस व्यक्ति को हमेशा दु ख झेलना पडा।

अत केवल आवश्यकता की वस्तुये रखो, शेष से नाता तोडलो। उपासना वासना नहीं है। उपासना मे तो वासना का निरोध है। वासना के निरोध से ही उपास्य से सम्बध स्थापित हो सकता है।

कुछ समयसार पाटी सज्जन मेरे पास आते है कहते है ''महाराज, हमे तो कुछ इच्छा है नहीं । न खाने की इच्छा है न पीने की इच्छा है और न कोई अन्य इच्छा होती है। सब कुछ सानद चल रहा है।'' उनकी बात सुनकर मुझे बडा आश्चर्य होता है। अगर खाने की इच्छा नहीं है तो फिर लडडू आदि मुँह में ही क्यो डाले जा रहे है, कान मे या कि और किसी के मुँह मे क्यो नहीं डाल देते। बिना इच्छा के ये सब क्रियायें कैसे चल सकती है। प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं होती। प्रवृत्ति को छोडकर निवृत्ति के मार्ग पर जाना ही श्रेयस्कर है। □□

साधु समाधि सुधा साधन

☐ हर्ष विवाद से परे आत्म-सत्ता की सतत् अनुभूति ही सच्ची समाधि है।

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श मृत्यु को साधु-समाधि कहते है। 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' से है। अत सज्जन के मरण को भी साधु-समाधि करेंगे। ऐसे आदर्श मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्ठान वितरण करते है। वच्चे के जन्म के समय सभी हसते है किन्तु वच्चा गेता है। इसलिये रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही मरण का भय शुरू हो जाता है। वस्तुत जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरो मे पखा चलता है। पखे मे तीन पखुडिया होती है। ये सब पखे के तीन पहलू है और जब पखा चलता है तो एक मालूम पड़ते है। यह पखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय ध्रौव्य की प्रतीक है और पखे के वीच का डडा जो घूमता है सत् का प्रतीक है। हम उसकी शाश्वतता को नहीं देखते केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते है जो भटकान/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है वहाँ न आधि है, न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है शारीरिक विकार व्याधि है। बुद्धि के विकार को उपाधि कहते है। समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे हैं। समाधि मे न राग है न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद। जन्म और मृत्यु शरीर के है। हम विकल्पों मे फॅस कर जन्म-मृत्यु का दु ख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य धारा का हमे कोई ध्यान ही नहीं। अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि तभी होगी जब हमे अपनी सत्ता की शाश्वतता का भान हो जायेगा। साधु-समाधि वही है जिसमे मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता है जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता। जहाँ न सुख का विकल्प है और न दु ख का।

आज ही एक सज्जन ने मुझ से कहा "महाराज, कृष्ण जयन्ती है आज।" मैं थोडी देर सोचता रहा। मैंने पूछा "क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले कृष्ण की बात आप मानते हैं? कृष्ण गीता मे स्वय कह रहे हैं कि मेरी जन्म-जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं। मैं तो केवल सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ। मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है।" अर्जुन युद्ध-भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओ से युद्ध के लिये नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि "कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को।' वे सोचते थे चाहे मैं भले ही मर जाऊँ किन्तु मेरे हाथ से गुरुओ की सुरक्षा होनी चाहिये। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुये श्री कष्ण ने कहा–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवो जन्म मृतस्य च
तत्माद परिहार्येऽर्थे न त्व शोचितुमर्हसि

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है इसलिये हे अर्जुन ! सोच नहीं करना चाहिये।

अर्जुन ! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव मे मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिये अपने धर्म का पालन श्रेयकर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते है। आवीचि मरण तो प्रति समय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे है अर्जुन से और हम है केवल जनम-मरण के चक्कर मे, क्योंकि चक्कर में भी हमे शक्कर-सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान
तन नशत आपको नाश मान
रागादि प्रकट जे दु:ख दैन
तिन ही को सेवत गिनत चैन

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-मरण के साथ अपना मरण मान रहे है। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे है। हम जीवन और मरण के विकल्पो मे फँसे है किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु- समाधि तो तभी होगी जब हमे अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अत जन्म जयन्ती न मनाकर हमे अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिये, उसी की सँभाल करनी चाहिये।

□□

वैयावृत्त्य

☐ **वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा में निमित्त वनकर अपने अंतरंग में उतरना ही सवसे वड़ी सेवा है।**

वैयावृत्त्य का अर्थ है सेवा, सुश्रुषा, अनुग्रह, उपकार। सेवा की चर्चा करते ही हमारा ध्यान पड़ोसी की ओर चला जाता है। बचाओ शब्द कान मे आते ही हम देखने लग जाते हैं किसने पुकारा है, कौन अरक्षित है और हम उनकी मदद के लिये दौड पडते है। किन्तु अपने पास मे जो आवाज़ उठ रही है उसकी ओर आज तक हमारा ध्यान नहीं गया। सुख की खोज मे निकले हुये पथिक की वैयावृत्ति आज तक किसी ने नहीं की। सेवा, तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर सभी के प्रति अनुकम्पा जागृत हो जाये। अनुकम्पा के अभाव मे न हम अपनी मेवा कर सकते हैं और न दूसरे की ही सेवा कर सकते हैं।

सेवा किसकी? ये प्रश्न बडा जटिल है। लौकिक दृष्टि से हम दूसरे की सेवा भले कर ले किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र मे सवसे वड़ी सेवा अपनी ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से किसी अन्य की सेवा हो ही नहीं सकती। भगवान का उपकार भी उसी को प्राप्त हो सकता है जा अपना उपकार करने मे स्वय अपनी सहायता करते है। दूसरो का सहारा लेने वाले पर भगवान कोई अनुग्रह नहीं करते। सेवा करने वाला वास्तव मे अपने ही मन की वेदना मिटाता है। यानी अपनी ही सेवा करता है। दूसरे की सेवा मे अपनी ही सुख शाति की बात छिपी रहती है।

मुझे एक लेख पढ़ने को मिला। उसमे लिखा था कि इग्लैण्ड का गौरव उसके सेवको मे निहित है। किन्तु सच्चा सेवक कौन? एक व्यक्ति उठा और कहने लगा— "चाहे सारी सम्पत्ति चली जाय, चाहे सूर्य का आलोक भी हमे प्राप्त न हो किन्तु हम अपने कवि शेक्सपियर को किसी कीमत पर नहीं छोड़ सकते।" 'कहा भी है जहॉं न पहुॅंचे रवि वहाँ पहुॅंचे कवि।' कवि गूढ़ तत्त्व का विश्लेषण भी कर सकता है किन्तु एक काम तो नहीं कर सकता, वो ये कि वह 'निजानुभवी नहीं वन सकता।'

"जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे निजानुभवी" – पाश्चात्य देश शब्दो को महत्त्व अधिक देते है। जबकि भारत देश अनुभव को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। कवि और चित्रकार प्रकृति के चित्रण मे सक्षम हैं किन्तु यही मात्र हमारा लक्ष्य नहीं, तट नहीं। स्वानुभव ही गति है और स्वानुभवी बनने के लिये स्व-सेवा अनिवार्य है। स्वयसेवक बनो, पर सेवक मत बनो। भगवान के सेवक भी स्वय सेवक नहीं बन पाते। खुदा का बन्दा बनना आसान है किन्तु खुद का बन्दा बनना कठिन है। खुद के बन्दे बनो। भगवान की सेवा आप क्या कर सकेगे? वे तो निर्मल और निराकार बन चुके है।

हम शरीर की तडपन तो देखते है किन्तु आत्मा की पीडा नहीं पहचान पाते। यदि हमारे शरीर मे कोई रात को भी सुई चुभो दे तो तत्काल हमारा समग्र उपयोग उसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। हमे बड़ी वेदना होती है किन्तु आत्म-वेदना को हमने आज तक अनुभव नहीं किया। शरीर की सड़ाँध का हम इलाज करते है किन्तु अपने अतर्मन की सडाँध/उत्कट दुर्गन्ध को हमने कभी असह्य माना ही नहीं। आत्मा मे अनादि से बसी हुई इस दुर्गन्ध को निकालने का प्रयास ही वैयावृत्त्य का मगलाचरण है।

हमारे गुरुवर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शक' नाम के अपने ग्रथ मे एक घटना का उल्लेख किया है। एक जज साहब कार मे जा रहे है अदालत की ओर। मार्ग मे देखते हैं एक कुत्ता नाली मे फँसा हुआ है। जीवेषणा है उसमे किन्तु प्रतीक्षा है कि कोई आ जाये और उसे कीचड से बाहर निकाल दे। जज साहब कार रुकवाने है और पहुँच जाते है उस कुत्ते केपास। उनके दोनो हाथ नीचे झुक जाते है और झुककर वे उस कुत्ते को निकाल कर सडक पर खडा कर देते है। सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है। बाहर निकलते ही उस कुत्ते ने एक बार जोर से सारा शरीर हिलाया और पास खडे जज साहब के कपडो पर ढेर सारा कीचड लग गया। सारे कपडो पर कीचड के धब्बे लग गये। किन्तु जज साहब घर नहीं लौटे। उन्हीं वस्त्रो मे पहुँच गये अदालत मे। सभी चकित हुये किन्तु जज साहब के चेहरे पर आलौकिक आनन्द की अद्भुत आभा खेल रही थी। वे शात थे। लोगो के बार-बार पूछने पर बोले "मैने अपने हृदय की तडपन मिटाई है मुझे बहुत शाति मिली है।"

वास्तव मे दूसरे की सेवा करने मे हम अपनी ही वेदना मिटाते है। दूसरो की सेवा हम कर ही नहीं सकते। दूसरे तो मात्र निमित्त बन सकते है। उन निमित्तो

के सहारे अपने अतरग मे उतरना, यही सबसे बडी सेवा है। वास्तविक सुख स्वावलम्वन में है। आरम्भ में छोटे-छोटे वच्चो को सहारा देना होता है किन्तु बड़े होने पर उन वच्चो को अपने पैरो पर बिना दूसरे के सहारे खड़े होने की शिक्षा देनी होगी। आप हमसे कहे कि महाराज आप उस कुत्ते को कीचड़ मे से निकालेगे या नहीं, तो हमे कहना होगा कि हम उसे निकालेगे नहीं, हॉ उसको देखकर अपने दोपो का शोधन अवश्य करेगे। आप सभी को देखकर भी हम अपना ही परिमार्जन करते है क्योकि हम सभी मोह-कर्दम मे फसे हुये है। बाह्य कीचड़ से अधिक घातक यह मोह-कर्दम है।

आपको शायद याद होगा हाथी का किस्सा जो कीचड़ मे फॅस गया था। वह जितना निकलने का प्रयास करता उतना अधिक उसी कीचड़ मे धॅसता जाता था। उसके निकलने का एक ही मार्ग था, कि कीचड़ सूर्य के आलोक से सूख जाये। इसी तरह आप भी सकल्पो-विकल्पों के दल-दल मे फॅस रहे हो। अपनी ओर देखने का अभ्यास करो तव अपने आप ही ज्ञान की किरणो से यह मोह की कीचड़ सूख जायेगी। बस, अपनी सेवा मे जुट जाओ, अपने आप को कीचड़ से बचाने का प्रयास करो। भगवान महावीर ने यही कहा है– "सेवक वनो स्वय के" और खुदा ने भी यही कहा है "खुद का बन्दा वन।" एक सज्जन जब भी आते है एक अच्छा शेर सुनाकर जाते है हमे याद हो गया–

अपने दिल मे डूवकर पा ले, सुरागे जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न वन, अपना तो वन।।

□□

अर्हत्‌भक्ति

□ **भक्ति गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिये और पहुँचना चाहिये वहाँ, जहाँ निस्सीमता है।**

आज हम अर्हत्‌भक्ति की प्ररूपणा करेगे। अर्हतीति अर्हत् अर्थात् जो पूज्य है उनकी उपासना, उनकी पूजा करना। इसी को अर्हत्‌भक्ति कहते है। किन्तु प्रश्न है पूज्य कौन? किसी ने कहा था—"भारत देश की विशेषता ही ये है कि यहाँ पूज्य ज्यादा है और पूजने वाले कम है।" उपास्य ज्यादा हैं उपासक कम। जब पूज्यो की कमी हुई तो प्रचुर मात्रा मे मूर्तियो का निर्माण होने लगा। पूज्य कौन है इसी प्रश्न का उत्तर पहले खोजना होगा क्योकि पूज्य की भक्ति ही वास्तविक भक्ति हो सकती है। अन्य भक्तियाँ तो स्वार्थ साधने के लिये भी हो सकती है। पूज्य की भक्ति मे गतानुगतिकता के लिये स्थान नहीं है। दो सम्यग्दृष्टियो के भाव, विचार और अनुभव मे अन्तर होना सभव है। भले ही लक्ष्य एक हो। क्योकि अनुभूति करना हमारे अपने हाथ की बात है। भाव तो असख्यात लोक प्रमाण है।

आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण से एक महाराज आये थे। उन्होने एक घटना सुनाई। दक्षिण मे एक जगह किसी उत्सव मे जुलूस निकल रहा था। मार्ग थोडा सकरा था पर साफ सुथरा था। अचानक कहीं से आकर एक कुत्ते ने उस मार्ग मे मल कर दिया। स्वय-सेवक देखकर सोच मे पड गया। परन्तु जल्दी ही विचार करके उसने उस मल पर थोडे से फूल डाल कर ढक दिया। अब क्या था एक-एक करके जुलूस मे आने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने उस पर फूल चढ़ाये और वहाँ फूलो का अम्बार लग गया। वह स्थल पूज्य बन गया। ऐसी मूढता के लिये भक्ति मे कोई स्थान नहीं है।

भक्ति किसकी? जो भक्तो से कहे, "आ जाओ मेरी ओर, और मेरी पूजा करो, मै तुम्हे शरण दूँगा।" ऐसा कहने वाला भगवान नहीं हो सकता। जहाँ लालसा है ख्याति की, वहाँ भगवान कैसे? काम भोग की आकाक्षा रखने वालो से भगवान का क्या वास्ता? 'भगवान भक्त के वश मे होते आये' इस कहावत का भी अर्थ गहराई से समझना पड़ेगा। भगवान तो चुम्बक हैं जो उस लोहे को अपनी ओर खींच लेते है जिसे मुक्ति की कामना है। उस पाषाण को कभी नहीं खींचते जिसे मुक्ति की

कामना है।

भक्ति-गगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिए ओर पहुँचना चाहिए वहाँ, जहाँ निस्सीमिता है। गगा के तट पर पहुँचकर एक आदमी चुपचाप नदी का बहना देखता रहा। उसके गगा से यह पूछने पर कि वह कहाँ दौडी चली जा रही है? नदी ने मोन उत्तर दिया "वहाँ जा रही हूँ, जहाँ मुझे शरण मिले।" पहाडो मे शरण नहीं मिली। मरूभूमि और गड्ढो मे मुझे शरण नहीं मिली, जहाँ सीमा है, वहाँ शरण मिल नहीं सकती, नदी की शरण तो सागर मे है, जहाँ पहुँच कर विन्दु सिन्धु वन जाता है और जहाँ इन्दु भी गोद मे समा जाता है।

पूजा करो, पूर्ण की करो। अनत की करो। लोक में विख्यात है कि सुखी की पूजा करोगे तो तुम स्वय भी सुखी वन जाओगे। गगा, सिंधु के पास पहुँच कर स्वयं भी सिंधु वन गयी। वहाँ गंगा का अस्तित्व मिटा नहीं, विंदु मिटी नहीं, सागर के समान पूर्ण हो गयी। जैसे एक कटोरे जल मे लेखनी द्वारा एक कोने से स्याही का स्पर्श कर देने से सारे जल मे स्याही फैल जाती है इसी तरह गगा भी सारे सिंधु पर फैल गयी अपने अस्तित्व को लिए हुए। इसे जैनाचार्यो ने स्पर्द्धक की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है शक्ति। यह कहना उपयुक्त होगा कि भगवान भक्त के वश में होते आये और भक्त भगवान के वश मे होते आये। क्योंकि जहाँ आश्लेष हो जाय, वही है असली भक्ति का रूप।

हमारी मुक्ति नहीं हो रही क्योकि हमारी भक्ति में भुक्ति की इच्छा है। जहाँ लालसा हो, भोगों की इच्छा हो, वहाँ मुक्ति नहीं। भक्ति मे तो पूर्ण समर्पण होना चाहिए। पर समर्पण है कहाँ? हम तो केवल भोगो के लिए भक्ति करते हैं अथवा हमारा ध्यान पूजा के समय भी जूतों-चप्पलो की ओर ज्यादा रहता है। मैंने एक सज्जन को देखा भक्ति करते हुए। एक हाथ चावियों के गुच्छे पर और एक हाथ भगवान की ओर उठा हुआ। यह कौन-सी भक्ति हुई भइया बताओ। कल आपको क्षुल्लकजी ने यमराज के विषय मे सुनाया था। दात गिरने लगे, वृद्धावस्था आ गई तो समझो श्मशान जाने का समय समीप आ गया किन्तु आप तो नई बत्तीसी लगवा लेते हैं क्योकि अभी भी रसो की भक्ति वाला कभी मुक्ति की ओर देखता नहीं। भक्ति मुक्ति के लिए है और भुक्ति ससार के लिए है। हम अपने परिणामों से ही भगवान से दूर हैं और परिणामों की निर्मलता से ही उन्हें पा सकते हैं।

भक्ति करने के लिए भक्त को कहीं जाना नहीं पडता। भगवान तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। जहाँ वैठ जाओ, वहीं भक्ति कर सकते हो। हमारे भगवान किसी को वुलाते नहीं और यदि आप वहाँ पहुँच जायेंगे तो आपको दुतकारेंगे भी नहीं। क्या सागर, गगा नदी से कहने गया कि तू आ, किन्तु नदी वहकर सागर तक गई न

सागर ने उसे भगाया-भी नहीं। मन्दिर उपयोग को स्थिर करने के लिये है। किन्तु सबके उपयोग को स्थिर करने मे निमित्त बने, ये जरूरी नहीं है।

जैनाचार्यो ने कहा, 'जो अर्हत को जानेगा, वह खुद को भी जानेगा।'' पूज्य कौन हे? मै स्वय पूज्य, मै स्वय उपास्य। मै स्वय साहूकार हूँ तो भीख किससे मॉगू?

मैं ही उपास्य जब हूँ स्तुति अन्य की क्यो
मैं साहूकार जब हूँ, फिर याचना क्यो?''

बाहर का कोई भी निमित्त हमे अर्हत् नहीं बना सकता। अर्हत् बनने मे साधन भर वन सकता है, अर्हत् बनने के लिए दिशा-बोध भर दे सकता है पर बनना हमे ही होगा। इसीलिये भगवान महावीर और राम ने कहा– "तुम स्वय अर्हत् हो।'' हमारी शरण मे आओ ऐसा नहीं कहा कहेगे भी नहीं। ऐसे ही भगवान वास्तव मे पूज्य है। तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अन्दर डूब जाये। मात्र बाहर का सहारा पकड कर बैठने से अर्हन्त पद नहीं मिलेगा।

जब तक भक्ति की धारा बाहर की ओर प्रवाहित रहेगी तब तक भगवान अलग रहेगे और भक्त अलग रहेगा। जो अर्हत् बन चुके है उनसे दिशा-बोध ग्रहण करो और अपने मे डूब कर उसे प्राप्त करो। 'जिन खोजा तिन पाइयॉ गहरे पानी पैठ।' यही है सच्ची अर्हत् भक्ति की भूमिका। गहरे पानी पैठ वाली बात को लेकर आपको एक उदाहरण सुनाता हूँ। एक पण्डित जी रोज सूर्य को नदी के किनारे एक अजुलि जल देते थे और फिर नदी मे गोता लगाकर निकल आते थे। एक गडरिया जो रोज उन्हें ऐसा करते देखता था उसने पूछा– महाराज यह गोता क्यो लगाते हो पानी मे? पडित जी बोले तू क्या जाने गडरिये ऐसा करने से भगवान के दर्शन होते है।'' भगवान के दर्शन, ओह ! आपका जीवन धन्य है मैं भी करके देखूँगा और इतना कह कर गडरिया चला गया। दूसरे दिन पडित जी के आने से पहिले वह नदी मे कूद गया ओर डूबा रहा दस मिनट पानी मे। जल देवता, उसकी भक्ति और विश्वास देखकर दर्शन देने आ गये और पूछा– मॉग वरदान, क्या मॉगता है। गडरिया आनद से भरकर वोला– "दर्शन हो गए प्रभु के अव कोई मॉग नहीं।'' प्रभु के दर्शन के वाद कोई मॉग शेष नहीं रहती। ऐसे ही गहरे अपने अन्दर उतरना होगा, तभी प्राप्ति होगी। महावीर जी से मैने देखा एक सज्जन को। घडी देखते जा रहे है और लगाये जा रहे चक्कर पर चक्कर मदिर के। पूछने पर बताया, "एक हजार आठ चक्कर लगाना है। पहले एक सौ आठ चक्कर लगाऐ थे, वडा लाभ हुआ था।'' ऐसे चक्कर लगाने से, जिसमे आकुलता हो, कुछ नहीं मिलता। भक्ति का असली रूप पहिचानो, तभी पहुँचोगे मजिल पर, अन्यथा ससार की मरूभूमि मे ही भटकते रह जाओगे।

□□

आचार्य-स्तुति

☐ **आचार्य स्वयं भी तैरता है और दूसरों को भी तैराता है। आचार्य नौका के समान है। वह पूज्य है।**

इन भावनाओं के अंतर्गत अरहत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्त्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनो खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविद दियो बताय।।

'बताय' शब्द के स्थान-पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान बना देते हैं। इसीलिये उन्हें तरणतारण कहागया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते हैं दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाला का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है इसलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है। किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। गुरु स्वय भी तैरते हैं और दूसरो को भी तैराते हैं। इसलिए उनका महत्त्व शब्दातीत है। आचार्य नौका के समान हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यो को भी पार लगाती है।

भगवान महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलम्बन देते है, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते है। वे शिष्य से यह नहीं कहते "तू मुझ जैसा बन जा" वे तो कहते हैं "तू भगवान बन जाय।"

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिये साधु पद को

अगीकार करते हैं। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिये चार मगल पदो मे, चार उत्तम पदो मे और चार शरण पदो में आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है जिसका विमोचन मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है। जहाँ राग का थोडा भी अश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये साधना मे लीन साधु की वदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल मे दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ सकल्प था उनका। बोलने मे सक्षम होते हुये भी वचनगुप्ति का पालन किया। वचन व्यापार रोकना बहुत बडी साधना है। लोगो को यदि कोई बात करने वाला न मिले तो वे दीवाल से ही बाते करने लगते है। एक साधु थे। नगर से बाहर निकले इसलिये कि कोई उनसे बाते न करे किन्तु फिर भी एक व्यक्ति उनके साथ हो गया। और बोला 'महाराज, मुझे अपने जैसा बना ले। मै आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिये।'' साधु बड़े पशोपेश मे पड गये। आखिर बोले, ''सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो।'' बोलने वालो की कमी नहीं है प्राय सर्वत्र मिल जाते है। मुझे स्वय भी एक ऐसी घटना का सामना करना पड़ा। मदनगज, किशनगढ मे। ब्रह्मचर्य अवस्था मे एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्रजी पाठ रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयी। मै मौन ही रहा परन्तु धीरे धीरे वहाँ और भी कई माताये आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोडना पडा। विविक्त शय्यासन अर्थात् एकातवास भी एक तप है जिसे साधु तपता है। इसलिए कि एकान्त मे ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने मे साधना मे व्यवधान आता है।

आचार्य कभी भी स्वय को आचार्य नहीं कहते वे तो दूसरो को बड़ा बनाने मे लगे रहते हैं, अपने को बडा कहते नहीं। कोई और उन्हे कहे तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधीजी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला, ''महाराज, आप बडे चतुर है अपने आप को महात्मा कहने लग गये। गाँधीजी बोले भैया मै अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहे मुझे क्या? मैं किसी का विरोध क्यो करूँ। यही उनकी महानता है।

□□

शिक्षा गुरू स्तुति

- **जैसे माँ अपने वच्चे को वड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है वहुश्रुतवान् उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे वताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने वचने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं।**

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय ये तीन शव्दो से मिलकर बना है उप+अधि+आय। 'उप' माने पास/निकट, 'अधि' माने बहुत समीप अर्थात् सन्निकट और 'आय' माने आना अर्थात् जिनके जीवन का सबध अपने शुद्ध गुण पर्याय से है जो अपने शुद्ध गुण पर्याय के साथ अपना जीवन चला रहे है वे, उपाध्याय परमेष्ठी है। उनकी पूजा, उपासना या अर्चना करना, यह कहलाती है बहुश्रुत-भक्ति।

आचार्य और उपाध्याय मे एक मौलिक अन्तर है। आचार्य महाराज उपाध्याय परमेष्ठी पर भी शासन करते है। उनका कार्य होता है आदेश देना। 'पर' का हित उनका कर्त्तव्य है अत वे कटु शव्दो का भी प्रयोग करते है। प्रिय कटु और मिश्रित इन तीनो प्रकार के वचनो का प्रयोग आचार्य परमेष्ठी करते हैं किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी उनसे विल्कुल भिन्न है। उपाध्याय महाराज तो वडे मीठे शव्दो में वचानामृत का पान कराते है अपने शिष्यो को। जैसे माँ अपने वच्चे को वडे प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालो को वे बताते हैं ससार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढग और उनका प्रभाव भी पडता है क्योकि वे स्वय ही उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं। उपाध्याय महाराज आत्मा की वात करते है। उनके पास न पचेन्द्रिय विषयो की चर्चा है न कषायों की, न आरभ की और न परिग्रह की। विषय और कषायो मे अनुरंजन आरभ व परिग्रह मे आसक्ति तथा सचय की प्रवृत्ति का नाम ही ससार है। जहाँ विपय कषाय आरभ व परिग्रह का सर्वथा अभाव है वहाँ मुक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठी इसी मुक्ति की

चर्चा करते हैं और उस उपदेश के अनुरूप आचरण भी करते है। इसी कारण उनका प्रभाव लोगो पर पडता है। प्रभाव केवल आचरण का ही पड सकता है वचनो का नहीं। वचनो मे शक्ति अद्‌भुत है वचन को योग माना है किन्तु उन वचनो के अनुरूप कार्य भी होना चाहिये।

एक बच्चा गुड खाता था। माँ बड़ी परेशान थी। एक साधु के पास पहुची। 'महाराज, इसका गुड़ छुड़वा दीजिये बहुत खाता है।' साधु ने कहा "आठ दिन बाद आना इस बच्चे को लेकर।" साधु ने इस बीच पहले स्वय त्याग किया गुड़ खाने का और आठ दिनो मे पूरी तरह उन्होने गुड का परित्याग कर दिया। नौवे दिन जब वह माँ आयी उस बच्चे को लेकर, तो साधु ने उस बच्चे से कहा "बच्चे गुड नहीं खाना।" बच्चे ने तुरन्त उस साधु की बात मान ली। बोला "महाराज आपकी बात मान सकता हूँ माँ की नही, क्योकि डाक्टर ने माँ को भी मना किया है गुड़ खाने को किन्तु छिपकर खा लेती है।" इधर माँ ने साधु को टोक दिया "बाबाजी इतनी सी बात उसी दिन कह देते। मुझे आठ दिन प्रतीक्षा क्यो करवाई?" साधु का विनम्र उत्तर था "माँ जी, जब तक गुड़ मे मेरी लिप्सा थी तब तक मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता था?"

उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक है। उनके उपदेश सुनने वाला पिघल जाता है उनके उपदेश को सुनकर। जो अनादि काल से जन्म, जरा और मरण के रोग से पीडित है वह रोगी दौड़ा चला आता है उपाध्याय परमेष्ठी के पास और उसे औषधि मिल जाती है अपने इस रोग की। रोगी को रोग मुक्त वही डाक्टर कर सकता है जो स्वय उस रोग से पीडित न हो। एक डाक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। उसे आखो का इलाज कराना था। उसे एक पदार्थ 'दो' दिखाई पडते थे। किन्तु परीक्षण के समय ज्ञात हुआ कि स्वय डाक्टर की ऑख में ऐसा रोग था जिसे एक ही पदार्थ 'चार' पदार्थो-सा दिखाई पड़ता था। अब आप ही बताये वह डाक्टर क्या इलाज करेगा। ऐसे स्थान से तो निराशा ही हाथ लगेगी।

ससार मार्ग का समर्थक कभी भी मुक्ति मार्ग का सच्चा उपदेश दे नहीं सकता क्योकि उसे उसमे रुचि ही नहीं है। मुक्ति का मार्ग ही सच्चा मार्ग है अन्य मार्ग तो भटकाने वाले है। उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते है क्योकि वे स्वय ही उस मार्ग के अडिग और अथक पथिक हैं।

एक जैन सज्जन मेरे पास आये, उनका प्रश्न था– "महाराज, आचार्य समन्तभद्र के एक श्लोक से हिंसा का उपदेश ध्वनित होता है। उन्होंने कौवे के मास का उपदेश दिया है अन्य मास का नहीं।" मै दग रह गया। मैंने उन्हे समझाया, भइया। ये

हिसा का उपदेश नहीं है। यहाँ तो उस आदमी को महत्त्व दिया गया है। जिसने कुछ त्यागा है। यहाँ तो छोड़ने का उपदेश दिया गया है ग्रहण का नहीं। भोगो का समर्थन नहीं किया गया है त्याग का समर्थन किया है। पात्र देखकर ही उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश दिया करते है। यदि पात्र-भेद किए बिना उपदेश दिया जाये तो वह सार्थक नहीं हो सकता। जो रात दिन खाता है उसे रात्रि मे पहले अन्न का भोजन छुडवाया जाता है वही उपयुक्त है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे रात्रि मे अन्य पदार्थो के ग्रहण का उपदेश दिया गया हो।

राजस्थान मे एक प्रथा प्रचलित है जिसे कहते है 'गढ़का तेरस'। अनन्त चतुर्दशी के पूर्व तेरस को खूब डटकर गरिष्ट भोजन कर लेते है और ऊपर से कलाकन्द भी खा लेते है फिर चौदस के दूसरे दिन उपवास के बाद, पारणा बढ़े जोर-शोर से करते है। ऐसे व्रत पालने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारी इच्छाओ का मिटना ही व्रतो मे कार्यकारी है।

स्तुति स्तोतु साधो कुशल परिणामाय स तदा।
भवेनमा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सत्ता।

उपाध्याय परमेष्ठी उपस्थित हो अथवा न हो, उनके लिखे हुए शब्दो का भी प्रभाव पडता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा मात्र ने एकलव्य को धनुर्विद्या मे निष्णात् बना दिया। ऐसे होते है उपाध्याय परमेष्ठी। उनको हमारा शत्‌शत् नमोस्तु।

□□

भगवद्-भारती-भक्ति

☐ अज्ञात का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आन्तरिक निधि से होता है वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं।

वचन और प्रवचन में बड़ा अन्तर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका सम्बन्ध सांसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो हमारे अन्दर है। अज्ञात का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करके जो विशेष शब्द खिरते हैं, बोले जाते हैं, वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। आत्मानुभूति के लिये किये गये विशेष प्रयास को प्रवचन कहते हैं। महावीर भगवान ने अज्ञात और अदृष्ट का अनुभव प्राप्त किया। अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये, श्रुत बन गये। श्रुत की आराधना एक महान कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं– द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्य-श्रुत हैं। और अन्दर की पुकार भाव-श्रुत है। विद्वान लोग इसी श्रुत का सहारा लेते हैं धन का सहारा नहीं लेते। वस्तुतः विद्वान वे ही हैं जो अनादिकालीन दुःखों के विमोचन के लिये सरस्वती की आराधना करते हैं। लक्ष्मी की आराधना नहीं करते। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं–

> न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः
> यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्य रश्मयः शमाम्बुगर्भा शिशिरा विपश्चिताम्

हे शीतल प्रभु! विद्वान लोग शीतलता की प्राप्ति के लिये न चन्दन का सहारा लेते हैं न चन्द्र किरणों का, न गंगा के जल का और न हार का। वे आपके वचनों का सहारा लेते हैं क्योंकि उन्हीं से वास्तविक शीतलता मिलती है।

द्रव्य-श्रुत एक चाबी की तरह है जिससे मोह-रूपी ताले को खोला जा सकता है किन्तु चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाये ये बात नहीं। उस चाबी का प्रयोग यदि हम किसी दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है। द्रव्यश्रुत के महत्त्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत का महत्त्व तो तभी

है जब आप इसके सहारे से अपनी अलौकिक आत्म निधि को प्राप्त कर ले। शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निराकार आत्मा का अनुभव कर ले। दूध मे घी है किन्तु हाथ डालने मात्र से मिलने का नहीं। घी प्राप्ति के लिये मथन करना पड़ेगा दूध का। आज तक हमने इस द्रव्यश्रुत का उपयोग आत्मा की प्राप्ति के लिये किया ही नहीं। इसीलिये विद्वान भी लक्ष्मीवान की तरह आज तक दु खी है।

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है किन्तु जिसके हाथ मे दीपक है यदि वह भी इधर-उधर देखता हुआ असावधानी से चले तो सर्प पर भी पैर पड सकता है, वह भटक भी सकता है। इन्द्रियाधीन होने के कारण कषायो के शमन से ही सुख की प्राप्ति होती है और कषायो के शमन से ही भावश्रुत प्रादुर्भाव होता है। वैसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनो ही लाभदायक है किन्तु भावश्रुत तो अनिवार्य रूप से लाभदायक है।

अविनाशी जीव द्रव्य के ज्ञान के लिए शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है। एक साधु के पास एक शिष्य आया। बोला– 'महाराज, मुझे दीक्षित कर लो, आपके सहारे से मेरा भी कल्याण हो जायेगा।' शिष्य बिल्कुल निरक्षर और कम बुद्धि वाला था। साधु महाराज ने कई मन्त्र सिखाये किन्तु उसे कोई मन्त्र याद ही नहीं होते थे। गुरु महाराज बडे चिन्तित 'कैसे कल्याण हो इसका क्या करे? इसे कुछ याद नहीं होता' आखिर उसे छह अक्षरो का एक मन्त्र महाराज ने सिखाया 'मा रुष, मा तुष' अर्थात् रोष मत करो, तोष मत करो। शिष्य उसे भी भूल गया और केवल उसे याद रहा "तुषमास भिन्न" अर्थात् छिलका अलग और दाल अलग। अचानक एक दिन उसने एक बुढिया मॉ को दाल और छिलका अलग करते हुये देखा। बस इसी से उसका कल्याण हो गया। ये शिष्य शिवभूति महाराज थे। जो आत्मा अलग और शरीर अलग ऐसे भेद-विज्ञान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त के लिए 'स्व' मे लीन हो गये और उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे मुक्त हो गये।

हमे भी भेद-विज्ञान की कला मे पारगत होना चाहिये। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिये। अरे भइया! शरीर के साथ जीवन का जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेद-विज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगो की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छाये रहेगी। मोह विलीन हुआ समझो दु ख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह सकता है। किन्तु आज तो इस भेद विज्ञान का भी अर्थ गलत ही लगाया जा रहा है। शरीर अलग और आत्मा अलग है इसलिये शरीर को खूब खिलाओ, पिलाओ आत्मा का उससे कुछ बिगाड होना नहीं है। यह

तो अर्थ का अनर्थ है भइया। हमारी दशा तो उस बुढिया की तरह हो गयी है जिसकी सुई घर मे कहीं खो गयी थी। अँधेरे मे वह उसे ढूँढ नहीं पा रही थी तब किसी ने उजाले मे ढूँढने का परामर्श दिया और बुढ़िया बाहर जहाँ थोडा प्रकाश था वहाँ ढूँढने लगी, पर वहाँ कैसे मिल सकती थी। हमारी भी अनमोल निधि हमारे पास है किन्तु हम उसे बाह्य पदार्थों में ढूँढ रहे है। अर्थ का अनर्थ लगा रहे है। यह कैसी विडम्बना है।

द्रव्यश्रुत आवश्यक है भावश्रुत के लिये। द्रव्यश्रुत ढाल की तरह है और भाव श्रुत तलवार की तरह हैं किन्तु ढाल और तलवार को लेकर रणाङ्गण मे उतरने वाला होश मे ही होना चाहिये। द्रव्यश्रुत द्वारा वह अपनी रक्षा करता रहे और भाव-श्रुत में लीन रहने का प्रयास करे। यही कल्याण का मार्ग है।

एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया "महाराज इस पचम काल मे तो मुक्ति होती नहीं। आपकी क्या राय है? कथचित् सही है यह बात 'मैंने कही'। 'महाराज, जो बात सही है, उसमे भी आप कथचित् लगा रहे है'। – वे सज्जन बोले। हाँ भाई। कथचित् लगा रहे हैं इसलिये कि आज द्रव्य मुक्ति भले न हो, पर भाव मुक्ति तो तुरन्त हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धन आदि इनका विमोचन करो, छुटकारा पा जाओ उन पदार्थों से जिनको आप पकडे बैठे है अपने परिणामो मे भावो मे, बस। तुरन्त कल्याण है यही तो है भाव मुक्ति! प्रवचन भक्ति। □□

विमल-आवश्यक

☐ **मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिए मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं। जो पाँच इन्द्रियों और मन के वश में नहीं है वह 'अवश' है और 'अवशी' के द्वारा किया गया कार्य 'आवश्यक' कहलाता है; करने योग्य कहा जाता है।**

'आवश्यकापरिहाणि' – दो शब्दो से मिलकर बना है। 'आवश्यक' और 'अपरिहाणि' अर्थात् आवश्यक कार्यो को निर्दोष रूप से सम्पन्न करना। आवश्यक कार्यो को समयोचित करने के लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। एक अपढ बहू एक घर मे आ गई। पडौस मे किसी के यहॉ मौत हो गयी थी। सास ने उसे वहॉ भेजा सांत्वना देने के लिए। बहू गई और सात्वना शाब्दिक देकर आ गई। रोई नहीं। सास ने कहा/समझाया कि वहॉ रोना आवश्यक था वहू। अचानक दूसरे ही दिन पडोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने बहू को भेजा और वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। घर लौटी तो सास के पूछने पर उसने सब कुछ कह दिया। सास ने बहू को फिर समझाया "क्या करती हो बहू, वहॉ तो तुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिये था, अब आगे ध्यान रखना।" फिर एक दिन की वात है वह बहु ऐसे घर में गयी जहॉ आग लग गयी थी। वहाँ जाकर उसने गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की। आप जान रहे हैं उस अनपढ वहू के ये काम समयोचित नहीं थे। इसलिये आप सब हॅस रहे है उसकी बात सुनकर। किन्तु यदि आप अपने ऊपर ध्यान दो तो पाओगे कि आप सबका जीवन भी कितना अव्यवस्थित हो रहा है। महर्षि जन आपके क्रिया-कलापो को देखकर हँसते हैं क्योंकि आप के सभी कार्य अस्त व्यस्त हैं। आपको नहीं मालूम कब, कहॉ कौन-सा कार्य करना है।

भगवान वृषभनाथ को अन्तिम कुलकर माना गया है। उनके समय से ही भरत क्षेत्र मे भोगभूमि का अन्त हुआ और कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सारे समाज को तीन भागो मे विभक्त कर छ कार्यो मे लगाया। यह आपको समझना है कि भोगभूमि नहीं है यहॉ। यहाँ कर्मभूमि है पुरुषार्थ आपको अनिवार्य रूप से करना

है। भोग आपको मिलने वाले नहीं है। हमे ये सारी बाते रटी हुई हैं। समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय आदि सभी खोल-खोल कर हमने रट डाले हैं। किन्तु उनमे कही गयी शिक्षाओ के अनुरूप हमारे कार्य नहीं बन पाये। वृषभनाथ भगवान ने युग के आरम्भ मे लोगो को अन्न पैदा करना, अन्न खाना सिखाया और बाद मे मोक्षमार्ग की साधना की भी प्ररूपणा की है। आप केवल खाना खाने तक सीमित रह गये। परलौकिक शिक्षा को हृदयगम किया ही नहीं।

आप विवेक और बुद्धि के अभाव में आवश्यक कार्यो को तो करते नहीं, वासना के दास बने हुये है। 'आवश्यक' शब्द की निष्पत्ति की चर्चा करते हुये आचार्य कुंदकुद ने लिखा है जिसने इन्द्रियो के दासपने को अगीकार कर लिया, वह वशी है।'' जो मन और पॉच इन्द्रियो के वश मे नहीं है वह अवशी है। अवशी केवल आवश्यक कार्य ही करेगा, अनावश्यक कार्य नहीं करेगा। आवश्यक कार्य कौनसा? करने योग्य कार्य ही आवश्यक कार्य है और मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिये मिला है। अनावश्यक कार्यो मे खोने के लिये नहीं मिला। योग साधन के लिये जीवन मिला है भोग साधन के लिए नहीं। ध्यान रखे, त्रस पर्याय सीमित हैं और इसी पर्याय मे आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं। कुल दो हजार सागर का समय मिला है इसके उपरान्त पुन निगोद मे लौट कर जाना ही पडेगा। इन दो हजार सागर में मनुष्य के केवल अडतालीस भव मिलते है। मनुष्य के इन अडतालीस भवो मे भी सोलह बार स्त्री पर्याय के, चौबीस नपुसक के भव और शेष आठ पुरुष पर्याय के है। इस प्रकार अगर देखा जाये तो पूरा विकास करने के लिये आठ ही भव मिले हैं। यदि ये भव यू ही चले गये तो पछताना पडेगा। "अब पछिताये होत क्या, जब चिडिया चुग गई खेत'' डूबने के उपरान्त किसी को बचाया नहीं जा सकता।

मणि को समुद्र मे फेंक देने के उपरान्त उसे पाया नहीं जा सकता। गाडी छूटने के समय आप यात्री से कहे– 'केन्टीन मे चलो थोडा विश्राम कर लो।' तब क्या वह आपकी बात मानेगा,, कभी नहीं मानेगा वह जानता है कि गाडी छूटने का मतलब परेशानी कई घण्टो की। ऐसा ही ये मनुष्य जीवन है।

अकबर और बीरबल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। एक व्यक्ति आया और उसने प्रश्न किया राज दरबार मे– सत्ताइस मे से दस निकाल दिए जॉए तो कितने बचेगे? किन्तु बीरबल का उत्तर बडा अजीब था। उसने कहा सत्ताइस मे से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा। सभी भौचक्के रह गये। यह क्या उत्तर है? कौन-सी स्कूल मे पढा है यह? इतना भी ज्ञान नहीं। तब बीरबल ने समझाया– "सत्ताइस नक्षत्र होते हैं उनमे से दस नक्षत्र ऐसे हैं जिनमे वर्षा होती है यदि वे नक्षत्र

निकाल दिये जाये तो वर्षा के अभाव में फसल नहीं होगी। अन्न का एक दाना भी घर में नहीं आ पायेगा। अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी भूखो मर जाएँगे। कुछ भी शेष नहीं रहेगा।'' इसी प्रकार त्रस पर्याय से मनुष्य भव निकाल दो फिर कल्याण का अवसर कहीं नहीं मिलेगा।

भोग भूमि में भोग भोगने होंगे। उसके विना निस्तार नहीं है। उत्तम भोगभूमि मे तीन पल्य तक रहना होगा, मध्यम भोगभूमि में दो पल्य और जघन्य भोग भूमि मे एक पल्य की उम्र विताना होगी। उत्तम भोगभूमि में आठ भुक्ति के उपरान्त एक भुक्ति अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य भोगभूमि मे छ और चार के उपरान्त एक भुक्ति करना ही होगी। इसे कोई टाल नहीं सकता। भोग भोगना ही पड़ेंगे किन्तु कर्मभूमि मे भोगो के पीछे दौड़ना ही व्यर्थ है। यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा, सयम द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पाया जा सकता है। यहाँ खाना खाओ तो जागृति के लिये, योग साधना के लिए, सोने के लिए नहीं। यह शरीर योग साधना के लिए माध्यम है। इसके माध्यम से ही अलौकिक आनन्द मे प्रवेश किया जा सकता है। सभी तीर्थकरो ने यही किया। उन्होंने मात्र सिखाया ही नहीं, करके भी दिखाया। हमें अवसर का भान करना चाहिए वरना पछताना पड़ेगा, वैसे कई वार पछताये भी हैं परन्तु स्मरण नहीं। श्वान की टेडी पूंछ के समान जो कि कभी सीधी नहीं हो पायी। हमारी भी मनोदशा है। उठो, जागृत हो, अनादि के कुसस्कारो को तिरस्कृत करके निगोद की यात्रा से बचो, जहाँ—

एक श्वास में आठ दस वार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुख भार

समय के साथ चलकर यह आवश्यक कार्य निर्दोष पूर्वक करना चाहिये।

□□

देखनी हो तो देखो उस जटायु पक्षी को। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया, उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणो तक किया। सीताजी की त्राहि माम्! त्राहि माम्– आवाज सुनकर वह चल पडा उस अवला की सहायता के लिये। वह जानता था कि उसकी रावण से लडाई हाथी और मक्खी की लडाई के समान है। रावण का एक घातक प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पर्याप्त है किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रत का निर्दोष पालन करते हुये प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। रावण को उससे शिक्षा लेनी चाहिये थी और हमे भी सीख मिलनी चाहिये।

आज कितना अन्तर है हममे और उस जटायु पक्षी मे। हम एक-एक पैसे के लिये अपना जीवन और ईमान वेचने को तैयार है। अपने द्वारा लिये गये व्रतो के प्रति कहाँ है हमे समर्पण, आस्था और रुचि जैसी जटायु पक्षी मे थी। हम व्रत लेते है तो छूट जाते है या छोड देते है। कई लोग कहते है "महाराज! रात्रि भोजन का हमारा त्याग। किन्तु इतनी छूट रख दो जिस दिन रात्रि मे भोजन का प्रसग आ जाये उस दिन भोजन रात मे कर ले।" यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है। ऐसे लोगो से तो हम यही कह देते है कि प्रसग आने पर दिन का व्रत ले लो और वाकी समयो की चिन्ता मत करो। निर्दोप व्रत का पालन ही मार्ग प्रभावना मे कारण है।

जटायु पक्षी किसी मन्दिर मे नहीं गया किन्तु उसका मंदिर उसके हृदय में था। जिसमे श्री जी के रूप मे उसके स्वय की आत्मा थी। हमे भी उसी आत्मा की विपय कषायो से रक्षा करनी चाहिये। इसे ही मार्ग प्रभावना कहा जायेगा।

हमने कई वार आचार्य ज्ञान सागरजी महाराज से पूछा था– महाराज, मुझ से धर्म की प्रभावना कैसे वन सकेगी? तव उनका उत्तर था "आर्पमार्ग मे दोप लगा देना अप्रभावना कहलाती है तुम ऐसे अप्रभावना से वचते रहना वस! प्रभावना हो जायेगी।" मुनि मार्ग सफेद चादर के समान है उसमें जरा-सा भी दाग लगना अप्रभावना का कारण है। उनकी यह सीख वड़ी पैनी है। इसलिये प्रयास मेरा यही रहा कि दुनिया कुछ भी कहे या न कहे, मुझे अपने ग्रहण किये हुये व्रतो का परिपालन निर्दोप करना है।

भगवान महावीर के उपदेशो के अनुरूप अपना जीवन वनाओ। यही सवसे वडी प्रभावना है। मात्र नारेवाजी से प्रभावना होना संभव नहीं है। रावण को राक्षस कहा है वह वास्तव मे राक्षस नहीं था किन्तु आर्य होकर भी उसने अनार्य जैसे कार्य किये। अन्त तक मिथ्यामार्ग का सहारा लिया। कुमार्ग को ही सच्चा मार्ग मानता रहा। 'मेरा है सो खरा है और खरा है सो मेरा है' – इस वाक्य में मिथ्यात्वी और

सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन निहित है। वाक्य के प्रथम अंश के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी है और वाक्य के दूसरे हिस्से के अनुयायी सन्मार्गी है। हमारे अन्दर यह विवेक हमेशा जागृत रहना चाहिये कि मेरे द्वारा ऐसे कोई कार्य तो नहीं हो रहे जिनसे दूसरों को आघात पहुँचे। यही प्रभावना का प्रतीक है।

कल हमे 'तीर्थकर' पत्र मे एक समाचार देखने को मिला। लिखा था "धर्मचक्र चल रहे है बडी प्रभावना हो रही है।" सोचो, क्या इतने से ही प्रभावना हो जायेगी। मात्र प्रतीक पर हमारी दृष्टि है। सजीव धर्मचक्र कोई नहीं चल रहा उसके साथ। सजीव धर्मचक्र की गरिमा की ओर हमारा ध्यान कभी गया ही नहीं। सजीव धर्मचक्र है वह आत्मा जो विषय और कषायों से ऊपर उठ गयी है। मात्र जड धन पैसे से धर्म प्रभावना होने वाली नहीं। जनेऊ, तिलक और मात्र चोटी धारण करने से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना तो वस्तुत अतरग की बात है। परमार्थ की प्रभावना ही प्रभावना है। परमार्थ के लिये कोई धन का विमोचन करे, वह प्रभावना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बडा विख्यात है हम सभी कहते है "मगल कुन्दकुन्दार्यो अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य मगलमय है। किन्तु हम उनकी भी बात नहीं मानते। शास्त्रों की वे ही बाते हम स्वीकार कर लेते है जिनसे हमारा लौकिक स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। परमार्थ की बात हमारे गले उतरती ही नहीं है। उनके ग्रन्थ-समयसार प्राभृत मे एक गाथा आयी है जिसका सार इस प्रकार है– "विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकते हुये जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे हुये जिनेन्द्र भगवान की प्रभावना कर रहा है।"

विषय कषायो पर कन्ट्रोल करो। वीतरागता की ही प्रभावना है, रागद्वेष की प्रभावना नहीं है। भगवान् ने कभी नहीं कहा कि मेरी प्रभावना करो। उनकी प्रभावना तो स्वय हो गयी है। लोकमत के पीछे मत दौडो, नहीं तो भेडो की तरह जीवन का अन्त हो जायेगा। मालूम है उदाहरण भेडो का। एक के बाद एक सैकडो भेडे चली जा रही थीं, एक गड्ढे मे एक गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सबका जीवन गिरकर समाप्त हो गया। उनके साथ एक बकरी भी थी किन्तु वह नहीं गिरी क्यो वह भेडो की सजातीय नहीं थी। उसी तरह झूठ हजारो है जो एक न एक दिन गिरेंगे। किन्तु सत्य केवल एक है अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। और सत्य की प्रभावना तभी होगी जब तुम स्वय अपने जीवन को सत्यमय बनाओगे, चाहे तुम अकेले ही क्यो न रह जाओ, चुनाव सत्य का जनता अपने आप कर लेगी। □□

वात्सल्य

□ दूध पानी को मिला सकता है विजातीय होने पर भी; पर हम तो सजातीय को भी नहीं मिला पाते। सोचो: समय रहते एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनंद आता है।

[illegible]

[illegible]

लायें। यह है वात्सल्य की भावना। तव धर्मराज ने समझाया– "हम परस्पर सौ कौरव और पॉच पाण्डव है, लड भिड सकते है किन्तु बाहर वालो के लिये हम सदा एक सो पाच भाई ही है। हमारे भीतर एकता की ऐसी भावना होनी चाहिए।

भगवान महावीर की पूजा करने वालो मे मतभेद हो जाये, विचारो मे भिन्नता आ जाय किन्तु मन भेद नहीं होना चाहिए। पानी की धारा जव प्रवाहित होती है तो निर्बाध ही चली जाती है किन्तु किसी घनीभूत पत्थर के मार्ग मे आ जाने पर वह धारा दो भागो मे विभक्त हो जायेगी। वात्सल्य-विहीन व्यक्ति भी पत्थर की तरह होते है। वे समाज को दो धाराओ मे विभक्त कर देते है।

जाति-विरोध वास्तव मे बहुत बुरी चीज है। हम महावीर भगवान को तो माने, उनकी पूजा करे, भक्ति करे और अपने साधर्मी भाइयो से वैमनस्य रखे, तो समझो हमारी पूजा व्यर्थ है। समवशरण में भी हमारी यही दृष्टि रही, स्वर्गो में भी यही रही। साधर्मी के वैभव को हम देख नही पाते, ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। विधर्मी चाहे कितना ही वडा क्यो न हो हमे कोई चिन्ता नहीं होती किन्तु सजातीय वन्धु की जरा सी उन्नति भी हमारी ईर्ष्या का कारण बन जाती है। उसे हम सहन नहीं कर पाते। यहीं से दु खो की जड प्रारम्भ होती है। ये वैमनस्य ही कारण है हमारी व्यथाओ का।

भई, समझो तो सही, विचार भेद तो केवल ज्ञान की प्राप्त से पूर्व छद्मस्थ अवस्था मे रहेगा ही किन्तु मन भेद तो नहीं रखना चाहिये। केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विचारो की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है। लय मे लय का मिलना भी एक नय सिद्धान्त है। सभी जीवो को एकसूत्र मे बॉधने के लिये जैनधर्म मे सग्रह नय का उल्लेख किया है। सभी जीव शुद्ध नय की अपेक्षा स शुद्ध है। हमे भी ऐसे ही एक सूत्र मे वॅधना चाहिये तभी श्रेयस्कर है।

ध्यान रखो, यदि हमारे अन्दर वैमनस्य की रेखा है तो वह उभरकर ऊपर मे करुणा की लहरे पेदा करेगी। जैसे किसी तालाव मे एक पत्थर फेका जाये तो तरगे एक तट से दूसरे तट तक फैल जाती है उसी प्रकार यह वैमनस्य भी फैलता ही जाता है। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर, सुनकर भीम वडे लज्जित होकर नतमस्तक हो गये थे। हमे भी इससे शिक्षा लेना चाहिये।

आज हम वात्सल्यहीन होते जा रहे हैं। जो हमारी उन्नति में वाधक वन रहा है। साधर्मियो से हमारी लडाई और विधर्मियो से प्रेम हमारे पतन का कारण है। आज मनुष्य की चाल और श्वान की चाल एक जैसी हो गई है। एक लडके ने एक कुत्ता पाल लिया। वह वालक उस कुत्ते से वडा प्यार करता क्योकि कुत्ता आप जानते

ही है, वस्तुत स्वामिभक्ति होता है। वह बालक एक दिन माँ से बोला– "माँ दुनियाँ में शेरसिंह, हाथीसिंह, अश्वसेन, आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु श्वानसेन किसी का नाम नहीं। ऐसा क्यों? "तब माँ बोली– "बेटा ! तू अभी जानता नहीं। अगर अभी सामने से कोई दूसरा कुत्ता आ जाये तो देखना तुम्हारा ये कुत्ता तुम्हारी गोद से उतरकर उससे लड़ने पहुँच जायेगा, यह जाति द्रोह है यही इनका सबसे बड़ा अवगुण है। इसलिये कोई माता-पिता अपने बेटे का नाम श्वानसिंह नहीं रखते। इसी तरह हमारी रक्षा साधर्मी के द्वारा ही होगी। विधर्मी कभी हमारी रक्षा के लिये नहीं आयेगा।

एक बार 'आक' का दूध गाय और भैंस के दूध से बोला– "भइया मुझे भी अपने साथ मिला लो। मेरा भी निस्तार हो जायेगा।" ना भइया, मैं तुम्हें थोड़ा भी अपने में मिला लूँ तो मेरा स्वभाव भी बदल जायेगा मैं फट जाऊँगा और कोई मुझे भी नहीं पियेगा। तब कैसे मैं पालन कर पाऊँगा भूखे प्राणियों का"– गौ का दुग्ध बोला। तब आक का दूध कहता है, भइया, पानी को मिला लेते हो, जो कि विजातीय है।" पानी विजातीय होकर भी अलग स्वभाव का है मिलन सारी है पानी का तो यह हाल है– जैसा मिले संग, वैसा उसका रंग।" विजातीय होकर भी पानी अपने इसी स्वभाव के कारण सभी के साथ मिल सकता है किन्तु हम सजातीय होकर भी ऐसा वात्सल्य का स्वभाव जागृत नहीं कर पाते। भाई, एक डोरी में बँध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनन्द आयेगा।

भगवान महावीर ने इस वात्सल्य भाव को अपने जीवन में उतारा था। प्रकाश का स्वभाव भी देखो, बीसों बल्बों का प्रकाश भी एक साथ मिल जाता है। प्रकाश में कभी लड़ाई नहीं होती, हमारी छाया भले ही प्रकाश में भेद उत्पन्न कर दे। जैसे प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है वैसे ही हमारी आँखों से निकली हुई चैतन्य धारा भी दूसरों की ओर से आने वाली चेतन धारा से मिल जाना चाहिए। जड के सम्पर्क में रहकर हम भी जड़ होते चले जा रहे हैं। जड़ का अर्थ अचेतन भी है और मूर्ख भी है। यह मूर्ख संज्ञा मनुष्यों की ही है। दुनियाँ के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते किन्तु हम मनुष्य अपना स्वभाव भूल कर उसे छोड़ बैठे हैं। इसीलिए दुखी भी है।

सन्त लोग एक-एक पंक्ति में सुख का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी एक एक बात सारभूत है। किन्तु हम उसे छोडकर निस्सार की ओर दौड़ रहे हैं। हमने उनकी पुकार सुनी ही नहीं। गुरुओं के हृदय में तो करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती है उससे हमें लाभ लेना चाहिये और जाति-द्रोह, वैमनस्य, श्वान चाल छोडकर मैत्री और वात्सल्य भाव को अपनाना चाहिये। □□

गुरुवाणी

□ आनंद का स्रोत : आत्मानुशासन

आज हम एक पवित्र आत्मा की स्मृति के उपलक्ष्य मे एकत्रित हुये है। भिन्न-भिन्न लोगो ने इस महान् आत्मा का मूल्याकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया है। लेकिन सभी अतीत मे झाक रहे है। महावीर भगवान अतीत की स्मृति मात्र से हमारे हृदय मे नही आयगे। वास्तव मे देखा जाये तो महावीर भगवान एक चैतन्य पिड है वे कहीं गये नहीं है वे प्रतिक्षण विद्यमान हे किन्तु सामान्य ऑखे उन्हे देख नहीं पाती।

देश के उत्थान के लिए, सामाजिक विकास के लिए और जितनी भी समस्याए है उन सभी के समाधान के लिए आज अनुशासन को परम आवश्यक माना जा रहा है। लेकिन भगवान महावीर ने अनुशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन को श्रेष्ठ माना है। अनुशासन चलाने के भाव में मैं बडा और दूसरा छोटा इस प्रकार का कषाय भाव विद्यमान हे लेकिन आत्मानुशासन मे अपनी ही कषायो पर नियत्रण की आवश्यकता है। आत्मानुशासन मे छोटे बडे की कल्पना नहीं है। सभी के प्रति समता भाव है।

अनादिकाल से इस जीवन ने कर्तृत्त्व-बुद्धि के माध्यम से विश्व के ऊपर अनुशासन चलाने का दम्भ किया है उसी के परिणाम स्वरूप यह जीव चारो गतियो मे भटक रहा है। चारो गतियां मे सुख नहीं है शान्ति नहीं है आनद नहीं है फिर भी यह इन्हीं गतियो मे सुख-शान्नि और आनद की गवेषणा कर रहा है। वह भूल गया है कि दिव्य घोषणा है सतो की, कि सुख शान्ति का मूल स्रोत आत्मा है। वहीं इसे खोजा और पाया जा सकता है। यदि दुख का, अशान्ति और आकुलता का कोई केन्द्र विदु है तो वह भी स्वय की विकृत दशा को प्राप्त आत्मा ही है। विकृत-आत्मा स्वय अपने ऊपर अनुशासन चलाना नहीं चाहता, इसी कारण विश्व मे सब ओर अशान्ति फैली हुई है।

भगवान महावीर की छवि का दर्शन करने के लिए भौतिक आँखे काम नहीं कर सकेगी, उनकी दिव्य ध्वनि सुनने, समझने के लिऐ ये कर्ण पर्याप्त नहीं है। ज्ञान चक्षु के माध्यम से ही हम महावीर भगवान की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते है। उनकी वाणी को समझ सकते है। भगवान महावीर का शासन रागमय शासन नहीं रहा, वह

वीतरागमय शासन है। वीतरागता वाहर से नहीं आती, उसे तो अपने अन्दर जागृत किया जा सकता है। यह वीतरागता ही आत्म-धर्म है। यदि हम अपने ऊपर शासन करना सीख जाये, आत्मानुशासित हो जाएँ तो यही वीतराग आत्म धर्म, विश्व धर्म बन सकता है।

भगवान पार्श्वनाथ के समय ब्रह्मचर्य की अपेक्षा अपरिग्रह को मुख्य रखा था। सारी भोग-सामग्री परिग्रह मे आ ही जाती है। इसलिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया गया। वह अपरिग्रह आज भी प्रासगिक है। भगवान महावीर ने उसे अपने जीवन के विकास मे बाधक माना है। आत्मा के दुख का मूलस्रोत माना है। किन्तु आप लोग परिग्रह के प्रति बहुत आस्था रखते हैं। परिग्रह छोडने को कोई तैयार नहीं है। उसे कोई बुरा नहीं मानता। जब व्यक्ति वुराई को अच्छाई के रूप मे और अच्छाई को बुराई के रूप मे स्वीकार कर लेता है तव उस व्यक्ति का सुधार, उस व्यक्ति का विकास असम्भव हो जाता है। आज दिशावोध परमावश्यक है। परिग्रह के प्रति आसक्ति कम किये विना वस्तुस्थिति ठीक प्रतिबिबित नहीं हो सकती।

'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग, की घोपणा सैद्धान्तिक भले ही हो किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए यह तीनों बाते प्रकारान्तर से अन्य शब्दो के माध्यम से हमारे जीवनमे सहायक सिद्ध होती है। आप देखते हैं कि कोई भी, सहज ही किसी को कह देता है या माँ अपने बेटे को कह देती है कि वेटा, देखभाल कर चलना, 'देख' यह दर्शन का प्रतीक है, 'भाल' – विवेक का प्रतीक है सम्यग्ज्ञान का प्रतीक है और 'चलना' यह सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। इस तरह यह तीनो वाते सहज ही प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक है।

आप ससार के विकास के लिए चलते है तो उसी ओर देखते है उसी को जानते हैं। महावीर भगवान आत्म विकास की वात करते हैं। उसी ओर देखते उसी को जानते है और उसी की प्राप्ति के लिए चलते हैं। इसलिए महावीर भगवान का दर्शन ज्ञेय पदार्थो को महत्त्व नहीं देता अपितु ज्ञान को महत्त्व देता है। ज्ञेय पदार्थो से प्रभावित होने वाला वर्तमान भौतिकवाद भले ही आध्यात्म की चर्चा कर ले किन्तु अध्यात्म को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञेयतत्त्व का मूल्याकन आप कर रहे है और सारा ससार ज्ञेय बन सकता है किन्तु मूल्याकन करने वाला किस जगह बैठा है इसे भी देखने की बहुत आवश्यकता है। अध्यात्म का प्रारंभ उसी से होगा।

आपकी घडी की कीमत है आपकी खरीद हुई प्रत्येक वस्तु की कीमत है किन्तु कीमत करने वाले की कीमत क्या है। अभी यह जानना शेष है। जिसने इसको जान लिया उसने

महावीर भगवान को जान लिया। अपनी आत्मा को जान लेना ही सारे विश्व को जान लेना है। भगवान महावीर के दिव्य ज्ञान मे सारा विश्व प्रतिबिबित है। उन्होने अपनी आत्मा को जान लिया है। अपने शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अपने आप को जान लेना ही हमारी भारतीय सस्कृति की विशेषता है यही अध्यात्म की उपलब्धि है। जहॉ आत्मा जीवित है वहीं ज्ञेय-पदार्थो का मूल्याकन भी सभव है।

शुद्ध आत्म तत्त्व का निरीक्षण करने वाला व्यक्ति महान पवित्र होता है। उसके कदम बहुत ही धीमे-धीमे उठते है किन्तु ठोस उठते है उनमे बल होता है उनमे गाम्भीर होता है उसके साथ विवेक जुडा हुआ रहता है। विषय-कषाय उससे बहुत पीछे छूट जाता हैं।

जो व्यक्ति वर्तमान मे ज्ञानानुभूति मे लीन है वह व्यक्ति आगे बहुत कुछ कर सकता है किन्तु आज व्यक्ति अतीत की स्मृति में उसी की सुरक्षा मे लगा है या फिर भविष्य के बारे मे चिंतित है कि आगे क्या होगा। इस प्रकार वह स्वय वर्तमान पुरुषार्थ को खोता जा रहा है। वह भूल रहा है कि वर्तमान में से ही भूत और भविष्य निकलने वाले है। अनागत भी इसी मे से आयेगा और अतीत भी इसी मे ढलकर निकल चुका है। जो कुछ कार्य होता है वह वर्तमान मे होता है और विवेकशील व्यक्ति ही उसका सपादन कर सकता है। भविष्य की ओर दृष्टि रखने वाला आकाक्षा और आशा मे जीता है अतीत में जीना भी बासी खाना है वर्तमान मे जीना ही वास्तविक जीना है।

अतीत भूत के रूप मे व्यक्ति को भयभीत करता है और भविष्य की आशा, तृष्णा बनकर नागिन की तरह खडी रहती है जिससे व्यक्ति निश्चिंत नहीं हो पाता। जो वर्तमान मे जीता है वह निश्चिंत होता है वह निडर और निर्भीक होता है। साधारण सी बात है कि जिस व्यक्ति के वर्तमान मे अच्छे कदम नहीं उठ रहे उसका भविष्य अधकारमय होगा ही। कोई चोरी करता रहे और पूछे कि मेरा भविष्य क्या है? तो भैया वर्तमान मे चोरी करने वालों का भविष्य क्या जेल मे व्यतीत नहीं होगा यह एक छोटा सा बच्चा भी जानता है। यदि हम उज्ज्वल भविष्य चाहते हैं तो वर्तमान मे रागद्वेष रूपी अपराध को छोड़ने का सकल्प लेना होगा।

अतीत में अपराध हो गया कोई बात नहीं। स्वीकार कर लिया। दड भी ले लिया। अब आगे प्रायश्चित करके भविष्य के लिए अपराध नहीं करने का जो सकल्प ले लेता है वह ईमानदार कहलाता है। वह अपराध अतीत का है वर्तमान का नहीं। वर्तमान यदि अपराध मुक्त है तो भविष्य भी उज्ज्वल हो सकता है। यह वर्तमान पुरुषार्थ का परिणाम है। भगवान महावीर यह कहते है कि डरो मत ! तुम्हारा अतीत पापमय रहा है किन्तु

यदि वर्तमान सच्चाई लिए हुए है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल रहेगा। भविष्य मे जो व्यक्ति आनन्दपूर्वक, शान्तिपूर्वक जीना चाहता है उसे वर्तमान के प्रति सजग रहना होगा।

पाप केवल दूसरो की अपेक्षा से ही नहीं होता। आप अपनी आत्मा को बाहरी अपराध से सासरिक भय के कारण भले ही दूर रख सकते हैं किन्तु भावो से होने वाला पाप, हिंसा झूठ चोरी आदि हटाये विना आप पाप से मुक्त नहीं हो सकते। भगवान महावीर का जोर भावो की निर्मलता पर है। जो स्वाश्रित है। आत्मा मे जो भाव होगा वही तो वाहर कार्य करेगा। अंदर जो गंदगी फैलेगी वह अपने आप वाहर आयेगी। वाहर फैलने वाली अपवित्रता के स्रोत की ओर देखना आवश्यक है। यही आत्मानुशासन है जो विश्व मे शांति और आनंद फैला सकता है।

जो व्यक्ति कपाय के वशीभूत होकर स्वयं शासित हुए बिना विश्व के ऊपर शासन करना चाहता है वह कभी सफलता नहीं पा सकता। आज प्रत्येक प्राणी राग, द्वेष विषय कपाय और मोह मत्सर इनको सवरित करने के लिए संसार की अनावश्यक वस्तुओ का सहारा ले रहा है। यथार्थत देखा जाये तो इन सभी को जीतने के लिए आवश्यक पदार्थ एक मात्र अपनी आत्मा को छोड़कर और दूसरा है ही नहीं। आत्म तत्त्व का आलवन ही एकमात्र आवश्यक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा के रूप में ढलने की योग्यता रखता है।

इस रहस्य को समझना होगा कि विश्व को सचालित करने वाला कोई एक शासन कर्ता नहीं है। और न ही हम उस शासक के नौकर चाकर हैं। भगवान महावीर कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा वनने की शक्ति विद्यमान है। परमात्मा की उपासना करके अनत आत्माएँ स्वयं परमात्मा वन चुकी हैं और आगे भी वनती रहेगी। हमारे अदर जो शक्ति राग द्वेप और मोह रूपी विकारी भावों के कारण तिरोहित हो चुकी है उस शक्ति को उद्घाटित करने के लिए और आत्मानुशासित होने के लिए समता भाव की अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्तमान में समता का अनुसरण न करते हुए हम उसका विलोम परिणमन कर रहे हैं। समता का विलोम है तामस। जिस व्यक्ति का जीवन वर्तमान में तामसिक तथा राजसिक है सात्त्विक नहीं है वह व्यक्ति भले ही वुद्धिमान हो, वेदपाठी हो तो भी तामसिक प्रवृत्ति के कारण कुपथ की ओर ही वढता रहेगा। यदि हम अपनी आत्मा को जो राग, द्वेप, मोह, मद, मत्सर से कलंकित हो चुकी है विकृत हो चुकी है उसका संशोधन करने के लिए महावीर भगवान की जयन्ती मनाते हैं तो यह उपलब्धि होगी। केवल लंवी चौडी भीड़ के समक्ष भाषण आदि के माध्यम से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना उसके

द्वारा होती है जो अपने मन के ऊपर नियन्त्रण करता है और सम्यग्ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षपथ पर यात्रा करता है। आज इस पथ पर आरूढ़ होने की तैयारी होनी चाहिये।

'चेहरे पर चेहरे है बहुत-बहुत गहरे है खेद की बात तो यही है वीतरागता के क्षेत्र मे अधे और बहरे है? आज मात्र वीतरागता के नारे लगाने की आवश्यकता नहीं है। जो परिग्रह का विमोचन करके वीतराग पथ पर आरूढ़ हो चुका है या होने के लिए उत्सुक है वही भगवान महावीर का सच्चा उपासक है। मेरी दृष्टि मे राग का अभाव दो प्रकार से पाया जाता है अराग अर्थात् जिसमे रागभाव समव ही नहीं है ऐसा जड पदार्थ और दूसरा वीतराग अर्थात् जिसने राग को जीत लिया है जो रागद्वेष से ऊपर उठ गया है। सासारिक पदार्थो के प्रति मूर्छा रूप परिग्रह को छोडकर जो अपने आत्म स्वरूप मे लीन हो गया है। पहले राग था अब उस राग को जिसने समाप्त कर दिया है जो समता भाव मे आरूढ़ हो गया है वही वीतराग है।

राग की उपासना करना अर्थात् राग की ओर बढ़ना एक प्रकार से महावीर भगवान के विपरीत जाना है। यदि महावीर भगवान की ओर, वीतरागता की ओर बढना हो तो धीरे-धीरे राग कम करना होगा। जितनी मात्रा मे राग आप छोडते हैं जितनी मात्रा मे स्वरूप पर दृष्टिपात आप करते हैं समझिये उतनी मात्रा में आप आज भी महावीर भगवान के समीप हैं उनके उपासक हैं। जिस व्यक्ति ने वीतराग पथ का आलम्बन लिया है उस व्यक्ति ने ही वास्तव में भगवान महावीर के पास जाने का प्रयास किया है। वही व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण कर सकता है।

आप आज ही यह सकल्प कर ले कि हम अनावश्यक पदार्थो को, जो जीवन मे किसी प्रकार से सहयोगी नहीं हैं त्याग कर देगे। जो आवश्यक है उनको भी कम करते जायेगे। आवश्यक भी आवश्यकता से अधिक नहीं रखेगे। भगवान महावीर का हमारे लिए यही दिव्य सदेश है कि जितना बने उतना अवश्य करना चाहिये। यथाशक्ति त्याग की बात है। जितनी अपनी शक्ति है जितनी ऊर्जा और बल है उतना तो कम से कम वीतरागता की ओर कदम बढ़ाइये। सर्वाधिक श्रेष्ठ यह मनुष्य पर्याय है। जब इसके माध्यम से आप ससार की ओर बढ़ने का इतना प्रयास कर रहे हैं। तो यदि चाहें तो अध्यात्म की ओर भी बढ़ सकते हैं। शक्ति नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है।

'ससार सकल त्रस्त है पीड़ित व्याकुल विकल/इसमे है एक कारण/हृदय से नहीं हटाया विषय राग को/हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को/जो शरण,तारण-तरण। दूसरे पर अनुशासन करने के लिए तो बहुत परिश्रम उठाना पडता है पर आत्मा पर शासन

करने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं है एक मात्र सकल्प की आवश्यकता है। सकल्प के माध्यम से मैं समझता हूँ आज का यह हमारा जीवन जो कि पतन की ओर है वह उत्थान की ओर, पावन वनने की ओर जा सकता है। स्वय को सोचना चाहिये कि अपनी दिव्य शक्ति का हम कितना दुरुपयोग कर रहे है।

आत्मानुशासन से मात्र अपनी आत्मा का ही उत्थान नहीं होता अपितु बाहर जो भी चैतन्य है उन सभी का उत्थान भी होता है। आज भगवान का जन्म नहीं हुआ था, बल्कि राजकुमार वर्धमान का जन्म हुआ थ। जब उन्होने वीतरागता धारण कर ली, वीतराग-पथ पर आरूढ़ हुए और आत्मा को स्वय जीता, तब महावीर भगवान बने। आज मात्र भौतिक शरीर का जन्म हुआ था। आला तो अजन्मा है। वह तो जन्म मरण से परे है। आत्मा निरन्तर परिणमनशील शाश्वत द्रव्य है। भगवान महावीर जो पूर्णता मे ढल चुके है उन पवित्र दिव्य आत्मा को मै बार-बार नमस्कार करता हूँ। 'यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर। हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।''

□□

☐ ब्रह्मचर्य : चेतन का भोग

ब्रह्मचर्य की व्याख्या आप लोगों के लिए नई नहीं है किन्तु पुरानी होते हुए भी उसमे नयापन है। वह हमेशा सामयिक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी परोन्मुखी उपयोग धारा को स्व की ओर मोड़ना। दृष्टि अन्तर्दृष्टि बन जाये। बाहरी पथ पर यात्रा न होकर अन्तरपथ पर यात्रा हो। बहिर्जगत शून्यवत् हो जाए। अन्तर्जगत् उद्घाटित हो। ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्तुत है चेतन का भोग। ब्रह्मचर्य का अर्थ भोग से निवृत्ति नहीं बल्कि भोग से एकीकरण और रोग से निवृत्ति है। जिसे आप लोगो ने भोग माना है वह वास्तव मे रोग है। उस रोग से निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है।

लगभग दस साल पूर्व की बात है एक विदेशी आया था, उसका कहना था कि ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना कठिन है। आप इसे न अपनाये क्योकि आज के वैज्ञानिको ने सिद्ध कर दिया है कि भोग के बिना जीवन सभव नहीं है। मैंने कहा कि ठीक है भोग जहॉ है वहीं पर जीवन है। यह मैं भी मानता हूँ लेकिन जिसे आप भोग समझते हैं उसे मैं भोग नहीं समझता, उसे तो मै रोग मानता हूँ। आपका भोग का केन्द्र भौतिक सामग्री है हमारे यहॉ भोग की सामग्री बनती है चैतन्य शक्ति। विषय वासना तो मृत्यु का कारण हैं दुख की ओर ले जाने वाली है। लेकिन ब्रह्मचर्य तो जीवन है आनन्द है सुख का मूल है। जो सुख चाहते हैं वे चाहे इसे आज अपनावें या कभी भी अपनावे किन्तु अपनाना अवश्य पडेगा। रोग की निवृत्ति के लिए जैसे औषधि अनिवार्य है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी औषधि है। जो वासना से निवृत्ति के लिए अनिवार्य है।

भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पॉच सूत्रों मे से यह चौथा सूत्र ब्रह्मचर्य बहुत महत्वपूर्ण है अपने मे पूर्ण है। जितने भी अनन्त सुख के भोक्ता आज तक बने हैं सबने इसका समादर किया है। इसे जीवन मे अपनाया है। ब्रह्मचर्य पूज्य बना किन्तु कभी भोग सामग्री पूज्य नहीं बनी। इतना अवश्य है कि ब्रह्मचर्य को पूज्य मानने के बाद भी आपकी दृष्टि मे आदर अभी भी भोग सामग्री का है और यही दयनीय है, दुखद है।

जैन साहित्य हो या अन्य कोई दार्शनिक साहित्य हो, सभी को देखने पर विदित

होता है कि आत्मा को सही-सही रास्ता तभी मिल सकता है जब हम उपलब्ध साहित्य का अध्ययन चिंतन, मनन व मन्थन करे। हम उसे मात्र पढकर या सुनकर बैठ न जाये। सुनने से पहले या पढ़ने से पहले विचार अवश्य करे कि क्यो सुन रहे हैं। दवाई लेने से पूर्व हम यह निर्णय अवश्य करते हैं कि दवा क्यों ले रहे हैं? उसी प्रकार सुनने या पढने से पूर्व प्राप्ति का लक्ष्य अवश्य होना चाहिये। जितना सुने या पढ़े उससे कम से कम आठ गुना चिंतन मनन मंथन अवश्य करें। खाना के साथ-साथ पचाना भी अनिवार्य है। जो खाया है उसके पचने पर ही सारभूत भाग प्राप्त होता है।

उपयोग की धारा को बाहर से अन्दर की ओर लाना ही ब्रह्मचर्य है। उपयोग की धारा जो अभी बाहर अटक रही है वहाँ से स्थानान्तरित हो जाये और चाहे अपनी आत्मा की गहराई में चली जाये, चाहे दूसरे की आत्मा मे चली जाये, उपयोग को खुराक मिलनी चाहिये आत्म तत्त्व की। जहाँ पर अनन्त निधियाँ छिपी हैं। जब आत्म सम्पदा ही उपयोग की खुराक बन जायेगी तभी आत्मा जो अनादि काल से तप्त है वह अनन्तकाल के लिए तृप्त हो जायेगी।

ब्रह्मचर्य का विरोधी धर्म है 'काम'। यह 'काम' और कोई चीज नहीं है यह वही उपयोग है जो बहिर्वृत्ति को अपनाता आ रहा है। जो भौतिक सामग्री में अटका हुआ है। 'काम' को अग्नि माना गया है। इस कामाग्नि को प्रदीप्ति करने वाली भौतिक सामग्री है। जो सर्वत्र बिखरी हुई है यह कामाग्नि अनादिकाल से जला रही है आत्मा को। इसमे से अपने को निकालना है और वहाँ पर पहुँचना है जहाँ चारों ओर है शान्ति सुख और आनंद।

इस 'काम' के ऊपर विजय पाने का अर्थ है अपने बाहर की ओर जा रहे उपयोग को आत्मा मे लगाना, चाहे स्वात्मा हो या परमात्मा। काम पुरुषार्थ का उल्लेख आता है भारतीय साहित्य में। सामान्य रूप से इस काम पुरुषार्थ का अर्थ भोग ही लिया जाता है। लेकिन ऐसा नहीं है। यहाँ भी दृष्टि चैतन्य की ओर होना चाहिये। काम-पुरुषार्थ का अर्थ मात्र बाह्य पदार्थो में रमण करते रहना नहीं है। काम पुरुषार्थ में तीन शब्द हैं काम, पुरुष, अर्थ। काम अर्थात् भोग, पुरुष यानी आत्मा और अर्थ अर्थात् प्रयोजन। इस तरह काम पुरुषार्थ का अर्थ हुआ कि ऐसा भोग जिसमें प्रयोजन आत्मा से है। चैतन्य भोग के बिना हम आत्मा तक पहुँच नहीं सकते। पहुँचना वहीं पर है पुरुष तक। पुरुष तक अर्थात् आत्मा तक पहुँचने के लिए यह 'काम' सहायक तत्त्व हैं

आप लोग पुरुष तक नहीं पहुँचते। पुरुष तक पहुँचने वाला पुरुषार्थी होता है और बाह्य भौतिक सामग्री मे अटकने वाला गुलाम होता है। जिस व्यक्ति का लक्ष्य पुरुष (आत्मा) नहीं है वह गुलाम तो है ही। जड अचेतन पदार्थो के पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति

चेतन द्रव्य होते हुए भी जड माना जायेगा। जो लक्ष्य से पतित है वह भटका हुआ ही है। काम पुरुषार्थ को उन्नत बनाने के लिए भारतीय आचार सहिता में विवाह के ऊपर जोर दिया गया। विवाह, ब्रह्मचर्य के निकट जाना है। विवाह की डोरी मे बधने के बाद वह आत्मा फिर चारो ओर से अपने आप को छुडा लेता है। और उस डोरी के सहारे वह आत्मा तक पहुँचने का प्रयास भी करता है।

जैसे किसी बहाव को देश से देशान्तर ले जाना हो तो एक निश्चत रास्ता देना होगा तभी वह बहाव वहाँ तक पहुँच पायेगा अन्यथा किसी भी दिशा मे बहकर या मरुभूमि मे जाकर समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार उपयोग की धारा को बहने के लिए यदि कोई एक निश्चित रास्ता आपके पास नहीं है तो वह अनन्त दिशाओ मे बहेगा और समाप्त हो जायेगा। विवाह के माध्यम से उपयोग की धारा को एक दिशा दी जाती है तब अनन्त दिशाओ मे उसका जाना बद हो जाता है आज विवाह मात्र रूढ़ि वन गया है और विवाह के उपरान्त भी कोई व्यक्ति आत्मा की ओर गतिशील नहीं होता। उपयोग की धारा यहाँ-वहाँ भटककर लुप्त हो जाती है।

जिस समय विवाह-सस्कार होता है उस समय उस उपयोगवान् आत्मा को संकल्प दिया जाता है कि अब तुम्हारे लिए ससार मे इस एक आत्मा के अलावा शेष जो स्त्रिया है वे सब माँ, बहिन और पुत्री के समान है। यही एकमात्र रास्ता है जिसके माध्यम से अपने चैतन्य तक पहुँचना है। प्रयोगशाला मे जैसे एक विज्ञान का विद्यार्थी जाता है प्रयोग करना प्रारभ करता है और जिस पर प्रयोग करता है उसी मे उसकी दृष्टि लीन हो जाती है और वह आसपास क्या हो रहा है यह तो भूल ही जाता है स्वय को भी भूल जाता है एकमात्र उपयोग अपना काम करता है तब वह विद्यार्थी सफलता प्राप्त करता है। प्रयोग के माध्यम से अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता है। ऐसी ही प्रयोगशाला है विवाह। जहाँ प्रयोग करने वाले दो विद्यार्थी है पति और पत्नी।

पत्नी के लिए प्रयोगशाला पुरुष है और पति के लिए प्रयोगशाला पत्नी है। और प्रयोग का विषय शरीर नहीं आत्मा है। क्योकि वे बाह्य मे भले ही स्त्री और पुरुष है पर अन्दर से दोनों पुरुष अर्थात् आत्मा हैं। परस्पर वेद के भेद भी वहाँ पर अभेद के रूप मे परिणत होते है। स्त्री पुरुष का भेद होने पर भी यात्रा अभेद आत्मा की ओर आरम्भ होती है। यही विवाह की पृष्ठभूमि है। अभी तक आप लोगो ने विवाह तो किया पर पति-पत्नी ने परस्पर एक दूसरे को भोग सामग्री माना है और इस प्रकार विवाह, बधन हो गया है। इसलिए जैसे-जैसे भौतिक कायाए सूखने लगती है वैसे-वैसे परस्पर एक दूसरे के प्रति आकर्षण कम हो जाता है बीच मे दीवार खिच जाती है। सबध फिर निभता नहीं निभाना पडता है।

जैसे दो बैल एक गाडी मे जोत दिये जायें और एक वैल पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर तो गाडीवान को पसीना आने लगता है। गाडी आगे नहीं चल पाती। तव गृहस्थी की गाडी रुक जाती है। आप लोग आदर्श विवाह तो करते है दहेज से परहेज नहीं वना पाते। इसलिए विवाह के उपरान्त आर्थिक विकास भले ही हो किन्तु पारमार्थिक विकास नहीं हो पाता।

आदर्श-विवाह था राम और सीता का। दोनो ने विवाह के माध्यम से उस सवध के माध्यम से अपने जीवन को सफलीभूत वनाया है। परस्पर एक दूसरे के सिवाय उनकी दृष्टि से जो अनन्त सामग्री चारो ओर विछी थी वह भोग सामग्री नहीं थी। जैसे प्रयोगशाला में विद्यार्थी को इधर-उधर रखे पदार्थो से कोई सरोकार नहीं रहता इसी प्रकार उन्हे भी वाहर की वस्तुओ से कोई मतलव नहीं था। उनकी यात्रा अपनी ओर अनाहत चल रही थी। रावण ने हजारो स्त्रियां होने के वाद भी एक भूमिगोचरी सीता पर दृष्टिपात किया। सीता की आत्मा के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं पहुँची। वह मात्र काया की माया मे डूव गया। और उसकी जीवन की यात्रा रुक गयी।

यदि उसकी दृष्टि सीता की आत्मा तक पहुँच जाती तो उसे अवश्य मार्ग मिल जाता और उसका जीवन सुधर जाता। सीता के माध्यम से राम का जीवन सुधरा और राम के जीवन के माध्यम से सीता का जीवन सुधरा। वे दोनो एक दूसरे के पूरक वने। जैसे कि राह में दो वृद्ध पुरुष एक दूसरे के सहयोग से चलते जाते है गिरते नहीं हैं उसी प्रकार वे भी चलते रहे। दृढ निश्चय करके अपने मार्ग में इधर-उधर भटके विना आगे वढ़ते रहे। ज्यो ही रावण बीच मे आया, राम सोच मे पड़ गये कि इसके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। हमारे जीवन के वीच मे अव कोई नहीं आ सकता यदि कोई आता है तो वह व्यवधान ही होगा और उस व्यवधान को दूर करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

रावण को मारने का इरादा नहीं किया राम ने। उन्होंने मात्र अपने प्रशस्त मार्ग मे आने वाले व्यवधान को हटाने का प्रयास किया और सीता के पास जाने का प्रयास किया। सीता जी ने जिस संकल्प के साथ राम की ओर कदम वढ़ाया था उसकी रक्षा करना, समर्थन करना राम का परम धर्म था। राम का समर्थन करना सीता का परम धर्म था। उन दोनो ने अपने धर्म का अनुपालन किया। उन्होंने भोग या सासारिकता का सहारा नहीं लिया बल्कि चैतन्य का सहारा लिया। विवाह पद्धति का अर्थ मोक्षमार्ग में परस्पर साथी वनना है। विवाह का अर्थ ससार मार्ग की सामग्री वनना नहीं है।

पाश्चात्य शहरों मे होने वाले विवाह वास्तव में विवाह नहीं है। वहाँ पहले राग होता है और वाद में वधन होता है। भारतीय सस्कृति में पहले वधन होता है पीछे राग

होता है ओर वह राग भी आत्मानुराग होता है पहले सत् सकल्प दिये जाते हैं उनके साथ ही सबध होता है अन्यथा नहीं।

जब तक राम और सीता का गृहस्थ धर्म चलता रहा तब तक उन्होने एक दूसरे के पूरक होने के नाते अपने अपने जीवन को आगे बढ़ाया। अत मे अग्नि परीक्षा के उपरान्त सीता कहती है कि हमने अतिम परीक्षा दे ली अब तो स्वय का शोध करना है। शोध क लिए इस परीक्षा से पर्याप्त बोध मिल चुका है। बोध के उपरान्त शोध अनिवार्य है। एम ए तक विद्याध्यन के उपरान्त जैसे शोध प्रारभ किया जाता है ऐसा ही इस क्षेत्र मे भी है। शोध से ही अनुभूति प्रारभ होती है। बोध को समीचीन वनाने के उपरान्त अब टेक्स्ट बुक नहीं चाहिये अब अनुभूति के लिए शोध आवश्यक है।

तीता जी के पास अब शोध की शक्ति आ गयी थी। वे राम से कहती है कि अब मुझमे इतनी शक्ति आ चुकी है कि आपकी आवश्यकता नहीं है। अब तीन लोक मे जो भी पदार्थ बिखरे हुए है उनमे से किसी भी एक पदार्थ को चुनकर मै आत्मा को प्राप्त कर सकती हूँ। अपने शोध का विषय बना सकती हूँ। अब राम, विश्राम' अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही। अब स्वावलम्बी जीवन आ गया। विवाह की डोर अब छूट जायेगी।

सीता जी ने उसी समय पचमुष्टि केशलुचन कर लिया। आर्यिका माता बन गयीं और चूंकि राम अभी शोध छात्र नहीं थे इसलिए सीता के चरणो मे प्रणिपात हो गये। सीता एक अबला होकर भी शोधछात्रा बन गयीं। अब वे विश्व मे बिखरी अनन्त चैतन्य सत्ताओ के वारे मे विचार करेगी अध्ययन मनन और अनुभवन करेगी और उनके पास पहुँचने का प्रयास करेगी। विवाह के माध्यम से मात्र राम में लीन रहकर यहाँ तक पहुँची, अब ऐसा साहस उद्‌भूत हो गया कि बिना राम के काम चल जायेगा।

'राम-राम, श्याम-श्याम रटन्त से विश्राम, रहे न 'काम' से काम, तब मिले आतम राम।' अब राम, राम न रहे सीता की दृष्टि मे। अब उनकी दृष्टि मे था आतमराम। अव काया मे छिपे आतमराम को वह देखेगी उसी से सवध रखेगी। अब विश्व के साथ चैतन्य सबध की यात्रा प्रारभ हो गयी। राम तो मात्र काया का नाम था आतमराम मात्र काया का नाम नहीं है। वह तो अन्तर्यामी चैतन्य सत्ता है। वह न पुरुष है, न स्त्री है, न वृद्ध है, न बालक है, न जवान है। वह देव भी नहीं, नारकी नहीं तिर्यच और मनुष्य भी नहीं वह तो मात्र चैतन्य पिड है। सीता अब अबला नहीं रहीं सबला हो गयीं। अकेली चल पड़ीं मोक्षमार्ग पर। उनके चरणो मे राम भी नतमस्तक थे।

अग्नि परीक्षा के उपरान्त राम के कहने पर भी सीता घर नहीं लौटीं। अग्नि परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर वे राम से भी आगे निकल गयीं। राम ने बहुत कहा कि अभी मत

जाओ। साथ हम भी चलेंगे। तब सीता ने कह दिया कि मैं अब नहीं रुक सकती, साथ भी नहीं रह सकती। आप अपना विषय अपनायें और मैं अपना विषय अपनाती हूँ। मैं जब विद्यार्थी थी तब तक ठीक था अब मैं विद्यार्थी से ऊपर उठ चुकी हूँ। अब आपकी आवश्यकता नहीं रही, आपको धन्यवाद देती हूँ कि आपने एम.ए. तक यानी गृहस्थ जीवन में बोध होने तक मेरा साथ नहीं छोड़ा। अब मुझे दिशा मिल चुकी है अब मैं अनाहत अपनी राह पर चल सकती हूँ। इस प्रकार स्त्री पुरुष के भेद को पार करके वेद का उच्छेद करके वह अभेद की यात्रा पर चल पड़ीं। उसी दिन उनके लिए मोक्ष पुरुषार्थ की भूमिका बन गयी। यह काम पुरुषार्थ का सुफल उन्हें मिल गया। अब वे मोक्ष पुरुषार्थी थीं, काम पुरुषार्थी नहीं।

राम भी कमजोर नहीं थे। एक दिन वे भी शांत छात्र बन गये। दिगम्बर दीक्षा ले ली और सीता जी से भी आगे बढ़ गये। देखो स्पर्धा ऐसी बातों में करनी चाहिये। आप लोग कमाने में, भौतिक सामग्री जुटाने में स्पर्धा करते हैं। जिसका स्वयं पर नियंत्रण नहीं है स्वयं के बारे में गहरा ज्ञान नहीं है तो मैं समझता हूँ कि भौतिक ज्ञान भी आपका सीमित है। मात्र बाहरी है। अंदर पड़ी हुई अनंत संपदा जो अनंत काल से सुप्त है छिपी हुई है उसे खोजना चाहिये। पर आप सोये हुए हैं और वह सम्पदा नजर नहीं आ रही।

राम ने संकल्प ले लिया। मुनि बन गये। अब स्वयं पर अध्ययन प्रारंभ हो गया। अब राम की दृष्टि में कोई सीता नहीं रही न कोई लक्ष्मण रहे। वे भी आत्मध्यान में लीन हो गये। उन्हें भी काम पुरुषार्थ का सुफल प्राप्त हो गया। वास्तव में यदि काम पुरुषार्थ शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप हो तो मोक्ष पुरुषार्थ की ओर दृष्टि जा सकती है। आपके भी कदम उस ओर उठ सकते हैं। विवाह तो आप सभी लोग कर लेते हैं लेकिन आपको मोक्ष की राह नहीं मिल पाती आपके कदम उस ओर नहीं उठ पाते। राग का संबंध भी वीतराग बनने के लिए है यदि ऐसा विचार आ जाये तो जीवन सार्थक हो जाता है।

राम और सीता ने विवाह को अपनाया, उसे अच्छी तरह निभाया और अंत में राम तो मुक्ति का वरण कर चुके और अक्षय आनंद का अनुभव कर रहे हैं। सीता जी भी सोलहवें स्वर्ग में विराजमान हैं। आगामी जीवन में वह भी राम जैसी बनेंगी और मुक्ति गामी होंगी।

आज पाश्चात्य समाज में विवाह के उपरान्त भी परस्पर विश्वास नहीं है। प्रेम-भाव नहीं है। एक दूसरे की सुरक्षा का भाव नहीं रहा। जितना भौतिक सम्पदा से प्रेम है उसकी सुरक्षा का भाव है उतना आत्मिक सम्पदा से लगाव और उसकी सुरक्षा का भाव नहीं रहा। विवाह के उपरान्त भी विश्वास नहीं होता इसलिए विवाह भी टूट रहे हैं। कारण एक

ही है कि सभी शरीर मे अटक जाते है आत्मा तक नहीं पहुँचते आत्मा से मिलन नहीं हो पाता। अभी कुछ लोग यहाँ मेरा परिचय दे रहे थे पर वह मेरा परिचय कहाँ था। मेरा परिचय देने वाला तो वही है जो मेरे अदर आये जहाँ मै हूँ। आपकी दृष्टि भौतिक काया तक ही जा पाती है। आत्मा से परिचय नहीं हो पाता। मेरा सही परिचय है कि मै चैतन्य पुज हूँ जो इस भौतिक शरीर मे बैठा हुआ है।

यह ऊपर जो अज्ञान दशा मे कर्मफल चिपक गया है उसे हटाने मे मै लगा हूँ और चाहता हूँ कि हट जाये और साक्षात्कार हो जाये आतमराम का, परमात्मा का। आपके पास कैमरा है, एक्सरे होना चाहिये। कैमरे के माध्यम से ऊपर की शक्ल ही आ पाती है एक्सरे के द्वारा अतरग आ जाता है। हमे उस यत्र को ग्रहण करना है जिसके माध्यम से अदर जो तेजोमय आत्मा बैठी है वह पकड मे आ जाये। इसके लिए अतर्दृष्टि आवश्यक है।

जब राम ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। तपस्या मे लीन हो गये और इतनी अन्तर्दृष्टि वन गयी कि बाहर क्या हो रहा है। यह पता ही नहीं चला। तब प्रतीन्द्र के रूप मे सीता का जीव सोचता है कि अरे! उन्होने तो सीधा मोक्ष का रास्ता पा लिया मुझे तो देव पर्याय मे अभी रुकना पडा। सीता ने सोचा कि देखे राम डिगते है या नहीं। उसने डिगाने की कोशिश की पर राम नहीं डिगे। यही है अन्तर्दृष्टि। इसी को कहते है ब्रह्मचर्य। अपनी आत्मा मे रमण करना भी ब्रह्मचर्य है।

इस ब्रह्मचर्य के सामने विश्व का मस्तक भी झुक जाताहै। इस दिव्य तत्त्व के सामने सासारिक कोई भी चीज कीमती नहीं है। काम-पुरुषार्थ को आप मात्र भोग विलास मत मानें वह भोग आत्मा के लिए है। वास्तविक भोग वही है जो चैतन्य के साथ हुआ करता है। एक बार अनन्त चैतन्य के साथ मिलन हो जाये तो जितनी शान्ति मिलेगी वह कही नहीं जा सकती। ध्यान मे लीन होते समय कुछ अनुभूति के बिदु मिल जाते हैं तो हम आनद विभोर हो जाते हैं तब उस अनन्त सिधु मे गोता लगाने वाले के सुख की कोई सीमा नहीं है उसका सुख असीम है। असीम है वह शान्ति, वह आनद। हमारा सारा पुरुषार्थ उसे ही पाने का होना चाहिये।

मुनिराज पॉचो इन्द्रियों के लिये यथोचित विषय मिलने पर भी रागपूर्वक उनका भोग नहीं करते। 'ले तप बढावन हेतु, नहीं तन पोसते, तज रसन को'। इसलिए वे उन्हीं पदार्थो के माध्यम से मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करने मे सफल हो जाते है। मुनिराज के द्वारा इन्द्रिय विषय आहार आदि के रूप मे ग्रहण किये जाते है पर वे विषय-पोषण की दृष्टि से नहीं होते। शरीर का शोषण न हो और शरीर से काम लिया जा सके यह उनकी दृष्टि रहती है।

पोषण और शोषण के बीच की धारा योगधारा है जिसमे शरीर से सबध छूटता भी नहीं है और मात्र शरीर के साथ भी सबध नहीं रहता किन्तु चैतन्य के साथ सबध बना रहता है। आप लोग भी इस कामपुरुषार्थ से ऊपर उठकर मोक्ष पुरुषार्थ की ओर बढे और अनन्त सुख की उपलब्धि करे यही कामना है। मुझे जो यह थोडी सी ज्योति मिली है वह पूर्वाचार्यो से और साक्षात् पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज से मिली है। हम पूर्वाचार्यो के उपकार को भुला नहीं सकते। विवेक पूर्वक उनके उपकारो को देखे और अपना कर्त्तव्य पहचाने कि हमे क्या सदेश मिला है और किसलिए मिला है। आत्म-उत्थान के लिए सारे उपदेश हैं।

कोई भी व्यक्ति जब स्वहित चाहता है स्व आत्म पुरुपार्थ के द्वारा अपने आत्मा मे-रमण करने लगता है तो उसका हित तो हो ही जाता है लेकिन उसक उपदेश से सभी का भी हित हो जाता है। वे सोचते है कि ये भी मेरे जैसे दुखी हैं इनको भी रास्ता मिल जाए, इसी करुणा के वशीभूत होकर आचार्यो ने प्राणियो के कल्याण के लिए मार्ग सुझाया। भगवत् तुल्य महान् कुन्द कुन्द आचार्य ने करुणा करके महान् अध्यात्म साहित्य का सृजन किया और आज भौतिक चकाचौंध के युग में रहते हुए भी कुछ कदम आत्मा की ओर उठाये हैं। तो मै समझता हूँ वे धन्य हैं। उनका ऋण हम पर है और हमारा यही परम कर्त्तव्य है कि उस दिशा मे आगे वढकर हम भी अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे। अपनी दिशा वदले और सुख के भाजन वने इस परम्परा को अक्षुण्ण वनाये रखे ताकि आगे आने वालो को भी वह उपलब्ध हो सके।

□□

□ निजात्म रमण ही अहिंसा है

महावीर भगवान के निर्वाण के उपरान्त भरत क्षेत्र मे तीर्थकरो का अभाव हुआ। वह इस भरत क्षेत्र के प्राणियो का एक प्रकार से अभाग्य ही कहना चाहिये। भगवान के साक्षात् दर्शन और उनकी दिव्य ध्वनि को सुनने का सौभाग्य जब प्राप्त होताहै तो ससार की असारता के बारे मे सहज ही ज्ञान और विश्वास हो जाता है। आज जो आचार्य परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और जो महान् पूर्वाचार्य हमारे लिए प्रेरणादायक है उनके माध्यम से यदि हम चाह तो जिस ओर भगवान जा चुके है पहुँच चुके है उसओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर सकते है।

आचार्यो ने जो ससार से ऊपर उठने की इच्छा रखते है उन्हे दिग्दर्शन कराया है दिशाबोध दिया है उसका लाभ लेना हमारे ऊपर निर्भर है। उन्होने जीवन भर चिन्तन मनन और मन्थन करके नवनीत के रूप मे हमे जो ज्ञान दिया है उसमे अवगाहन करना, और आत्म तत्त्व को पहचानना, विषय-कषाय से युक्त ससारी प्राणी के लिए टेढी खीर है। आसान नहीं है। पर फिर भी उसमे कुछ बाते आपके सामने रख रहा हूँ।

आचार्यो के साहित्य मे अध्यात्म की ऐसी धारा बही है कि कोई भी ग्रथ उठाये, कोई भी प्रसग ले ले, हर गाथा, हर पद पर्याप्त है। उसमे वही रस, वही सवेदन और वही अनुभूति आज भी प्राप्त हो सकती है जो उन आचार्यो को प्राप्त हुई थी। पर उसे प्राप्त करने वाले विरले ही जीव हैं। उसे प्राप्त तो किया जा सकता है पर सभी प्राप्त कर लेंगे यह नहीं कहा जासकता। मात्र अहिसा का सूत्र ले ले। महावीर भगवान ने अहिंसा की उपासना की, उनके पूर्व तेइस तीर्थकरो ने भी की और उनके पूर्व भी इस अहिंसा की उपासना की जाती रही। अहिसा के अभाव मे आत्मोपलब्धि सभव नहीं है।

विश्व का प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। जीवन जीना चाहता है। सुख की इच्छा रखता है और दुख से भयभीत है। दुख निवृत्ति के उपाय मे अहर्निश प्रयत्नवान है लेकिन वास्तविक सुख क्या है इसकी जानकारी नहीं होनेसे तात्कालिक सुख, भौतिक सुख को पाने मे लगा हुआ है। इसी मे अनतकाल खो चुका है। महावीर भगवान ने जो अहिंसा का उपदेश दिया है वह अनत-सुख की इच्छा रखने वाले हम सभी के लिए दिया है।

उस अहिंसा का दर्शन करना उसके स्वरूप को समझना भी आज के व्यस्त जीवन में आसान नहीं है। यहाँ हजारों व्यक्ति विद्यमान हैं और सभी धर्म श्रवण कर रहे हैं लेकिन फिर भी कहा नहीं जा सकता कि आप सभी श्रवण कर ही रहे हैं। वास्तव में श्रवण तो वही है जो जीवन को परिवर्तित कर दे।

प्रवचन सुनने के साथ-साथ आप के मन में ख्याल बना रहता है कि प्रवचन समाप्त हो और चलें। यह जो आकुलता है वह जो अशान्ति है यह अशांति ही आपको अहिंसा से दूर रखती है। आकुलता होना ही हिंसा है। दूसरों को पीड़ा देना भी हिंसा है लेकिन यह अधूरी परिभाषा है। इस हिंसा के त्याग से जो अहिंसा आती है वह भी अधूरी है। वास्तव में जब तक आत्मा से रागद्वेष परिणाम समाप्त नहीं होते तब तक अहिंसा प्रकट नहीं होती।

अहिंसा की परिभाषा के रूप में महावीर भगवान ने संदेश दिया है कि जीओ और जीने दो। 'जीओ' पहले रखा और जीने दो बाद में रखा है। जो ठीक से जीयेगा वही जीने देगा। जीना प्रथम है तो किस तरह जीना है यह भी सोचना होगा। तो वास्तविक जीना तो रागद्वेष से मुक्त होकर जीना है। यही अहिंसा की सर्वोत्तम उपलब्धि है। सुना है विदेशों में भारत की तुलना में हत्याएँ कम होती हैं लेकिन आत्महत्याएँ अधिक हुआ करती हैं। जो अधिक खतरनाक बात है। स्वयं अपना जीना ही जिसे पसंद नहीं है वो स्वयं के जीने को पसंद नहीं करता. जो स्वयं के जीवन के लिए सुरक्षा नहीं देता वह सबसे अधिक खतरनाक साबित होता है। उससे क्रूर और निर्दयी और कोई नहीं है। वह दुनिया में शान्ति देखना पसंद नहीं करता।

शान्ति के अनुभव के अभाव में जीवन है उसका महत्त्व नहीं जानना ही हिंसा का लक्षण है। आकुल विकल हो जाना ही हिंसा है। रात दिन बेचैनी का अनुभव करना, यही हिंसा है। तब ऐसी स्थिति में जो भी मन, वचन, काय की चेष्टाएँ होंगी, उनका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा और फलस्वरूप द्रव्य हिंसा बाहर में घटित होगी। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा ये दो प्रकार की हिंसा हैं। द्रव्य हिंसा में दूसरे की हिंसा हो भी सकती है नहीं भी हो सकती है किन्तु भाव हिंसा के माध्यम से अपनी आत्मा का विनाश अवश्य होता है और उसका प्रभाव भी दूर विश्व पर पड़ता है। स्वयं को मोह में डालने वाला यह नहीं सोचता कि उसने मात्र अपना घात किया है उसने आसपास के विश्व को भी दूषित किया है।

प्रत्येक धर्म में अहिंसा की उपासना पर जोर दिया गया है। किन्तु महावीर भगवान का संदेश अहिंसा के विषय में बहुत गहरा है। वे कहते हैं कि प्राण दूसरों के ही नहीं अपने भी हैं। हिंसा के द्वारा दूसरों के प्राणों का घात हो ही ऐसा नहीं है पर अपने प्राणों का

विघटन अवश्य होता है। दूसरे के प्राणों का विघटन बाद मे होगा पर हिंसा के भाव मात्र से अपने प्राणों का विघटन पहले होगा। अपने प्राणो का विघटन होना ही वस्तुत हिंसा है। जो हिंसा का ऐसा सत्य-स्वरूप जानेगा वही अहिंसा को प्राप्त कर सकेगा।

'विन जाने तै दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये' – गुण और दोष का सही-सही निर्णय जव तक हम नहीं कर पायेगे तव तक गुणो का ग्रहण और दोषो का निवारण नहीं हो सकेगा। आज तक हम लोगो ने अहिंसा को चाहा तो है लेकिन वास्तव मे आत्मा की सुरक्षा नहीं की है। आत्मा की सुरक्षा तब हो सकती है जब भावहिंसा से हमारा जीवन बिल्कुल निवृत्त हो जाये। भाव हिंसा के हटते ही जो अहिंसा हमारे भीतर आयेगी उसकी महक उसकी खुशबू बाहर भीतर सब ओर विखरने लगेगी।

जो व्यक्ति राग करता है या द्वेष करता है और अपनी आत्मा मे आकुलता उत्पन्न कर लेता है वह व्यक्ति ससार के बधन मे बध जाता है और निरतर दुख पाता है। इतना ही नहीं जो व्यक्ति स्वय बधन को प्राप्त करेगा बधन मे पडकर दुखी होगा, उसका प्रतिविव दूसरे पर पडे विना नहीं रहेगा, वह वातावरण को भी दुखमय बनायेगा। एक मछली कुए मे मर जाती तो उस सारे जल को गदा बना देती है। जल को जीवन माना है तो एक प्रकार से जीने के लिए जो तत्त्व था जीवन था वही विकृत हो गया।

एक व्यक्ति रोता है तो वह दूसरे को भी रुलाता है। एक व्यक्ति हॅसता है फूल को देखकर वच्चा वहुत देर तक रो नहीं सकता। फूल हाथ मे आते ही वह रोता-रोता भी खिल जायेगा, हॅसने लगेगा और सभी को हॅसा देगा। हॅसाये ही यह नियम नहीं है किंतु प्रभावित असर करेगा। आप कह सकते है कि कोई अकेला रो रहा हो तो किसी दूसरे को क्या दिक्कत हो सकती है। किंतु आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि शोक करना, आलस्य करना, दीनता अभिव्यक्त करना, सामने वाले व्यक्ति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते।

आप वैठकर शाति से दत्तचित होकर भोजन कर रहे है। किसी प्रकार का विकारी भाव आपके मन मे नहीं हैं ऐसे समय मे यदि आपके सामने कोई वहुत भूखा व्यक्ति रोटी मागने गिडगिडाता हुआ आ जाता है तो आप मे परिवर्तन आये बिना नहीं रहेगा। उसका रोना आपके ऊपर प्रभाव डालता है। आप भी दुखी हो जाते है और यह असातावेदनीय कर्म के वध के लिए कारण वन सकता है इसलिए ऐसा मत समझिये कि हम राग कर रहे है द्वेष कर रहे है तो अपने आप मे तड़प रहे है दूसरे के लिए क्या कर रहे है? हमारे भावो का दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। हिंसा का सपादन कर्त्ता हमारा रागद्वेष परिणाम है। शारीरिक गुणो का घात करना द्रव्यहिंसा है और आध्यात्मिक गुणो का घात करना उसमें व्यवधान डालना भावहिंसा है। वह स्व पर दोनो की हो सकती

है।

गृहस्थाश्रम की बात है। माँ ने कहा अंगीठी के ऊपर दूध है भगौनी में, उसे नीचे उतार कर दो बर्तनों में निकाल लेना। एक बर्तन में दही जमाना है और एक में दूध ही रखना है। जो छोटा बर्तन है उसे आधा रखना उसमें दही जमाने के लिए सामग्री पड़ी है और दूसरा बर्तन जितना दूध शेष रहे उसमें रख देना। दोनों को पृथक्-पृथक् रखना। सारा काम तो कर लिया पर दोनों बर्तन पृथक नहीं रखे। परिणाम यह निकला कि प्रातःकाल दोनों में दही जम गया। एक में दही जमाने का साधन नहीं था फिर भी जम गया वह दूसरे के संपर्क में जम गया।

जब जड़ पदार्थ दूध में संगति से परिवर्तन हो गया तो क्या चेतनद्रव्य में परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन होगा एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ेगा। परिवर्तन प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में हो रहा है और उसका असर आसपास पड़ रहा है। हम इस रहस्य को समझ नहीं पाते। इसलिए आचार्यों ने कहा कि प्रमादी मत बनो। असावधान मत होओ। बुद्ध कहते हैं कि प्राणियों पर करुणा करो, यीशु कहते हैं कि प्राणियों की रक्षा करो और नानक आदि सभी कहते हैं कि दूसरे की रक्षा करो और बचाओ किंतु महावीर कहते हैं कि स्वयं बचो। दूसरा अपने आप बच जायेगा। दूसरे को बचाने जाओगे तो वह बचे ही यह अनिवार्य नहीं है लेकिन स्वयं रागद्वेष से बचोगे तो हिंसा संभव ही नहीं है। 'लिव एण्ड लेट लिव' — पहले तुम खुद जीओ जो खुद जीना चाहेगा वह दूसरे के लिए जीने में बाधा डाल ही नहीं सकता।

हमारे जीवन से दूसरे के लिए तभी तक खतरा है जब तक हम प्रमादी हैं असावधान हैं। 'अप्रमत्तो भव' प्रमाद मत करो। एक क्षण भी प्रमाद मत करो, अप्रमत्त दशा में लीन रहो। आत्मा में विचरण करना ही अप्रमत्त दशा का प्रतीक है। वहाँ राग नहीं, द्वेष नहीं इसलिए वहाँ पर हिंसा भी नहीं है। बंधन में वही बंधेगा जो राग द्वेष करेगा और अपनी आत्मा से बाहर दूर रहेगा फिर चाहे वह किसी भी गति का प्राणी क्यों न हो। वह देव भी हो सकता है। वह निर्यंच हो सकता है वह नारकी हो सकता है वह मनुष्य भी हो सकता है मनुष्य में भी गृहस्थ हो सकता है या गृह-त्यागी भी हो सकता है वह सन्त या ऋषि भी हो सकता है, जिस समय जीव रागद्वेष से युक्त होता है उस समय उससे हिंसा हुए बिना नहीं रहती।

देर सबेर जब भी बढ़े चौबीस घंटे अप्रमत्त की ओर बढ़ें अप्रमत्त रहना प्रारंभ करें तभी कल्याण है। अहिंसा वहीं पल सकती है जहाँ प्रमाद के लिए कोई स्थान नहीं है प्रमाद यानी आपे में न रहना। सबसे खतरनाक चीज है आपे में न रहना। आउट आफ कंट्रोल यानी अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होना ही प्रमाद है। वैज्ञानिक विकास विदेशों

मे बहुत हो रहा है। किंतु व्यक्ति आपे मे नहीं है इसलिए आत्म-हत्या की ओर जा रहा है। अपने आत्म-हित के प्रति लापरवाही भी प्रमाद है। "चिता-सरोवर जहाँ वह डूब जाता, सद्ध्यान से स्खलित जो ऋषि कष्ट पाता। तालाब से निकल बाहर मीन आता, होता दुखी, तड़पता मर शीघ्र जाता।।" यह स्वभाव से बाहर आना ही अभिशाप का कारण बनता है। तालाब से मछली बाहर आ जाती है तो तड़पती है दुखी होती है और मरण को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार योगी भी क्यो न हो भोगी की तो बात ही क्या, जिस समय वह सीमा अपनी उल्लघन कर देता है अर्थात् आत्म-स्वभाव को छोड़कर प्रमाद मे आ जाता है तो उसे भी कर्मबध का दुख उठाना पड़ता है। बाहर आना ही हिंसा है और अदर रहना ही अहिंसा है। अहिंसा की इतनी अमूल्य परिभाषा हमे अन्यत्र नहीं मिलती और जहाँ आकर सारे दर्शन रुक जाते हैं वहाँ से महावीर भगवान की अहिंसा की विजय पताका फहराना प्रारभ हो जाती है। आत्म-विजय ही वास्तविक विजय है।

आज भी अहिंसा का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग होता है न्यायालय मे। वहाँ पर भी भाव हिंसा का ध्यान रखा जाता है। भावहिंसा के आधार पर ही न्याय करते है। एक व्यक्ति ने निशाना लगाकर गोली चलायी, निशाना मात्र सीखने के लिए लगाया था निशाना चूक गया और गोली जाकर लग गयी एक व्यक्ति को और उसकी मृत्यु हो गयी गोली मारने वाले व्यक्ति को पुलिस ने पकड लिया। उससे पूछा गया कि तुमने गोली चलायी? उसने कहा चलायी है किंतु मेरा अभिप्राय मारने का नहीं था। मैं निशाना सीख रहा था, निशाना चूक गया और गोली लग गयी। चूकि उसका अभिप्राय खराब नहीं था इसलिए उसे छोड दिया गया।

दूसरा व्यक्ति निशाना लगाकर किसी की हत्या करना चाहता था। वह गोली मारता है गोली लगती नहीं और वह व्यक्ति बच जाता है, और गोली मारने वाले को पुलिस मे पकडवा देता है। पुलिस पूछती है कि तुमने गोली मारी, तो वह जवाब देता कि मारी तो है पर उसे गोली लगी कहाँ? पुलिस उसे जेल मे बद कर देती हैं ऐसा क्यो? जीव हिंसा नहीं हुई इसके उपरान्त भी उसे जेल भेज दिया और जिससे जीव हिंसा हो गयी थी उसे छोड़ दिया। यह इसलिए कि वहाँ पर भावहिंसा को देखा जा रहा है। न्याय मे सत्य और असत्य का विश्लेषण भावों के ऊपर आधारित है।

हमारी दृष्टि भी भावो की तरफ होनी चाहिये। अपने आप के शरीरादि को ही खुद मान लेने से कि मै शरीर हूँ, और शरीर ही मै हूँ हिंसा प्रारम्भ हो जाती है। यह अज्ञान और शरीर के प्रति राग ही हिंसा का कारण बनता है। हम स्वय जीना सीखे। स्वय तब जीया जाता है जब सारी बाह्य प्रवृत्ति मिट जाती है। अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार जो स्वय जीता है वह दूसरे को भी जीने मे सहायक होता है। जिसके द्वारा

मन वचन काय की चेष्टा नहीं हो रही है वह दूसरे के लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं देता।

जो विस्फोट ऊपर से होता है वह उतना खतरनाक नहीं होता जितना गहराई मे होने वाला विस्फोट होता है। आत्मा की गहराई में जो राग प्रणाली, या द्वेष-प्रणाली उद्‌भूत हो जाती है वह अदर से लेकर बाहर तक प्रभाव डालती है। उसका फैलाव सारे जगत मे हो जाता है। जैन दर्शन मे एक उदाहरण भाव हिसा को लेकर आता है। समुद्र मे जहाँ हजारो मछलियाँ रहती हैं उनमे सबसे बड़ी रोहू (राघव) मछली होती है जो मुँह खोल कर सो जाती है तो उसके मुँह मे अनेक छोटी-मछलियाँ आती जाती रहती है। जब कभी उसे भोजन की इच्छा होती है तो वह मुख बद कर लेती है और भीतर अनेको मछलियाँ उसका भोजन वन जाती है।

इस दृश्य को देखकर एक छोटी मछली जिसे तन्दुल मत्स्य बोलते हैं जो आकार मे तन्दुल जितनी छोटी है वह सोचती है कि यह रोहू मच्छ कितना पागल है इसे इतना भी नहीं दिखता कि मुख मे इतनी मछलियाँ आ जा रही हैं मुख बद कर लेना चाहिये। यदि इसके स्थान पर मै होता तो लगातार मुख खोलता और बद कर लेता, सभी को खा लेता। देखिये स्थिति कितनी गम्भीर है। छोटे से मत्स्य की हिंसा की वृत्ति कितनी है, चरम सीमा तक, वह अनन्त खाने की लिप्सा रखता है। खा एक भी नहीं पाता क्योकि उतनी शक्ति नहीं है लेकिन भावो के माध्यम से खा रहा है निरतर।

बाहर से खाना, भले ही नहीं दिखता लेकिन अभिप्राय कर लिया, संकल्प कर लिया, तो मन विकृत हो गया। यही हिंसा है। रोहू मच्छ जितनी आवश्यकता है उतना ही खाता है शेष से कोई मतलब नहीं कोई लिप्सा नहीं लेकिन तदुल मच्छ एक भी मछली को नहीं मारता पर लिप्सा पूरी है। इसलिए वह सीधा नरक चला जाता है। सीधा सप्तम नरक। यह है भाव हिंसा का प्रभाव।

आप भी इसे समझे कि मात्र अपने जीवन को द्रव्यहिंसा से ही निवृत करना पर्याप्त नहीं है। यदि आप अपने मे नहीं है। आपके मन वचन और आपकी चेष्टाए अपने मे नहीं है तो आपके द्वारा दूसरे को धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। एक व्यक्ति कोई गलती करता है तो वह एकात रूप से अपने आप ही नहीं करता उसमें दूसरे का भी हाथ रहता है। भावो का प्रभाव पडता है। दूसरे के धन को देखकर ईर्ष्या अथवा स्पर्धा करने मे भी हिंसा का भाव उद्‌भूत होता है। जो राग द्वेष करता है वह स्वय दुखी होता है और दूसरे को भी दुख का कारण बनता है लेकिन जो वीतरागी है वह स्वय सुखी रहता है और दूसरे को सुखी बनाने मे कारण सिद्ध होता है।

आपका जीवन हिंसा से दूर हो और अहिंसामय वन जाये इसके लिए मेरा यही

कहना है कि भाव हिंसा से बचना चाहिये। मेरा कहना तभी सार्थक होगा जब आप स्वय अहिंसा की ओर बढ़ने के लिए उत्साहित हो, रुचि ले। किसी भी क्षेत्र मे उन्नति तभी सभव है जब उसमे अभिरुचि जागृत हो। आपके जीवन पर आपका अधिकार है पर अधिकार होते हुए भी कुछ प्रेरणा बाहर से ली जा सकती है। बाहर से तो सभी अहिसा की प्राप्ति के लिए आतुर दिखते है किंतु अदर से भी स्वीकृति होना चाहिये। एक व्यक्ति जो अपने जीवन को सच्चाई पर आरूढ कर लेता है तो वह तो सुखी बन ही जाता है साथ ही दूसरे के लिए भी सुखी बनने मे सहायक बन जाता है। आप चाहे तो यह आसानी से कर सकते हैं।

अहिंसा मात्र प्रचार की वस्तु नहीं है और लेन-देन की चीज भी नहीं है वह तो अनुभव की वस्तु है कस्तूरी का प्रचार प्रसार करने की आवश्यकता नहीं होती, जो व्यक्ति चाहता है वह उसे सहज ही पहचान लेता है। महावीर भगवान ने अहिसा की सत्यता को स्वय जाना और अपने भीतर उसे प्रकट किया तभी वे भगवान बने। उन्होने प्राणी मात्र को कभी छोटा नहीं समझा उन्होने सभी को पूर्ण देखा है और जाना है और पूर्ण समझा है। सदेश दिया है कि प्रत्येक आत्मा मे भगवान है किंतु एकमात्र हिंसा के प्रतिफल स्वरूप स्वय भगवान के समान होकर भी हम भगवत्ता का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। जब तक रागद्वेष रूप हिसा भाव विद्यमान रहेगा तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति सभव नहीं है। अपने भावो मे अहिसा के माध्यम से दूसरे का कल्याण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता किंतु आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। परोक्ष रूप से जो अहिंसक हो वह दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता यही दूसरे के कल्याण में उसका योगदान है। आचार्यो की वाणी है कि 'आदहिद कादव्व, जदि सक्कइ परहिद च कादव्व। आदहिद परहिदादो, आदहिद सुट्ठु कादव्व।' आत्म-हित सर्वप्रथम करना चाहिये। जितना बन सके उतना परहित भी करना चाहिये। लेकिन दोनों मे अच्छा आत्म हित ही है। जो आत्महित मे लगा है उसके द्वारा कभी दूसरे का अहित हो नहीं सकता।

इस प्रकार स्व और पर का कल्याण अहिंसा पर ही आधारित हैं। अध्यात्म का रहस्य इतना ही है कि अपने को जानो अपने को पहचानो, अपनी सुरक्षा करो, अपने मे ही सब कुछ समाया है। पहले विश्व को भूलो और अपने को जानो, जब आत्मा को जान जाओगे तो विश्व स्वय सामने प्रकट हो जाएगा। अहिंसा धर्म के माध्यम से स्व-पर का कल्याण तभी सभव है जब हम उसे आचरण मे लाये। अहिंसा के पथ पर चलना ही अहिंसा धर्म का सच्चा प्रचार प्रसार है। आज इसी की आवश्यकता है।

□□

ही जाता है, तो डॉक्टर को बहुत सभालकर उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम वह डॉक्टर, रोगी को और कुछ नहीं बताता कि क्या कैसा है। वह केवल यही कहता है कि यदि नियम से दवाई लोगे तो तुम्हारा रोग जल्दी ठीक हो जायेगा। वह और कुछ नहीं बताता मात्र दवाई लेना सिखाता है। उस दवाई का क्या लक्षण है? क्या गुणधर्म है? इसमें कितना क्या मिला है? इसे कैसे तैयार किया गया है? किस फैक्ट्री मे तैयार किया गया है। यह सब उस रोगी को बताने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार ससारी प्राणी के सामने सर्वप्रथम विश्व का लेखा-जोखा या विभिन्न मत-मतान्तरों का वर्णन आवश्यक नहीं है। प्रयोजनभूत तत्त्व तो यह है कि किसे प्राप्त करना है और किसे छोड़ना है यह ज्ञात हो जाये। ऐसा न हो कि हेय का ग्रहण हो जाये और उपादेय का विमोचन हो जाये। सवेग और निर्वेग के उपदेश द्वारा उसे उपादेय को ग्रहण करना और हेय को छोड़ना पहले सिखाना आवश्यक है। आत्म-ज्ञान के लिए बाधक तत्त्वो का हम थोड़ा विचार करे तो ज्ञात होगा कि 'मोह' ही ज्ञान के लिए बाधक साबित होता है। 'कषाय-भाव' ही ज्ञान के लिए बाधक सिद्ध होता है। मोह के कारण ज्ञान मिथ्या बना हुआ है इस बाधक तत्त्व से ज्ञान को पृथक् करने का प्रयास करना ही एक मात्र पुरुषार्थ है जो कि सवेग और निर्वेग के बल पर ही सभव है।

बाधक कारण को हटाये बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। कई बार, कई लोग प्रश्न करते हैं कि ध्यान के बारे मे समझाइये। हम ध्यान लगाना चाहते हैं। हमारा ध्यान लगता ही नहीं, हम बहुत कोशिश करते है। हमारा उनसे कहना यह है कि कोई भी शिक्षा दी जाती है तो पहले शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थी की आदतों को समझना आवश्यक है। कोई आदत ऐसी हो जो उसके 'लक्ष्य के विपरीत हो और वह उसके साथ ही लक्ष्य प्राप्ति चाहता हो तो कैसे समव है। जैसे टैंक मे पानी भरा जाता है और वह गंदा हो जाता है। साफ पानी डालने पर भी वह गदा कैसे हो गया? कारण यही है कि टैंक की सफाई करना आवश्यक है। इसी प्रकार परिणामो मे ध्यान के योग्य पर्याप्त निर्मलता आवश्यक है, घाव के ऊपर मात्र मरहम पट्टी लगाने से कुछ नहीं होता, घाव साफ करना भी आवश्यक है।

आपका ध्यान कहीं न कहीं तो लगा ही रहता है। हम कभी आत्म-ध्यान से विचलित हो सकते है किंतु आप लोग अपने ससार के ध्यान से कभी विचलित नहीं होते। आपको सासारिक ध्यान का खूब अभ्यास है। आप लोगो का जीवन ऐसा ध्यान लगाने में इतना अभ्यस्त हो गया है कि आप यहाँ सुन रहे है किंतु फिर भी आपका ध्यान वहाँ है जहाँ आपने लगाया हुआ है। शरीर यहाँ बैठा है पर सभव है कि मन कहीं और लगा हो।

व्यक्ति के द्वारा सभव नहीं है। जो बाध बनाकर नहरो के द्वारा रास्ता मोड़ देते हैं वे जानते है कि यह कितना कठिन काम है। अनेको परीक्षण करने पड़ते है सामग्री की मजबूती का ध्यान रखना पड़ता है। इसी तरह अनादि काल से आपका जो प्रवाह विषयो की ओर वह रहा है आपका ज्ञान विषय-सामग्री को पकड़ने के लिए उत्सुक है उसकी गति इतनी तीव्र है कि उसे मोड़ना तो मुश्किल है ही उसके वेग मे कमी लाना भी मुश्किल है। पचेन्द्रिय के विषय जो यत्र तत्र फैले हुए है, अतीत, अनागत और वर्तमान तीनो कालो की अपेक्षा जो इन्द्रिय मन का विषय बनते हैं उनसे बचना कैसे सभव है। तो आचार्यो ने उद्यम करने की प्रक्रियाएँ बतायी हैं उसके माध्यम से हमे आगे बढना चाहिये।

उद्यम किस प्रकार किया जाए इसके लिए भी आचार्यो ने अपनी अनुभूति के माध्यम से लिखा है। आचार्य कुदकुद स्वामी ने ध्यान को परमावश्यक बताया है, ध्यान के बिना उद्धार सभव नहीं है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान यह दोनो ध्यान मोक्ष के हेतु है। आर्तध्यान-रौद्रध्यान ससार के हेतु है। आप धर्म ध्यान का स्रोत खोलना चाहते हैं, उस ओर मुडना चाहते हैं तो पहले आर्तध्यान रौद्रध्यान को छोडना होगा। उसमे कमी लाना होगा। उसके लिए निरतर प्रयत्न करना होगा।

जैसे किसी एक व्यक्ति को वैद्य ने कहा कि तुम घी का प्रयोग करो, पुष्टि आयेगी। उस व्यक्ति ने आधा किलो घी खा लिया और बैठ गया। घी पचा नहीं खराबी आ गयी। वैद्य को बुलाया गया। उसने बताया कि सिर्फ घी खाने से पुष्टि नहीं आती, घी को पचाने के लिए मेहनत करनी होगी, व्यायाम करना होगा, अभ्यास करना होगा। इसी प्रकार ध्यान लगाओ ऐसा कहने पर ध्यान लगाने बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। मन वचन काय को बार-बार विषय कषायो मे जाने से रोकना पड़ेगा, उस ओर से मोड़ने का अभ्यास करना होगा। विषयो की ओर ध्यान न जाये, इस बात का ध्यान रखना होगा। तभी धर्मध्यान मे प्रगाढता आयेगी तभी वह धर्मध्यान आगे जाकर शुक्लध्यान मे परिवर्तन हो सकेगा।

एक बात और समझने की है। रावण ने सीता के अपहरण के पश्चात् राम से युद्ध के समय भगवान शान्तिनाथ के मदिर मे जाकर ध्यान लगाया, मत्र जपे पर राम की मृत्यु की कामना के साथ। शब्द, आस्था, मुद्रा आदि सब ठीक थी किंतु राम की मृत्यु का कामना सहित वह ध्यान, सच्चा ध्यान नहीं माना जायेगा। रावण ने सोलह दिन तक ध्यान किया बहुरूपणी विद्या की प्राप्ति के लिए। पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण विद्या सिद्ध करने मे बहुत पारंगत था। वह विद्या सिद्ध करने बैठ जाता था तो कोई उसके ध्यान में विघ्न नहीं डाल पाता था और वह विद्या सिद्ध करके ही उठता था। क्या

वह ध्यान माना जायेगा? बहुरूपिणी विद्या के लिए किया गया वह ध्यान आत्मानुभूति के लिए नहीं किया इसलिए उपयोगी नहीं है। आत्मानुभूति के लिए किया गया ध्यान तो अतर्मुहूर्त मे भी मुक्ति दिला देता है।

हम लोगो को अपने स्वरूप को देखने की रुचि हो जाए, हम अंतर्मुखी होते चले जाये तो बाहर कुछ भी होता रहे पता ही नहीं चलेगा। टेलीफोन पर अनेको आवाजो के बीच अपनी आवाज आप सुन लेते है बाकी छोड देते हैं। नगाड़े के बीच बॉसुरी की आवाज चलती है तो जो सगीतप्रेमी हैं या सगीतकार हैं वह उसे पहचान लेते हैं। इसी प्रकार ध्यान की बात है। यदि एक घटे तक ध्यान की बात आप ध्यान से सुन ले और अपनी रुचि जागृत कर ले तो ऐसा नहीं हो सकता कि धर्मध्यान न लगे। हम रुचि जागृत कर सकते हैं। ध्यान भी कर सकते हैं।

मॉ, वच्चे की गोद मे बिठाकर दूध पिलाती है और चुटकी बजाती जाती है बीच मे यदि चुटकी वजाना बद कर देती है तो वच्चा दूध पीना बद कर देता है। यदि माँ के ललाट पर थोड़ी सलवट पड़ जाती है तो वह हैरान निगाहो से देखने लगता है कि मामला क्या है? वह सब ध्यान से देखता है। वह समझ जाता है कि माँ डाँट लगा रही है या प्यार कर रही है। अर्थ यह हुआ कि ध्यान तो सभी के पास है लेकिन धर्म ध्यान नहीं है। मुक्ति के लिए ध्यान की, जितनी एकाग्रता की आवश्यकता है उतनी ही तीव्रता सप्तम नरक में जाने के लिए भी आवश्यक है। एक छोर सप्तम नरक तक तो हम कई बार पहुँच गये होंगे किन्तु दूसरे छोर मोक्ष की ओर कभी नहीं पहुँच पाये। अभी तो ऐसा कह सकते हैं कि पचमकाल है उत्तम संहनन नहीं है ठीक है। लेकिन जव चतुर्थकाल आता है उस समय तो जा सकते थे। नहीं गये अर्थात् पुरुषार्थ की कमी रही।

चतुर्थ काल की अपेक्षा भरतक्षेत्र और ऐरावत के मात्र दस क्षेत्र है लेकिन जो एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हैं वहाँ तो सदैव चतुर्थकाल रहता है। कुल मिलाकर एक सौ सत्तर क्षेत्र हैं जहाँ एक साथ तीर्थकर हो सकते है। काल भेद मात्र दस क्षेत्रों मे है शेष एक सौ साठ क्षेत्रों में भेद नहीं होता। वहाँ से मोक्ष का सीधा रास्ता है साथ ही सप्तम नरक भी जाया जा सकता है जिसकी रुचि जिस तरह की होती है। वच्चा भी धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माध्यम से मुक्ति का द्वार खोल सकता है और अस्सी साल का वृद्ध भी आर्तरौद्र ध्यान के द्वारा सप्तम पृथ्वी का द्वार खोल लेता है।

मन वचन, काय को रोककर रुचिपूर्वक किसी पदार्थ में लीन हो जाना ही ध्यान है। पंचेन्द्रिय के विषयो मे लीन होना आर्तरौद्रध्यान है और आत्म-तत्त्व को उन्नत बनाने

के लिए अहर्निश प्रयास करना, सब कुछ भूलकर उसी आत्म तत्त्व मे लीन रहना धर्मध्यान है। आप चाहे तो अभी यह सभाव्य है। यहीं पर बैठे-बैठे विषयो की ओर पीठ कर लें मन को डायवर्ट कर ले तो धर्मध्यान हो सकता है। जयपुर आपके लिए भी है और जयपुर मे मैं भी हूँ। मेरे ज्ञान ने भी जयपुर को विषय बनाया है और आपके ज्ञान ने भी बनाया है। दोनो अभी यहीं जयपुर मे हैं। पर आपका संकल्प जयपुर मे हमेशा रहने का है, मेरा कोई सकल्प ऐसा नहीं है। आपका संकल्प है इसलिए जयपुर छोड़कर कहीं जाने पर भी जयपुर भीतर रहा आता है।

यह आपको ज्ञात है कि एक न एक दिन जयपुर छूटेगा। जब जयपुर छूटना निश्चित है तो उससे स्वय को जोडकर बैठे रहना, जानबूझकर इसको पकड़ने का प्रयास करना यही रागभाव है। जब जयपुर छूटेगा– यह ज्ञान का विषय बना, तो फिर उसे अपना मानकर इससे चिपकना ठीक नहीं है यही ज्ञान का प्रयोजन है। जयपुर मे जहॉ आप रह रहे है उसे आप मान रहे है कि हमारा है लेकिन जयपुर हमारा तुम्हारा किसी का नहीं है वह जो कुछ है वह है। उसका अस्तित्व पृथक् है हमारा पृथक् है। अस्तित्व को जानना आपेक्षित है प्रयोजन भूत है किंतु अस्तित्व को जानकर यह मेरा यह तेरा ऐसा मानना बाधक है प्रयोजनभूत नहीं है।

'पर' क्या है स्व क्या चीज है यह जानना परमावश्यक है। 'स्व' को स्व-रूप मे जानकर, 'पर' को पर-रूप मे जानकर 'पर' का ग्रहण नहीं करना यही प्रयोजनभूत तत्त्व का ज्ञान है। उपादेय की प्राप्ति और हेय का विमोचन हो गया तो मोक्षमार्ग प्रारभ हो गया। यदि 'स्व' का ग्रहण और 'पर' का विमोचन नहीं होता उसके प्रति जो राग है वह नहीं हटता को कार्य सिद्धि भी नहीं होगी।

ज्ञानी भी वहीं रह रहा है अज्ञानी भी वहीं रह रहा है। ज्ञानी के लिए भी वहीं पदार्थ है और अज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है। दोनो के बीच वही पदार्थ होते हुए भी ज्ञानी के लिए वैराग्य का कारण बन जाते है और अज्ञानी उन्हे लेकर रागद्वेष मे पड जाता है। जिसको आप मेरा मान रहे हो अभी उसी मे चौबीस घटे ध्यान लगा रहता है। जो वास्तव मे मेरा है उस ओर ध्यान है ही नहीं। आचार्य शुभचद्र ने ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ मे आद्योपान्त ध्यान के विषय मे ध्यान के पात्र, ध्यान के फल, ध्यान में बाधक और साधक तत्त्वो का प्ररूपण किया है। उसमे एक श्लोक के माध्यम से सद्ध्यान की परिभाषा, मोक्ष मे हेतुभूत ध्यान की परिभाषा दी है। सद्ध्यानी वह माना जाता है जो वीतरागी हो। सवेग और निर्वेग भाव जिसमे भरपूर हो। लम्बा-चौडा ज्ञान हो तो ठीक है नहीं हो तो भी अच्छा है क्योकि ज्ञान भी उस समय ध्यान मे समाप्त हो जायेगा।

ध्यान के समय उसका उपयोग नहीं है ध्यान से बाहर आते ही ज्ञान की कीमत है।

जो वीतरागी है वह दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं उसमे से कोई पदार्थ ले ले और उसका चिंतन करें, बाधा नहीं है। बाधा तो रागद्वेष की है। रागी द्वेषी बन जाये तो ध्यान बिगड जाता है। रागी होकर यदि वीतरागी मुद्रा देखेंगे तो वहॉ भी राग का ही अनुभव होगा। वहॉ भी उसकी कीमत आंकने लगेगे। धातु की है या पाषाण की है। सफेद है काली है। भाई! सफेद काला तो पाषाण है भगवान तो वीतरागी हैं। वीतद्वेषी हैं। शरीरातीत हैं। चैतन्य पिंड हैं उपयोगवान हैं। जो वीतराग भाव से देखेगा वह पत्थर मे भी वीतरागता देखेगा। राग मे भी वीतरागता का अनुभव वीतरागी करता है और रागी वीतरागता में भी राग का अनुभव करता है। इसलिए रागी का ध्यान अशुभ है और वीतराग का ध्यान शुभ है।

अनादिकाल से उपयोग की धारा अशुभ की ओर वह रही है। उसे डायवर्ट करना है। उसे अपनी आत्मा की ओर मोड़ना है। उपयोग, उपयोग मे लीन हो जाये। यही प्रयोजनभूत है। आप लोगों की रुचि सद्ध्यान मे अभी नहीं है लेकिन आप चाहे तो रुचि कर सकते है और ध्यान के माध्यम से परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति का सोपान ध्यान है।

□□

☐ मूर्त से अमूर्त

वह ज्ञान जयवत रहे जिस ज्ञान मे तीन लोक और तीन लोक मे विद्यमान विगत अनागत-वर्तमान पर्यायो सहित समस्त पदार्थ प्रतिबिबित हो रहे है। जिस प्रकार दर्पण के मामने जो भी पदार्थ आ जाता है वह उसमे प्रतिबिवित होता है उसी प्रकार केवलज्ञान मे तीन लोक का प्रतिबिब अनायास आ जाता है। ससारी जीव के पास भी ज्ञान है किंतु उसमे सकल चराचर पदार्थ प्रतिबित नहीं होते। ज्ञान होते हुए भी इतना भारी अतर होने का एक ही कारण है कि ससारी जीव का ज्ञान आवरित है। कषाय की कालिमा से आविष्ट है। जैसे दर्पण है पर उस पर कालिमा हो तो प्रतिबिबित होने की सामर्थ्य होते हुए भी पदार्थ प्रतिबिबित नहीं होसकते,इसी प्रकार ससारी प्राणी का ज्ञान अपना सही कार्य नहीं कर पाता।

कई बार ऐसा होता है कि आप किसी व्यक्ति से कोई गूढ़ बात समझने जाते हैं और वह क्रोधित हो जाता है तो आप दोबारा नहीं पूछते। यदि कोई दूसरा उस समय पूछने जा रहा हो तो उसे भी आप रोक देते है और कहने मे आ जाता है कि वह व्यक्ति आपे मे नहीं है। कषाय से आवेष्ठित जो ज्ञान विज्ञान है वह हमे सही-सही कुछ नहीं बता सकेगा। कोई व्यक्ति बहुत दातार है, उदार है किंतु जिस समय वह किसी उलझन मे फँसा हुआ हो उस समय उसके पास कोई भी दीनहीन जायेगा तो खाली हाथ लौटना पडेगा। कुछ पाना उस समय सभव नहीं है। ऐसे समय में यदि याचक उस दातार के सदर्भ मे कहे कि कैसा दातार है, काहे का दातार है। तब अन्य लोग उसे समझाते है कि दाता तो वह है पर आप उचित समय नहीं पहुँचे। आप उस समय पहुँचे जब वह उलझन मे था। वह अपने मे नहीं था। रणागन मे कोई दानवीर राजा दान नहीं कर सकता।

सही समय पर और सही क्षेत्र पर जाओ तभी दान मिलता है अन्यथा नहीं। अर्थ यह हुआ कि जब कोई अपने स्वभाव से च्युत रहता है उस समय उसका ज्ञान अपने लिए भी हानिकारक हो जाता है। उस समय जीव का उपयोग लक्षण होते हुए भी सही-सही कार्य नहीं करता। दुख का मूल कारण यही है।

जीव उपयोगवान होकर भी अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वर्तमान मे उस स्थिति

में नहीं है। कर्म जब बंधता है उस समय आत्मा किस रूप में रहती है कई लोगों का ऐसा सोचना है कि कर्म, कर्म से बंधता है आत्मा तो अमूर्त है। इसलिए आत्मा से तो कर्म बंधता नहीं है। अमूर्त का मूर्त से बंधन भी कैसे संभव है? इससे ज्ञात होता है कि अभी लोगों को आत्मा अमूर्त है या मूर्त इस बारे में सही-सही ज्ञान नहीं है कई लोग तो ऐसी धारणा बना चुके हैं कि हम तो अमूर्त हैं और कर्म, कर्म के साथ बंधन को प्राप्त हो रहा है। उदाहरण भी दिया जाता है जैसे गाय के गले में रस्सी। गाय, अपने आप में पृथक है और रस्सी, रस्सी में बंधी है। किंतु यह उदाहरण सही-सही कर्मबंध को प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि कर्म और आत्म के बीच ऐसा संबंध नहीं है।

आचार्यों ने इसके समाधान में यह कहा है कि आत्मा वर्तमान में अमूर्त नहीं है जब तक वह संसार दशा में रहेगा, तब तक वह मूर्त रहेगा। मूर्तता की अनेक श्रेणियां हैं। आत्मा बहुत सूक्ष्म है कर्म भी सूक्ष्म हैं क्योंकि देखने में नहीं आते। पर दोनों के बीच ऐसी रासायनिक प्रक्रिया हुई है कि कर्म मूर्त होकर भी आत्मा के साथ बंधे हैं। आत्मा के साथ जो कर्म का बंधन है वह एक क्षेत्रावगाह है। बंधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अंदर है उनके साथ कर्म का बंध नहीं होता और उदय में आये हुए कर्म के साथ भी बंध नहीं हुआ करता। बंध की प्रक्रिया आत्मा के उपयोग के साथ आत्मा के प्रदेशों के साथ जुड़ी हुई है क्योंकि उदय में आया हुआ कर्म फल देकर चला जाता है और सत्ता में जो कर्म हैं उनके साथ स्थिति अनुभाग आदि सभी पृथक रूप से पूर्व में बंधे हैं उनके साथ बंध नहीं होता। इतना अवश्य है कि सभी नये पुराने कर्म अपना आत्मा से अलग अस्तित्व रखते हुए भी एक ही क्षेत्र में रह सकते हैं रहते भी हैं।

इस तरह आत्मा की मूर्तता अलग प्रकार की है। मूर्त होने के कारण ही बंध निरंतर प्रत्येक समय हो रहा है। आत्मा, पुद्गल के समान रूप रस गंध स्पर्श गुण वाला नहीं है फिर भी मूर्त है। अनादिकाल से वैभाविक परिणमन की अपेक्षा मूर्त है। इसके लिए एक उदाहरण है। शुद्ध पारा होता है उसे आप हाथ से या चिमटी आदि किसी चीज से पकड़ नहीं सकते। उस पारे की यदि भस्म बना दी जाये तो वह सहज ही पकड़ में आने लगता है। अब वह पारा, पारा होते हुए भी एक तरह से पारा नहीं रहा वह भस्म हो गया। पारा अपना स्वभाव छोड़कर विकृत या विभाव रूप में परिणत हो गया। यह भस्म यदि खटाई का संयोग पा जाये तो पुनः पारे में परिणत हो जाती है। पारे की भस्म दवा के रूप में रोग के इलाज में काम आती है। लेकिन शुद्ध पारे का एक कण भी मृत्यु का कारण बन सकता है।

यहाँ शुद्ध पारे को जो कि पकड़ में नहीं आता, हम कथंचित् अमूर्त मान सकते हैं और पारे की भस्म जो कि पकड़ में आ जाती है उसे मूर्त मान सकते हैं। आत्मा

की यही स्थिति है। आत्मा शुद्ध पारे के समान शुद्ध दशा को जब प्राप्त कर लेती है तब पकड़ मे नहीं आती, उस समय वह अपने अमूर्त स्वभाव मे स्थित है। लेकिन जब आत्मा पारे की भस्म के समान अशुद्ध दशा मे रहती है विकृत या वैभाविक दशा मे रहती है तब वह मूर्त ही मानी जाती है। पकड मे आ जाती है। इसलिए जो आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानकर ऐसी धारणा बना लेते हैं कि कर्म, कर्म से बधता है उनकी यह धारणा गलत साबित होती है आगम के विरुद्ध भी है।

आगम मे करणानुयाग मे लिखा है कि आत्मा से कर्म बधता है। 'आत्म-कर्मणो अन्योन्यप्रदेशानु प्रवेशात्मको बध।' बध की प्रक्रिया आत्मा और कर्म के बीच ही हुई है। दोनो के प्रदेश एकमेक हुए है। यह ठीक है कि आत्मा कर्म के साथ बधकर भी अपने गुणधर्म को नहीं छोडती। आत्मा के साथ कर्मबध होना वैभाविक आत्मदशा है जिससे वह कर्म के माध्यम से पकड में आती रहती है। यदि कर्म के साथ कर्म का बध होता, तो कर्म का फल आत्मा को नहीं मिलता। ध्यान रहे कर्म भोक्ता नहीं है भोक्ता आत्मा है क्योकि वह चेतन है। भोगने की क्रिया सवेदन पूर्वक ही हुआ करती है।

कर्म फल का जो सवेदन आत्मा करती है वह अमूर्त नहीं अपितु मूर्त होता है। सवेदन अर्थात् फल की अनुभूति से है। सवेदन का अर्थ मात्र जानना-देखना नहीं है मात्र जानने देखने रूप चेतना तो सिद्ध परमेष्ठी के होती है। यहाँ उसका सवाल नहीं है किन्तु फल की अनुभूति रूप सवेदना मूर्त अवस्था में ही होना सभव है। यही आत्मा का विपरीत परिणमन है। आत्मा का स्वभाव-परिणमन शुद्ध पारे के समान है और विभाव-परिणमन पारे की भस्म के समान है जो कि पकड मे आ जाती है।

वर्तमान मे आत्मा अमूर्त नहीं है मूर्त है किन्तु अमूर्त बन सकता है। अमूर्त बनने की प्रक्रिया बहुत आसान है। जैसे पारे की भस्म की खटाई का योग मिल जाने से वह पुन पारा बन जाती है उसी प्रकार आप लोगो को भी वीतराग रूप खटाई का योग मिल जाये तो आप भी मूर्त से अमूर्त बन सकते हैं। जो अपने अमूर्त स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है उसे वीतरागता का सयोग करना होगा।

कर्म का आत्मा के साथ सबध बडा अद्भुत है। जिस समय यह ससारी प्राणी एक गति से दूसरी गति मे जाता है उस समय विग्रह गति मे कार्मण काय योग रहता है। उस समय आत्मा का कुछ जोर नहीं चलता, कर्म ही आत्मा को इस गति से उस गति मे ले जाता है यदि कर्म का मात्र कर्म से ही सयोग होता तो आत्मा को न ले जाकर कर्म को ही कर्म के साथ जाना चाहिये था। नरक कौन जाना चाहता है भैया। जाना तो कोई नहीं चाहता किन्तु नरकायु का बध होने के उपरान्त, जाना पड़ता है। कर्म के पास यह शक्ति है, यदि कर्म कर्म के साथ बधता और आत्मा से बिल्कुल पृथक् रहता तो आत्मा को चारो गतियो में नहीं ले जा सकता।

जब रस्सी को खींचते हैं तो गाय साथ मे चली आती है। यदि रस्सी मात्र रस्सी से बधी होती तो गाय पृथक् रही आती और खींचने पर केवल रस्सी खिच जाती। लेकिन गाय नहीं भी जाना चाहे तो भी रस्सी से बंधी होने के कारण खिची चली जाती है। रस्सी से रस्सी की गाठ लगी है किन्तु गाय खिची चली जाती है। यह बध की प्रक्रिया अनोखी प्रक्रिया है। ससारी प्राणी बध को नहीं चाहता लेकिन बंधन के साधन अपनाता चला जाता है यही उसका सबसे बड़ा अपराध है। वीतरागता उसे इस अपराध से मुक्त कर सकती है। हम यदि रागद्वेष छोड़कर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर ले तो हम अमूर्त बन जायेंगे, अपने आपे मे आ जायेंगे।

अभी हमारा ज्ञान पूजनीय नहीं क्योंकि वह मूर्त है। आचार्यो ने उस कैवल्य ज्योति को उस ज्ञान और उपयोग को जयवंत कहा जिसमें तीन लोक के सारे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा वह ज्ञान किसी के अधीन नहीं है। अनंत उज्ज्वलता उसमें विद्यमान है। हमे उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया को समझकर उससे मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया रागद्वेष के माध्यम से चल रही है। वीतराग के माध्यम से ही इसका विमोचन होगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि दूसरे का वीतराग भाव हमारे काम नहीं आयेगा। हमे उसे निमित्त बनाकर स्वयं वीतरागी बनना होगा। हम वीतराग भगवान के चरणों में पड जायें और कहें कि हे भगवान! थोड़ी कृपा कर दो, आपके पास रसायन है हमे थोड़ा दे दो, तो ऐसा सभव नहीं है।

पारसमणी के स्पर्श से लोहा, सोने में बदल जाता है। पारसमणि लोहे को सोना तो बना सकती है किन्तु पारसमणि नहीं बना सकती। लोहे के पास सोना बनने की योग्यता है और उसे पारसमणि का योग मिल जाये तो वह सोना बन जाता है। यदि योग्यता न हो तो स्पर्श का असर भी नहीं होगा। एक व्यक्ति अपने गुरु से प्राप्त पारसमणि को लोहे से स्पर्श कराता है किन्तु लोहा स्वर्ण नहीं बनता। वह वापिस आकर गुरु को उलाहना देता है कि आपने झूठ कहा था। यह पारसमणि नहीं है। लोहा, स्वर्ण नहीं बना। गुरु ने कहा झूठ नहीं है बेटा, बता कौन सा लोहा स्पर्श कराया तूने। शिष्य वह लोहा ले आया। गुरु ने वह लोहा देखा और कहा– बात ऐसी है कि यह पारसमणि तो सही है किन्तु लोहा सही नहीं है।

शुद्ध लोहा ही सोना बन सकता है अशुद्ध जंग खाया हुआ लोहा, या मिट्टी आदि की पर्त चढ़ा हुआ लोहा स्वर्ण नहीं बन सकता। पहले लोहे को शुद्ध बनाओ भगवान शुद्ध हैं हम अशुद्ध हैं। शुद्धत्व के योग्य भूमिका में ढले बिना उनका स्पर्श हमें शुद्ध नहीं बना सकेगा। यह ध्यान रहे कि हम जहाँ कहीं भी रहते हैं वह शुद्ध तत्त्व भगवान हमारे पास प्रतिदिन तीन बार आया करते हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार छह सौ आठ जीव छह महीने आठ समय में मुक्ति को प्राप्त करते हैं तो एक महीने में लगभग सौ

जीव मोक्ष पा जाते है और एक दिन म लगभग कम से कम तीन जीव जाते होगे और मुक्त होने से पहले केवली समुद्घात हो तो उस समय लोग मे एक भी प्रदेश ऐसा नहीं रहता जिसमे केवली भगवान स्पर्श न करते हो।

केवलज्ञानी का स्पर्शन तीन लोक मे फैल जाता है। उस तीन लोक मे तो सभी लोग आ जाते है। हम सभी को भगवान एक ही दिन में तीन बार छू लेते है फिर भी हम अशुद्ध के अशुद्ध ही रहे आते है। किसी बार छह महीने का अतराल पड जाता है तब उसकी पूर्ति शेष आठ समय मे हो जाती हे। परोक्ष रूप में यह सारी घटना होती रहती है लेकिन कर्म बध मे फसा हुआ जो व्यक्ति है उसको इसका भान नहीं हो पाता। भगवान को पाना चाहो तो कहीं भागो मत, अपने पास ही रहो। लौकिक दृष्टि से प्रचलित सूक्ति है कि भगवान भी भक्त के वश मे है। उपयोग बदल जाये दृष्टि मे वीतरागता आ जाये तो भगवान को पाना आसान है।

जैसे दीपक जल रहा है जिस समय वह वायु मे प्रत्याहत नहीं होता उस समय उसकी लौ बिल्कुल सीधी व सही होती है किन्तु जिस समय वह किसी कारणवश भभकने लगता है उस समय वह लौ, आपे मे नहीं रहती। प्रकाश की मात्रा तब कम हो जाती है दीपक का स्वभाव प्रकाश तो रहता है किन्तु उसमे विकार आ जाता है। उसी प्रकार ससारावस्था मे जीव मे ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग तो रहता है लेकिन सही काम नहीं करता। भभकने वाला दीपक प्रकाश कम देता है। हमारे अदर भी अपने क्षयोपशम के माध्यम से जो वीर्य प्राप्त होता है वह कषाय करने से भभकते दीपक के समान हो जाता है।

हम जब कषाय तीव्र करते हैं तो हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। हमारी शक्ति हमारे ही द्वारा समाप्त हो जाती है उसका सदुपयोग नहीं हो पाता और यह अनर्थ जीवन मे प्रति समय हो रहा है। जो जीवन मे प्रकाश हमे मिलना चाहिये था, उससे जो कार्य होना चाहिये था वह नहीं हो पाता और जीवन यू ही समाप्त हो जाता है। बध की प्रक्रिया के उपरान्त हुई अपनी स्थिति को हमने बुद्धि पूर्वक अपना लिया है और उसी मे आनद का अनुभव मान रहे है। विचार तो करो, केवली भगवान का स्पर्श होने के उपरान्त भी हमें भान नहीं हो पा रहा।

यहाँ कोई व्यक्ति शका कर सकता है कि जब आज भी केवली का स्पर्श हमे प्राप्त है तो आज भी तीर्थकर प्रकति का अर्जन हमे होना चाहिये था क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी चाहिये। तो ध्यान रखना कि किसी गुण को प्राप्त करना चाहते हो तो गुण प्राप्ति के लिए गुणवान के निकट जाना पडता है। वे हमारे पास आ जाये, तो आ सकते हैं। लेकिन जब तक हम नहीं जायेगे वह गुण प्राप्त नहीं होगा। जब हम क्षायिक सम्यग्दर्शन या तीर्थकर प्रकृति का अर्जन करते हैं तब उसके लिए उनके चरणो मे चले जाना आवश्यक होता है। मेहमान को आप निमत्रण दे तभी वह आता है। वैसे नहीं आता। आपको

☐ आत्मानुभूति ही समयसार

ससारी प्राणी को जो कि सुख का इच्छुक है उसे वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान उपदेश देकर हित का मार्ग, प्रशस्त करते है। वे भगवान जिनका हित हो चुका है फिर भी जो हित चाहता है उसके लिए वे हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कृतकृत्य होने के उपरात भी वे सहारा देते है और हमे भी भगवान के रूप मे देखना चाहते है। ससारी प्राणी सुख का भाजन तो बन सकता है किंतु अपनी पात्रता को भूला हुआ है अपनी आत्म-शक्ति को भूला हुआ है इसलिए सुखी नहीं बन पाता। महावीर भगवान ने और उसके उपरात होने वाले सभी आचार्यो ने इसी बात पर जोर दिया कि हम जो भी धार्मिक क्रियाएँ करें, यह सोचकर करे कि मै भगवान बनूँ। क्योकि मैं भगवान बन सकता हूँ। सारी धार्मिक क्रियाए यदि इस लक्ष्य को लेकर होती है तो श्रेयस्कर है। अन्यथा जिसे भगवान बनने की कल्पना तक नहीं है तो उसकी सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ सासारिक ही कहलाएगी। क्रियाए अपने आपमे न सासारिक हैं न धार्मिक है, दृष्टि के माध्यम से ही वे धार्मिक हो जाती है।

चलना आवश्यक है किंतु दृष्टि बनाकर चलना है। जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक चलने का कोई औचित्य नहीं है। जैसे आप गाडी चला रहे है चलाते-चलाते उसे रोक देते हैं और रिवर्स मे डाल देते है। गाडी चलती है किंतु उल्टी-दिशा मे चलने लगती है। मुख भले ही सामने है पर वह लक्ष्य की ओर न जाकर विपरीत जा रही है। इसी प्रकार दृष्टि के अभाव मे सारी की सारी क्रियाएँ रिवर्स गाडी के अनुरूप हो जाती हैं, दिखता है कि हम जा रहे हैं। चल रहे है किंतु अभिप्राय यदि ससार की ओर हो भगवान बनने का अभिप्राय न हो तो क्रियाएँ मोक्षमार्ग के अतर्गत नहीं आ सकती। मोक्षमार्ग पर चलना तो तभी कहलायेगा जब हमारी मोक्ष पाने की इच्छा हो और कदम मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े पीछे की ओर न जाये। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढे पीछे की ओर न जाये। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़े जिस ओर भगवान गये है मुक्ति का पथ जिस ओर है। दो ही तो पथ है एक मुक्ति का और दूसरा ससार का। वैसे मार्ग एक ही है मुक्ति का लक्ष्य बनाकर सामने चलना मुक्ति

का मार्ग है और पीछे संसार का लक्ष्य बनाकर मुड जाना यही संसार का मार्ग है।

जयपुर से आगरा की ओर जायेगे तो आगरा का साइन बोर्ड मिलेगा और आगरा से जयपुर की ओर आयेगे तो जयपुर का साइन बोर्ड मिलेगा मील का पत्थर एक ही है मार्ग भी एक ही है दिशा बदल जाती है तो वही आगरा जाता है और वही जयपुर जाता है। इस ओर से जाते हैं तो आगरा लिखा मिलता है और उधर से आते हैं तो जयपुर लिखा मिलता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' — सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मार्ग मोक्ष का है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र यह संसार का मार्ग बन जाता है। चलने वाला व्यक्ति एक है और रास्ता भी एक ही है दिशायें दो हैं। और दिशा भी कोई चीज नहीं है जब चलता है तब दिशा बनती है। जब गति प्रारम्भ हो जाती है तब दिशा-बोध की आवश्यकता होती है। जब चलना प्रारम्भ होता है तभी उल्टा-सीधा इस तरह की बात ध्यान मे रखना आवश्यक होता है। भगवान बनने के लिए जो भी आगम के अनुरूप आप क्रिया करेंगे वह सब मोक्षमार्ग बन जायेगा। मोक्षमार्ग पर क्रम से जब हम कदम बढ़ायेंगे तो अवश्य सफलता मिलती चली जायेगी। सफलता क्रम के अनुरूप चलने से मिलती है और क्रम से मिलती है।

सम्यदर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है। यह हम सुनते हैं और सुनाते हैं। किंतु उस ओर हमारा जीवन ढलता नहीं है इसलिए अनुभूति नहीं हो पाती। ज्ञान से भी अधिक महत्व अनुभूति को आचार्यो ने दिया है। अनुभूति के साथ ज्ञान तो रहता ही है। ज्ञान पहले हो और अनुभूति बाद मे हो ऐसा भी कोई नियम नहीं हैं ज्ञान जहॉ हो वहाँ अनुभूति हो ही यह नियम नहीं है लेकिन जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य होगा। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए जैसे कोई डॉक्टर एम बी बी एस हो जाता है तो भी उपाधि मात्र से डॉक्टर नहीं कहलाता। उसे प्रेक्टिस करना भी अनिवार्य होता है। जो ज्ञान के माध्यम से परोक्ष रूप से जाना था उसे प्रेक्टिस के दौरान प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना होता है। एक दो साल प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेनी पड़ती है। तभी रोगी की चिकित्सा करने की योग्यता आती है। मोक्षमार्ग मे भी अनुभूति का महत्व है। ज्ञान के साथ अनुभूति होना भी आवश्यक है।

हमने ज्ञान किस लिए प्राप्त किया? तो कहना होगा कि उस वस्तु को जानने के लिए उस आत्म-तत्त्व की अनुभूति के लिए किया। जब ज्ञान के माध्यम से उस आत्मा की अनुभूति की ओर कदम बढ़ जाते हैं तो वही मोक्षमार्ग बन जाता है। अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रहता। अनुभूति भी रागानुरूप हो रही है या वीतरागानुरूप हो रही है यह भी देखना आवश्यक है क्योकि परिणाम उसी के अनुरूप मिलने वाला है। मोक्षमार्ग की अनुभति, वीतरागमार्ग की अनुभूति तो तभी होगी जब जैसा हमने उस

मार्ग के बारे मे सुना देखा, जाना है, श्रद्धान और ज्ञान किया है उसको वैसा ही अनुभव मे लाने का पुरुषार्थ करेगे। जानने के लिए उतना पुरुषार्थ नहीं करना पडता जितना कि अनुभव करने के लिए आवश्यक है। अनुभूति बिना पुरुषार्थ के नहीं होती।

बैठे-बैठे जाना जा सकता है किंतु बैठे-बैठे चला नहीं जा सकता। चलते समय देखा भी जाता है और जाना भी जाता है। मै सदैव कहता हूँ देखभाल चलना। जीवन मे जब भी अनुभूति होती है वह इन तीनो की (देख+भाल+चलना=दर्शन+ज्ञान+चारित्र) की समष्टि के साथ ही होती है। रागानुभव के साथ ज्ञान कितना भी हो उससे शान्ति, सुख आनद जो मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता है। 'सो इद्र नाग नरेद्र वा अहमिद्र के नाहीं कह्यो' – वीतरागता के साथ जो आनद है वह चाहे इद्र हो, नागेद्र हो नरेद्र अर्थात् चक्रवर्ती हो या अहमिद्र (जो नियम से सम्यग्दृष्टि होते है) भी क्यो न हो उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योकि ये सारे के सारे असयमी हैं। सयम के साथ वीतरागता के साथ जो आत्मा की अनुभूति है वह एक प्रकार से शुद्ध परिणति है।

जो व्यक्ति भगवान बनना चाहता है उसे सर्वप्रथम भगवान के दर्शन करने होगे, उसके माध्यम से बोध प्राप्त करना होगा फिर उसे स्वय के अनुभव मे लाने का प्रयास करना होगा। मै भगवान बन सकता हूँ– इस प्रकार का जो विचार उठेगा वह भगवान को देखे बिना नहीं उठेगा इसलिए पहले भगवान का दर्शन आवश्यक है। भगवान के दर्शन से भावना प्रबल हो जाती है कि मुझे भी भगवान बनना है। पर इतने मात्र से कोई भगवान नहीं बनता। आगे की प्रक्रिया भी अपनानी पड़ेगी। आखो से देखा जाता है पाया नहीं जाता। पाने के लिए तो स्वय वीतराग मार्ग पर चलना होगा, सयम धारण करना होगा, उसके उपरात अपने आप मे लीनता आयेगी। अनुभूति तभी होगी। तभी परमात्म स्वरूप की उपलब्धि होगी।

सभी ससारी जीवों की जो अनुभूति है वह सामान्य रूप से रागानुभूति है। उस अनुभूति की हम बात नहीं कर रहे किंतु मोक्षमार्ग मे होने वाली वीतराग अनुभूति की बात यहाँ है। आत्मा के विकास के लिए स्वसवेदन की आवश्यकता है पर वीतराग स्वसवेदन की है। धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को, जिन-जिन पदार्थो को लेकर राग द्वेष उत्पन्न हो रहे है उन पदार्थो से हटाते चले जायें और दृष्टि को 'स्व' की ओर मोड़ते चले जायें तो वीतरागता आने मे देर नहीं लगेगी। जिन पदार्थो के सम्पर्क से हमारा मन राग मे जाता है हमारा ज्ञान राग का अनुभव करना प्रारभ कर देता है उन पदार्थो से अलगाव रखे और ज्ञान की शुद्धि करना प्रारम्भ कर दे। धीरे-धीरे 'पर' से हटने के कारण आप अपनी ओर आ जायेगे। ऐसा कोई शार्टकट नहीं है जिसके माध्यम से 'पर' के साथ सबध रखते हुए भी हम आत्मअनुभूति तक पहुँच जाये। रास्ता एक ही है दिशा बदलनी होगी। राग

की सामग्री से उसे हटाकर वीतरागता की ओर आना होगा।

एक सेठजी थे। भगवान के अनन्य भक्त। एक दिन वे गजानन-गणेश की प्रतिमा लेकर आये और खूब धूमधाम से पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। गजानन को मोदक बहुत प्रिय होते है इसलिए एक थाली मे मोदक सजाकर नैवेद्य के रूप में रखे। सेठजी प्रतिमा के सामने प्रणिपात हुए, माला फेरी, उसकी आरती की फिर वहीं बैठे-बैठे उस प्रतिमा को निहारने लगे। उसी बीच एक चूहा आया और उस थाली मे से एक मोदक लेकर चला गया। सेठजी के मन मे विचार आया कि देखो, भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो सबसे बडा है वह भगवान है और वह सर्वशक्तिमान है। ये गजानन तो भगवान नहीं दिखते हैं। यदि ये भगवान होते तो इस चूहे का अवश्य ही प्रतिकार करते। एक अदना सा चूहा इनका मोदक उठा ले गया और ये कुछ न बोले। उसे हटाने की सामर्थ्य ही नहीं है इनमे। हो सकता है कि चूहा, भगवान से बड़ा हो मेरे समझने मे कहीं भूल हो गयी है। और उस दिन से सेठजी ने चूहे की पूजा प्रारम्भ कर दी।

दो तीन दिन के उपरांत एक दिन चूहा जब बाहर आया तो उसे बिल्ली पकड ले गई ओ हो! अब अनुभव होता जा रहा है मुझे, सेठ जी ने सोचा मै अब अनुभव की ओर बढ़ता जा रहा हूँ। जैसे-जैसे सेठ जी का अनुभव बढता गया उनका आराध्य भी बदलता गया। अब बिल्ली की पूजा मे लीन हो गये। सबसे बडी यही है। जिस चूहे को गजानन नहीं पकड सके उस चूहे को इसने पकड़ लिया। यही सबसे बडी उपास्य है। सात-आठ दिन व्यतीत हो गये। बिल्ली का स्वभाव होता है कि कितना भी अच्छा खिला पिला दो वह चोरी अवश्य करेगी। एक दिन अगीठी के ऊपर दूध की भगौनी रखी थी बिल्ली चोरी से दूध पीने लगी, सेठानी ने देख लिया और क्रोध मे आकर उसने बिल्ली की पीठ पर एक लाठी मार दी, बिल्ली मर गई। सेठजी को जब सारी घटना मालूम पड़ी तो पहले तो खेद हुआ लेकिन तुरत विचार आया कि जो मर गया वह कमजोर है। वह भगवान नहीं हो सकता। लगता है सेठानी बड़ी है। उसने गजब कर दिया। गजानन चूहे से डर गये, चूहा बिल्ली की पकड मे आ गया और अब बिल्ली सेठानी के हाथो समाप्त हो गयी।

सेठजी उसके चरणों में बैठ गये। अव सेठानी की पूजा प्रारभ हो गयी। अनुभव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। एक दिन प्रात सेठजी ने सेठानी से कहा कि आज हमे दुकान मे काम अधिक है। हम साढे दस बजे खाना खायेगे, खाना तैयार हो जाना चाहिये। सेठानी ने कहा ठीक है। पर प्रतिदिन पूजा होने के कारण सेठानी प्रमादी हो गई थी, समय पर रसोई नहीं बन पायी। जब सेठजी आये तो बोली आइये, आइये। अभी तैयार हो जाती है। सेठजी क्रोधित हो उठे और सेठानी पर वार कर दिया सेठानी मूर्छित हो

गयी जब होश आया तब सेठजी सोच मे पड़ गये कि अभी तक तो मै सेठानी को सबसे वड़ा समझ रहा था किंतु अब पता चला कि मैं ही बड़ा हूँ। अव मुझे अनुभव हो गया कि मुझ से वड़ा कोई भगवान नहीं है और वह अपने आपमे लीन हो गया। आप सारी बात समझ गये होंगे। यह तो मात्र कहानी है।

इससे आशय यही निकला कि 'स्व' की ओर आना श्रेयस्कर है। स्व की ओर आने का रास्ता मिल सकता है तो सच्चे देव गुरु शास्त्र से ही मिल सकता है अन्य किसी से नहीं मिल सकता है। इसलिए उनको वड़ा मानना है और उनका सहारा तब तक लेना है जव तक कि हम अपने आप मे लीन न हो जाये। भगवान का दर्शन, भगवान की पूजन, भगवान बनने के लिए करना है। भगवान की पूजा श्रीमान बनने के लिए नहीं है। भगवत् पद की उपलब्धि सांसारिक दृष्टिकोण रखकर नहीं हो सकती। दृष्टि में परमार्थ होना चाहिये। हम जैसे-जैसे परमार्थ भूत क्रियाओ के माध्यम से रागद्वेप को कम करते चले जायेंगे, वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेगे। यह प्रक्रिया ऐसी ही है इसके विना कोई भगवान नहीं बन सकता।

देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने आपके जीवन को वीतरागता की ओर मोड लिया, वीतराग केंद्र की ओर मोड लिया वह अवश्य एक दिन आत्मा में विराम पायेगा। किंतु यदि देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की वांछा रखता हो तो उसे वही चीज मिल जायेगी आत्मोपलब्धि नहीं होगी। मुझे, एक वार एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज 'हमने अपने जीवन मे एक सौ बीस बार समयसार का अवलोकन कर लिया। कंठस्थ हो गया मुझे।' अब उनसे क्या कहता मन मे विचार आया कि कहूँ आपने मात्र कंठस्थ कर लिया है। और मैंने हृदयस्थ कर लिया है। आपने उसे शिरोड्गम करके अपने मस्तिष्क मे स्थान दिया है। आपको आनंद आया या नहीं पर हमारे आनद का पार नहीं है। बंधुओ। आत्मानुभूति ही समयसार है। मात्र जानना समयसार नहीं है।

समयसार का अर्थ है 'समीचीन रूपेण अयतिगच्छति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान् शुद्धगुणपर्यायान् य स समय' — अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण पर्यायो की अनुभूति करता है उनको जानता है उनको पहचानता है उनमे व्याप्त होकर रहता है उसी मय जीवन बना लेता है वह है 'समय' और उस 'समय' का जो सार है वह है समयसार। ऐसे समयसार के साथ व्याख्यान का कोई संबंध नहीं वहाँ तो मात्र एक रह जाता है। एक' अहं खलु शुद्धात्मा— एक मैं स्वयं शुद्धात्मा। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश मे बादशाह से भी अधिक महत्व रहता है इक्के का। एक अपने आपमें महत्वपूर्ण है वह है शुद्धात्मा।

अपनी ओर आने का रास्ता बताने वाले देवगुरुशास्त्र है। सच्चे देव के माध्यम से शुद्धात्मा का भान होता है गुरु के माध्यम से वीतरागता की ओर दृष्टि जाती है शुद्धत्व की प्रतीति होती है और गुरुओ के माध्यम से प्राप्त जो जिनवाणी है उसमे कहीं भी रागद्वेष का कोई स्थान नहीं रहता उसके प्रत्येक अक्षर से वीतरागता मुखरित होती है। इस तरह इन तीनो के द्वारा वीतरागता का बोध होता है, वीतरागता को हमे जीवन का केद्र बनाना चाहिये।

एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज इतनी चर्चा आदि हम सुनते है तो कुछ न कुछ अश मे हमे भी वीतरागी मानना चाहिये। मैंने कहा कि भइया आपकी वीतरागता दूसरे तरह की है आप ऐसे वीतरागी हैं कि आपका आत्मा के प्रति राग नहीं है। आपकी अपेक्षा मे रागी हूँ क्योकि मेरा आत्मा के प्रति राग है। लेकिन आपकी आत्मा के प्रति उपेक्षा का यह परिणाम है कि जीवन मे आत्म सतोष नहीं है। सारा अनुभव रागद्वेष का है रागद्वेष युक्त अशुद्ध पर्याय का है। भगवान की देशना तो यह है कि सभी के पास भगवत्ता विद्यमान है कितु अव्यक्त रूप से है शक्ति रूप से है व्यक्त रूप मे नहीं है। जो भीतर है उसका उद्घाटन करना है उसी के लिए मोक्षमार्ग की देशना है।

जिसे एक बार 'समय' की अनुभति हो गयी क्या वह अपने समय को दुनियादारी मे व्यर्थ खर्च करेगा। वह समय का अपव्यय कभी नहीं करेगा। जिस व्यक्ति को आत्मनिधि मिल गयी क्या वह दसबीस रुपये की चोरी करेगा। यदि करता है तो समझना अभी समयसार कठस्थ हुआ है जीवन मे नहीं आया है। एक वैद्यजी के पास एक रोगी आया और शीघ्र रोग मुक्त हो जाऊँ ऐसी दवा मागी। वैद्यजी ने परचे पर दवाई लिख दी और कहा कि उसे दूध मे मिलाकर पी लेना। रोगी घर आया और दूध मे उस पर्चे को घोलकर पी गया। दूसरे दिन जब आराम नहीं लगा तो वैद्यजी से शिकायत की कि दवा का असर नहीं हुआ। वैद्यजी ने कहा ऐसा हो नहीं सकता औषधि एक दिनमे ही रोग ठीक करने वाली थी। बताओ कौन सी दुकान से दवा ले गये थे। रोगी ने कहा आपने जो कागज दिया था वही तो थी औषधि। हमने उसी को घोलकर पी लिया।

भइया! यही हम कर रहे हैं। कोई ग्रथ औषधि थोड़े ही है। ग्रथ मे जो औषधि लिखी है उसे खोजना होगा उसे प्राप्त करके उसका सेवन करना होगा। तभी अनादिकालीन जन्म जरा मरण का रोग नष्ट होगा। वीतरागता ही औषधि है उसके सेवन से उसे जीवन मे अंगीकार करने से ही हम जन्म-मृत्यु के पार होगे। आत्मा की अनुभूति कर सकेगे। आप लोगो के लिए मदिर वही है देव गुरुशास्त्र भी वही है सब कुछ हैं कितु इसके उपरान्त भी आपकी गति उस ओर नहीं हो रही है उससे विपरीत हो रही है। जैसे तेली का बैल घूमकर वहीं आ जाता है। इसी प्रकार आपका जीवन व्यतीत हो रहा है। बाह्य

सामग्री को लेकर आप स्वय को बड़े मान रहे है। किंतु खड़े वहीं पर है। आत्मानुभूति की ओर कदम नहीं बढ़ पा रहे है। जो जवान है या जो प्रौढ़ हैं उनमे कोई परिवर्तन नहीं आता तो कोई बात नहीं किंतु जो वृद्ध हैं उनमे भी कोई अन्तर नहीं आ रहा। वृद्धत्त्व के उपरान्त भी वृद्धत्त्व नहीं आ रहा वही रागद्वेष वही विषय-कषाय जो अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी ओर आज भी कदम बढ़ रहे है।

मनुष्य जीवन एक प्रकार का प्लेटफार्म है स्टेशन है। अनादिकाल से जो जीवन रागद्वेष की ओर मुड गया है। उस मुख को हम वीतरागता की ओर मोड सकते हैं और उस ओर जीवन की गाडी को इसी मनुष्य जीवन रूपी स्टेशन से ही चला सकते हैं। यदि इस स्टेशन पर आ जाने पर भी आपको नींद आ जाती है, आलस्य आ जाता है तो एक बार इस स्टेशन से गाड़ी निकल जाने के बाद वह मुड नहीं सकेगी। आलस्य को आप कर्म का उदय मानकर मत बैठे रहिये। यह आपके पुरुपार्थ को कमी मानी जायेगी। लोग कहते है कि जैसे ही सामायिक करने बैठता हूँ जाप करने बैठता हूँ स्वाध्याय करने के लिये सभा मे आ जाता हूँ तो निद्रा आने लगती है। मै सोचता हूँ आपकी निद्रा बड़ी सयानी है। जिस समय आप दुकान पर बैठते है और रुपये गिनते हैं उस समय कभी निद्रा नहीं आयी। वहाँ पर नहीं आती और यहाँ पर आती है इसका अर्थ, पुरुषार्थ की कमी है। रुचि की कमी है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति को सोते देखकर पडित जी ने पूछा क्यो भइया! सो तो नहीं रहे हो। वह कहता है नहीं। वह ऊघ रहा था फिर भी वह नहीं ही कहता है। एक दो बार फिर ऐसा ही पूछा तो उसने वही जवाब दिया और ऊघता भी रहा। फिर पडित जी ने अपना वाक्य बदल दिया और कहा कि भइया सुन तो नहीं रहे हो। उसने तुरत उत्तर दिया नहीं तो। बात समझ में आ गयी। सीधे-सीधे पूछने से पकड़ मे नहीं आ रहा था। यहाँ पर आचार्य कुदकुद स्वामी पूछ रहे है कि समयसार पढ़ रहे हो तो सभी कह देगे कि पढ़ तो रहे है यदि पढ रहे है तो परिवर्तन क्यो नहीं आ रहा है। सो रहे हैं किंतु कह रहे है कि सुन रहे है। यही प्रमाद है। समयसार पढने सुनने अकेले की चीज नहीं है। प्रमाद छोडकर अप्रमत्त दशा की ओर आने की चीज है। एक ही गाथा जीवन को आत्मानुभूति की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त है पूरा समयसार रटने से कुछ नहीं होगा। जीवन उसके अनुरूप बनाना होगा। समयसार जीवन का नाम है चेतन का नाम है और शुद्ध परिणति का नाम है पर की बात नहीं स्व की बात है।

आप कह सकते हैं कि महाराज आप बार-बार इन्हीं बातो की पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं तो भइया! आप आत्मा की बात सुनना चाहते है या दूसरी बाते सुनना चाहते

हैं। दूसरी ससार की वातें तो आप लोगो को मालूम ही है। आत्मा की वात अनूठी है। उसे अभी तक नहीं सुना। उसमें रुचि नहीं जागी, उसी रुचि को तो जगाना है। जिस ओर रुचि है उसको बताने की आवश्यकता नहीं है। धर्मोपदेश विषयों में रुचि जगाने के लिए नहीं है आत्मा की रुचि जगाने के लिए धर्मोपदेश है।

एक बच्चे ने अपनी माँ से कहा कि माँ मुझे भूख नहीं लगी आज कुछ नहीं खाऊँगा। 'क्यो' बेटा! वात क्या हो गई माँ ने कहा। 'कुछ नहीं माँ'। तो खाने का समय हो गया खा ले, सव शुद्ध है, शुद्ध आटा है घी है।' 'मुझे भूख नहीं है।' 'वात यह है कि आपने जो एक रुपया दिया था न, वह रखा था उससे आज मैंने चाट-पकौड़ी खाली।'' जिसे चाट पकोड़ी की आदत पड गई, अव उसे शुद्ध रसोई रुचिकर लगना मुश्किल है। ऐसे ही जिसे विषयो मे रुचि हो गयी उसे आत्मा की बात रुचिकर मालूम नहीं पड़ती। भाई! थोड़ा विषयों को कम करो और आत्मा को चखो तो सही, कितना अच्छा लगता है। स्वाद मे वदलाहट तभी आयेगी जव विषय सामग्री मे रुचि होते हुए भी उसमें प्रयत्न पूर्वक कमी लायी जायेगी एक हाथ से यह भी खाते रहे और दूसरे से वह, तो हाथ भले ही दो है किंतु मुह तो दो नहीं हैं। जिह्वा तो एक ही है। स्वाद लेने की शक्ति तो एक ही है। सभी मिलाओगे तो मिश्रण हो जायेगा ठीक स्वाद नहीं आयेगा।

स्वात्मानुभूति का सवेदन आत्मा का जो स्वाद है वह स्वाद स्वर्ग मे रहने वाले देवो के लिए दुर्लभ है। कहीं भी ससार मे चले जाओ सभी के लिए दुर्लभ है। केवल उसी के लिए वह साध्यभूत है, सभव है जिन्होने अपने संस्कारो को परिमार्जित कर लिया है, अर्थात् मनुष्य भव पाकर जो रागद्वेष से ऊपर उठ गये हैं। जिनकी अनुभूति मे वीतरागता उतर आयी है। आप भी यदि एक वार देवगुरुशास्त्र के प्रति विश्वास करके, इस काम को हाथमे ले लो, तो मै आपको विश्वास दिलाता हूँ, दिलाना क्या विश्वास आपको स्वयं करना होगा, विश्वास दिलाया भी नहीं जा सकता स्वय किया जा सकताहै कि आत्मा की उपलब्धि वीतरागता के द्वारा ही सभव है।

कहा गया है कि ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो परोक्ष ज्ञान के माध्यम से श्रद्धान में उतरने वाली चीज को हाथ में रखकर दिखा सके। केवली भगवान अपनी आत्मा को जानते देखते हैं कितु दिखा नहीं सकते। आत्मा को तो स्वयं देखना होगा, कोई दूसरा दिखा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धारक होकर भी केवली भगवान अपनी आत्मा को हाथ पर रखकर दिखा नहीं सकते। आत्मा दिखने की वस्तु नहीं है आत्मा तो देखने की वस्तु है। स्वरूप तो वताया जा सकता है। लेकिन ज्ञात होने के वाद आपका यह परम कर्त्तव्य है कि प्रत्यक्षज्ञान को प्राप्त करके उसका सवेदन करें।

जैसे मार्ग पर जाती हुई गाड़ी को रोकना या चलाते रहना तो आसान है लेकिन

उसकी दिशा बदलना उसे सही दिशा मे मोडना आसान नहीं है प्रयत्न साध्य है। इसी प्रकार जीवन की धारा को वीतरागता की ओर मोडने मे प्रयास की आवश्यकता है। किंतु वीतराग से राग की ओर जाने मे कोई प्रयास आवश्यक नहीं है वह तो अनादिकाल से उसी ओर जाने मे अभ्यस्त है। ऊपर की ओर कोई चीज फेकने के लिए तो प्रयास की आवश्यकता है पर नीचे तो वह अपने आप आ जायेगी, प्रयास नहीं करना पड़ता। आप का अभ्यास तो ऐसा है कि अभी यहाँ से निवृत्त होते ही आपके कदम घर की ओर बढ़ जायेगे। पर निज घर कहाँ है इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

मुनि का अभ्यास अपनी ओर मुड़ने का है और आपका गृहस्थ का अभ्यास घर की ओर जाने, उसी ओर बढ़ने का है। वीतरागता की ओर मोडने के लिए वाचनिक प्रयास, मानसिक प्रयास और शारीरिक प्रयास सभी प्रयास होना आवश्यक है। एक बार स्वभाव की उपलब्धि हो जायेगी तो फिर विभाव की ओर जाना सभव नहीं है। एक बार प्रयास करके आप उस ओर बढ जाये फिर यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी। थोड़ा परिश्रम होगा, पसीना आयेगा, कोई बात नहीं आने दो। टिकट खरीदते समय पसीना आता है, लाईन मे लगते समय पसीना आ जाता है ट्रेन मे चढते समय पसीना आ जाता है किंतु फिर बाद मे बैठ जाने के उपरात ट्रेन चलने लगेगी तब आराम के साथ यात्रा होगी। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में चलते-चलते थोड़ी तकलीफ लगेगी पर बाद में आनद भी मिलेगा।

प्रारम्भ मे औषधि कडवी लगती है पर बाद मे परिणाम मीठा निकलता है। यह मोक्षमार्ग रूप औषधि भी ऐसी ही है जो अनादिकालीन रोग को निकाल देगी और शुद्ध चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति उसमें से होगी और आनद ही आनद रहेगा उसमे। अध्यात्म को पढकर अपने जीवन को उसी ओर ढालने का प्रयास करना चाहिये, यही स्वाध्याय का और देवगुरुशास्त्र की उपासना का वास्तविक फल है। यदि प्रयास मोक्षमार्ग के लिए नहीं किया जायेगा तो ससार मार्ग अनादिकाल से चल रहा है और चलता रहेगा। जीवन में सिवाय दु ख के कुछ हाथ नहीं आयेगा। अपनाना है तो एकमात्र अपनाने योग्य मोक्षमार्ग है जो कि स्वाश्रित है। देव गुरु शास्त्र उस स्वाश्रित मोक्षमार्ग मे अनिवार्य आलम्बन हैं। इनके आलबन से हम भवसागर से पार उतर सकते हैं और अनत काल के लिए अपने शुद्धात्मा मे लीन हो सकते है।

□□

☐ परिग्रह

आज तक जितने लोगो ने अपनी आत्मा को पवित्र-पावन बनाया है वे सभी सिद्ध भगवान महान् अपरिग्रह महाव्रत का आधार लेकर आगे बढ़े हैं। उन्होने मन-वचन-काय से इस महाव्रत की सेवा की है। अपरिग्रह यह शब्द विधायक नहीं है, निषेधात्मक शब्द है। उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है और प्ररूपणा भी दो प्रकार से हुआ करती है एक निषेधमुखी और दूसरी विधिमुखी। परिग्रह के अभाव का नाम अपरिग्रह है। परिग्रह को अधर्म माना गया है। इसलिए अपरिग्रह स्वत ही धर्म की कोटि मे आता है। इस अपरिग्रह धर्म का परिचय, इसकी अनूभूति इसकी उपलब्धि आज तक पूर्णत हमने की ही नहीं। क्योकि जब तक बाधक तत्त्व विद्यमान हैं साध्य की प्राप्ति सभव नहीं हैं

धर्म और अधर्म एक साथ नहीं रह सकते। अधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार परिग्रह के रहते हुए जीवन मे अपरिग्रह की अनुभूति नहीं हो सकती। परिग्रह को महावीर भगवान ने पाँच पापो का मूल कारण माना है। संसार के सारे पाप इसी परिग्रह से उत्पन्न होते है। हमारा आत्मतत्त्व स्वतंत्र होते हुए भी, एकमात्र इसी परिग्रह की डोर से वधा हुआ है। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति इस ओर इशारा भी करती है जो विचारणीय है। परि आसमन्तात् ग्रहणति आत्मान इति परिग्रह — जो आत्मा को सब ओर से घेर लेता है जकड देता है वह परिग्रह है। आत्मा जिससे वध जाता है उसका नाम परिग्रह है।

मात्र बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का नाम परिग्रह नहीं है। मूर्छा ही परिग्रह है। बाह्य पदार्थो के प्रति जो अटेचमेंट है लगाव है उसके प्रति जो रागानुभूति है उसमें जो एकत्व की स्थापना का भाव है वह परिग्रह है जहाँ आप रह रहे हैं वहीं पर अर्हन्त परमेष्ठी भी है, साधु परमेष्ठी भी है। वहीं पर पुनीत आत्माएँ रह रहीं जाती हैं किंतु वही स्थान आपके लिए दुख का स्थान वन जाता है और वही उन आत्माओं के लिए जरा भी प्रभावित नहीं करता सुख दुख का कारण नहीं है। वास्तव मे पदार्थ दुख सुख का कारण नहीं है। अपितु उसके प्रति जो मूर्छा-भाव है जो ममत्व है वही दुख का कारण है। इसी का नाम परिग्रह है।

विशालकाय हाथी को कोई बाध नहीं सकता। वह स्वय बध जाता है उसकी मूर्छा उसे स्वय बधन मे डाल देती है। इसी प्रकार तीन लोक को जानने की अनन्त शक्ति अनन्त आलोक जिस आत्मा के पास विद्यमान है वह आत्मा भी मूर्छित है सुप्त है जिससे उसकी वह शक्ति भूलुण्ठित हो रही है। आप चार पापो के प्रति अत्यत सावधान हैं। आप हिंसा से परहेज करते हैं झूठ से बचते है चोरी नहीं करूँगा ऐसा सकल्प ले सकते हैं और लौकिक ब्रह्मचर्य के प्रति भी आपकी स्वीकृति है किंतु परिग्रह को आप विशेष रूप से सुरक्षित रखे हुए हैं। वह पाप मालूम ही नहीं पडता।

आज हिंसा करने वाले का कोई आदर नहीं करता, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले का अनादर ही होता है, लेकिन परिग्रही का आज भी आदर हो रहा है। जितना परिग्रह बढ़ता है वह उतना ही बडा आदमी माना जा रहा है। जो कि धर्म के लिए सत्य नहीं है। धर्म कहता है कि परिग्रह का समर्थन सारे पापो का समर्थन है। आप धर्म चाहते हैं किंतु परिग्रह को छोडना नहीं चाहते। इससे यही प्रतीत होता है कि आप अभी धर्म को नहीं चाहते। धर्म तो अपरिग्रह मे है।

मूर्छा रूपी अग्नि के माध्यम से आपकी आत्मा तप्त है पीडित है और इसी के माध्यम से कर्म के बधन मे जकड़ा हुआ है। आत्मा की शक्ति इसी के कारण समाप्त प्राय हो गयी है। वह अनत शक्ति पूर्णत कभी समाप्त तो नहीं होती लेकिन मूर्छा के कारण सुप्त हो जाती है। जैसे आकाश मे बादल छा गया जाते हैं तो सूर्य ढक जाता है। प्रकाश तो होता है दिन उग आता है लेकिन सूरज दिखायी नहीं पडता इसी प्रकार मूर्छा के बादलो मे ढका आत्मा दिखायी नहीं देता। आत्म-दर्शन के लिए स्वय को परिग्रह से मुक्त करना अनिवार्य है।

दिखता है बाहर से कि आप परिग्रह से नहीं चिपके किंतु अदर से कितने चिपके है यह आप स्वय समझते है। लगभग पद्रह सोलह वर्ष पुरानी घटना है। मै एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठा था। वृक्ष मे आम लगे हुए थे। बच्चे आम तोडने के लिए पत्थर फेक रहे थे। मै भी उस समय बच्चो के साथ हो गया। गृहस्थ अवस्था की बात है एक-एक करके कई पत्थर फेक दिये किंतु आम नहीं गिरे, आम की एक कोर टूटकर गिर गई। यह शायद आम की ओर से सूचना थी कि मैं इस प्रकार टूटने वाला नहीं हूँ। फिर जितनी भी पत्थर फेका, एक कोर ही आ गयी पर पूरा आम कोई भी नहीं टूटा। पर्याप्त था मेरे लिए यह बोध जो उस आम की ओर से प्राप्त हुआ। बाहरी पदार्थो के प्रति अतरग जितनी गहरी मूर्छा होगी, हमारी पकड भी उतनी ही मजबूत होगी। पदार्थो को छोडना उतना ही मुश्किल होगा। पदार्थ कदाचित् हटा भी लिये जाये तो भी हमारा मन वहीं जाकर चिपक जायेगा। तो पहली बात यही है कि भीतरी पकड ढीली पडनी चाहिये।

थोड़ी देर जब मैं उसी वृक्ष के नीचे रुका तो उसी समय थोड़ा सा हवा का झोंका आया और एक पका हुआ आम आकर नीचे चरणों में गिर गया। उसकी सुगंधि फैलने लगी, हरा नहीं था वह पीला था, कड़ा नहीं था मुलायम था, चूसकर देखा तो वह मीठा भी था। आनंद की अनुभूति हुई। मैं सोचने लगा कि इस आम को गिरने के लिए हवा का झोंका भी पर्याप्त था। क्योंकि वह वृक्ष से जो संबंध था उसे छोड़ने के लिए तैयार हो गया। आपने कभी अनुभव किया कि उस आम ने वृक्ष से सब बंधन तोड़ दिये; ऊपर से दीखता था कि संबंध जुड़ा हुआ है किंतु जरा सा इशारा पाकर वह वृक्ष से पृथक् हो जाता है। तो दूसरी बात यह मिली कि जो जितना भीतर से असंपृक्त होगा वह बाहर से जुड़ा होकर भी इशारा पाते ही मुक्त हो जायेगा। इस तरह जब कोई मुक्त होता है तो उसकी सुगंध, उसकी मिठास आनंददायक होती है।

यह तो समय पर एकाध आम पकने की घटना हुई। लेकिन पकने की योग्यता आते ही पूर्णतः पकने से पूर्व यदि कोई होशियार माली उन्हें सावधानी से तोड़ लेता है तो भी उसे पाल में आसानी से पकाया जा सकता है। आप समझ गये सारी बात पर भइया डरो मत मैं जबर्दस्ती आपको पकाने की बात नहीं कहूँगा। आपका डण्ठल अभी मजबूत है। इतना अवश्य है कि अपरिग्रह की बात समझ में आ जाये तो संभव है कुछ समय में पक सकते हैं। अर्थात् पदार्थों के प्रति मूर्छा कम होने के उपरांत यदि उन्हें छोड़ दिया जाए तो भी छूटना संभव है। समय से पहले भी यह घटना घट सकती है। अविपाक निर्जरा के माध्यम से साधक इसी प्रकार समय से पूर्व कर्मों को झड़ा देता है, और परिग्रह से मुक्त होकर मोक्षमार्गी होकर आत्म-कल्याण कर लेता है।

आप लोगों ने अपनी निजी सत्ता के महत्त्व को भुला दिया है। इसी कारण निधि होते हुए भी लुट गये हैं। आप आनंद की अनुभूति चाहते हैं लेकिन वह कहीं बाहर से मिलने वाली नहीं है। वह आनंद वह बहार अपने अंदर है। बसंत की बहार बाहर नहीं है वह अंदर ही है। लेकिन जो अंधा हो उसे चारों ओर बहार होते हुए भी दिखायी नहीं देती। उपयोग में जो एक प्रकार का अंधापन छाया है मूर्छा छायी है वह मूर्छा टूट जाये तो वहीं पर बसंत बहार है। आत्मा का आनंद वहीं पर है।

एक किंवदन्ति है। एक बार भगवान ने भक्त की भक्ति से प्रभावित होकर उससे पूछा कि तू क्या चाहता है? भक्त ने उत्तर दिया कि मैं और कुछ अपने लिए नहीं चाहता। बस यही चाहता हूँ कि दुखियों का दुख दूर हो जाये। भगवान ने कहा 'तथास्तु। ऐसा करो जो सबसे अधिक दुखी है उसे यहाँ लेकर आना होगा।' भक्त ने स्वीकार कर लिया। भक्त बहुत खुश था कि इतने दिनों की भक्ति के उपरांत यह वरदान मिल गया। बहुत अच्छा हुआ, अब मैं एक-एक करके सारी दुनियाँ को सुखी कर दूँगा। भक्त, दुखी की

तलाश करता है। एक-एक व्यक्ति से पूछता जाता है। सब यही कहते है कि और तो सब ठीक है बस एक कमी है। कोई पुत्र की कमी बताता, तो कोई धन की, कोई मकान या दुकान की कमी बता देता है पर मुझे पूर्ण कमी है ऐसा किसी ने नहीं बताया।

चलते-चलते उसने देखा कि एक कुत्ता नाली मे पड़ा तड़प रहा है वह मरणोन्मुख है। उसने जाकर पूछा कि क्यो क्या हो गया है? कुत्ता कहता है कि मै बहुत दुखी हूँ। भगवान का भजन करना चाहता हूँ। भक्त ने सोचा यह सचमुच बहुत दुखी है। इसे ले चलना चाहिये। उसने कुत्ते से कहा कि तुम दुख से मुक्ति चाहते हो तो चलो, तुम स्वर्ग चलो वहाँ पर सुख ही सुख है। मै तुम्हे वहाँ ले चलता हूँ। कुत्ते ने कहा बहुत अच्छा! पर यह तो वताओ कि वहाँ क्या-क्या मिलेगा! सभी सुख सुविधाओ के बारे मे पूछने के उपरात कुत्ते ने आश्वस्त होकर कहा कि ठीक है चलते है किंतु एक बात और पूछना है कि स्वर्ग मे ऐसी नाली मिलेगी या नहीं। भक्त हँसने लगा और कहा कि ऐसी नाली स्वर्ग म नहीं है। तब फौरन कुत्ता बोला कि नाली नहीं है तो फिर क्या फायदा! मुझे यहीं रहने दो, यहाँ ठडी-ठंडी लहर आती हैं।

अव विचार करिये। कैसी यह मूर्छा है पाप-प्रणाली अर्थात् पाप रूपी नाली को कोई छोडना नहीं चाहता। सबके मुख से यही वाणी सुनने को मिलती है कि यहाँ से छुटकारा मिल जाये पर माग यही है कि हम यहीं पर बने रहें। सभी सुख चाहते हैं लेकिन परिग्रह छोडना नहीं चाहते। आचार्यों ने विद्वानो ने सभी ने कहा है कि यह 'घर कारागृह, वनिता बेडी, परिजन हैं रखवारे' घर कारागृह है, गृहणी बेडी है बधन है और जो परिवार जन हैं। वे रखवाले हैं। आप कहीं जायें तो वे पूछ लेते हैं कि कहाँ जा रहे है आप? कब तक लौटेगे? इस प्रकार का यह मोह जाल है उसमे आत्मा जकडती चली जाती है और जाल मे फसकर जीवन समाप्त होता जाता है।

मूर्छा का उदाहरण रेशम का कीडा है। जो अपने मुख से लार उगलता रहता है और उस लार के माध्यम से वह अपने शरीर को स्वय आवेष्टित करता चला जाता है। वह लार रेशम की तरह काम आती है जिसके लिए रेशम के कीडे को जिदगी से हाथ धोना पडता है। यह उसकी ही गलती है, उसका ही दोष है वह चाहे तो उससे बाहर आ सकता है लेकिन लार इकट्ठी करने का मोह नहीं छूटता, और जीवन नष्ट हो जाता है। ससारी आत्मा भी प्रत्येक समय रागद्वेष मोह मद मत्सर के माध्यम से स्वय के परिणामो को विकृत बनाता रहता है जिसके फलस्वरूप अनत कर्म वर्गणाए आकर चिकपती चली जाती हैं और यह बधन की परम्परा अक्षुण्ण चलती रहती है।

आत्मा को न कोई दूसरा सुखी बना सकता है न कोई दूसरा इसको दुखी बना सकता है। यह स्वय ही अपने परिणामो के द्वारा सुखी बन सकता है और स्वय ही दुखी बना

हुआ है। यह अजर है अमर है इसे मिटाने वाला कोई नहीं है। यह चाहे तो रागद्वेष मोह को मिटाकर अपने संसार को मिटा सकता है और अपने शाश्वत स्वभाव मे स्थित होकर आनंद पा सकता है। यह सभाव्य है। उन्नति की गुंजाइश है। किंतु उन्नति चाहना बहुत कठिन है। आप प्रत्येक पदार्थ को चाह रहे हैं कितु निजी पदार्थ की चाह आज तक उद्‌भूत नहीं हुई। मोह की मूर्छा बहुत प्रबल है। पर ध्यान रहे मोह जड़ पदार्थ है और आप चेतन हैं, मोह आपको प्रभावित नहीं करता किन्तु आप स्वयं मोह से प्रभावित होते हैं।

आत्मा की अनंत शक्ति को जागृत करके आप चाहें तो अतीत मे बधे हुए मोह कर्म को क्षणभर में हटा सकते हैं। आप सोचते हैं कि कर्म तो बहुत दिन के हैं और इनको समाप्त करना बहुत कठिन है तो ऐसा नहीं है। एक प्रकाश की किरण अनंतकाल से संचित अंधकार को मिटाने के लिए पर्याप्त है। 'मोह' बलवान नहीं है यह आपकी कमजोरी है मन के हारे हार है मन के जीते जीत। आप कमजोर पड़ जाते हैं तो कर्म बलवान मालूम पड़ने लगते हैं। आपके मकान की दीवार से हवा टकराती हुई जा रही है किंतु कोई असर नहीं होता। यदि उस दीवार पर आप थोड़ी सी चिकनाहट लगा ले तो वहॉ हवा के साथ आयी हुई धूलि चिपकना प्रारम्भ हो जायेगी। यह ऐसा क्यों हुआ तो चिकनाहट के कारण हुआ। इसी प्रकार हमारे परिणामों की विकृति के कारण नित्य नये कर्म आते रहते हैं और परम्परा चलती रहती है। हम यदि अपने भावो की सभाल करें तो इस संतति को तोड़ सकते हैं।

तेली के बैल को कोल्हू से बांध दिया जाता है आंखे बंद कर दी जाती हैं। बैल सोचता रहता है कि सुबह से लेकर शाम हो गयी मेरा सफर चल रहा है शाम को कोई अच्छा स्थान मिल ही जायेगा, बहुत चल चुका हूँ पर शाम को जब पट्टी हटती है तब ज्ञात होता है कि मैं तो वहीं पर हूँ जहॉ सुबह था। इसी प्रकार हमारी दशा है। यदि सावधान नहीं होंगे तो मोह की परम्परा कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर चलती रहेगी और हम संसार में वहीं के वहीं घूमते रह जायेंगे। अगर गौर से देखे तो अर्जित कर्म बहुत सीमित हैं और संकल्प अनन्त हैं। तेरे मेरे का सकल्प यदि टूट जाये तो कर्म हमारा बिगाड़ नहीं कर सकते। "तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप, जो आ रहा है उदय मे स्वयमेव आप। होगा न बध तवलौं जबलौं न राग, चिंता नहीं उदय से बन वीतराग।'' अज्ञान दशामें मोह के वशीभूत होकर जो कर्म किया है उसका उदय चल रहा है किंतु उदय मात्र अपने लिए बंध कारक नहीं है अपितु उदय से प्रभावित होना हर्ष विषाद करना हमारे लिए बधकारक है। उस उदय से प्रभावित होना हमारी कमजोरी है। यदि हम उदय से प्रभावित न हों तो उदय आकर जा रहा है।

मोह का कार्य भोगभूमि की संतान उत्पत्ति जैसा है जब तक मोह सत्ता में है तब तक उसका कोई प्रभाव उपयोग पर नहीं है। किंतु जब उदय में आता है उस समय रागी-द्वेषी ससारी प्राणी उससे प्रभावित हो जाता है इसलिए वह अपनी संतान छोड़कर चला जाता है। भोगभूमि काल मे पल्योपम आयु तक जोड़े भोग में लगे रहते हैं किंतु संतान की प्राप्ति नहीं होती, अत मे मरण से पूर्व में नियम से एक जोड़ा छोड़ कर चले जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। जिनेंद्र भगवान का उपदेश इतना ही संक्षेप में है कि राग करने वाला बंधन में पड़ता है और द्वेष करने वाला भी बधन को प्राप्त होता है किंतु वीतरागी को कोई बांध नहीं सकता।

सुख-दुख मात्र मोहनीय कर्म की परिणति है। मोह के कारण ही हम स्वय को सुखी दुखी मान लेते हैं। "मैं सुखी दुखी मैं रंक राव। मेरे गृह धन गोधन प्रभाव। मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण।" यह अज्ञानता ही संसार का कारण है। जीव इस रूप नहीं है फिर भी इस रूप स्वयं को मानता चला जा रहा है। 'पर' मे सुख मानना ही परिग्रह को अपनाना है और 'स्व' में सुख मानना ही परिग्रह से मुक्त होना है।

अरब देश से एक बार कुछ श्रीमान यहाँ भ्रमण हेतु आये। ऐसा कहीं किसी से सुना था। वे यहाँ किसी रेस्ट हाउस में ठहर गये। वहाँ उनका सब प्रकार का प्रबंध था। गर्मी का मौसम था इसलिए दिन में तीन बार भी स्नान की व्यवस्था थी। अरब देशों में पानी की बड़ी कमी रहती है। यहाँ इतना पानी देखकर एक व्यक्ति को उनमें से बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने टूँटी को थोड़ा घुमाया तो तेजी से पानी आता देखकर सोचने लगा कि अरे यह तो बहुत अच्छा है। टूंटी से पानी आता है। उसने नौकर को बुलाकर पूछा कि ऐसी टूटी और मिल जायेगी। नौकर ने कहा कि हाँ मिल जायेगी। परआप क्या करेंगे? व्यक्ति बोला पानी के काम आयेगी। नौकर समझ गया कि यह व्यक्ति धोखे मे है। उसने कहा कि टूंटी मंहगी मिलेगी हमारे पास और भी हैं पर प्रत्येक का सौ रुपया लगेगा।

उस व्यक्ति ने दस बीस टूटी खरीद कर बैठक में रख लीं। रात में जब सब साथी सो गये तो उसने चुपके से एक टूटी निकाली और उसे घुमाया पर उसमें से पानी नहीं निकला। सोचने लगा बात क्या हो गयी। दूसरी टोंटी को परखा फिर वही बात। एक-एक करके सारी टूटियाँ परख ली पर पानी किसी में से नहीं आया। एक पास में लेटा-लेटा सब देख रहा था। उसने कहा कि यह क्या पागलपन कर रहे हो। वह व्यक्ति बोला कि मेरे साथ धोखा हो गया। टूंटी में से पानी आता देखकर मैंने सोचा कि अपने यहाँ पानी की कमी है टूंटी खरीद ले तो वहाँ पर पानी ही पानी हो जायेगा। तब उस व्यक्ति

को समझाया उसके साथी ने कि भइया, टूटी मे पानी थोड़े ही है पानी तो टकी मे था। उसी मे से उसमे आ रहा था। पानी इसमे नहीं है इसमे से होकर आता है।

इसी प्रकार सुख इस शरीर मे नहीं है बाहरी किसी सामग्री मे नहीं है। आप टूटी वाले की अज्ञानता पर हस रहे है। आपने भी तो टूटियॉ खरीद रखी हैं इस आशा से कि उनसे सुख मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ न कुछ खरीद रखा है और उसके माध्यम से सुख चाहताहै। शान्ति चाहता है। मकान एक टूटी, फ्रिज एक टूटी। आप लोगो ने टूटियॉ खरीदने मे ही जीवन व्यतीत कर दिया। इनमे से सुख थोड़े ही आने वाला है यदिआता तो आ जाता आज तक। आप दूसरे के जीवन की ओर मत देखो। हमारा अपना जीवन कितना मोहग्रस्त है यह देखो सुख अपने भीतर है। सुख इन बाह्य वस्तुओ (टूटियों) मे नहीं है सुख का सरोवर अदर लहरा रहा है उसमे कूद जाओ तो सारा जीवन शात और सुखमय हो जाये। अत मे मै आपको यही कहना चाहूँगा कि यह स्वर्ण अवसर है मानव के लिए उन्नति की ओर जाने के लिए, आप सब बाह्य उपलब्धियो को छोडकर एक बार मात्र अपनी निज सत्ता का अनुभव करे इसी से सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। दुनिया मे अन्य कोई भी वस्तु सुख शान्ति देने वाली नहीं है। सुख शान्ति का एकमात्र स्थान आत्मा है।

□□

☐ अचौर्य

जिन्होने इस विश्व का समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया ऐसे सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी भगवान ने हमारे आत्म कल्याण के लिए एक सूत्र दिया है वह है अस्तेय। अचौर्य व्रत। 'स्तेय' कहते हैं अन्य पदार्थो के ऊपर अधिकार जमाने की आकाक्षा, 'पर' पदार्थो पर आधिपत्य रखने का वैचारिक प्रयास जो कभी सभव नहीं है फिर भी उसे सभव बनाने का मिथ्या भाव। चोरी का सीधा सा अर्थ है पर का ग्रहण करना। इस बात को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि 'स्व' के अलावा 'पर' के ऊपर हमारा अधिकार नहीं हो सकता। 'स्व' क्या है और 'पर' क्या है जब तक यह ध्यान नहीं होगा और 'पर' को हम जब तक 'स्व' बनाने का प्रयास करते रहेगे तब तक इस ससार से निस्तार सभव नहीं है।

हम 'स्व' को पहचान नहीं पा रहे है। विस्मृति प्रत्येक संसारी जीव को 'स्व' की ही हुई है। 'पर' की विस्मृति आज तक नहीं हुई। 'पर' को हमने कभी 'पर' नहीं माना, 'पर' को 'पर' समझना अत्यत आवश्यक है। 'पर' को 'स्व' मान लेना या 'पर' जानते हुये भी उसे अपना लेने का भाव ही चोरी है। आप अपने को साहूकार मानते है तो सच्चा साहूकार तो वही है जो ऐसे भाव नहीं लाता जो पर की चीजो पर दृष्टिपात भी नहीं करता, अपना आधिपत्य जमाने का रचमात्र भी प्रयास नहीं करता। आत्मा के पास ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है। जानने देखने की शक्ति है, भगवान तीन लोक को स्पष्ट जानते देखते हैं। लेकिन हमारे जानने देखने और उनके जानने देखने में बहुत अतर है। हमारी दृष्टि मे मात्र देखना नहीं है, हमारी दृष्टि मे पदार्थ को लेने के भाव है, प्राप्ति के भाव है और उनकी दृष्टि मे मात्र दर्शन है।

एक दार्शनिक ने जगत के बारे में लिखा है कि दूसरा जो भी है वही दुख है वही नरक है। भगवान महावीर स्वामी ने बहुत पहले कह दिया था कि दूसरा नरक नहीं है बल्कि दूसरे को पकडने की जो भाव दशा है वह हमारे लिए दुख और नरक का कारण बनती है। पकडना चोरी, ग्रहण का भाव करना चोरी है किसी का होना या किसी को जानना चोरी नहीं है। जब तक हमारी दृष्टि लेने के भाव से भरी हुई है वह निर्मल दृष्टि नहीं है।

लौकिक क्षेत्र मे चोरी करना एक बहुत बडा पाप माना गया है और चोरी करने

वाला सज्जन या नागरिक नहीं कहलाता उसे सभी चोर कहते है। इस राजकीय कानून से डरकर आप राजकीय सत्ता के अनुरूप चल देते है किंतु चोरी से बचते नहीं है कोई न कोई पगडडी निकाल लेते है। तब भले ही कानून आपको दडित नहीं कर पाता किंतु सैद्धान्तिक रूप से आप दण्डित है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अभिनदन भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि हे भगवान! यह ससारी प्राणी राजा के भय से, माता पिता या अपने से बड़ो के भय से, बलवानो के भय से अन्याय अत्याचार और पाप तो नहीं करता किंतु करने का भाव भी नहीं छोड़ता। ऊपर से भले ही बच जाता है पर अदर से भावो मे नहीं बच पाता।

राजकीय सत्ता का अधिकार मात्र अपराध के ऊपर है और वह अपराधी को दंडित भी करती है लेकिन अपराधी के भावो के ऊपर उसका भी अधिकार नहीं चलता। भावो पर अधिकार चलाने वाला तो स्वय हमारा कर्म है। कर्म की शक्ति आणविक शक्ति से भी अधिक है। वह कर्म आपके चारो ओर हैं गुप्तचरो की तरह, जहाँ कहीं भी आपका स्खलन देखने मे आया वहीं आपको बधन मे डाल देता है। राजकीय सत्ता तो मात्र हाथ पैर मे बेडी डालती है, तालो मे बद कर सकती है किंतु कर्म आपकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते है। आप बचकर नहीं जा सकते। यह भाव-दड निरतर मिलता रहता है। आप वर्तमान मे मात्र सासरिक जेल मे न जाना पड़े उससे बचने का उपाय करते है किंतु वास्तविक रूप से जब तक भावो के द्वारा चौर्य कार्य से नहीं बचेगे तब तक साहूकार नहीं कहलायेगे। भावों के द्वारा चौर्य कार्य से बचे तभी साहूकार कहलायेगे और साहूकारी का मजा भी आपको तभी मिल पाएगा।

आप अभी मात्र बाहर से बच रहे है। राज्य सत्ता भी बचने के लिए बाध्य कर रही है लेकिन आप कहीं न कहीं से पगडडी निकालकर भावो के द्वारा चोरी कर रहे है। महाराज बिना चोरी के तो आज कार्य चल ही नहीं सकता, कई लोगो से ऐसा सुना मैने, सुनकर दग रह गया मै। आपने इस चौर्य कर्म को इतना फैला लिया कि इसके बिना अब काम ही नहीं चलता एक प्रकार से यह राजमार्ग ही बन गया। ऊपर से आप कह रहे है कि चोरी करना पाप है और अदर क्या भावो मे घटाटोप छाया है यह तो आप ही जानते है। यह ठीक नहीं है।

एक समय की बात है। एक ब्राह्मण प्रतिदिन नदी पर स्नान करने जाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी भी उसके साथ गई। ब्राह्मण स्नान करने के बाद सूर्य के सामने खड़े होकर रोज की भाति जल समर्पण करने लगा। मुख से उच्चारण करने लगा कि जय हर हर महादेव, जय हर हर महादेव और मन मे जो है सो है ही' यह समझ में नहीं आया। पास ही स्नान करते हुए एक मित्र ने पूछा कि भैया आज क्या बात है? यह जय हर हर महादेव के साथ आप क्या कह रहे हैं। वह ब्राह्मण हंसने लगा बोला, कुछ खास नहीं भइया, मैं प्रतिदिन जय हर हर गगे, हर हर गगे कहता था पर

आज मेरी पत्नी भी साथ मे आयी है और उसका नाम गगा है इसलिए आज कैसे कहूँ। इसलिए कहता हूँ कि जय हर हर महादेव मन मे जो है सो है ही।

आप भी यही कह रहे है ऊपर से कह रहे है कि हम चोरी नहीं करेगे पर भीतर करे बिना नहीं रहेगे क्योकि मन मे जो है सो है ही। मात्र बाहर से छोड़ना, छोड़ना नहीं है अदर से छूटना चाहिये। हम दूसरे पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए उसका विमोचन भी नहीं कर सकते– यह कहने मे आता है किंतु वस्तु व्यवस्था इतनी आसान नहीं है, वस्तुत हम किसी पर पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते किंतु वैभाविक दशा मे भावो के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। जिस समय ग्रहण का भाव आता है उसी समय कर्म का बधन हो जाता है। इस बधन को समझना चाहिये। राज्य-सत्ता आपके शरीर और वाणी पर नियत्रण रखती है लेकिन कर्म की सत्ता आपके भावो का भी ध्यान रखती है। जो इन दोनो के बीच अपने को साहूकार बनाने मे लगा है वह जिनेंद्र भगवान के मार्ग का प्रभावक है और अपनी आत्मा का भी उत्थान कर रहा है।

बाह्य और अभ्यंतर ये दोनो कार्य अनिवार्य हैं। बाहर से तो जेल से बचना ही है पर अदर से भी जब तक नहीं बचेगे तब तक हमारी निधि क्या है यह आप लोगों को विदित नहीं हो पायेगा। कर्म सिद्धात को जानकर अपना आचरण करना चाहिये। कारा मात्र बाहर नहीं है जहाँ कहीं मलिन भाव है वहीं पर कारा है। और कारा मे रहने वाला तो अपराधी है। हम जब यहाँ आये तो एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप जयपुर आये हैं तो एक प्रवचन यहाँ कारागृह मे भी दे तो अच्छा रहेगा। मै सोच मे पड गया कि क्या यह कारागृह नहीं है? ससार भी तो कारा है यह देह भी तो कारा है। जो इसे कारा नहीं समझता वह भूल मे है। आप मात्र बाहर राज्य के द्वारा निर्मित जेल को जेल मानते है किंतु वास्तव मे आत्मा के विपरीत परिणमन ही जेल है। जब तक यह बात समझ मे नहीं आयेगी तब तक आत्मा लुटती जायेगी हम अपराधी बने रहेगे, दरिद्र और दीन होकर भटकते रहेगे। आप आत्मा को इस कारा से निवृत्त करने का प्रयास करे।

'छूटे भव-भव जेल' भव-भव मे जो परिभ्रमण करना पड़ रहा है वह जेल है। चारों गतियाँ क्या जेल नहीं हैं? दूसरे को जो बाहरी जेल मे कैद है उसे कैदी कहने से पहले सोचना चाहिये कि मैं स्वय कैदी हूँ। यह देह रूपी कैद ही हमारे कैदी और अपराधी होने की प्रतीक है। अनादिकाल से हम अपराध करते आरहे हैं आज तक इस विस्तृत जेल से छूटने का भाव नहीं किया। प्रत्येक समय गल्ती करते जा रहे हैं। यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि 'हम अपराधी हैं' या नहीं। जब तक कहीं कोई एक अपराधी रहता है तब तक वह अनुभव करता है कि हा मैं अपराधी हूँ मैंने अपराध किया है, मै अपराध का यह दड भोग रहा हूँ। लेकिन जब अपराधियों की सख्या बढ़ जाती है तो उनमें भी मजा आना प्रारम्भ हो जाता है। भूल जाते हैं कि मैं

अपराधी हूँ।

भाई। शरीर को कारागृह समझो। बहुमत हो जाने से सत्य को मत भूलो। सत्य की पहचान बहुमत के माध्यम से नहीं होती, सत्य की पहचान भावो के ऊपर आधारित है। इसलिए सत्य को पाने के लिए अहर्निश अपने परिणामो को सुधारने का प्रयास करना चाहिये। बाहरी स्थिति मे साहूकार होना, अपनी स्थिति सुधारना ठीक है किंतु इतना सा ही हम लोगो का धर्म नहीं है। इस बाहरी साहूकारी से हम लोग एक भव मे कुछ इन्द्रिय सुख भले पा लेगे यश ख्याति मिल जायेगी किंतु जो विकारी परिणति है उसे हटाये बिना हम अनत आनद की अनुभूति नहीं कर सकेगे। यह भवभ्रमण मिटने पर ही आनद की अनुभूति होना प्रारम्भ होगी।

अध्यात्म मे 'पर' वस्तु के ग्रहण का भाव ही चोरी माना गया है। ग्रहण का संकल्प पूर्ण हो या न हो, उसके विचार साकार हो या न हो पर मै ग्रहण करूँ इस प्रकार का भाव ही चोरी है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व भिन्न है उस अस्तित्व पर हमारा अधिकार सभव नहीं है यह समझना प्रत्येक ससारी प्राणी के लिए अनिवार्य है। भावो मे प्रत्येक स्वतन्त्र है। लौकिक जेल मे रहने वाला भी भाव के माध्यम से निरतर चोरी कर सकता है। पराई वस्तु पर दृष्टि भले ही जाये पर उसे ग्रहण करने का भाव न हो तो अचौर्य वहाँ पर है। भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानद रसलीन सो जिनेद्र जयवत नित, अरिरज रहस विहीन।'' भगवान ने विश्व को जाना विश्व के समस्त ज्ञेयरूप पदार्थों को जाना किंतु आनद की अनुभूति विश्व में नहीं की निज मे की।

आप दूसरे पदार्थो मे लीन हैं और समझ रहे है कि बहुत सुखी हो गये हैं। हमारा ज्ञान भी सकल न होकर 'शकल' को जानने वाला है। 'शकल' का अर्थ है टुकड़ा अर्थात् थोड़ा या शकल अर्थात् ऊपर का आकार इतना ही हम जानते है यह अपूर्ण ज्ञान भी हमारे लिये भले ही बाहर से सतुष्टि दे लेकिन भीतर सतुष्ट नहीं कर पाता। हमारा ज्ञान और आनद ऐसा है कि शकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि धनानंद रसलीन। यही कारण है कि हमारी आत्मा लुटती जा रही है। सत्य जीवन से खोता जा रहा है। सत् का कभी विनाश नहीं होता लेकिन सत् का विभाव रूप परिणमन होना ही सत् का खोना है। जो सत्य का अनुपालन करेगा वह स्तेय-कर्म को नहीं अपनायेगा। जो अपने सत् को पा लेगा वह परायी सत्ता पर अधिकार का भाव क्यो करेगा?

एक उदाहरण सुना था, यद्यपि वृतात लौकिक है किंतु उस लौकिकता के माध्यम से भी परलौकिक सिद्धांत की ओर दृष्टि जा सकती है। एक व्यक्ति रोगी था। मस्तिष्क का कोई रोग था। बहुत दिन से पीड़ा थी। इलाज के लिए उसने बहुत सा पैसा चोरी झूठ आदि करके, अन्याय करके एकत्रित किया और अस्पताल मे भर्ती हो गया। मस्तिष्क का ऑपरेशन हुआ। शल्य चिकित्सा अच्छी हुई। मित्रो ने पूछा कि क्यो भाई ठीक हो

उसने कहा कि पहले से बहुत अच्छा हूँ, बहुत आराम है। अचानक डॉक्टर ने कहा क्षमा करिये हमने ऑपरेशन तो ठीक कर दिया पर मस्तिष्क तो बाहर ही रह गया हालाकि ऐसा सभव नहीं है पर व्यग जैसा है। तब रोगी कहता है कि कोई बात नहीं उसके बिना भी काम चल जायेगा। क्योकि मै सरकारी नौकरी करता हूँ।

यह सुनकर पढकर मुझे लगा कि देखो किस तरह हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे है। डॉक्टर और मरीज दोनो सरकारी सेवा मे है लेकिन कोई अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं करता। यह काम चोरी है। इस तरह करने वाला कभी सत्य और अस्तेय दोनो को नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति मे साहूकार नहीं हुआ जा सकता। आज तो लोग चोरी करते हुए भी स्वय को साहूकार मान रहे है ज्ञायक और शुद्ध पिड मान रहे हैं जिसमे 'पर' का किसी प्रकार से भी सद्भाव नहीं है। अधाधुध चोरी चल रही है और कह रहे है जो कुछ होता है कर्म की देन है आत्मा बिल्कुल अबद्ध, असपृक्त और अस्पृष्ट है। आत्मा अपने मे है 'पर' 'पर' मे है प्रत्येक का द्रव्य भिन्न, स्वभाव भिन्न है। इस प्रकार एकात से मानना निर्णय ले लेना ठीक है? क्या यह सचाई है? यह तो एक प्रकार की कायरता है। एक प्रकार से पुरुषार्थ विमुख होना है।

मानव होकर भी हमारा जीवन 'पर' मे चल रहा है। इस प्रकार का जीवन तो तिर्यच भी व्यतीत करते रहते हैं मात्र जीवन को चलाना नहीं है जीवन अपने आप अनाहत चल रहा है। जीवन को उन्नति की ओर बढाने में ही मानव जीवन की सफलता है। यह सत्य और अचौर्य की उन्नति की खुराक है। जीवन तो असत्य से भी चल सकता है चोरी के साथ भी चल सकता है किंतु वह जीवन नहीं भटकन है। यदि उन्नति चाहिये, विकास चाहिये, उत्थान चाहिये तो अपनी आत्मा को अपराध से मुक्त करने का प्रयास करना होगा। चाहे कल करो या आज विकारो से रहित वीतरागता की अनुभूति के बिना सर्वज्ञत्व की प्राप्ति सभव नहीं हैं

अनादिकाल की पीड़ा तभी मिटेगी। जब हम पाप भाव से मुक्त होकर आत्म स्वभाव की ओर बढ़ेगे। पीडा सिर्फ इतनी नहीं है कि भूख लग आई या धन नहीं है मकान दुकान नहीं है वस्तुत पीड़ा यह है कि हमारा ज्ञान अधूरा है और हम समझ रहे हैं कि हम पूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि मै साहूकार हूँ। ठीक है। क्या चोरी के त्याग का सकल्प लिया है? यदि त्याग का सकल्प नहीं है तो 'पर' के ग्रहण का भाव अवश्य होगा। 'पर' के ग्रहण का भाव छोडे बिना कोई साहूकार नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को चोर मान रहा है और स्वय को साहूकार सिद्ध करताहै। यह तो चोर के द्वारा चोर को डाटने जैसा हुआ। अपनी चोरी की गलती को पहचान करके उसे छोडने का प्रयास करना चाहिये। जिस जीव के चोरी के भाव रहते हैं उसी जीव को चोर कहा जाता है। जिस क्षण छोडने के भाव हैं उस क्षण वह साहूकार है।

आप चोर से नहीं बल्कि चौर्य भाव से बचिये। पापी से नहीं पाप से घृणा करिये।

अनादिकाल से चोरी का कार्य जिसने किया है तो भी यदि ऑख खुल गई, अब यदि दृष्टि मिल गयी, ज्ञात हो गया कि अभी तक अनर्थ किया है अब उसे छोड़ता हूँ अब चोरी से निवृत्ति लेता हूँ तो वह अब चोर नहीं है। आप ससारी कब तक कहलायेगे? जब तक ससार के कार्य करते रहेगे। जब उनको छोड़ देगे, वीतराग बनकर विचरण करेगे तो मुक्त कहलायेगे। इसलिए यदि चोर की चोरी छुड़ानी है तो उसे चोर मत कहो बल्कि उसे समझाओ कि तुम्हारा यह कार्य ठीक नहीं है। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि चोरी से मुक्त होओ। यदि हम उसे डाटेंगे तो सुधरने की संभावना कम है। प्रत्येक समय भावो का परिणमन हो रहा है। सभव है उस समय भयवश वह चोरी के भाव छोड़ दे बाद मे पुन: बड़ा चोर बन जाये। उसे इस तरह कुछ कहा जाये कि वह स्वय ही चौर्य भाव को बुरा मानकर छोड़ दे।

भगवान महावीर ने हमे यही कहा कि प्रत्येक व्यक्ति मे प्रभुत्व छिपा है जैसा मैं निर्मल हूँ वैसे ही आप भी उज्ज्वल बन सकते हैं राग का आवरण हटाना होगा। जैसे स्फटिक मणि धूल मे गिर जाये और पुन: उसे उठाकर धूल साफ कर दे तो चमकती हुई नजर आयेगी। ऐसी ही हमारी आत्मा है। धूल मे पड़ी है उसे उठाकर चमकाना है। एक बात और ध्यान रखना कि दूसरे को चोर कहने का तब तक हमारा अधिकार नहीं है जब तक हम साहूकार न हो जाये। इस तरह लगेगा कि सारी लौकिक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। मै बाह्य व्यवस्था फेल करने के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि अपने आप को चोरी से मुक्त करके पूर्ण साहूकार बनने के लिए कह रहा हूँ। मात्र बाहर से नहीं अदर आत्मा में साहूकार बनो।

जब यह रहस्य एक राजा को विदित हुआ तो वह राजा अपनी सारी सम्पदा व परिवार को छोडकर जगल को चले गये। किसी से कुछ नहीं बोले और घने जगल मे जाकर आत्मलीन हो गये। जो ग्रहण का भाव था मन मे, वह भी सब राजकीय सत्ता को छोड़ते ही छूट गया। वे सभी से असपृक्त हो गये। बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन परिवार के लोगो को उनके दर्शन के भाव जागृत हुए और दर्शन करने चल पड़े। सकल्प कर लिया था इसलिए रास्ता कठिन होने पर भी पहुँच गये। चलते-चलते मिल गये मुनि महाराज। देखते ही उल्लास हुआ। बीते दिन की स्मृति हो आयी। पत्नी सोचती है कि देखो ये ही राजा, वही पतिदेव, वही तो है सब कुछ छोड़ दिया कोई बात नहीं जीवित तो है। माँ सोचती है मेरा लड़का है अच्छा कार्य कर रहा है।

सभी प्राणिपात करते है चरणो मे। मुनि महाराज सभी को समान दृष्टि से आशीष देते है। सभी की इच्छा थी कि कुछ बोलेगे। पर वे नहीं बोले। सभी ने सोचा कोई बात नहीं मौन होगा। सभी नमोस्तु कहकर वापिस चलने को हुए पर आगे रास्ता विकट था इसलिए माँ ने कहा कि महाराज आप तो मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्षमार्ग बताने वाले हैं। लेकिन अभी मात्र इस जगल से सुरक्षित लौटने का मार्ग बतादें। मुनिराज निर्विकल्प

रहे और मौन नहीं तोड़ा। मौन मुद्रा देखकर माँ ने सोचा कोई बात नहीं यही मार्ग ठीक दीखता है और सामने के मार्ग पर चले गये। कुछ दूर बढ़ने के उपरांत एक चुगी चौकी थी, जो अब डाकुओं के रहने का स्थान बन गया था। राजघराने को देखकर डाकुओं ने रोक लिया और कहा कि जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह रखते जाओ। वह माँ, पत्नी, लड़का सभी दग रह गये, घवरा गये।

माँ बोली– अरे! यह तो अन्याय हो गया। अब कहीं भी धर्म नहीं टिकेगा। अब कहीं भी शरण नहीं है। हमने तो सोचा था, हमारा लड़का तीनलोक का नाथ बनने जा रहा है वह मार्ग प्रशस्त करेगा, आदर्श मार्ग प्रस्तुत करेगा, दयाभाव दिखायेगा और वही इतना निर्दयी है कि यह भी नहीं कहा कि इस रास्ते से मत जाओ, आगे डाकुओं का दल है। ओहो! काहे का धर्म काहे का कर्म। धिक्कार है ऐसे पुत्र को। जिसने अपनी मां के ऊपर थोड़ी भी करुणा वुद्धि नहीं रखी वह क्या तीन लोक के ऊपर करुणा कर सकेगा। ठीक ही कहा है कि ससार मे कोई किसी का नहीं है। डाकुओं का सरदार सारी बात सुनता रहा और अपने साथियों से कहा कि इन लोगो को मत छेड़ो। फिर उस माँ से पूछा कि माँ तू क्या कह रही है। यह अभिशाप किसे दे रही है। माँ कहती है कि मैं आपके लिए नहीं कह रही हूँ। मैं तो उसके लिए कह रही हूँ जिसे मैने जन्म दिया, जो यहाँ से कुछ दूरी पर बैठा है वह नग्न साधु। वही था मेरा लडका। घर छोडकर आ गया। जव तक घर पर था प्रजा की रक्षा करता था, यहाँ पर आ गया तो माँ को भी भूल गया। थोड़ा भी उपकार नहीं किया। रास्ता तक नहीं वताया कि कौन सा ठीक है।

सरदार सारी बात समझ गया। सभी डाकू अभी इसी रास्ते से आये थे, रास्ते में नग्न साधू मिला था उसे पत्थर मारकर नंगा कहकर चले आये थे उस समय भी उसके मुख से वचन नहीं निकले थे। शांत बैठा था। सचमुच वह बड़ा श्रेष्ठ साधु है। हमने गाली दी थी और आप उसकी माँ थी आपने प्रणिपात किया था चरणो मे उसने हमारे लिए अभिशाप नहीं दिया और आपके लिए वरदान नहीं दिया। इतना कहकर उस डाकुओं के सरदार ने पहले माँ के चरण छू लिये और बोला कि 'धन्य हो माँ! जो आपकी कोख से इस प्रकार का पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ जिसकी दृष्टि मे ससार में सभी के प्रति समान भाव हैं ऐसे व्यक्ति का मैं अवश्य दर्शन करूँगा जिस व्यक्ति की दृष्टि मे समानता आ जाती है वह व्यक्ति सामने वाले वैषम्य को भी श्रद्धा के रूप मे परिणत कर देता है। वह सभी डाकू लोग मुनिराज के पास चले गये और नतमस्तक होकर कहा कि हमें भी अपना शिष्य वना लीजिये और समर्पित हो गये।

डाकू भी जव रहस्य को समझ लेते हैं तो डाकूपन को छोड़ देते हैं। माँ सोचती है 'यदि मुनिराज उस समय मुझे रास्ता दिखाते तो ये डाकुओ का दल दिगम्बरी दीक्षा नहीं ले पाता। उनका वह मौन उनकी वह समता दया शून्य नहीं थी। वह तो समता

मुद्रा थी जिसमे प्राणी मात्र के लिए अभय था।' पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'अवाक् विसर्ग वपुषा निरूपयन्त मोक्षमार्ग– वह नग्न दिगम्बर मुद्रा ऐसी है जो मौन रहकर भी सारे विश्व को मोक्षमार्ग का उपदेश देती है सही मार्ग दिखाती है। चोर और साहूकार सभी के प्रति समता भाव जागृत होना चाहिये। क्योंकि चोर और साहूकार यह तो लौकिक दृष्टि से हैं। अदर सभी के वही आत्मा है वही चेतन है, वही सत्ता है जिसमे भगवान बनने की क्षमता है। ऊपर का आवरण हट जाये तो अदर तो वही है। राख मे छिपी अग्नि है। राख हटते ही वही उजाला वही उष्णता है जो विकारो को जला देती है। इस घटना मे समझने योग्य है उन मुनिराज की समता, उस माँ की ममता और उन डाकुओं की क्षमता जो जीवन भर के लिए डाकूपने का त्याग कर साधुता के प्रति समर्पित हो गये।

डाकू मात्र जगल मे ही नहीं हैं, डाकू यहाँ भी हो सकते हैं। जिसके भीतर दूसरे को लूटने, दूसरे की सामग्री हड़पने या 'पर' को ग्रहण करने का भाव है उसे क्या कहा जायेगा? आप स्वय समझदार है। बधुओ! समता भाव आये बिना हम महावीर भगवान को पहचान नहीं पायेगे। राग की दृष्टि, व्यसन की दृष्टि कभी वीतरागता को ग्रहण नहीं कर सकती। उसे वीतरागता में भी राग दिखाई पडेगा लेकिन जिम व्यक्ति की दृष्टि वीतराग बन गयी उसकी दृष्टि मे राग भी वीतरागता मे ढल जाता है।

ससारी जीव यद्यपि पतित है लेकिन पावन बनने की क्षमता रखता है। स्वय पावन बनकर दूसरो को भी पावन बनने का मार्ग दिखा सकता है। हमारी दृष्टि मे समता आ जाये हमारी परिणति उज्ज्वल हो और इतनी सुंदर हो कि जगत् को भी सुदर बना सके। सही दिग्दर्शन करके प्राणी मात्र के लिए आदर्श बना दें। इसके लिए पुरुषार्थ आपेक्षित है, त्याग आपेक्षित है इसके लिए सहिष्णुता, समता, सयम और तप आवश्यक है अस्तेय महाव्रत समत्ता का उपदेश देता है। चोर को चोर न कहकर उसे साहूकार बनना सिखाता है। यही इसकी उपयोगिता है। इसे अपने जीवन में अगीकार करके आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

□□

□ प्रवचन पारिजात

□ जीव-अजीव तत्त्व

सात तत्त्वो में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान मिला है। प्रथम स्थान क्यों मिला इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यो ने लिखा है कि प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता जीव ही है। भोक्ता का अर्थ यहाँ सवेदन करना है। मुक्ति जो भी मिलेगी वह जीव तत्त्व को ही मिलेगी क्योकि वही मुक्ति का सवेदन कर सकता है। अजीव तत्त्व को मुक्ति मिलने, ना मिलने का प्रश्न ही नहीं है क्योकि वह सवेदन-रहित है।

हम जीव होते हुए भी मुक्त नहीं है यह बात विचारणीय है। आचार्य अमृतचद्र जी पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रथ के प्रारम्भ मे मगलाचरण करते हुए कहते है कि वह परम ज्योति जयवत रहे जिस ज्योति मे ससार के समस्त पदार्थ अपनी भूत, भावी, एव वर्तमान समस्त पर्यायो सहित स्पष्ट झलक रहे है। यहाँ गुणो की आराधना की गयी है। वास्तव मे जब हम गुणो की आराधना करते है तो गुणी की आराधना अपने आप हो जाती है। आराधना जीवत्व गुण के ऊपर अवलबित है।

हम सभी जीव है फिर भी हमारी आराधना नहीं हो रही है बल्कि आराधना के स्थान पर विराधना हो रही है। कारण स्पष्ट है कि हमारे पास जीवत्व होते हुए भी जिस जीवत्व की आवश्यकता है उसका अभाव है। जिस गुण के द्वारा आराधना होती है वह गुण हमारे पास नहीं है। आप पूछ सकते है कि गुणो का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा महाराज ! तो भइया, गुणों का अभाव तो नहीं होगा यह तो सभी जानते है। लेकिन गुणो का विलोम हो जाना भी एक प्रकार से अभाव हो जाना है। जीव के गुणो की विशेषता है कि वे अभाव को तो प्राप्त नहीं होते किन्तु विलोम हो जाते है।

हमारे पास जीवत्व गुण है लेकिन ध्यान रखिये वह जीवत्व विलोम स्थिति मे है उसका परिणमन विलोम रूप मे हो रहा है। आचार्य कहते है स्वभावात् अन्यथा भवन विभाव अर्थात् स्वभाव से विपरीत परिणमन होने का अर्थ ही है विभाव। रात और दिन का जिस प्रकार विरोधाभास है उसी प्रकार स्वभाव और विभाव के साथ भी हो रहा है। रात है तो दिन नहीं और दिन है तो रात नहीं। उसी प्रकार स्वभाव रूप परिणमन है

तो विभाव नहीं और विभाव रूप परिणमन है तो स्वभाव नहीं।

वर्तमान में हमारे स्वभाव का अभाव और विभाव रूप परिणमन होने के कारण बिगड़ना हो रही है। अतः अपने को उस जीवत्व को प्राप्त करना है जिस जीवत्व के साथ स्वाभाविक जीवन है। वह जीवत्व किसे प्राप्त हो सकता है? वह जीवत्व कैसे प्राप्त हो सकता है। क्या हमें प्राप्त हो सकता है! तो आचार्य कहते हैं कि अवश्य प्राप्त हो सकता है। जिन कारणों से विभाव रूप परिणमन हुआ है, हमने किया है यदि उसके विपरीत कारण मिल जाएं तो जीव स्वभाव रूप परिणमन भी कर सकता है।

यह ध्यान रखना कि विभाव रूप परिणमन किसी अन्य शक्ति ने या अन्य व्यक्ति ने जबरदस्ती कराया हो, ऐसा नहीं है। जीव स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा विभाव रूप परिणमित होता है और इसके लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त अवश्य बनते हैं। आशय यह हुआ कि वर्तमान में हमारा जीव तत्त्व बिगड़ा हुआ जीव तत्त्व है।

आप कह सकते हैं कि कुछ समझ में नहीं आता महाराज! कुछ लोग तो कहते हैं कि जीव तो जैसा-का-तैसा बना रहता है और उसमें जो परिणमन होता है वह ऊपर-ऊपर हो जाता है। इसलिए जीव तो शुद्ध है क्योंकि द्रव्य है और उसकी पर्याय जो है वह बिगड़ी हुई है पर भइया, ध्यान रखो कि जीव तत्त्व ज्यों का त्यों बना रहे शुद्ध और उसकी पर्याय अशुद्ध हो, ऐसा हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो जाए तो वे पर्यायें उस विशुद्ध तत्त्व से बिल्कुल पृथक् हो जायेंगी जो कि संभव ही नहीं है 'गुण पर्ययवद् द्रव्य' ऐसा कहा गया है अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य भी अनिवार्य रूप से अशुद्ध है।

लेकिन यह भी ध्यान रखना कि वर्तमान में जो पर्याय अशुद्ध है वह पर्याय तो शुद्ध नहीं बन पायेगी किन्तु वर्तमान में जो अशुद्ध द्रव्य है वह द्रव्य शुद्ध बन सकता है। उसके पास शुद्धत्व की शक्ति है। इसी अपेक्षा से आचार्यों ने कहा है कि विभाव रूप परिणमन करते हुए भी जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध है। आप कह सकते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय अशुद्ध है, ऐसा मान लेने में अपने को क्या हानि। तो भइया पहली बात कि द्रव्य का परिणमन जब भी होता है वह समूचे द्रव्य का होता है। कुछ प्रदेश शुद्ध रहे और कुछ प्रदेश अशुद्ध रहे आवें, ऐसा नहीं है। अशुद्ध परिणमन का प्रभाव पूरे द्रव्य के ऊपर पड़ा है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने प्रवचनसार में स्पष्ट लिखा है कि परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं— अर्थात् द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उस रूप होता है। दूसरी बात यदि वर्तमान में हमारा द्रव्य भीतर से शुद्ध

ही है तो समझो मुक्त ही है और मुक्त है तो मुक्ति का अनुभव, केवलज्ञान का अनुभव भी होना चाहिए लेकिन अभी तो अपने पास एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारा का सारा द्रव्य ही बिगड़ा हुआ है, स्वभावात् अन्यथा भवनं विभाव, स्वभाव से विलोम स्थिति हो चुकी है। यह मैं पहले बता चुका हूँ।

जिस समय स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति होगी उस समय विभाव पर्याय की वहाँ पर अभिव्यक्ति नहीं रहेगी, तब जिज्ञासा होती है कि जीव को शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति कैसे हो? आचार्यो ने इसके लिए मोक्षमार्ग के अन्तर्गत तत्त्वों का उल्लेख किया। इन तत्त्वों को जो व्यक्ति अपने जीवन में सम्यक् प्रकार से शान्ति के साथ जान लेता है और अपने भीतर होने वाली वैभाविक प्रक्रिया के बारे में निकटता से अध्ययन करता है वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त करने का जिज्ञासु कहलाता है।

एक याचक व्यक्ति एक सेट के पास गया। वह सेठ उस व्यक्ति के पिता का दोस्त था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर सेठ को उस पर करुणा हो आती है। वह कहता है कि बेटे! तुम्हारे पिताजी की मेरे साथ घनिष्ट मित्रता थी। हम दोनों दोस्त थे। किन्तु अलग-अलग व्यवसाय के कारण क्षेत्रान्तरित हो गये। मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे पिताजी मरने से पहले मुझे बता गये थे कि मेरा लड़का जब बड़ा हो जाए तो घर में जो धन पैसा दबा रक्खा है उसे बता देना। अब तुम बड़े हो गये हो, तुम्हे धन की आवश्यकता का भान हो रहा है उसे पाने की जिज्ञासा भी तुम्हारे भीतर उत्पन्न हो गयी है अत मैं बता देता हूँ। अब तुम्हें याचना करने की दीन-हीन होने की आवश्यकता नहीं है जाओ और अपनी संपत्ति निकाल लो।

उस व्यक्ति को अपनी सपत्ति का जैसे ही ज्ञान हो गया उसने याचना करना बंद कर दिया और घर पहुँचकर उसे प्राप्त भी कर लिया। इसी तरह हम इस समय वर्त्तमान मे भले ही विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि अनन्तकाल तक हम ऐसे ही याचक बने रहें। हम भी सेठ साहूकार बन सकते हैं अर्थात् अपनी आत्म-सम्पदा को अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकते है।

आत्मा की शक्ति अनन्त है किन्तु उस शक्ति का उद्घाटन आवश्यक है। उस अनन्त शक्ति का उद्घाटन हम तभी कर सकेंगे जब कि वर्तमान में मेरी यह विभाव रूप स्थिति हो गयी है— ऐसा विश्वास कर लेंगे। अपने आप को जो व्यक्ति बंधा हुआ अनुभव नहीं करेगा वह मुक्ति की जिज्ञासा कैसे करेगा? मुक्ति के ऊपर विश्वास उसी को हो सकता है, जो बहुत जकडन का अनुभव करता है। 'बध सापेक्षैव मुक्ति' — बंध की अपेक्षा ही मुक्ति है। बध का अभाव ही मोक्ष है।

एक द्रव्य में प्रत्येक गुण की जो पर्यायें हैं वे पर्यायें गुणों के साथ क्षणिक तादात्म्य

सवध रखती है और जो सवध द्रव्य के साथ गुण का है वही सवध पर्याय का भी द्रव्य के साथ है। प्रदेश भेद नहीं है। सज्ञा, सख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा कथचित् भेद सभव है। इसलिए वर्तमान मे इस जीव का समूचा विलोम परिणमन हो चुका है। मात्र एकान्त रूप से पर्याय ही अशुद्ध है। द्रव्य तो एक शुद्ध पिण्डरूप सिद्ध परमेष्ठी के समान है ऐसा यदि हम मान लेगे तो आगम से बाधा आ जायेगी।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि जीव तो बिल्कुल शुद्ध है, मात्र उसकी पर्याय और वह भी जो क्षणिक है, वह अशुद्ध है, द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध पिण्ड है तब कोई दूसरा व्यक्ति आकर यदि सामने लगे पेड को साष्टाग नमस्कार करता है और हे' शुद्धात्मने नम '' — ऐसा कहता है तो फिर ऑब्जेक्शन नहीं होना चाहिये। पर आप ऑब्जेकशन किये बिना नहीं रहेंगे। आप कहेंगे कि यह तो बिल्कुल गृहीत मिथ्यात्व है। क्योकि वह सच्चे देव गुरु शास्त्र की वन्दना नहीं कर रहा है। जो सच्चे देवगुरु शास्त्र की वदना करता है सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह अनेक बाधाए उपस्थित हो जायेगी। एकेन्द्रिय को तो आगम के अनुसार मिथ्यादृष्टि माना है और मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं कर सकता।

आचार्य अमृतचद सूरिजी कह रहे है कि वह ज्योति जयवन्त रहे, वह ज्योति पूज्यनीय है जो शुद्ध है। ज्योति पर्याय है। ज्योति शुद्ध है, पर्याय शुद्ध है तो, पर्याय के साथ द्रव्य भी वहाँ पर शुद्ध है इसमे कोई सदेह नहीं है लेकिन पर्याय अशुद्ध हो और द्रव्य शुद्ध रहा आवे यह भी सभव नहीं है। इस बात को गौण नहीं करना चाहिये। गहराई से समझना चाहिये।

दूसरी बात यह कहता हूँ कि वन्द्य-वन्दक भाव जितने भी चलते हैं वे शुद्ध द्रव्य के साथ नहीं चलते लेकिन अशुद्धत्व से शुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए जो चल पड़े है उनको देखकर उनके प्रति यह नमस्कार, वदना पूजा-अर्चा और स्तवनादि हुआ करते है। सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीवत्व को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए अमूर्त है लेकिन अमूर्त की भी पूजा हम मूर्त मूर्ति के माध्यम से करते है। अमूर्त की पहचान मूर्त के माध्यम से होती है।

अर्हन्त परमेष्ठी मूर्त है और अभी पूरी तरह शुद्ध जीव नहीं है। हम उनकी आराधना करेगे या नहीं। एकाध व्यक्ति नहीं करे तो नहीं भी करे लेकिन पच परमेष्ठी मे जो आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु है वे कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी अरहत परमेष्ठी को मुख्यता देते है और उनको नमस्कार करते है उनकी वन्दना करते हैं और परोक्ष मे यहीं पर बैठे-बैठे विदेह क्षेत्र मे स्थित सीमन्धर स्वामी आदि को भी नमस्कार करते है और परोक्ष मे उन्हे आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि

वन्ध वन्दक भाव शुद्ध द्रव्य के साथ न होकर शुद्ध की ओर चलने वालो के प्रति होता है।

अरहत परमेष्ठी क्यो अशुद्ध है अभी? इसलिए कि अभी वे कृतकृत्य नहीं हुए है। अभी चार कर्म शेष हैं। जो शुद्ध होता है वह कृतकृत्य होता है। जो कृतकृत्य होता है वह आराधक नहीं होता है वह अपने आपमे स्वय आराध्य होता है। सिद्ध परमेष्ठी आराध्य हैं आराधक नहीं। अर्हन्त परमेष्ठी अभी आराधक भी है और आराध्य भी है। इतना अवश्य है कि वे हमारे जैसे आराधक नहीं है। उनका वह जीवत्व का परिणमन अव शुद्धत्व के निकट पहुँच चुका है। अभी वे वास्तविक जीवत्व की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं।

कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने एक स्थान पर जीव का स्वरूप बताया है और एक स्थान पर जीव का लक्षण बताया है। स्वरूप और लक्षण मे वहुत अन्तर है। "अरसमरूवमगध, अव्वत्त चेदणागुणमसद्द। जाण अलिगग्गहणं जीवमणिद्दिठ्ठसठाण।। यह जीव का स्वरूप है। "उपयोगो लक्षण" -- यह जीव का लक्षण है। इस प्रकार जीव का लक्षण और जीव के स्वरूप मे वहुत अन्तर है। जीव का स्वरूप तो अमूर्त है लेकिन जीव का लक्षण अमूर्त नहीं हो सकता। जीव का लक्षण यदि अमूर्त हो जाएगा तो अमूर्त तो अन्य द्रव्य भी हैं धर्मास्तिकाय अमूर्त है अधर्मास्तिकाय भी है आकाश और काल भी है। अरस, अरूप, अगध आदि यह जीव का लक्षण नहीं है यह तो जीव का स्वरूप है।

आचार्य कहते है स्वभाव को प्राप्त करना है वह प्राप्तव्य है। लक्षण तो प्राप्त ही है। जिस स्वभाव को प्राप्त करना है जिसका भान हमे कराया गया है वह स्वभाव मात्र सिद्धालय मे प्राप्त होगा। वह अभी अर्हन्त परमेष्ठी को भी प्राप्त नहीं है। अर्हन्त परमेष्ठी के पास उसको पाप्त करने की क्षमता है शक्ति है लेकिन उस शक्ति के उद्घाटन के लिए पयास परम आवश्यक है। जिसे वे कर रहे है दिन रात।

अर्हन्त परमेष्ठी को स्नातक कहा गया है और स्नातक का अर्थ है स्नात् अर्थात् स्नान किया हुआ। यहाँ पर स्नान से तात्पर्य है कि जो आठ कर्म लगे थे उन आठ कर्मो मे से चार कर्मो का मल धो दिया गया है अत स्नातक वन गये है। लौकिक शिक्षण मे पहले स्नातक (वेचलर) होता है फिर स्नातकोत्तर होता है उसके उपरान्त अध्यापक (लेक्चरर) कहलाता है। स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों ही विद्यार्थी हैं। इसी प्रकार तेरहवे गुणस्थान मे अर्हन्त भगवान स्नातक है। चौदहवे गुणस्थान मे स्नातकोत्तर होगे उसके उपरान्त लेक्चरर अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे। अभी वे विद्यार्थी हैं। 'विद्या एव प्रयोजनम् यस्य स विद्यार्थी' अथवा 'विद्याम् अर्थयते इच्छति इति विद्यार्थी' -- अर्थात् जो विद्या को

चाहता है वह विद्यार्थी है। अर्थात् कुछ पाना चाहता है अभी पाना शेष है।

अर्हन्त भगवान को अभी कुछ और प्राप्त करना है और वह है शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति, अलिंग ग्रहण। अभी हमारी इन्द्रियों की पकड़ में आ रहे हैं अर्हन्त परमेष्ठी। और वे चाहते हैं कि सभी की पकड़ से बाहर निकल जाएं। इसके लिए वे अभी योग निरोध करेंगे। अंतिम दो शुक्ल ध्यान के माध्यम से शेष कर्मो का क्षय करेंगे।

अर्हन्त परमेष्ठी अभी दर्पण के समान उज्ज्वल हैं। अभी दर्पण में भी और उज्ज्वलता लानी है। वह उज्ज्वलता कैसी है। आप रोजाना दर्पण में देखते हो लेकिन ध्यान रखना एक दिन भी दर्पण नहीं देखा, देखा कभी दर्पण, नहीं देखा। दर्पण को देखने की आंख अलग है। हमें दर्पण नहीं दिखता दर्पण में अपना मुख दिखता है। अभी अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण के सामने शुद्ध हैं, काँच के समान नहीं। दर्पण और काँच में अन्तर है। दर्पण उसे कहते हैं जिसमें एक काँच के पृष्ट भाग पर कुछ लालिमा लगाई जाती है जिसके माध्यम से प्रतिविंव बनने लगता है। वह लालिमा हट जायें तो सब पारदर्शक, ट्रासपेरेंट हो जाता है उसका नाम काँच है।

ऐसा समझें कि सिद्ध परमेष्ठी काँच के समान ट्रॉसपेरेंट हो चुके हैं और अर्हन्त परमेष्ठी जो हैं अभी चार कर्मो की ललाई लिए हुए हैं। चार कर्म निकल चुके हैं इसलिए दर्पण के समान उज्ज्वल हो गये हैं लेकिन जब लालिमा भी चली जायेगी तो बिल्कुल स्वभावमय काँच की तरह सिद्ध परमेष्ठी हो जायेंगे। बुंदेलखंड में कार्यके लिए काज शव्द प्रयोग में लाते हैं। जैसे मुक्ति के काज। तो अर्हन्त भगवान के लिए आनंद प्राप्त करना ही एक मात्र कार्य है। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है काज हो गया अर्थात् कृतकृत्य हो गये। अर्हन्त परमेष्ठी को अभी कृतकृत्य होना है।

इस तरह आचार्य महाराज ने लक्षण के अंतर्गत चेतना या उपयोग को रक्खा है और स्वरूप के अन्तर्गत जितनी भी शक्तियां हैं वे सब आ जाती हैं। यहाँ अरस, अरूप, अगंध आदि ये सारे के सारे लक्षण नहीं है जीव के, क्योंकि ये संसारी जीव में हमें देखने को नहीं मिलते, देखना संभव ही नहीं है। लक्षण के माध्यम से ही जीव को पकड़ लेते हैं स्वरूप के माध्यम से पकड़ में नहीं आयेगा जीव। अर्हन्त परमेष्ठी की हम पूजा करते हैं वे हमारे लिए पूज्य हैं लेकिन अभी वे असिद्धत्व का अनुभव कर रहे हैं आगे कृतकृत्य होकर अवश्य रूपेण आराध्य वनेंगे सिद्धत्व को सिद्ध पर्याय को प्राप्त करेंगे। सभी को इसी प्रकार सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करना पड़ेगा। अपनी वैभाविक दशा को पहचानकर स्वभाव की ओर अग्रसर होना होगा।

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग.' — यह कहकर आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र/मोक्षशास्त्र का प्रारम्भ किया है और अंत में जाकर कह दिया कि सम्यग्दर्शन

ज्ञान, चारित्र भी आत्मा के स्वभाव नहीं है किन्तु स्वभाव प्राप्ति में कारण है। इसलिए इनका अभाव अन्त में अनिवार्य है। जहाँ उन्होंने औपशमिकादि भव्यत्वानाम् च– यह कहा है वही उन्होंने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परिणत जो भव्यत्व भाव है उस भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय में मात्र जीवत्व भाव रह जाता है। वह जीवत्व ही हमारे लिए प्राप्तव्य है। उस प्राप्तत्व के लिए कारण भूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है।

द्रव्य जहाँ शुद्ध है वहाँ सारी-की-सारी द्रव्य की पर्याये भी शुद्ध है गुण भी शुद्ध है। जहाँ एक भी अशुद्ध है वहाँ सारा का सारा अशुद्ध है। कारण कार्य का विचार करें तो पर्याय किसी न किसी का कार्य होना चाहिये और इस पर्याय रूप कार्य का उपादान भी परमावश्यक है। वह उपादान कौन है और वह शुद्ध है या अशुद्ध इसका विचार किया जाए तो मालूम पड़ेगा कि पर्याय यदि अशुद्ध है तो उपादान जो है वह शुद्ध हो, यह हो नहीं सकता। अशुद्ध पर्याय जिस द्रव्य में से निकली है वह द्रव्य भी अशुद्ध है। आचार्यो ने जहाँ कहीं भी कहा कि द्रव्य शुद्ध है वहाँ शुद्ध रूप परिणमन करने की शक्ति की अपेक्षा कहा है।

एक बार जब उस स्वाभाविक शक्ति का उद्घाटन हो जाएगा तो पुन वैभाविक पर्याय शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी। पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध मध्ये यथाघृतम्, तिलमध्ये यथा तैल , देह मध्ये तथा शिव । – अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण है, तिल में तेल है और दूध में घी है उसी प्रकार इस देह में आत्मा है। हम दूध में से यूँ ही घी निकालना चाहें तो वह हाथ नहीं आवेगा। घी उसमें है फिर भी नहीं आता। तो उसमें घी है भी और नहीं भी है, दूध में से ही घी निकलता है इसलिए उसमे घी है भी लेकिन दिखायी नहीं देता, सुगध नहीं आती इसलिए घी नहीं भी है। वैद्य लोग जब किसी को औषधि देते हैं तो कभी घी के साथ अनुपान बनाते हैं और कभी दूध के साथ बनाते हैं। दूध पर्याय भिन्न है और घी पर्याय भिन्न है, तथापि घी दूध के बिना नहीं है और दूध घी के बिना नहीं है। ऐसे ही देह के साथ मे आत्मा है।

दूध अभी घी नहीं है उसमें घी बनने की शक्ति है यदि उसमें से घी निकालना चाहो तो उसके साथ जो सबध हुआ है जो विभाव रूप परिणमन हुआ है उसे हटाना होगा। हटाने की बात तो क्षणभर में कही जा सकती है लेकिन दूध से घी निकालने के लिए चौबीस घंटे तो चाहिये ही। जो व्यक्ति घी को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति पहले दूध को तपाता है तपाने के उपरान्त उसे जमाता है फिर मथानी डालकर मंथन करता है। बार-बार झाँककर देख लेता है कि नवनीत आया या नहीं नवनीत आते ही मंथन बद कर देता है। इस तरह अभी दूध में से एक ऐसा तत्त्व निकला जो तैर रहा है।

शुद्धोपयोग तो ध्यानावस्था का नाम है। ध्यान तो ध्येय को प्राप्त कराने वाली वस्तु है वह ध्येय नहीं है। सिद्धावस्था में तो मात्र चैतन्य स्वभाव रह जाता है। शुद्ध चेतना या ज्ञान-चेतना रह जाती है। चैतन्य मात्र खलु चिद् चिदेव।

इस प्रकार बहुत कुछ जीव तत्त्व के बारे मे कहा गया है। जीव तत्त्व के बारे मे इतना अवश्य समझना चाहिये कि वर्तमान ससारी दशा मे जीव अशुद्ध है द्रव्य की अपेक्षा भी अशुद्ध है और पर्याय भी अशुद्ध है। इतना अवश्य है कि जीव में शुद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। पर्याय जब शुद्ध होगी तब शुद्ध जीव तत्त्व की प्राप्ति नियम से होगी। और वह शुद्ध तत्त्व की अनुभूति फिर अनन्त काल तक रहेगी। उसमे कोई विक्रिया समव नहीं है वह एक सहज प्रक्रिया होगी। इसे समझकर हमे सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। रत्नत्रय को अगीकार करके मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिये। यही जीव तत्त्व को समझने की सार्थकता है।

जीव तत्त्व से विपरीत अजीव तत्त्व है। वह ज्ञान दर्शन से शून्य है। आगम मे उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाच भेद कहे गये हैं। इनमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार के द्वारा जीव मे कोई विकृति नहीं आती परन्तु कर्म रूप परिणत पुद्गल द्रव्य की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकार प्रकट होते हैं।

यद्यपि इन रागादि विकारो का भी उपादान कारण आत्मा है तथापि मोहनीय कर्मकी उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से वह इनका निमित्त कारण होता है। रागादि विकारी भावो का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल मे कर्मरूप परिणति होती है। इसी के फलस्वरूप जीव की ससार वृद्धि होती रहती है। कर्म से शरीर रचना होती है शरीर में इन्द्रियों का निर्माण होता है इन्द्रियो से स्पर्शादि विषयो का ग्रहण होता है। इससे नवीन कर्मबध होता है। इस तरह कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का, जीव के साथ अनादि काल से सबध चला आ रहा है जब तक इसका लेशमात्र भी सबध रहेगा तब तक मुक्तावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस अजीव तत्त्व को समझकर इसे पृथक् करने का सम्यक् प्रयत्न करना चाहिये। □□

☐ आस्रव तत्व

सात तत्त्वों में विद्यमान जीव-अजीव के उपरान्त अब आता है आस्रव। स्रव धातु बहने के अर्थ में है स्रवति अर्थात् बहना, सरकना, स्थान से स्थानान्तर होना और इस स्रव धातु के आरंभ में 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाए तो आस्रव शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे गच्छति का अर्थ होता है जाना और आगच्छति का अर्थ है आना। नयति का अर्थ है ले जाना और आनयति अर्थात् ले आना। इस प्रकार इस 'आ' उपसर्ग के अनुरूप धातु का अर्थ विपरीत भी हो जाता है जैसे दान और आदान। देना बहुत कम पसन्द करते है आप लोग, आदान यानी लेने के लिए जल्दी तैयार हो जाते हैं। यहाँ आस्रव का अर्थ है सब ओर से आना।

आस्रव के दो भेद आचार्य करते हैं एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। द्रव्यास्रव का अर्थ है बाहरी चीजों का आना और भावास्रव का अर्थ है अन्दर ही अन्दर आना। यह बहुत रहस्य की बात है कि आत्मा है हो और फिर आत्मा में क्या आना है? आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के छठे अध्याय के प्रारंभ में ही सूत्र लिखा है—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः।
शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य।।

उन्होंने बड़ा विचार किया होगा, बहुत चिन्तन किया होगा कि यह आस्रव क्यों होता है तभी ऐसे सूत्र लिखे गये होंगे।

सामान्यतः यही धारणा होती है कि कर्म के उदय से आस्रव होता है किन्तु गहरे चिन्तन के उपरान्त यह फलित हुआ कि आस्रव मात्र कर्म की देन नहीं है यह आस्रव आत्मा की ही अनन्य शक्ति योग की देन है। कर्मों के ऊपर ही सब लादने से हम कर्मों की क्षमता को ठीक-ठीक समझ नहीं सकेंगे। कर्म जबरदस्ती आत्मा में शुभाशुभ भाव पैदा कर सकें यह संभव नहीं है। यदि कर सकते हैं तो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता ही लुट जायेगी, तब पराई सत्ता अर्थात् कर्मों का कोई अभाव नहीं कर पायेगा। कर्मों का आस्रव निरन्तर होता रहेगा। यह सामान्य कर्मों की बात कह रहा हूँ विशेष कर्मों की बात नहीं। तो आस्रव योग की देन है और मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम योग है।

आप ध्यान से सुनेगे तो आपको बहुत कुछ चिन्तन का विषय मिल जायेगा और आत्मा की उपादान शक्ति की जागृति आप इस दौरान करना चाहें तो कर सकते हैं। 'योग' यह कर्म की देन नहीं है। कर्मकी वजह से नहीं हो रहा है योग। योग आत्मा की ही एक वैभाविक परिणति का नाम है। यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख ग्रंथो में ढूढने के लिए जायें तो बहुत मुश्किल से मिलेगा जो चिंतन-मंथन करेगे उन्हे अवश्य मिलेगा। खूब मंथन करो, आत्मा की शक्ति के बारे में खूब चिन्तन करो। अद्वितीय आत्म शक्ति है वह, चाहे वैभाविक हो या स्वाभाविक हो।

अपने यहाँ आठ कर्म है मूल रूप से। ज्ञानावरण का स्वभाव या प्रकृति ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति दर्शन को ढकना है। वेदनीय की प्रकृति आकुलता पैदा करना है और मोहनीय की प्रकृति गहल भाव/मूर्छा पैदा करना है। इसके उपरान्त नाम कर्म का काम अनेक प्रकार के रूप पैदा करना, आकार-प्रकार देना है और गोत्र कर्म का काम ऊँच और नीच बना देना है। आयु कर्म का काम एक शरीर या भव विशेष में रोके रखना है। और अन्तराय कर्म वीर्य अर्थात् शक्ति को ढकनेवाला है। यह सब उन कर्मो का स्वभाव हो गया। अब योग को किस कर्म की देन माना जाये। आठ कर्मो के जो उत्तर भेद है उनमें भी योग को देने वाला कर्म नहीं है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि योग क्या चीज है जो कर्मो को खीचने वाला है। 'आसमन्तात् आदत्तो इति आस्रवः' ऐसी कौन सी शक्ति है जो चारों ओर से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं को लाकर रख देती है। तो वह शक्ति कोई और नहीं बल्कि योग है और वह योग किसी कर्म की देन नहीं है। वह न तो क्षयिक भाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है। और न ही औदयिक भाव में आता है किन्तु योग को आचार्यो ने पारिणामिक भाव में रखा है।

आपके मन में जिज्ञासा होगी कि अब तक हमने पारिणामिक भाव तो तीन ही सुने थे, यह चौथा कहाँ से आ गया। क्या आपका कोई अलग ग्रंथ है महाराज ! तो भाई मेरा कोई अलग ग्रंथ नहीं है। किन्तु निर्ग्रन्थ आचार्यो का उपासक मैं निर्ग्रन्थ अवश्य हूँ। निर्ग्रन्थों की उपासना से इस चीज की उपलब्धि संभव है। आप धवला जी ग्रंथ देखें तो मालूम पड़ जायेगा कि योग पारिणामिक भाव में स्वीकृत है। यह आत्मा का ही एक मनचलापन या वैभाविक स्थिति है। जो कर्मो को खीचता है फिर चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ हों।

अशुभयोग जब तक रहता है तब तक अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है और शुभ योग होने पर शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है। लेकिन योग जब तक रहेगा तब तक आस्रव करायेगा ही। योग कर्म की देन नहीं है यह अद्‌भुत बात सामने आयी।

इससे आत्मा की स्वतत्र सत्ता का भान होता है कि जब आत्मा ही आस्रव कराता है जो आत्मा उस आस्रव को रोक भी सकता है। अब यदि कोई व्यक्ति आस्रव को रोकना चाहे और यह कहकर बैठ जाये कि कर्मो का उदय है क्या करूँ? तो उसे अभी करणानुयोग का ज्ञान नहीं है यही कहना होगा।

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने कहा है कि यह योग पारिणामिक भाव है पर ध्यान रखना आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए भी आत्मा के साथ इसका त्रैकालिक सबध नहीं है। कई पारिणामिक भाव ऐसे हैं जिनका सबध आत्मा के साथ त्रैकालिक नहीं होता। जैसे अग्नि हे और अग्नि मे धुआ है। धुआ अलग किसी चीज से निकलता हो ऐसी बात नहीं है धुआ अग्नि से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि कहलाती है। यदि अग्नि एक बार शुद्ध वन जावे तो फिर धुआ नहीं निकलता। निर्धूम अग्नि का प्रकरण न्याय ग्रथो मे पाया जाता है। न्याय ग्रन्थो मे ऐसी व्याप्ति मानी गयी है कि यत्र-यत्र धूम तत्र तत्र वहि अस्ति एव-- जहॉ जहॉ धुऑ है वहॉ-वहॉ नियम से अग्नि है। लेकिन जहॉ जहॉ अग्नि है वहॉ धुऑ हो यह नियम नहीं है। क्योकि निर्धूम अग्नि धुआ रहित होती है।

जिस प्रकार निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है इसी प्रकार आत्मा के अदर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो वैभाविक हैं और कर्म की अपेक्षा नहीं रखते और कुछ ऐसे भी है जो स्वाभाविक हैं वे भी कर्म की अपेक्षा नहीं रखते। योग आत्मा की वैभाविक परिणति है। जिसके माध्यम से आत्मा के एक-एक प्रदेश पर अनतानत कर्म-रेणु आकर चिपक रहे हैं।

अब इसके उपरान्त हम आगे वढते है चिन्तन करते है कि जव योग है तो इससे मात्र कर्म आने चाहिये शुभ और अशुभ का भेद नहीं होना चाहिये। आचार्य उमास्वामी ने तो शुभ और अशुभ दोनो का व्याख्यान किया है ऐसा क्यो? तो आचार्य कहते है कि अशुभ का आस्रव कषाय के साथ होता है। जिसे साम्परायिक आस्रव कहते है। ''साम्पराय कषाय तेन साकम् आस्रवति यत् कर्म तत् साम्परायिक कर्मइति कथ्यते' -- जो योग कषाय के साथ सबध को प्राप्त हो चुका है अर्थात् कषाय के साथ जो योग है उसके माध्यम से अशुभ का आस्रव होता है। कषाय से रहित योग के साथ मात्र शुभ का आस्रव होता है। साता वेदनीय का एक मात्र आस्रव होता है। इसका अर्थ हो गया कि कषाय के साथ जब तक योग रहेगा तब तक वह अशुभ कर्मो को अवश्य लायेगा आप उसे रोक नहीं सकते।

यहॉ आप लोगों की दृष्टि मात्र कर्म की ओर न ले जाकर परिणामो की ओर इसलिए ले जा रहा हूँ क्योकि कर्मो के बारे मे बहुत कुछ व्याख्यान हो चुके हैं। सम्यग्दर्शन फिर

भी प्राप्त नहीं हो पा रहा है। बडे-बडे विद्वान आकर पूछते है कि महाराज ! सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त किया जाए। अब उनके लिए यह तो कहना मुश्किल हो गया कि समयसारजी पढो। क्योकि समयसार तो सभी ने रट रक्खा है। समयसार पढ़ते हुए भी सम्यग्दर्शन के लिए कह रहे है तो इसके लिए कोई रास्ता तो मुझे बताना ही होगा। हम तो निर्ग्रन्थ परिषद् से सबध रखते हैं और आप सग्रन्थ परिषद् के सदस्य हैं इसलिए आपके समाने बोलते-बोलते सकुचा रहा हूँ। सग्रन्थ के साथ निर्ग्रन्थ की क्या वार्ता ! कैसी वार्ता ! तो आगम को सामने रखकर सारी बात कह रहा हूँ।

कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यो ने एक दूसरा नाम रखा है लेश्या। कषाय से अनुरजित जो योग की प्रवृत्ति है, वह है लेश्या। वह लेश्या अर्थात् योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मो का आस्रव कराने मे कारण वन जाती है कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कषाय जो कि आत्मा की ही परिणति है जो कि उपयोग की उथल-पुथल है वही आस्रव का कारण है। उपयोग की व्यग्रता-कषाय और योग की व्यग्रता-लेश्या।

आस्रव ससार का मार्ग कहलाता है क्योकि जब तक आस्रव होगा तब तक कर्म रहेगे और कर्म रहेगे तो उनका फल मिलेगा, यही परतत्रता है। इसी परतत्रता से शरीर मिलता है, शरीर मिलेगा तो इन्द्रियाँ मिलेगी, इन्द्रियॉ मिलेगी तो विषयो का ग्रहण होगा जिससे कषाय जाग्रत होगी। इस प्रकार यह शृंखला चलती है। आशय यह हुआ कि कषाय के साथ जो योग की प्रवृत्ति है वही अशुभ कर्मो के आस्रव के लिए कारण है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र के आठवे अध्याय मे आस्रव द्वारो के बारे मे जो बध के कारण हैं उनका उल्लेख किया है-- 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद कषाय योगा बध हेतव । यहाँ योग को अन्त मे लिया है और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व को बध का कारण माना है पर यह समझने की बात है।

मिथ्यात्व न कषाय मे आता है न योग मे आता है। जबकि योग और कषाय के माध्यम से आस्रव मार्ग और बध मार्ग चलता है। अपने को कषाय और योगों को सभालने की आवश्यकता है। आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रव से यदि बचना चाहते हो, तो मिथ्यात्व की ओर मत देखो, वह अपने आप चला जायेगा। वह कुछ नहीं कर रहा है अकिंचित्कर है आस्रव और बध के मार्ग में ध्यान रखना। कुछ भी काम नहीं कर रहा यह सुनकर आप चौंक न जाये इसलिए मुझे कहना पडा कि आस्रव और बध के मार्ग मे कुछ भी नहीं कर रहा है।

हमे आस्रव और बध को हटाना है मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा। हाथ जोडकर चला जायेगा। उसको भेजने का ढग अलग है। उसे सुनो, जानो और पहचानो। उसको

हटाना है तो पहले उसको जानो कि वह करता क्या है। आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं करता। यदि आस्रव और बध के मार्ग में मिथ्यात्व प्रकृति को अकिंचित्कर कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह चिन्तन करने पर मालूम पड़ेगा। श्रद्धान बनाओगे तो ही आगे बढ़ पाओगे। एक-एक चीज मौलिक है सुनें, श्रवण करें और यदि आगम के विरुद्ध लगे तो बताये बड़ी खुशी की बात होगी, मैं जानने के लिए तैयार हूँ पर एक चिन्तन आप के सामने रख रहा हूँ।

मिथ्यात्व कुछ नहीं करता यह मैं नहीं कह रहा हूँ परन्तु आस्रव और बंध के क्षेत्र मे कुछ नहीं करता, यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप यदि भूल भी जावेंगे तो यह टेपरिकार्डर पास में है ही आपका। यह प्रतिनिधित्व करेगा, यह शब्दों को पकड़ रहा है।

मिथ्यात्व को बंध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है। सोलह प्रकृतियों का आस्रव मिथ्यात्व के साथ ही होगा ऐसा आगम का उल्लेख है। तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा इसलिए मिथ्यात्व ने ही किया, सोलह प्रकृत्तियो का आस्रव। ऐसा आप कह सकते हैं। लेकिन ध्यान रखो आस्रव का माध्यम योग है। योग मिथ्यात्व से अलग चीज हैं। मिथ्यात्व के साथ ही योग रहता है यह नियम भी नहीं है क्योकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ योग का अभाव मानना पड़ेगा, जबकि योग तो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है। इसलिये योग के साथ मिथ्यात्व की अन्वय या व्याप्ति नहीं है। अतः मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय मात्र कारण नहीं है। मिथ्यात्व का उदय भी मिथ्यात्व काआस्रव नहीं करा सकता। आस्रव कराने वाले शक्ति तो अलग है जो आत्मा की वैभाविक परिणति है उपयोग का एक विपरीत परिणमन है। वह कषाय है।

मिथ्यात्व संबंधी जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है उनका आस्रव कराने वाला कौन है? तो यही कहा जायेगा कि जो अनन्तानुबंधी कषाय के साथ योग का परिणमन हो रहा है वह मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का आस्रव करा रहा है। इसके साथ-साथ, अनन्तानुबंधी की जो पच्चीस प्रकृतियां हैं उनका भी वह आस्रव करायेगा। अनन्तानुबंधी का जिस समय अभाव होगा और यदि मिथ्यात्व का उदय भी रहा आता है तो वहा पर न अनन्तानुबंधी संबंधी पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है और न ही मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का ही आस्रव होता है क्योंकि कषाय से अनुरंजितयोग प्रवृत्ति ही आस्रव का कारण है जिसका अभाव है।

मिथ्यात्व की गिनती न ही योग की कोटि में आई है और न ही कषाय की कोटि

मे मिथ्यात्व को रखा गया है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय सबधी है और कषाय चारित्र-मोहनीय सबधी है यही अन्तर है। और योग को पारिणामिक भाव माना गया है। इस तरह मिथ्यात्व की गिनती योग मे भी नहीं है। बंधुओ ! मिथ्यात्व से डरो मत, डरने से वह भागेगा नहीं। तरीका यही है कि आपत्तिकाल लगा दो। आपत्तिकाल चौथा काल है इसका सबध न भूत से है, न भविष्य से और न ही वर्तमान से है। यह काल अद्‌भुत काल है चतुर्थ काल की तरह। जैसे चतुर्थकाल कर्मो को हटाने के लिए, मुक्ति प्राप्त कराने के लिए कारण बनता है ऐसा ही यह काल है। मिथ्यात्व के लिए आपत्तिकाल यही है कि अनन्तानुबधी कषाय के साथ रहने वाली जो लेश्या है उसे हटा देना। लेश्या मे बदलाहट तीव्रता और मदता के रूप में होती है। जिस समय हम कषाय को मंद बना लेते है उस समय लेश्या शुभ होती है और शुभ लेश्या होते ही अशुभास्रव को धक्का लगना प्रारभ हो जाता है। शुभ लेश्या आत्मा की ही एक अनन्य परिणति है। आत्मा के पुरुषार्थ का एक फल है। उसे शुभ और अशुभ रूप हम अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर सकते है। चूकि सोलह प्रकृतियो का आस्रव जो प्रथम गुणस्थान तक ही होता है वह अनन्तानुबधी के साथ होता है किन्तु वहाँ मिथ्यात्व का उदय भी रहना आवश्यक है, रहता ही है इसलिए सूत्र मे मिथ्यात्व को पहले रक्खा है। साथ ही अनन्तानुबधी को भी जोड दिया है। आप सूत्र को पढे और चिन्तन करें तो अपने आप ही ध्वनि निकलेगी। वहाँ मिथ्यात्व के उपरान्त दूसरा अविरति का नम्बर है।

अविरति का अर्थ है असयम। असयम तीन तरह का होता है– ऐसा राजवार्तिक मे आया है। असयमस्य त्रिधा, अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयत्वात्। अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के उदय में जो असंयम होता है वह असयम अलग-अलग प्रकार का है। अनन्तानुबध जन्य असंयम अलग है और अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान जन्य असयम अलग है।

तो मिथ्यात्व प्रकृति के जाने के साथ मिथ्यात्व तो जायेगा ही साथ ही साथ अनन्तानुबधी उससे पहले जायेगी। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी ये आस्रव के द्वार चले गये दोनो मिलकर के। इसके उपरान्त अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान जन्य अविरति जब दोनो चले जायेगे तो अविरति समाप्त हो जायगी इसके उपरान्त प्रमाद को स्थान मिला है वह सज्वलन कषाय के तीव्रोदय से सबध रखता है। इसके बाद कषाय का स्थान है जो मात्र सज्वलन की मदता की अपेक्षा है और अत में योग को स्थान दिया जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उस योग का अभाव, जब तक 'योग' (ध्यान) धारण नहीं करेगे तब तक नहीं होगा। इस तरह यह बंध के हेतु गुणस्थान क्रम से रखे गये।

मिथ्यात्व सहित जो सोलह प्रकृतियो का आस्रव और अनन्तानुबधी जन्य पच्चीस प्रकृतियो का आस्रव होता है ऐसा इकतालीस प्रकृतियो का आस्रव यह कषाय की देन है। कषाय के साथ जो योग है उसकी भी देन है। इस कषाय को हटायेगे तो मिथ्यात्व सवधी सोलह और अनन्तानुबधी सवधी पच्चीस प्रकृतियाँ सारी की सारी चली जायेगी। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय की भूमिका में यह जीव जब करणलब्धि के सम्मुख हो जाता है और करणलब्धि मे भी जिस समय अनिवृत्तिकरण का काल आता है उस समय मिथ्यात्व सबंधी सोलह प्रकृतियो के बध का निषेध किया है। इससे ध्वनि निकलती है कि मिथ्यात्व का उदय सोलह प्रकृति का आस्रव कराने मे समर्थ नहीं है। अत· आस्रव और वध के क्षेत्र मे वह अकिंचित्कर है यह सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यात्व क्या काम करता है यह पूछो तो ध्यान रखो उसका भी बड़ा अद्भुत कार्य है। मिथ्यात्व जव तक उदय मे रहेगा तव तक उस जीव का ज्ञान, अज्ञान ही कहलायेगा। वह जीव जव अनिवृत्तिकरण के वाद अन्तरकरण कर लेता है और दर्शन मोहनीय के तीन टुकडे करके मिथ्यात्व का उपशम या क्षयोपशम करके औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है या जव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय मिथ्यात्व का क्षय करता है उस प्रसग मे भी अनन्तानुवधी का क्षय या उपशम पहले वताया है। सम्यग्दर्शन के साथ अनन्तानुवधी का उदय नियम रूप से नहीं रहता लेकिन दर्शन मोहनीय की प्रकृति का उदय रह सकता है। दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे भी सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबधी सवधी एक कषाय का भी उदय हो तो ध्यान रखना सम्यग्दर्शन वहाँ नहीं रहेगा।

सम्यग्दर्शन के खिलाफ जितना अनन्तानुवंधी कषाय हे उतना दर्शन-मोहनीय भी नहीं। ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसलिए आस्रव और वध के क्षेत्र मे जो मिथ्यात्व को हौआ (भय) वना रखा है और जिससे डरा रहे हैं वह हौआ नहीं है वह आस्रव और वध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर है। जो कुछ भी आस्रव के कारण है वह है– 'आतम के अहित विषय कपाय इनमे मेरी परिणति न जाये।'

यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हैं आप लोग और विषय-कषायों में आपकी प्रवृत्ति होती जायेगी तो कभी भी मिथ्यात्व को आप हटा नहीं सकेंगे। मिथ्यात्व को वुलाने वाला वडा वावा अनन्तानुवधी कषाय है। एक दृष्टि से कहना चाहिये मिथ्यात्व पुत्र रूप मे है और अनन्तानुवधी कपाय पिता की तरह है या कहो पिता का भी पिता है। क्योकि मिथ्यात्व का आस्रव कराना, उसे निमत्रण देना, उसे जगह देना यह जो भी कार्य है सभी अनन्तानुवधी कषाय के सद्भाव मे होते हैं। जव तक अनन्तानुवधी कषाय का उदय

रहेगा तव तक मिथ्यात्व इन्वहाइटेड (आमन्त्रित) रहेगा। मिथ्यात्व का द्वार अनन्तानुवधी है।

अनन्त मिथ्यात्व यदनुवध्नाति स अनन्तानुवधी– मिथ्यात्व रूपी अनन्त को वाधने वाला यदि कोई है तो वह हे अनन्तानुवधी। जो व्यक्ति मिथ्यात्व को कपाय की कोटि मे रखकर मिथ्यात्व को हटाने का चिन्तन करता है वह मानो आवागमन के लिए सामने का दरवाजा तो वद कर रहा हे किन्तु पीछे का दरवाजा खुला रखा है। अनन्तानुवधी अनुरजित योग, यह मिथ्यात्व के लिए कारण है। इसलिए अनन्तानुवधी का उदय समाप्त होते ही तत्व चिन्तन की धारा और मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने अर्थात् उसे हटाने की शक्ति आत्मा मे जागृत होती है। जिस समय दर्शन मोहनीय के तीन खण्ड करते है उस समय खण्ड करने की जो शक्ति उद्भूत होती है वह अनन्तानुवधी के उदय के अभाव मे होती है। अनन्तानुवधी का उदय जव तक चलता है तव तक शक्ति होते हुए भी जीव, मिथ्यात्व को चूर-चूर नहीं कर पाता। जैसे ही अनन्तानुवधी समाप्त होना है मिथ्यात्व कह देता है कि ता मे भी जा रहा हूँ। मिथ्यात्व इतना कमजोर है। मिथ्यात्व के उदय मे भी तत्त्व चिन्तन की धारा चलती रहती है इकतालीस प्रकृतिया का आस्रव रुक जाता है, यह वात सवर तत्त्व का प्रसग आने पर वता दूँगा।

यह सव आत्म-पुरुपार्थ की वात हे उपयोग को केन्द्रीभूत करने की वात है। याग को शुभ के ढाचे मे ढालने की प्रक्रिया है। यह पुरुषार्थ आत्मायत्त है, कर्मायत्त नहीं हे इसीलिए धवला मे कह दिया कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल हम अपने पुरुपार्थ के वल पर कर सकते है। कथचित् अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को देखकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता वतायी गई हे आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा।

इससे सिद्ध होता हे कि आत्मा स्वतन्त्र हे, पर भूला है, भटका है, उसे सुलझाने और सही मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। आत्म पुरुपार्थ के द्वारा इकतालीस प्रकृतियो का जो आश्रयदाता है अनन्तानुवधी वह ज्यो ही चला जाता है त्यो ही सम्यग्दर्शन आ जाता हे। क्योकि वाधक कारणाभावात्, साधक कारण सद्भावात्– ऐसा न्याय है कि वाधक कारण के अभाव हो जाने पर या साधक कारण के सद्भाव मे साध्य की सिद्धि होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन, अनन्तानुवधी कषाय के जाते ही आयेगा अवश्य आयेगा। पुन कहना चाहूँगा कि अनन्तानुवधी सर्वप्रथम जाती है। कषाय में अगर कोई वड़ा वावा हे तो वह है अनन्तानुवधी। मिथ्यात्व आस्रव और वध के क्षेत्र से अकिंचितकर है इसे नोट कर लेना।

जव इस तरह आस्रव-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान होता है तव हम आस्रव से वच भी सकते हैं। कहा गया है कि 'बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये।' गुण

का ज्ञान और दोष का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक तो किसी भी प्रकार से हम दोषो से बच नहीं सकते। मोक्षमार्ग मे हमारे लिए गुण जो है वह सवर है और दोष जो है वह है आस्रव।

मिथ्यात्व के उपरान्त जो आस्रव का कारण है वह है अविरति। वह अविरति अप्रत्याख्यान सबधी और प्रत्याख्यान सबधी शेष है। इसको मिटाने का भी वही उपाय है पुरुषार्थ है जो आत्मा को आत्मा की ओर केन्द्रित करके विषय-कषायो से बचाने रूप है। इसके उपरान्त आता है प्रमाद यानी सज्वलन कषाय का तीव्रोदय। आत्मा जब अपने आप के प्रति अनुत्सुक हो जाता है तो प्रमाद कहलाता है। अब आती है कषाय। इसका आशय सज्वलन की मदता से है। कषाय तीव्र तब कहलाती है जब एक दृष्टि से हम लोग कषाय के उदय मे अपनी जागृति खो देते है।

कषायोदयात् तीव्र परिणाम चारित्र मोहस्य— इसमे व्याख्यायित किया गया है कि तीव्र परिणाम ही कषाय नहीं, कषाय का तो उदय है, तीव्र परिणाम हम कर लेते हैं क्योकि यदि चारित्र मोह आत्मा में कषाय के परिणाम पैदा करता रहे तो आत्मा के लिए, पुरुषार्थ करने हेतु जगह ही नहीं है। तो आत्मा इतना परतत्र नहीं हे वह स्वतत्र है। निमित्त-नैमित्तिक सबध की अपेक्षा यह कथन है। प्रमाद के उपरान्त कषाय आती है तो वह सज्वलन के मदोदय सबधी है उसको भी पुरुषार्थ से हटा देते हैं समाप्त कर सकते हैं। अब आती है योग की बात उसे समझे।

पुण्य और पाप की बात बार-बार हम करते हैं तो ध्यान रखना यहाँ तक पहुँचने पर पाप का आस्रव तो रुक जाता है क्योकि शुभ पुण्याशुभ पापस्य। यह पाप का आस्रव रुका क्यो? अपने आप रुक गया क्या? नहीं। जो योग अशुभ हो रहा था उसको शुभ बनाया हमने, तो किसके माध्यम से बनाया। अपने आप तो हुआ नहीं। सयम के माध्यम से पाप के आस्रव को रोका जाता है। सयम के बिना पाप को रोका ही नहीं जा सकता इसलिए सयम आस्रव कराने वाला है ऐसा एकान्त नहीं है। सयम के साथ यदि आत्मा की परिणति सयममयी नहीं है तो उस समय वह शुभ का आस्रव कराता है लेकिन सयम के माध्यम से केवल शुभ का आस्रव होता है ऐसा भी नहीं है।

कषाय के चले जाने के बाद जो योग शेष रहा उसमे ईर्यापथ आस्रव, केवल पुण्य का आस्रव होता है। कोई नहीं भी चाहो तो भी होता है। जबरदस्ती जैसे कोई लाटरी का रुपया लाकर सामने रख दे तो हम क्या ऐसा कहेगे कि नहीं चाहिए। तव कहा जाय कि आपके बिना तो कोई इसका पात्र ही नहीं है आपको लेना ही होगा। ऐसा नहीं है कि रखना चाहो तो रख लो अन्यथा नहीं। यह ऐसा पुण्य का आस्रव है कि रखना ही पडेगा। केवल योग मात्र रहने पर तो पुण्य का आस्रव होगा, अवश्य होगा। उसको

कोई रोक नहीं सकेगा। अव जव तक योग रहेगा तेरहवे गुणस्थान के अतिम समय तक तो वह पुण्य का आस्रव करायेगा।

यह योग किसी कर्म की देन नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है। क्योंकि चारो घातिया कर्म निकल गये फिर भी सयोग केवली है, योग ज्यो का त्यो बना हुआ है। और शुभ का आस्रव निरन्तर हो रहा है। अब योग से होने वाले आस्रव को रोकना है। केवली भगवान जानते है कि जव तक आस्रव द्वार रुकता नहीं तव तक मुझे मुक्ति नहीं, तो उन्हे भी सवर करना होगा। कर्म का सवर नहीं करते वहाँ। वह तो योग का निरोध कर देते है। उस योग का निरोध कर देते है जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उसी से कर्म का आस्रव होता है कषाय के साथ यदि योग है तो अशुभ का आस्रव होता है और कषाय रहित योग रहता है तो केवल शुभ कर्म का आस्रव होगा। इसलिए यदि आप पुण्य से वचना चाहते हो तो सयम से मत वचो बल्कि योग से बचो। योग से वचने का, योग निरोध करने का उपाय है तृतीय शुक्ल ध्यान। तृतीय शुक्ल ध्यान के विना योग, निरोध को प्राप्त नहीं होता और जव तक उसका निग्रह नहीं होगा तव तक शुभ का आस्रव होगा। इसलिए आचार्यो ने कहा है कि पुण्य से मत डरो किन्तु उसके फल मे समता भाव रखो। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पुनाति आत्मान इति पुण्यम्।

आत्मा को पवित्र कराने वाली सामग्री या रसायन यदि विश्व मे कोई है तो वह आत्मा के पास जो शुभ योग है वह है और वही पुण्य है। उस पुण्य के माध्यम से ही केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिये यह भी ध्यान रखना। केवल-ज्ञान जिस प्रकार है उसी तरह केवल पुण्य, जिस समय आत्मा को प्राप्त होगा उस समय अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त आप केवलज्ञानी वन जाओगे।

यथाख्यात चारित्र जिस समय जीवन मे आ जाता है त्यो ही पुण्य का ही मात्र आस्रव होता है और पुण्य मात्र का आस्रव हो तो अन्तर्मुहूर्त के लिए पर्याप्त है आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराने मे। यह प्रसग दसवे गुणस्थान तक नहीं आ सकता केवल पुण्य का आस्रव दसवे गुण स्थान तक नहीं होता दसवें गुणस्थान के बाद होता है अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को पाप से बचा सकता है किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन? पुण्य के फल को हटाने वाला तो सयम है। सयम पुण्य को नहीं हटा सकता।

आचार्यो ने पचेन्द्रिय के विषय को विष्ठा कहा है पुण्य को नहीं कहा। यदि पुण्य को विष्ठा कह दे तो केवली भगवान भी उससे लिप्त हो जायेगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, अवज्ञा है। हॉ, पुण्य की जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्ठा। पुण्य

विष्ठा नहीं है। सबसे ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त, जो केवली भगवान है उनको होता है किन्तु निरीह वृत्ति होने के कारण उसमे रचते पचते नहीं है, रमते नहीं है। दुनिया का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। तृतीय शुक्ल ध्यान का प्रयोग करके तब वे केवली भगवान शुभ का आस्रव रोक देते हैं। आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बद हो जाता है। और ज्यो ही आस्रव होना रुक जाता है चौदहवे गुणस्थान मे छलाग लगाते है वहाँ भी रुकते नहीं है सिद्धत्व प्राप्त कर लेते है। योग निरोध के उपरान्त ससार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, इन पच लघु स्वर अक्षरो के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते हैं।

चौदहवं गुणस्थान मे चार अघातिया कर्म शेष है और उनमे साता वेदनीय भी है असाता वेदनीय भी है ऐसा आचार्य कहते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वे चारो कर्म उदय को प्राप्त होते हुए भी काम नहीं कर रहे क्योकि काम करने वाला जो योग था वह चला गया। अब इन चारो कर्मो की निर्जरा के लिए चौथा शुक्ल ध्यान वे अपना लेते है। इस तरह योग जो है वह अन्त मे जाता है और केवल पुण्य का ही आस्रव कराता है।

इससे यह फलित होता है कि पहले पाप के आस्रव से बचना चाहिये क्योकि पहले साम्परायिक आस्रव ही रुकेगा उसके पश्चात् ईर्यापथ आस्रव जो मात्र पुण्य का आस्रव है वह रुकेगा। तो पहले का काम पहले करना चाहिये, बाद का काम बाद मे। सौंफ इत्यादि आप पहले खा लो बाद मे रोटी खाओ तो आपको पागल ही कहेंगे लोग। इसलिए भइया ! पहले पाप से तो निवृत्त हो और पाप से निवृत्त होने के लिए, पाप के आस्रव को रोकने वाला है सयम, उसे अगीकार करो। तदुपरान्त पुण्य के आस्रव को रोकने वाला, योग का निग्रह करने वाला तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान आयेगा। यही सक्षेप में समझना चाहिये।

आस्रव-द्वार पॉच है किन्तु पॉच मे भी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी को रख रक्खा है। अविरति, अनन्तानुबधी के अभाव मे भी रहती है इसलिए अविरति से अनन्तानुबधी का सबध यहाँ विवक्षित नहीं है यद्यपि अनन्तानुबधी के साथ भी अविरति रह सकती है, रहती भी है। पर मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबधी पहले जाती है फिर बाद मे मिथ्यात्व जाता है इसलिए जो पहले जाता है उसे पहले भेजना चाहिये और बाद मे जाने वाले की फिकर करने की आवश्यकता नहीं है। विषयों मे जो बार-बार झपापात लेता है अनन्तानुबधी का स्थूल प्रतीक है। स्थूल है सूक्ष्म नहीं। 'बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष ' यह नरकायु का आस्रव भी अनन्तानुबधी के माध्यम से ही बन सकता

है। क्योंकि नरक गति का बध अनन्तानुबधी के साथ ही होता है। इतना ही नहीं– परात्मनिदा प्रशसा सदसद्गुणोच्छादनोद्भावेन च नीचैर्गोत्रस्य।'' नीच गोत्र का बध भी अनन्तानुवधी के साथ होता है। यहाँ मेरा आशय यह है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए आया है उसे यह जानना भी आवश्यक है कि पर की निदा ओर अपनी आत्म प्रशसा अर्थात् पर के गुणो को ढकना और अपनी आत्मा मे नहीं होते हुए गुणो को भी प्रकट करना इत्यादि जो कार्य है ये नीच गोत्र के कारण है।

नीच गोत्र का आस्रव कहाँ तक होता है तो जिसने सिद्धान्त देखा है। गोम्मटसार आदि, उन ग्रथो मे इसका उल्लेख मिलता है कि नीच गोत्र का द्वितीयगुणस्थान तक ही आसव होता है। इसका अर्थ है अनन्तानुबधी के माध्यम से ही इसकाआस्रव होता है आजकल यह प्राय यत्र तत्र देखने सुनने को मिल रहा है। आज उपदेश का प्रयोग भी इतना ही कर लेते है कि दूसरे को सुनाकर और उसके माध्यम से किसी दूसरे को नीचा दिखाने का उपक्रम रच लेते हैं।

शास्त्र का प्रयोग/उपयोग अपने लिए है मात्र दूसरे को समझाने के लिए नहीं है। दूसरा यदि अपने साथ समझ जाता है तो वात अलग हे किन्तु उसे बुला-बुलाकर आप उपदेश दोगे तो आगम मे कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि यह जिनवाणी का एक दृष्टि से अनादर होगा। क्योकि वह रुचिपूर्वक सुनेगा नहीं अथवा सुनेगा भी तो उसका वह कुप्रयोग कर लेगा और तब सुनाने वाला भी दोष का पात्र बन जायेगा।

बधुओ! पर की निन्दा करना सम्यग्दर्शन की भूमिका मे बन नहीं सकता क्योकि नीच गोत्र का वध जो होता है वह अनन्तानुबधी के भावो के माध्यम से होता है जो मिथ्यात्व को वाधने वाली कषाय है। इसलिए यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हो तो मद से मदतर और मदतर से मदतम इस कषाय को वना दो। जब विषय कषायो से बच जाओगे तब चिन्तन की धारा प्रवाहित होगी और तत्व चिन्तन की धारा से हम सम्यग्दर्शन रूपी सरोवर मे अवगाहित हो सकते है। अपने आप को समर्पित कर सकते है। शुद्ध बन सकते है, बुद्ध बन सकते है। लेकिन इस भूमिका के बिना कुछ भी नहीं बन सकते। जहाँ है वहीं पर रह जायेगे, बातो-बातो तक, चर्चा तक ही बात रह जायेगी।

यह सारी की सारी घटनाए अन्तर्घटनाएँ है ये बाहरी चीजे नहीं है। मोक्षमार्ग एक अमूर्त मार्ग है। जिसके ऊपर कोई चिन्ह या पद, या कोई निशान, कोई बोर्ड नहीं है। कोई किसी प्रकार के पत्थर माइल स्टोन नहीं लगे हैं। यह तो एकमात्र श्रद्धा का विषय है और उसी श्रद्धा से अपने आप को कुछ बना सकते है आप उस श्रद्धा को जागृत कर सकते है। भाई विषय-कषायों से ऑख मींचो और उन आँखो का प्रयोग अपने आत्म तत्त्व को जानने के लिए करो तो अपने लिए बहुत जल्दी सही रास्ता प्रशस्त हो सकता

है, अन्तर्मुहूर्त का काम है।

अन्तर्मुहूर्त मे सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है और अन्तर्मुहूर्त मे ही मुक्ति के भाजक भी हम बन सकते है। इस प्रकार आत्मा की एक प्रतिभा है, गरिमा है, महिमा है। उसे पहचानने की आवश्यकता है। क्यो व्यर्थ अनन्त ससार मे भटकने का आप उपक्रम कर रहे हो। आप जब भी देखेगे इस ससार में अनन्त ससार मे मिथ्यादृष्टियो की सख्या अधिक रहेगी, सम्यग्दृष्टियो की सख्या सीमित ही रहेगी। इसलिए अपने आप के सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखना चाहते हो तो मिथ्यादर्शन के इस वाजार मे से बचना चाहिये।

जल्दी-जल्दी घर की तरफ से मन को मोड़कर अर्थात् आस्रव से मुँह मोडकर अपने आप की ओर आना ही मोक्षमार्ग है वही श्रेयस्कर है। वाह्य जितना भी है वह सब भवपद्धति है। ससार का मार्ग है। ससार का मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। उनके माध्यम से निरन्तर आस्रव ही होता है। अत ससार मार्ग को छोड़कर सवर मार्ग पर आना चाहिये। जो आस्रव को नहीं जानेगा, आस्रव के कारणो को नही जानेगा, कौन से भावो से आस्रव होता है इसको नहीं जानेगा, वह रोकने का उपक्रम भी नहीं कर पायेगा और निदा का पात्र बना रहेगा। थक जायेगा उस उपक्रम से किन्तु कोई सिद्धि मिलने वाली नहीं है।

आस्रव और वध के क्षेत्र मे मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व अनन्तानुवधी के बाद जाने वाला है इसलिए मिथ्यात्व का आस्रव कराने वाली अनन्तानुवधी कषाय है और उस अनन्तानुबधी कषाय को निकालने का उपक्रम यही है कि हमारी जो अशुभ लेश्या है उसको शुभ वना ले, शुभतम वना ले। शुभतम जव लेश्या वनेगी तो अनन्तानुबधी को धक्का लगेगा। अनन्तानुवधी चली जायेगी तो उसके माध्यम से होने वाले सारे के सारे आस्रव रुक जायेगे। मिथ्यात्व भी अपने आप हाथ जोडकर चला जायेगा।

मिथ्यात्व को हटाने का यह सही रास्ता है आगमानुकूल है। अन्य जो भी मार्ग हैं आप स्वय देखेगे वे आगम से विपरीत होगे। मिथ्यात्व को हटाने के लिए यदि अनन्तानुबधी कषाय को हटाये बिना सर्वप्रथम उसे ही (मिथ्यात्व को) हटाने का आग्रह करेगे तो भी हटा नहीं सकेगे। अत- कपायो को मद करना उसे हटाना यही सही मार्ग है आगम के अनुकूल मार्ग है।

□□

☐ बंध तत्व

ससारी प्राणी की दशा अनादिकाल से दयनीय हुई है। यद्यपि यह ससार प्राणी सुख का इच्छुक है और दु ख से डरता भी है किन्तु सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है और दु ख का विछोह भी नहीं कर पा रहा है। इसमे एक कारण है। चूकि सुख अनादिकाल से प्राप्त नहीं है और मात्र अनादिकाल से दु ख का अनुभव करने का स्वभाव सा बन गया है, वास्तव में विभाव है, लेकिन एकदम स्वभाव के समान हो गया है इसलिए निरन्तर दु ख के ही रेणु आते जा रहे हैं।

आचार्य कहते है कि यह प्राणी प्रत्येक समय उसी दु ख की सामग्री को ही अपनाता जा रहा है। ओर सतत् दु ख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार आप लोग दुकानदारी मे बेलन्स को मजबूत रखकर दुकानदारी करते है उसी प्रकार यह ससारी प्राणी आप लोग वर्तमान म दुख की सामग्री इकट्ठा करने मे लगे हुए है। यूँ कहना चाहिये प्रत्येक ससारी प्राणी एक उद्योगपति है और जैसे उद्योगपति कभी भी अपने को फेल नहीं होने देता, बैलेन्स मजबूती बनाये रखता है इसी प्रकार कर्मबध के क्षेत्र मे वह अपने कार्य को करने म सजग है और सुचारू रूप से कार्य को सभाल रहा है और सुख की प्राप्ति और वध की व्युच्छित्ति चाहते हुए भी स्वतत्र होते हुए भी बधन का कार्य करता जा रहा है उसी बध तत्व के बारे मे आज आपको कुछ सुनाना है बताना है।

बध से डरना, यह भव्य का कार्य है। भव्य कहते हैं होनहार को। जैसे आपके परिवार में कई बच्चे होते है लेकिन होनहार एकाध को ही आप कहते है। इसी तरह मोक्षमार्ग को अपनाने वाले होनहार कुछ प्राणी अलग होते है जो बध से डरते है वध से डरना इतना ही पर्याप्त नहीं है, बध के कारणो से डरना यह भी परम आवश्यक है, मुक्ति की प्राप्ति के लिए दस पद्रह वर्ष पूर्व की बात है एक पेड के नीचे बैठा था मै, और देख रहा था उस आक के फूल को जो बहुत हल्का होता है और देखने मे बहुत सुहावना होता है। रग भी सफेद होता है उसका। एक बार यदि कोई बच्चा देख ले उसे, तो वह भी उस फूल के समान उडकर उसको पकड़ने का प्रयास करता है।

मैं देख रहा था वह फूल बिना हवा के झोके के भी उडता रहता है और ज्यादा

हवा आ जाये तो सम्भाल नहीं पाता अपने आपको और नीचे आकर कोई गीली चीज मिल गयी कि बस वहीं चिपक जाता है। इसको कहते हैं संयोग। ज्यों ही वह चिपक गया उनका स्वभाव जो उड़ने का था वह समाप्त प्राय हो गया। थोड़े ही समय में कब वह पंखुरियां टूट गयीं कुछ पता नहीं। अब उसका अस्तित्व भी समझ पाना मुश्किल हो गया।

एक बार आर्द्रता के साथ संयोग का यह परिणाम निकलता है तो बार-बार यह जीव रागद्वेष रूपी आर्द्रता का संयोग करता ही रहे तो क्या परिणाम होगा? आप ही सोचो। आप ऊर्ध्वगमन कर सकोगे जो आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार वह आक का फूल आर्द्रता के संयोग में आ गया और अपने उड़ने के स्वभाव को खो बैठा, उसी प्रकार यह आत्मा प्रत्येक समय, रागद्वेष की संगत में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव को भूल गया है। और संयोग की सामग्री हर समय खरीदता ही जा रहा है आगे के लिए। बीजारोपण करता जा रहा है।

जिस प्रकार कृषक फसल काटता है और सर्वप्रथम उसको खाने से पहले बीज की व्यवस्था कर लेता है उसी प्रकार आप भी एक कुशल कृषक के समान, कर्मों का फल भोगते भी जा रहे हैं और आगे बोने के लिए बीज (नये कर्म) की व्यवस्था भी कर रहे हैं। प्रत्येक समय नये कर्मों के साथ संयोग हो रहा है और संयोग का अर्थ है बंध। समीचीन रूपेण योगः इति संयोगः या ऐसा कहो कि समीचीन रूपेण आस्रवणाय इति संयोगः। जहाँ संयोग होगा वहाँ आस्रव तो हो ही रहा है और आस्रव का अर्थ है योग। संयोग के उपरान्त यदि वहाँ आर्द्रता है चिकनाहट है रागद्वेष है तो बंध हो जाता है।

अन्योन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः। कयोः। कर्मात्मनोः। कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह हो जाना ही बंध है। कर्म और आत्मा का ऐसा संयोग होने के उपरान्त गठबंधन हो जाता है और वे एक दूसरे को स्थान दे देते हैं। दोनों के बीच बंधन हो जाता है एकमेकता हो जाती है यही बंध है।

दो के बिना बंध नहीं होता, यह ध्यान रखना। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नहीं बज सकती उसी प्रकार बंध तत्त्व भी एक के बीच में नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय सामग्री है वह और उसका जो भोक्ता है आत्मा, ये दोनों संयोग होने से बंध जाते हैं अब यह देखना है कि यह कैसा बंध हो जाता है? कैसा संबंध हो जाता है।

एक उदाहरण के माध्यम से समझ लें आप। स्कूल में एक बच्चा और बच्ची पढ़ते हैं बाल्यावस्था की बात है निर्विकार भाव से पढ़ रहे हैं और भाई-बहन के समान रह रहे हैं। फिर जब पढ़ते-पढ़ते बड़े हो जाते हैं तो अपने-अपने बच्चों के ऊपर माँ पिता का ध्यान जाता है और विचार उत्पन्न होने है कि अब ये बड़े हो गये, इनकी शादी

कर देनी चाहिये। अब देख लो– वह लडकी की मॉ कह देती है अपने पति से। उसके साथ ही साथ लडके की मॉ है वह कहती है लडका बड़ा हो गया, बहू नहीं लाओगे क्या?

दोनो बच्चे अभी तो बचपन मे खेलते थे, कूदते थे, साथ-साथ उठते बैठते थे, तो मॉ पिता ने सोचा प्रेम भाव भी परस्पर है। दोनो श्रेष्ठ भी है इन्हीं का सबध जोड़ दिया जाये तो बहुत अच्छा है और दोनों का सबध/विवाह लग्न हो जाता है। लग्न का अर्थ एक दूसरे से मिल जाना, सलग्न हो जाना ही 'समाचीन रूपेण लग्न सलग्न' दोनो समीचीन रूप से एक विचार मे एक आचार मे बध गये। बंध गये का अर्थ कोई रस्सी आदि से बाध दिया है ऐसा नहीं है। सबध हो गया, पाणिग्रहण हो गया लेकिन दूरी दिखती है। दूरी होते हुए भी सबध हो गया।

पहले जो साथ-साथ खेलते कूदते थे, पढते थे अब घूघट आ गया उस बच्ची के। यह घूघट ही उस सबध का प्रतीक हो गया। दोनो अलग-अलग है। प्रत्येक कार्य अलग-अलग करते हुए भी जुड़ गये है और जीवन मे परिवर्तन आ गया है। यह वैवाहिक सबध भी अपने आप मे एक थ्योरी (सिद्धांत) रखता है। जीव के आचार विचार एकमेक हो जाते है अगर आचार एक नहीं रहेगा विचार एक से नहीं रहेंगे तो विघटन आ जायेगा वह सबध विघटित हो जायेगा।

इससे यह फलित हुआ कि सबध दो के बिना नहीं चलता और दोनो मे एकमेकता भी होनी चाहिये। 'अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेश' का अर्थ भी यह है कि एक दूसरे मे घुल मिल जाना। जैसे नट और बोल्ट है कि एक को खींचो तो दूसरा भी साथ मे खिचकर चला आता है। यह है बध की प्रक्रिया। जिस व्यक्ति का विवाह सबध सस्कार के साथ हुआ होता है वह जीवत्व के प्रति वास्तविक वात्सल्य का प्रतीक है। जिनको सन्यास आश्रम मे प्रविष्ट होने की अभी सामर्थ्य नहीं है वे कुछ दिन गृहस्थ आश्रम मे रहकर देख ले लेकिन उसके उपरान्त उसको भी पार करके निकल जाये तभी सार्थकता होगी। उन सासारिक वैवाहिक बधनो के समान ही धार्मिक क्षेत्र मे बध तत्त्व है।

"इसका कोई न कर्ता हर्त्ता अमिट अनादि है, जीव अरू पुद्गल नाचै यामे कर्म उपाधि है। इस ससार को बनाने वाला या नष्ट करने वाला कोई नहीं है यह तो अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। जीव अपने परिणामो से पुद्गल कर्म के सयोग से इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यह कर्मबध ऐसा है कि अब एक निश्चित काल के लिए न तो पुद्गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनो के बीच एक क्षेत्रावगाह सबध हो जाता है कि दोनो छूट नहीं सकते किसी अलौकिक रसायन के बिना।

आप पूछ सकते है कि महाराज ! यदि आत्मा मूर्त कर्म के साथ सबध करता है तो क्या वह भी मूर्त है। क्योकि अमूर्त के साथ मूर्त का सबध तो हो नहीं सकता। हॉ भइया, वर्तमान मे ससारी जीव की आत्मा मूर्त है लेकिन वह पुद्गल के समान मूर्त नहीं है स्पर्श, रस, गध और रूप वाला। वह तो चैतन्य है। जड तत्त्व की सगत मे आने से मूर्त बन गया है। मूर्त हुए बिना मूर्त के साथ सबध होगा ही नहीं। लौकिक दृष्टि से भी जैनाचार्यो ने कहा है कि देवो के साथ मनुष्यो का व्यावहारिक काम सबध नहीं हो सकता क्योकि देव वैक्रियिक शरीर वाले हैं और मनुष्य का शरीर औदारिक है।

इस मूर्त का मूर्त से सबध समझाने के लिए कुछ लोग आकर कह देते है कि आत्मा तो अलग ही रह जाता है और कर्म, कर्म के साथ बध जाता है किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करे कि कर्म कर्मणो अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बध' अथवा आत्मात्मनो अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बध । ऐसा तो जैनाचार्यो ने लिखा नहीं है। इसलिए यह प्रश्न तो ज्यो का त्यो बना रहता है कि अमूर्त के साथ मूर्त का सबध कैसे होता है। इसी का समाधान देते हुए आचार्यो ने कहा है कि ससारी जीव के प्रति ऐसा एकान्त नहीं कि वह अमूर्त ही है।

मूर्तोपि स्यात् ससारपेक्षा अर्थात् ससारी जीव कथचित् मूर्त होता है। ससार में इसका स्वभाव बिगड गया है। इसलिए यह मूर्त कर्म के साथ अनादिकाल से मूर्तपने का अनुभव कर रहा है किंतु वह चैतन्यमूर्ति है। यदि अपनी आत्मा को वर्तमान मे कथचित् मूर्त मानेगें तभी अमूर्त बनने का प्रयास भी होगा, अन्यथा नहीं होगा। साथ ही साथ वर्तमान मे आत्मा मूर्त है लेकिन इसमे अमूर्तपना आ सकता है इस प्रकार का जब विश्वास करेगे आप, तभी बध तत्त्व के यथार्थ श्रद्धानी कहलायेगे अन्यथा नहीं।

आत्मा मे जो मूर्तपना आया है वह पुन वापिस अमूर्त मे ढल सकता है क्योकि वह सयोगजन्य है स्वभावजन्य नहीं। इस प्रकार एक अलग ही क्वालिटी का मूर्तपना इस जीव मे आया है इसे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। आप लोगो को यह विदित होगा कि बाजार मे कई प्रकार की भस्मे आती है, लौह भस्म है, स्वर्ण भस्म है, मोती भस्म है ऐसी ही एक पारद भस्म (पारे की भस्म) आती है। पारे को जलाया जाता है बहुत घटो तक। तब वह पारा भस्म के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और औषधि इत्यादि के रूप मे काम आता है। यदि पारा खा लोगे तो वह नुकसान कर जायेगा, शरीर मे नहीं टिकेगा, शरीर सारा का सारा विकृत हो जायेगा। पारे को सामान्यत कोई पकड भी नहीं सकता क्योकि वह शुद्ध तत्त्व है विशुद्ध तत्त्व हाथ से पकड मे नही आता जैसे सिद्ध परमेष्ठी को आप पकड़ नहीं सकते। अर्हन्त परमेष्ठी ससार दशा मे स्थित होने से अभी पकड मे आते हैं क्योकि मूर्त है।

इसका अर्थ यह हो गया कि वह पारा अपनी शुद्ध दशा मे मूर्त होकर भी अभी पकड मे नहीं आ रहा है किन्तु घटो जलते रहने के बाद वह जब, भस्म के रूप परिणत हो जाता है तो पकड मे आने लगता है और वैद्य लोग उसे औषधि के रूप मे प्रयोग में लाते हैं। लेकिन एक बात और ध्यान मे रखना कि इस पारे की भस्म की यह विशेषता है कि इसे खा लेने के उपरान्त यदि खटाई का प्रयोग हो गया तो पुन वह अपनी सहज दशा मे आ जायेगा और शरीर को विकृत कर देगा।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा रागद्वेष रूपी अग्नि के माध्यम से यद्यपि पारे की भस्म के समान हो गया है पकड़ मे आने लगा है तथापि यदि चाहे तो वह अपनी शुद्ध अवस्था मे भी पहुँच सकता है। वर्तमान मे यदि हम आत्मा को मूर्त नहीं मानेगे तो बध तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी और बधापेक्ष मोक्ष – बध की अपेक्षा से मुक्ति है तो मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पायेगा और मोक्ष तत्त्व के अभाव मे ससार भी नहीं रहेगा, अन्य द्रव्य भी नहीं रहेंगे जो कि सभव नहीं है। अत वर्तमान मे अपने आत्मा को मूर्त मानना हागा और उसे अमूर्त बनाने के लिए नि शक होकर मोक्षमार्ग पर आरूढ होना होगा।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि अबद्ध अस्पृष्ट आत्मा, यह आत्मा अबद्ध है अस्पृष्ट है लेकिन ससार दशा मे विवक्षा भेद से कथचित् बद्ध भी है और स्पृष्ट भी है। जो जीव भावना भाता है वह उस भावना के माध्यम से अबद्ध/शुद्ध बन सकता हैं यदि हम बद्ध ही नहीं है– ऐसा एकान्त से मान लेंगे तो फिर भावनाओं की क्या आवश्यकता है। इसीलिए आचार्यो ने कहा है कि अबद्ध बनने के लिए, 'मैं अबद्ध हूँ' – ऐसी भावना यदि जीव भायेगा तो वह अबद्ध बनने की ओर अग्रसर होगा अन्यथा नहीं।

एक सूत्र आता है मोक्षशास्त्र मे विग्रहगतौ कर्मयोग – एक गति से जीव दूसरी गति तक शरीर रचना के लिए जाता है तो विग्रह गति होती है और उस समय मात्र कर्म की ही सत्ता चलती है। वहाँ मात्र कार्मण काययोग रहता है। अब यदि कोई ऐसा माने कि कर्म तो मात्र कर्म से बधे है आत्मा तो अलग ही रहता है तो इस स्थिति में कर्म, कर्म को ही खींचते चले जाना चाहिये और आत्मा को वहीं पर रह जाना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं होता। उस आत्मा को भी कर्म के साथ नरक आदि गतियो मे जाना पडता है। और अधिकतम तीन समय तक अनाहारक भी रहना पडता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म के साथ आत्मा का गठबधन हुआ है एक क्षेत्रावगाह सबध हुआ है इसमे कोई सदेह नहीं है।

अब उस आत्मा को अमूर्त कैसे बनाया जाये यह प्रश्न उठेगा ही। तो कोई बात नहीं हमारे पास आ जाओ इधर। वीतरागता के पास आ जाओ। वीतराग रूपी खटाई का सयोग प्राप्त होते ही यह आत्मरूपी पारद भस्म अपने आप ही सहज दशा मे आ

जायेंगी। कर्म वर्गणाए पृथक् हो जायेंगी।

चार प्रकार के वंध होते है अर्थात जो आगत कर्म है इनमे चार प्रकार के भेद पड़ते है। आत्मा के योग के माध्यम से प्रकृति और प्रदेश वध होता है तथा कपाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग वध होता है। कितने कर्म आ रहे है कार्मण वर्गणाओं के रूप मे परिणत होकर इसको कहते है प्रदेश वध और कौन सा कर्म क्या काम करेगा अर्थात् उसका नेचर (स्वभाव) ही प्रकृति वध है। इसके उपरान्त कपायके द्वारा काल मर्यादा और फलदान शक्ति को लेकर क्रमश स्थिति और अनुभाग वध होते हैं।

सर्वप्रथम आती है अनन्तानुवधी कषाय। जैसे कोई मेहमान को निमंत्रण दे दें आप और जव वह आ जाये तो कह देते है कि यहीं रहो भइया, तुम्हे यहाँ से कोई निकालने वाला नहीं है। आराम से रहो और खाओ पिओ वस। इसी प्रकार अनन्तानुवधी कपाय जव तीव्र होती है तो मिथ्यात्व को सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए आत्मा के साथ एक प्रकार का ऐशो आराम सा मिल जाता है। इतनी अधिक स्थिति वाला कर्म-वंध होता है इस कपाय के द्वारा। वह सत्तर कोडा कोडी सागर तक के लिए मिथ्यात्व को निमंत्रण देने वाला, अनन्तानुवंधी कपाय वाला मुख्य रूप से मनुष्य गति का जीव हैं। अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये अत्यधिक मनुष्य ही कर सकता है। और वह भी भोगभूमि का मनुष्य नहीं वल्कि कर्मभूमि का मनुष्य।

इस तरह स्थिति और अनुभाग जो वंध हैं इनके द्वारा कर्म एक निश्चित समय के लिए वध जाते है और उसके उपरान्त अपना फल देते हैं। जो भी वंध हो रहा है वह जीव की एक ऐसी गलती है जिसके माध्यम से कर्म आकर चिपक जाते हैं। यदि हमे बंधना नहीं है वल्कि मुक्त होना है तो उसके लिए एक ही रास्ता है एक ही साधन है कि हम वीतरागता रूपी खटाई का प्रयोग करें, अनुपान करें और आत्मा जो मूर्त वना है उसे अमूर्त वना ले।

प्रसंगवश यह विपय यहाँ पर ले रहा हूँ कि अनन्तानुवंधी से वचने के लिए क्या करें? इससे वचने का उत्तम उपाय यही है कि आप जिस किसी भी क्षेत्र मे कार्य करते हैं वहाँ अपनी नीति और न्याय को न भूलें। भले ही वह वैश्य हो, क्षत्रिय हो, व्राह्मण हो या नौकर-चाकर, सेठ-साहूकार जो भी हो, अपनी-अपनी नीति न्याय को न भूलें। आचार्यो ने जो चारित्र का पथ प्रशस्त किया है उस पर श्रद्धा सहित चलते रहने का तात्पर्य यही है कि हम कम से कम पापों से, कपाओं से अपने को वचा सकें। जो मोक्षमार्ग पर आना चाहते हैं कर्म वंध से वचना चाहते हैं उनके लिए न्याय-नीति पूर्वक स्वयं को संभालने की वड़ी आवश्यकता है। सदाचार पालन करने की वड़ी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्त पर जिसका विश्वास है वह व्यक्ति येन केन प्रकारेण कोई भी कार्य

नहीं करेगा। वह कार्य करने से पूर्व विचार अवश्य करेगा। मेरे इस कार्य को करने मे अन्य किसी को कोई आघात तो नहीं पहुॅच रहा है– ऐसा पूर्वापर वह अवश्य सोचेगा। कुल परम्परा से जो चारित्र आया है उसको हम पालन करते रहते है और इसे कहते है चारित्र आर्य। लेकिन हम इस तरह चारित्र आर्य होकर भी भगवान महावीर के सच्चे उपासक होकर भी क्या इतने नियामक नहीं बन सकते हैं कि अपना प्रत्येक कार्य नीति और न्याय के आधार पर ही करेगे। मात्र प्रवचन सुन करके, तीर्थयात्रा करके या दान पूजा इत्यादि करके क्या आप महावीर भगवान को खुश करना चाहते है? इतने मात्र से आप कुछ नहीं कर सकेंगे भइया।

"एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज, मैंने त्याग कर दिया है आलू, तो मैंने भी कहा भइया, बिल्कुल आप हो दयालु, फिर भी चोरी करना है चालू बकरी के सामने बन बैठे हो भालू।" हमारे आचार्यो की त्याग के प्रति बहुत सूक्ष्म दृष्टि रही है। किस प्रकार का त्याग करना और कैसे करना यह जानना अनिवार्य है। आलू का त्याग करने मात्र से कुछ नहीं होने वाला। सर्वप्रथम जो भी व्यक्ति महावीर भगवान् के बताये हुए मार्ग पर आरूढ होना चाहते हैं उन्हे सबसे पहले जीवों की रक्षा करनी चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिए सर्वप्रथम तो प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव होना चाहिये। सकल्पी हिंसा का त्याग पहले आवश्यक है ओर उसमे भी मनुष्य की हिंसा से बचना– ऐसा कहा गया है क्योकि प्रत्येक मनुष्य के पास यह क्षमता है कि वह मुनि बन सकता है और इस मुनि अवस्था मे, उस पवित्र आत्मा के माध्यम से, उसके दर्शन मात्र से असख्यात जीवो के अनन्तकालीन पाप कट सकते हैं। इतनी क्षमता है उस मुनिमुद्रा मे, वीतराग मुद्रा मे। वह मुनिमुद्रा बाह्य मे ही नहीं अन्तरग मे बैठे अमूर्त आत्म तत्त्व के बारे मे भी बिना बोले ही अपनी वीतरागता के माध्यम से तिर्यचो तक को उपदेश देती है।

इसलिये आज यह सकल्प कर लेना चाहिये कि अपने जीवन मे मात्र अपनी विषय-वासनाओ की पूर्ति के लिए किसी सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य का घात नहीं करेंगे, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करेगे। अभयदान की ऐसी क्षमता सभी के पास होनी चाहिये। जो अपने क्षणिक सुखो को तिलाजलि देकर अन्याय छोडने और दूसरे के जीवन को बचाने के लिए तैयार है वही सच्चा महावीर भगवान का उपासक है।

वही दान, सच्चा दान कहलाता है जो नीति-न्याय से कमाने के उपरान्त कुछ बच जाने पर दिया जाता है। ऐसा नहीं है कि दूसरे का गला दबाकर उससे हड़पकर दान कर देना। गत वर्ष की बात है कुण्डलपुर जी मे लोग बोलिया बोल रहे थे। एक ने पचास रुपये कहा तो दूसरे ने पचपन रुपये कह दिया। पचास रुपये बोलने वाला अब

कह देता है कि पचपन रुपये वाले की वोली है वही देगा। यह क्या है? भगवान के सामने बैठकर ऐसा कह देते है आप और अपने को दानी घोषित करना चाहते है।

यह मात्र लोभ कषाय के वशीभूत होकर चोरी, जारी, अनाचार, अत्याचार करके कमाये हुऐ पैसे को यहाँ मंदिर मे आकर मान-कषाय को पुष्ट करने के लिए दान दे देना, *यह दान नहीं है। अन्याय करने के उपरान्त यह नहीं सोचना चाहिये कि भगवान* कहाँ देख रहे है। भगवान को सर्वव्यापी और विश्व लोचन कहा है। वह केवल ज्ञान ऐसा है जो सभी को एक साथ देख लेता है। इसलिए जो व्यापारी हैं वे सकल्प करे कि उनकी दुकान पर जो भी व्यक्ति आता है उसे नीति-न्याय पूर्वक हम सामग्री देगे, वस्तु देगे। इसी प्रकार जो और दूसरे कार्य करते है वे भी अपना कार्य न्यायपूर्वक करे।

मरहम पट्टी बाधकर, कर व्रण का उपचार, यदि ऐसा न कर सके, डडा तो मत मार। कम से कम किसी के घावो के ऊपर मरहम पट्टी नहीं लगाना चाहते या लगाने की शक्ति नहीं है तो उसे डडा तो मत मारो। कम से कम ऑख खोलकर तो चलो, किसी के ऊपर पैर रखकर उसका घात तो मत करो, वह भी तो हमारे समान जीव ही है। जो व्यक्ति प्रत्येक जीव तत्त्व के प्रति वात्सल्य नहीं रखता, वह भगवान के प्रति वात्सल्य रखता होगा– यह सभव ही नहीं है। जो जीव है उनके ऊपर वही वात्सल्य, वही प्रेम, वही अनुकम्पा होनी चाहिये जो भगवान के प्रति आपकी होती है *यही जीव तत्त्व का* सच्चा श्रद्धान है।

एक आस्तिक्य गुण कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नहीं है कि मात्र अपने अस्तित्व को ही स्वीकार करना। दुनिया मे जितने पदार्थ है उसको *यथावत् उसी रूप मे स्वीकार करना यह आस्तिक्य गुण है।* जो दूसरो के भी जीवत्व को देखता है उसे ही आचार्यो ने आस्तिक्य कहा है अन्यथा वह नास्तिक है। जो दूसरे मे जीवत्व देखेगा वह कभी भी विषयो का लोलुपी बनकर उनके घात का भाव नहीं लायेगा। गृहस्थाश्रम मे कम से कम यदि किसी को कुछ दे नहीं सकते तो उससे हड़पने का भाव भी नहीं लाना चाहिये।

भाई! राम बनो, *रावण मत बनो।* राम के पास भी *पत्नी थी और रावण के पास* तो राम से भी ज्यादा थीं क्योकि वह प्रतिनारायण था। लेकिन भूमिगोचरी राम की पत्नी सीता पर उसने दृष्टिपात किया और उसका हरण भी किया। इतना ही नहीं राम लक्ष्मण दोनो को मारने का सकल्प भी किया, क्योकि जव तक राम रहेगे, सीता रावण की नहीं हो सकेगी। सीता यद्यपि राम के लिए भोग्य थीं और रावण की दृष्टि मे भी भोग्या थीं *लेकिन रावण की दूषित दृष्टि मे सीता मात्र भोग्या थीं और कुछ नहीं,* जीवत्व की ओर रावण का ध्यान नहीं था। जीवत्व की ओर ध्यान तो राम ने दिया। राम के लिए सीता

मात्र पत्नी या भोग्य नहीं थी वरन् अपने मार्ग पर चलते हुए राम ने उन्हे सहगामी भी माना। इसलिए उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी राम ने अपने ऊपर माना।

राम ने स्पष्ट कह दिया कि मै रावण से सीता को वापिस लाऊँगा, भले ही लड़ना पड़े। यह सकल्पी हिसा नहीं थी, मात्र विरोधी हिंसा थी। उन्होने कहा कि मैं रावण का विरोध करूँगा अन्यथा जैसे सीता चली गयीं, वैसे ही राज्य की अन्य रानियॉ चली जायेगी सभी के प्राण सकट मे पड जायेगे। वे सीता को वापिस लाये और अग्नि-परीक्षा भी हुई। उसके उपरान्त सीता जी ने कह दिया कि मैं अब आर्यिका माता बनूँगी और यह श्रीराम की विशेषता थी कि जिस समय सीता दीक्षा ले लेती है, आर्यिका बन जाती हैं उसी समय राम कहते हैं कि नमोस्तु माताजी धन्य है आपका जीवन। मै भी शीघ्र ही आ रहा हूँ आपके पथ पर।

राम ने सीता जी को दीक्षा लेते ही नमोस्तु किया और मातेश्वरी कहा। यह है सम्यग्दृष्टि राम की दृष्टि और मिथ्यादृष्टि रावण की दृष्टि देखो कि मरते वक्त तक वह यही कहता रहा कि राम मे तुम्हे मारूँगा और सीता को लूँगा। यही कारण है कि राम की पूजा होती हे रावण की नहीं। अत न्याय नीति के अनुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। आज कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो सरकारी क्षेत्र मे नौकरी करता हो आर सरकार को यह विश्वास दिलाता हो कि मै कभी रिश्वत नहीं लूँगा। कोई भी सरकार रहे वह कभी भी आपको भूखा नहीं मारना चाहती। आपकी सतान नाबालिग रह जाये तो भी आपके मरने के वाद उसका प्रबध कर देती है। हमे भी सरकार के प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिये और नियम के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

कई लोग आकर कहते है कि हम नौकरी करते हैं। बहुत बधकर के रहना पडता है छुट्टी नहीं मिलती, धर्म ध्यान नहा कर पाते और अक्सर देखने मे यही आता है कि जब कोई सासरिक/वैवाहिक कार्य आ जाता है तो डॉक्टर से मेडीकल सर्टिफिकेट लेकर लगा देते हे ओर छुट्टी ल लेते हे। यह तो दुगना अन्याय है। एक डॉक्टर जिसने एम वी बी एस किया और वह निरोगी व्यक्ति को रोगी कहकर सर्टिफिकेट देता है और उसके माध्यम से रिश्वत खाता है साथ ही वह व्यक्ति भी जो सरकार को धोखा देकर अन्याय करता है तब सयोगवश ऐसे व्यक्ति को रोग न होते हुए भी रोग आ जाते है यह साइकोलॉजीकल इफेक्ट होता है और उसका सारा का सारा पैसा दवा इत्यादि में ही समाप्त हो जाता है। मन मे भय बना रहता है कि कहीं झूठ मालूम न पड़ जाये और नौकरी न चली जाये।

भइया, सत्य को वेचना नहीं चाहिये थोडे से पैसो के लिए। सत्य तो सत्य है आत्मा का एक गुण है और आत्मा के सस्कार जन्म-जन्मान्तरो तक चले जाते है। सत्य को

छोड़कर मात्र इन्द्रिय सुखो के लिए असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिये। अहिसा, सत्य अचौर्य आदि धर्म का पालन करना चाहिये जिसके माध्यम से आत्म-बल जागृत होता है।

यह कषायो को समाप्त करने की वात है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूमिका की वात है। क्योकि अनन्तानुवधी कषाय के घात होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सभव है अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन को मात्र चर्चा का विषय नहीं मानना चाहिये कुछ अर्चा भी करनी चाहिये और अर्चा यही है कि हम दर्शन आर्य वन जाये और सच्चे देवगुरु शास्त्र के प्रति सच्चा श्रद्धान रखे और आगे बढकर उस अनन्तानुवधी कषाय को अपने मार्ग से हटा दे। मिथ्यात्व को भगा दे तभी सार्थकता होगी इस जीवन की।

अत मे आपसे इतना ही कहना चाहूँगा कि आत्मा वर्तमान ससारी दशा मे अमूर्त नहीं है वीतरागता के माध्यम से यह अमूर्त वन सकती है। कर्म का सवध आत्मा से अनादिकालीन है और मात्र कर्म, कर्म से नहीं वधा है वल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह सवध हुआ है। उसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है अथवा अविपाक निर्जरा के माध्यम से किन्तु सविपाक निर्जरा के द्वारा जो विघटन होगा उसमे आगे के लिए सतति नये कर्म की प्राप्ति होगी, जैसे भोगभूमि का जोडा। भोगभूमि के जोडे ऐसे है कि जीवन के अन्तिम समय तक भोग भोगते रहते है किन्तु सतान नहीं होती लेकिन जव आयु समाप्त होने लगती है तो सतान छोडकर ही जाते है। ऐसे ही सविपाक निर्जरा से एक कर्मवध तो समाप्त हो जाता है परन्तु आगे के लिए नया कर्मवध भी होता रहता है। इसलिए कर्मवध की परम्परा को समाप्त करने के लिए अविपाक निर्जरा का आलवन लेना चाहिये। 'तपसा निर्जरा च' -तप के द्वारा सवर भी होता है और तप के द्वारा अविपाक निर्जरा भी होती है। श्रावक को अपनी भूमिका के अनुसार न्याय नीति पूर्वक चलना चाहिये। सम्यग्दर्शन की भूमिका भी यही है कि हम कषायो को कम करे और सत्य का अनुसरण करने का प्रयास करे।

वध तत्व को समझने और मुक्त होने का यही उपाय है।

□□

☐ संवर तत्व

आस्रव और बध का परिचय अनादिकाल से मोह के फलस्वरूप अनन्तो बार प्राप्त हो चुका है। ससार के निर्माता आस्रव और बध है। मोक्ष के निर्माता सवर और निर्जरा हैं आज इसी सवर तत्त्व को समझना है। सवर का अर्थ बहुत सीधा सादा है। जैसे कोई एक सकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ घुस रही हो तो वहॉ क्या किया जाता है? आप परिचित हैं आहार के समय चोके के द्वार पर आकर जैसे खड़े हो जाते दो स्वयसेवक और सारी की सारी भीड़ को भीतर जाने से रोक देते हैं। कभी-कभी वाहर की भीड घुस रही है और अदर वाले उसका निपेध कर रहे है ऐसा भी होता है। यही सवर है। आस्रव निरोध सवर – आने के मार्ग को रोकना यह सवर कहलाता हैं

इसके लिए शक्ति आवश्यक है विना शक्ति के काम नहीं हो सकता। नदी का प्रवाह बहता जाता है दोनो तटो के माध्यम से किन्तु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता हे वहॉ बड़े-बड़े वैज्ञानिक, इजीनियर अपना माथा लगा देते है अर्थात् दिन रात चिन्तन करते है कि यदि यहॉ वॉध, बाध दिया जाये तो पानी टिकेगा रुकेगा या नहीं। पानी के वेग को वह बाध झेल सकेगा या नहीं। बहुत विचार विमर्श होते हैं अनेक प्रकार की स्कीम वनती है उनके उपरान्त बाध का निर्माण होता है पानी को रोका जाता है।

इस तरह पानी का संनिरोध किये जाने से बड़ी जिम्मेदारी हो जाती है। पानी बहता रहता है तो वहॉं कोई-बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता कि 'डेन्जर' (खतरा), लेकिन जहॉं वॉध बध जाता है वहॉं अवश्य लिखा रहता है कि खतरा है सावधानी बरते। पानी ज्यादा हो जाये तो उसे निकाल देते है क्योकि बाढ़ आने पर उतनी जनहानि नहीं होती जितनी की बॉंध फूट जाये तब होती है।

इसी तरह मोक्षमार्ग मे भी है। अनादिकालीन रागद्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मो का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूप से आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बॉध के द्वारा बाध देते हैं तो वह कर्मो के आने का द्वार रुक जाता है सवर हो जाता है। इसमे बड़ी शक्ति लगती है ध्यान रखो यहॉं न मन काम करता है न वचन और न ही काय-बल काम करता है यहॉ तो उपयोग काम करता

है जो आत्मा का अनन्य गुण है। कहना चाहिये कि आत्म-शक्ति ही उस कर्म-प्रवाह को रोक सकती है।

कर्म-प्रवाह का एक बल अपने आप में है और अनादिकाल से उसी का बल ज्यादा हुआ है इसलिए कमजोर उपयोग वाला बाँध वहाँ उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी आदि का उपयोग करके जो बाँध, बांध दिया जाता है और जो एक ही बार तेज बारिस में बह जाता है। यह तो मात्र पानी की बाढ़ होती है कर्मों की बाढ भी ऐसी ही आती है।

आचार्य उमास्वामी ने कर्मों के आने के द्वार बताये हैं एक सौ आठ, और एक सौ आठ प्रकार से ही वह आस्रव होता है। मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, फिर समरम्भ समारम्भ और आरम्भ से। इसके उपरान्त क्रोध, मान, माया, लोभ इन सबको परस्पर गुणित किया जाए तो संख्या एक सौ आठ आती है। इसीलिए माला (जाप) में भी एक सौ आठ मणियाँ शायद रखी गयी हैं और तीन मणियाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की है। जो इस आस्रव के निरोध की प्रतीक है।

आत्म प्रदेशों पर आने वाले कर्म प्रवाह को रोकने का जो उपक्रम है वह आत्मा को अवनति से उन्नति की ओर ले जाता है। संसार मार्ग से मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है और यह पतित से पावन बनने का उपक्रम संवर तत्त्व द्वारा चलता है। इसी कारण निर्जरा तत्त्व से संवर तत्त्व अपने आप में महत्वपूर्ण है। निर्जरा, संवर के बाद ही ठीक है। यह क्रम अच्छा है क्योंकि संवर हुए बिना जो निर्जरा है उस निर्जरा से कोई काम नहीं निकलता। संवर का अर्थ है एक प्रकार से लड़ना। दुनिया के साथ आप लोग अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र का प्रयोग लड़ने के लिए करते हैं लेकिन जो कर्म आत्मा में निरन्तर आ रहे हैं उन्हें रोकने के लिए उनसे लड़ने के उपक्रम करना आवश्यक है। इसके लिए हमारे आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षशास्त्र ग्रंथ के नौवें अध्याय के प्रारम्भ में ही कह दिया है आस्रव निरोध संवर- निरोध करना रुध धातु से बना है जिसका अर्थ रुकना है। ऐसे कौन से परिणाम हैं जिनके माध्यम से कर्मों के आने के द्वार को बंद किया जा सकता है रोका जा सकता है। इसके लिए भी आचार्य महाराज ने आगे अलग सूत्र में बात कही है कि "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चरित्रैः।"

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है चलना चाहता है उसके लिए सर्वप्रथम संवर तत्त्व आपेक्षित है और संवर तत्त्व को निष्पन्न करने के लिए जो भी समर्थ हैं वे हैं— गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र। ये माला है। इन्हीं मणियों के माध्यम से संवर होगा। सर्वप्रथम आती है गुप्ति। संसार कारणात् आत्मनः गोपनं गुप्तिः। संसार के कारणों से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है उसका नाम है गुप्ति। गुप् गोपने

सरक्षणे वा। गुप धातु जो है वह सरक्षण के अर्थ मे आती है। गुप्ति एक ऐसा सबल है जो सरक्षण करता है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मो का आना रुक जाता है तभी आगे काम ठीक-ठीक बनता है। कर्मो का आना बना रहे और हम अपने गुणो का विकास करना चाहे तो यह सभव नहीं हे।

गुप्ति, सवर का सबसे उत्तम साधन है। गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है इसलिए उसके साथ समिति को रखा और समिति को समीचीन बनाना चाहो तो दश लक्षण धर्म के बिना नहीं बन सकती, तो उसके बाद धर्म को रखा और दशलक्षण धर्म को यदि हम सही-सही पालन करना चाहे, उत्तमता प्राप्त करना चाहे तो बारह भावनाओ का चिन्तन करेगे तभी उत्तमता आयेगी। बारह भावनाओ का चिन्तन कहॉ करें? एयरकडीशन मकान मे बेठकर, या जहॉ पखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हो, रेडियो भी चल रहा हो, वहॉ हो सकता है क्या? ऐसा नहीं है, बारह भावनाओ का चिन्तन करना चाहो तो उसके योग्य बाईस परिषह अपनाने होगे।

बिना बाईस परीषह सहे बारह भावनाओ का चिन्तन उसी प्रकार है जैसे कोई तकिया लगा कर के बैठा हे और ऊपर छत्र लटक रहा है और वह कह रहा है कि राजा राणा छत्रपति और छत्र हिल जाये तो चौककर देखने लगता है कि कौन चोर आ गया छत्र चुराने के लिए। यह ता एक प्रकार से बारह भावनाओ का अविनय हो गया। एक नाटक जैसा हो गया। एक पाठ हो गया। ऐसा तो तोता भी रट लेता है। बारह भावनाएँ जो सवर की कारण मानी गयी है उनको कैसे पढना चाहिये, कैसे चिन्तन करना चाहिए। तो यह बाईस परिषह सहन करते हुए करना चाहिये और बाईस परीषह बिना चारित्र के सहन करना सवर की कोटि मे नहीं आयेगा।

चारित्र के बिना आप बाईस क्या बाईस सौ परीषह भी सह लेगे लेकिन वे परीषह नहीं कहलायेंगे। चारित्र धारण करने के उपरान्त ही परीषह, परीषह कहलाते हैं। सही-सही रूप मे तो चारित्र के माध्यम से ही इन्हे प्राप्त किया जा सकता हे। कहा भी है 'एतेषाम् गुप्त्यादीना सवर क्रियाया साधकतमत्वात् करण निर्देश' — सवर के लिए इसके अलावा और कोई साधकतम कारण नहीं है ससार मे। कोई कह सकता है कि सभी का नाम तो आ गया यहॉ, परन्तु सम्यग्दर्शन का नाम ही नहीं आया। तो भइया गुप्ति समिति आदि जो सवर के लिए साधकतम है ये सभी सम्यग्दर्शन के उपरान्त ही सभव है।

कहीं-कहीं ऐसा भी सुनने मे आता है कि सयम तो आस्रव बध का कारण है, तो ऐसा नहीं है। एक गुप्ति को छोडकर सूत्र मे बताये गये सवर के सभी कारण प्रवृत्ति कारक है। दशलक्षण धर्म भी प्रवृत्ति रूप है उसे भी आस्रव की कोटि मे रख देगे तो जीवन सारा अधर्म मे निकल जायेगा। इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये

सभी संवर के ही कारण हैं। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिये कि महाव्रत से, चारित्र से एक मात्र वध ही होता है। आस्रव तो जब तक योग रहेगा तब तक चलता रहेगा।

तप है चारित्र है यद्यपि इनके साथ आस्रव भी होता रहता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं है वल्कि सवर के कारण है। एक कारण अनेक कार्य कर सकता है। 'तपसा निर्जरा च' – एक तप के माध्यम से मात्र निर्जरा नहीं होती सवर भी होता है। 'च' शब्द का अर्थ यहाँ सवर लिया है। उदाहरण भी दिया है कि 'यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदन भस्माङ्गरा' जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी अनेक प्रकार के कार्य करनेमें सक्षम है उसी प्रकार यह भी है वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देगी, ईधन को जला भी देगी और साथ ही साथ प्रकाश भी प्रदान करती है,यदि सर्दी लग रही हो तो उष्णता के द्वारा सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सेकना कहते हैं। इस प्रकार अनेक कार्य हो सकते हैं।

इसी प्रकार तप भी, सयम भी, चारित्र भी ऐसे ही हैं कि एक साथ सब कुछ कर सकते हैं। अभ्युदय का लाभ भी मिलता है और मोक्ष का लाभ अर्थात् सवर और निर्जरा का लाभ भी मिलता है अत जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं उन्हे उत्साह के साथ और रुचिपूर्वक इन्हें अपनाना चाहिये। आप लोगों के सामने हार लाकर रख दिया जाये और भले ही वह फूलों का हार क्यों न हो, आप झट से गले मे डालने को तैयार हो जाते है तो मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि उमास्वामी महाराज ने इस चारित्र रूपी हार को बनाकर रख रक्खा है। इस हार को पहनने के लिए कौन-कौन तैयार है।

मैं तो इस हार को पहने ही हूँ पर सोच रहा हूँ कि आपका भी जीवन सज जाये इस हार के माध्यम से। आप तो मात्र अभी शरीर के शृगार मे लगे हैं। संवर तत्त्व आत्मा का शृंगार करने के लिए हमे पाठ सिखाता है। शरीर का शृगार तो आस्रव और वध का उपक्रम है वधुओ। उसमे क्यों रच पच रहे हो। आप स्वय सोचो, विचार करो, जड तत्व के माध्यम से जड की शोभा मे जड बनकर लगे हुए हो। जड के अलग-अलग अर्थ है। जड तत्त्व के माध्यम से अर्थात् जितने भी ये आभरण-आभूषण वगैरह हैं। सभी जड हैं पुद्गल हैं। इनके माध्यम से जड की शोभा अर्थात् शरीर की शोभा कर रहे हैं और जड की शोभा मे लगने वाला जड़ है अर्थात् अज्ञानी है। इसी अज्ञान दशा मे तो अनन्तकाल खोया है।

आप कर्म के उदय की ओर मत देखो। कर्म का उदय है मैं क्या करूँ? कैसे सयम पालन करूँ? कैसे गुप्ति और समिति पालन करूँ? तो वधुओ। यह तो एकमात्र हमारे उपयोग की कमी है पुरुषार्थ की कमी है। सम्यग्दृष्टि की आत्मा अनन्त शक्तिमान है। भले ही शारीरिक शक्ति नहीं तो भी भावों के माध्यम से वहुत कुछ सभव है। कर्म के

उदय से ही सब कुछ हो रहा है ऐसा एकान्त नहीं है। इसमे हमारी कमजोरी भी है। हम अपने सवर रूपी पुरुषार्थ मे लग जाये तो कर्म उदय मे आकर भी यू ही चले जायेगे।

जिस समय आत्म द्रव्य (पुरुष) आत्म द्रव्य की ओर दृष्टिपात करता है उस समय उदयागत कर्म किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। मद कषाय के माध्यम से यही तो लाभ होता है कि जिस समय वह अपने मे लीन हो जाता है तो कषाय इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। अनुभाग बध और स्थिति बध इसी कषाय पर आधारित होते हैं।

एक मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपनी विशुद्धि के बल पर आस्रव कार्य को कमजोर कर सकता है। वह सत्तर कोड़ा-कोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को अन्त कोडा-कोडी सागर कर सकता है। चार लब्धियॉ जब प्राप्त होती है तो प्रायोग्य लब्धि के माध्यम से वह मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपने सत्तर कोड़ा-कोडी सागर स्थिति का जो दर्शनमोहनीय कर्म था उसे अपनी विशुद्धि के बल पर अपने पुरुषार्थ से अत कोड़ा-कोडी सागर कर देता है। यदि एक अभव्य जिनवाणी के श्रवण से और अपनी आत्म विशुद्धि के माध्यम से कषाय को इतना कमजोर बनाकर यह कार्य कर सकता है तो मैं सोचता हूँ कि जो भव्य हैं और निकट भव्य हैं आप जैसे आसन्न भव्य है वे तो ऐसे सहज ही फूक करके उडा सकते है उन कर्मो को। लेकिन कमजोरी कहॉ पर हो रही है यह समझ मे नहीं आ रहा है।

एक बार दृष्टिपात करो, अपनी आत्मा की ओर, उस अनन्त शक्ति की ओर। और अन्तर्मुहूर्त के अदर सारे के सारे कर्म अत कोडा-कोडी सागर स्थिति वाले हो जायेगे। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबधी यू ही चले जायेंगे। कहना चाहिये कि उस आत्मपुरुषार्थ के बल पर जो अनन्तकालीन समुद्र है पाप का, वह एक सेकिड के अदर आप भी सुखा सकते है ओर शेष रह सकता है एक चुल्लू भर पानी। इतना पुरुषार्थ एकमात्र सम्यग्दर्शन के माध्यम से हो जाता है।

कहॉ अटके हो? कहॉ फसे हो? कुछ समझ मे नहीं आ रहा है। आत्मिक बल के साथ कूद पडना चाहिये कर्मो का नाश करने के लिए। जब एक बार जगल गये हम, तो गाय और गाय के बछडे वहॉ चर रहे है यह तो देखा साथ मे यह भी देखा कि गाय तो कूदती नहीं है लेकिन वछडे का हिसाव किताब कुछ अलग ही है। इतनी तेजी से दौडता है वह बछड़ा और करीव दस बार दौड-दौडकर पुन वापिस आ जाता है उस मॉ के पास। फिर बाद मे ऐसा चुपचाप बैठ जाता है जैसे पसीना आ गया हो, फिर थोडी देर मे और शक्ति आ जाती है तो पुन कूदने लग जाता है। इसी प्रकार आत्मा की वात सुनते ही ऐसी चेतना दौडनी चाहिये कि वस! रुके नहीं! यह एकमात्र आत्म

शक्ति की स्मृति या चिन्तन का फल है। कर्मों के उदय के ऊपर ही आधारित होकर नहीं बैठना चाहिये।

सवर और निर्जरा ये दोनो तत्त्व आत्मपुरुषार्थ के लिए है। जो भी कर्म उदय मे आ रहे है उनका प्रभाव उपयोग के ऊपर नहीं पडे इस प्रकार का आत्म पुरुषार्थ करना ही तो सवर है। अगर इन्हीं का अभाव हो गया तो फिर आप क्या करेगे? एक बार की बात है कि एक राजा ने सेनापति को कहा कि चले जाओ। कूद पडो रणागण मे और जो शत्रु आया है भगाओ उसको। और विजयी बनकर आओ। वह सेनापति कहता है कि एक घटे बाद जाऊगा। तब राजा ने कहा कि अरे! एक घटे के बाद तो वह स्वय ही चला जायेगा, पर तब जीत उसकी होगी। तेरा काम तो इसलिए है कि जब रणागण मे प्रतिपक्षी आकर कूद जाये उस समय अपनी शक्ति दिखाना चाहिये।

इसी तरह जब मोहनीय कर्म उदय मे आये तभी तो आत्म पुरुषार्थ आवश्यक है। सवर का अर्थ यही है कि दूसरे को भगाकर वहाँ अपना विजयी झडा लगा देना उन कर्मो पर विजय प्राप्त कर लेना। एक विशेष बात और कहता हूँ कि आज के जो कोई भी त्यागी है, तपस्वी है, मोक्षमार्गी है और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हे कर्मो के अलावा लडना पड़ता है वर्तमान पचमकाल से। इसे कलिकाल भी कहा जाता है। कलि का अर्थ सस्कृत मे झगडा है। काल के साथ भी जूझना पड़ता है। ध्यान रखना जिस प्रकार दीपक, रातभर अधकर से जूझता रहता है इसी प्रकार पचमकाल के अतिम समय तक सम्यग्दृष्टि से लेकर भावलिगी सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज भी सवर तत्त्व के माध्यम से लडते रहेगे। श्रावक श्राविका मुनि आर्यिका यह चतुर्विध सघ पचमकाल के अत तक रहेगा।

वर्तमान मे कम से कम तीन चार सौ मुनि आर्यिका आदि तो होना ही चाहिये। जो सवर तत्त्व को अपनाये हुए है। जो आत्मा के परिणाम हैं, आत्मा की परिधियाँ हैं और कर्मो को रोकने वाली एक चैतन्य धारा है उसको कहते हैं सवर। वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र द्वारा उद्‌भूत होती है आत्मा मे। उसको प्राप्त कैसे करे यह विचार करना चाहिये और जल्दी-जल्दी इस पथ पर आना चाहिये ताकि श्रमण परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे।

विचार करे कि आत्मा के पास जब बधने की शक्ति है तो उस बध को मिटाने, तोडने की भी शक्ति है। किसी व्यक्ति को आपने निमत्रण दिया है तो उसे बाहर भी निकला जा सकता है। मैंने निमत्रण दे ही दिया है और अब आ ही गया है तो वापिस जाओ, ऐसा कैसे कहूँ यदि ऐसा सोचेंगे तो छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

एक व्यक्ति बहुत ही सदाचारी था, दयालु था। उसे देखकर एक दूसरा व्यक्ति उसके यहाँ चला जाता है और कहता है कि बहुत परेशान हूँ बहुत प्यास लगी है और

भूखा भी हूँ। थोडी प्यास बुझ जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसे घर ले आता है और कहता है ठडा पानी पी लो भइया, चिता क्यो करते हो और वह व्यक्ति पानी पी लेता है और कहता है कि थोडी भूख शान्त हो जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसके सामने थोडे काजू, किशमिश रख देता है और कहता है रसोई अभी तैयार हो रही है तब तक यह खाओ बाद मे भोजन कर लेना और वह व्यक्ति खा लेता है इसके उपरान्त पलग बिछी है तो लेट जाता है और नींद लग जाती है। सुबह हो जाती है और वह व्यक्ति जाने का नाम नहीं लेता। तव दयालु व्यक्ति इशारा कर देता है कि भइया जी, मैं अब अपने काम से बाहर जा रहा हूँ आप भी . । इतने पर भी जब वह नहीं जाता तो बाद मे स्पष्ट कह देता है कि आप जाते है या नहीं। इतना सुनते ही वह चला जाता है।

आशय यही है कि कर्मो को आपने बुलाया है यह गलती हो गयी है आपसे, लेकिन अब जब इतना ज्ञान हो गया है कि जिसको वुलाकर हमने गलती खाई है उसको निकाल भी सकते है तो निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिये। आने वाले कर्मो को रोकने की शक्ति है सवर मे। सयम तप त्याग आदि अपनाते ही यह सवर की शक्ति जागृत हो जाती है और आने वाले कर्म रुक जाते है। मात्र कर्म का उदय मानकर हाथ पर हाथ रखे मत बैठो। कर्म का उदय, बध के लिए कारण नहीं है, कर्म का उदय आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कर्म के उदय के साथ हमारा सो जाना ही आस्रव और बध के लिए कारण है।

'मैने किया विगत मे कुछ पुण्य-पाप। जो आ रहा उदय मे स्वयमेव आप। होगा न बध, तवलौ, जवलौ न राग। चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग।'

उदय को देखते बैठे रह जायेगे तो निस्तार नहीं होने वाला। गलती तो यह कर ली है कि विगत जीवन मे हमने रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर कर्मो का आस्रव किया है कर्मो को बाधा भी है उनका उदय तो आयेगा ही इसमें कोई सदेह नहीं है। वह उदय मे आयेगा और द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव को लेकर फल भी देगा। परन्तु ध्यान रखो कि आगे के लिए भी वह अपनी सतति (नये कर्म) छोडकर चला जाए यह नियम नहीं है। (1) नये कर्मो के लिए चाहिये रागद्वेष और योग की प्रणाली। मान लो आस्रव होगा क्योकि योग है तो भी कोई बात नहीं यदि कषाय नहीं है तो वह कर्म चिपकेंगे नहीं, यू ही चले जायेगे। जैसे वर्षा हो रही है और आप अपने मकान को सुरक्षित रखना चाहते हो तो कहीं कोई ट्रेजरी मे लॉकर मे ले जाकर तो उसको रखोगे नहीं, वर्षा मे भी वह रहेगा, उसकी सुरक्षा तो यही है कि वर्षा का पानी उसमे टिके नहीं।

वर्षा होती रहे परन्तु एक वूद पडी निकल गयी तब मकान को कुछ नहीं होगा।

इसी प्रकार योग की प्रणाली के माध्यम से कर्म आ रहे हो तो कोई वात नहीं, हम जितना जितना कपाय को कमजोर वनाते जायेंगे क्षीण करते जायेंगे उतना उतना संसार कम होता चला जायेगा। कर्मो की स्थिति और अनुभाग घटता जायेगा।

यू आया और यू ही चला गया जैसे वर्षा प्रवाह वस। वहता चला गया। अत जो कर्म वाधे हैं वह उदय मे आयेगे लेकिन नवीन कर्म जो बधेगे वे कर्मायत्त नहीं है वे आत्मायत्त है अर्थात् आत्मा के ऊपर निर्धारित है। यदि आत्मा जाग्रत है तो किसी भी प्रकार के कर्मोदय से अपने को धक्का नहीं लगेगा।

यहाँ साम्परायिक आस्रव और वध को रोकने की वात है इसलिए पाप का बध तव तक नहीं होगा जव तक राग नहीं होगा द्वेप नहीं होगा और रागद्वेप हमारे उपयोग की कमजोरी है। हमारा उपयोग जितना चचल होता चला जाता है उतना ही ज्ञेयभूत पदार्थो को भी हम हेय या उपादेय के रूप मे इष्ट अनिष्ट मानकर रागद्वेष करते चले जाते है। इसलिए यदि हम आत्मपुरुपार्थ के माध्यम से सयम के साथ, सवर के साथ उस उपयोग को जोड दे तो वह वध के लिए कारण नहीं बनेगा। आचार्यो ने इसीलिए कहा है कि सयम के माध्यम से सवर होता है मात्र आस्रव नहीं। आस्रव यदि होता भी है तो शुभास्रव होता है जो अशुभास्रव के समान वाधक नहीं है। अशुभ को मिटा देने पर आपको अपने आप मालूम पड़ जायेगा कि शुभ एक औषधि का काम कर रहा है जो स्वास्थ्यवर्धक है।

यदि महाव्रत रूप चारित्र को आस्रव का कारण मान लेंगे तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव मानना पड़ेगा, वहाँ महाव्रत का त्याग तो किया नहीं है अयोग केवली होकर वे ध्यान मे बैठे हैं और ध्यान महाव्रत के विना नहीं होता। इसका अर्थ है कि आस्रव, महाव्रत के माध्यम से नहीं होता, आस्रव का प्रमुख कारण योग है और कषाय भाव है। महाव्रत तो सवर का कारण है संवर को करने वाला यदि कोई साधकतम कारण है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र– यह वात पूज्यपाद स्वामी ने स्वय लिखकर समाधान दे दिया है।

सवर के सभी साधकतम कारण विना महाव्रत के नहीं होते। वारह भावनाओ का चिन्तन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त ही कार्यकारी होता है क्योकि वास्तविक वारह भावनाओ के चितन से संवर और निर्जरा-दोनों होती हैं, और आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी वढ़ेगी उतना-उतना सवर तत्त्व भी वढ़ता-वढता चला जायेगा और उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मो की सारी की सारी निर्जरा करके मुक्ति भी पा सकता है।

कर्मोदय से भयभीत न हो वल्कि हम थोड़ा मन को, अपने उपयोग को, कर्म से,

कर्म के फल से सारे आसपास के वातावरण से मोड ले और आज तक जिसको नहीं देखा, जिसको नहीं जाना उस ओर अपने उपयोग को लगा ले तो कर्मोदय का कुछ भी प्रभाव नहीं पडेगा। जब हम बाहर झाकते है उसी समय बाहर की बाधाएँ सताती हैं, और यह झाकना भी स्वाश्रित है, जब झाकने की इच्छा होती है तब झाकते हैं कर्म के उदय मे नहीं झाकते। यदि कर्म के उदय मे झाकते है तो फिर झाकते ही रहे।

जब फाल्गुन मास आता है उस समय रग खेलने का समय आता है होली। होली का अर्थ यही है कि उस समय सारे लोग इकट्ठे होकर रग खेला करते है और आनद का लाभ लेते है। कोई-कोई लोग रग से बचने के लिए बाहर नहीं निकलते पर मन मे यह विकल्प जरूर पैदा हो जाता है कि बाहर क्या हो रहा है यह तो देख लू और जैसे ही बाहर झरोके से झाकते है उसी समय रग लग जाता है। इसमे कर्म का उदय नहीं है यह तो मनचलापन है कि बाहर क्या हो रहा है देख तो लूँ। थोडे से बाहर गये और सारे के सारे भीग करके आ जाते है रग मे।

इसी प्रकार उदय जो है बाहर है और सवर तत्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा अदर ही अदर चली जाती है वहाँ तक उस रग का प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर आये कि प्रभाव पडा। तो सवर एक कला है। यह आत्मा आस्रव और बध के उपरान्त जब वह कर्म उदय मे आता है तो उदय को सहन नहीं पाता और उदय से डरकर सवर तत्त्व को भूल जाता है जिसके फलस्वरूप नया बध होने लगता है। नये बध को रोकने का उपाय यही है कि उदय के प्रभाव से बचा जाये।

सपेरे होते हैं न, सपेरे साप को पकडने वाले। वे साप को क्या ऐसे ही पकड लेते है जाकर फूलमाला जैसे। नहीं, यू ही नहीं पकड़ते। पकडने से पहले साप को बुलाते है जहाँ कहीं भी वह होता है वहाँ से उनकी ओर आ जाता है तब वे बीन बजाते हैं। बीन की आवाज सुनकर वह साप उनके सामने आकर बैठ जाता है। जो बासुरी बजाता है उसको नहीं काटता। उस बीन के साथ-साथ स्वर-से-स्वर समाहित करके वह झूमने लगता है और काटना भूल जाता है। इतनी लीनता आ जाती है सगीत से कि अपने काटने के स्वभाव को भूल जाता है और उसी समय सपेरा उसको पकड लेता है और विषदश निकाल देता है।

मैं सोचता हूँ ऐसे ही जब कर्म का उदय आये तो वीतराग रूपी बीन बजाना प्रारभ कर दे। उदय तब कुछ नहीं कर पायेगा, वह आकर भी अपना प्रभाव नहीं डाल पायेगा। वीतरागता मे इतनी शक्ति है। राग द्वेष के माध्यम से आत्मा दुखी हो जाता है और वीतरागता के माध्यम से सुखी हो सकता है। अब आप स्वय ही सोचे कि आपको सुख चाहिये या दुख, आप झट कह देगे कि वाटना चाहो तो सुख ही चाहिये मुझे। भइया

सुख को बाटा नहीं जा सकता प्राप्त करने की प्यास जगायी जा सकती है।

जैसे आप लोग जब कोई चीज बना लेते है खाने की खीर, हलुआ आदि तो बाटते नहीं है बल्कि जल्दी-जल्दी खाना चाहते है अगर कोई आकर कह देता है कि यह क्या, हमे भी थोडा सा दो। तब आप कह देते है कि वाह भइया पसीना-पसीना हो रहा हूँ सुबह से तब बना है तुम बिना परिश्रम के पाना चाहते हो। थोडा परिश्रम करो तब मिलेगा। यह खाने की चीज की बात हुई जो कथचित् बाटी भी जा सकती है लेकिन सवर तत्त्व जिसे प्राप्त होता है स्वय के परिश्रम से होता है और उसे बाटा नहीं जा सकता। हॉ इतना अवश्य है कि यदि मुझे सवर तत्त्व का आनद लेते देखकर आपको रस आ जाये तो आप पूछ सकते है कि इसको कैसे पाया, तो प्राप्त करने का उपाय बता सकता हूँ लेकिन दूँगा नहीं क्योकि दिया नहीं जा सकता।

सवर तत्त्व की मिठास को आज तक आपने नहीं पाया। सोचता हूँ कि इतनी मिठास को छोड़कर आप कहॉ नीम जैसे कडुवे भौतिक पदार्थो मे रस ले रहे है। ससारी प्राणी की दशा ऊट के समान हे। ऊट उस दिन बहुत आनद मनाता है जब कोई नीम का वृक्ष मिल जाता है। पचेन्द्रिय के विषयो मे रस लेना, रस मानना यही एकमात्र ससार का कारण है। आत्मा के रस को पहचानना चाहिये और उसे प्राप्त करने के लिए सवर तत्त्व को अपनाना चाहिये।

जब कोई आशीर्वाद दे देता है तो शक्ति आ जाती है इसी प्रकार सवर भी एक प्रकार के आशीर्वाद का प्रतीक है। जिसके माध्यम से शक्ति आ जाती है और सारे बाधक तत्त्व रुक जाते है। एक अमोघ शस्त्र है आस्रव और बध को रोकने के लिए यह सवर तत्त्व। हम इस सवरतत्त्व रूपी कवच को पहनकर मोक्षमार्गी बन सकते है और मोक्ष प्राप्त कर सकते है। यह सवर अनन्य कारण है मोक्ष का और इस सवर के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह जय और चारित्र आवश्यक है। यह सभी सवर के लिए साधकतम कारण हैं। इन सभी की प्राप्ति त्याग के द्वारा ही होगी। बिना त्याग के यह चारित्र रूपी हार को पहनना सम्भव नहीं है। इस चारित्र रूपी हार को पहनकर ही मनुष्य अलकृत हो सकता है। सफलीभूत हो सकता है। इसके बिना जीवन पतित रहेगा, कलकित रहेगा। हमें अपने जीवन को कलकित नहीं करना बल्कि इन चारित्र रूपी आभूषणों से अलकृत करना है। यही हमारा कर्त्तव्य है। इसी मे जीवन की सार्थकता है।

□□

☐ निर्जरा

अभी तक जो कर्मो का आगमन हो रहा था उसका सवर करने के उपरान्त एक रास्ता प्रशस्त हो गया, अव अपना कार्य एक ही रहा कि अपने निज घर मे आत्मा मे, हमारी अज्ञान दशा के कारण हमारी असावधानी के कारण जो कर्मो का आगमन हो चुका है उनको एक-एक करके बाहर निकालना है। 'एक देश कर्म सक्षय लक्षणा निर्जरा' – कर्मो का एकदेश अलग होना निर्जरा है।

दस दिन से भी यदि किसी व्यक्ति को निद्रा पाने का अवकाश न मिला हो और वह नींद लेना चाहता हो और आपके घर आकर कहे कि मुझे कोई एक कोना दे दीजिये ताकि मैं पर्याप्त नींद ले सकू, और आप भी उसे कहे कि कोई बात नहीं, आइये, यहाँ पलग भी है यह गद्दा भी है तकिया भी है सब कुछ है और जब वह सोने लगे तो उस समय आप यह कह दे कि हम पाच छह दिन से इस कमरे मे नहीं गये है और तो कुछ नहीं है एक सर्प बड़ा सा अदर गया है इसलिए हम लोगो ने उसी दिन से इस कमरे मे सोना ही छोड़ दिया।

अव बताइये दस दिन से परेशान वह व्यक्ति क्या वहाँ नींद लेगा। नींद लेने की इच्छा होते हुए भी वह कहता है कि मै कैसे नींद लूँ यहाँ नींद लग ही नहीं सकती जब मालूम पड गया कि यहाँ सर्प है तो अब उसे यहाँ से निकाले बिना नहीं सोऊँगा। और वह व्यक्ति सभी प्रयास करके सर्प को निकालकर ही बाद मे शयन करता है।

यह तो सामान्य सी घटना हुई। मै यह सोचता हूँ कि आप लोग कैसे नींद ले रहे हैं। एक नहीं, दो नहीं पूरी आठ कर्मो के रूप मे एक समय में अनन्तानन्त पुद्गल कार्मण वर्गणाओ के समूह कर्म के रूप मे परिणत होकर सर्प की भाति आत्मा के प्रदेशो पर अपनी सत्ता जमाये हुए है और आप निश्चिन्त होकर सो रहे हैं। इतना ही नहीं उसके साथ-साथ और शुत्रओ को निमत्रण देने वाले आत्मगत वैभाविक परिणति रूप शत्रु जो अनादि काल से रह रहे है उनके लिए भी आपके द्वारा आश्रय स्थान मिल रहा है। आपकी निद्रा बडी विचित्र है।

यदि उस व्यक्ति को नहीं बताया जाता कि यहाँ सर्प है और वह निर्विघ्न रूप से

वहाँ सो जाता और निद्रा लग जाती तो भी कोई वात नहीं उसे ज्ञात नहीं था ऐसा कह सकते है। जो ससारी जीव अज्ञानी है उन्हे मालूम नहीं है कि आत्मा के शत्रु कौन है मित्र कौन है और वे शत्रु के सामने भी सो रहे हैं तो कोई वात नहीं है लेकिन आप लोगो को तो यह विदित हो गया है कि आठ कर्म और उन कर्मो मे भी जो रागद्वेष है वे अपने शत्रु है फिर भी उन आत्मा का अहित करने वाले शत्रुओं को अपनी गोद मे सुलाकर आप सो रहे हैं तो आपका ज्ञान कुछ समझ मे नहीं आ रहा है।

'जान बूझकर अध वने है आंखन वाँधी पाटी' – यही वात है। यदि अधा गिरता है कुए मे तो कोई बात नहीं किन्तु जानते हुए भी जो जानबूझकर अधा वन रहा है वास्तव मे अधा तो वही है। जो अधा है वह तो मात्र वाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधा है किन्तु जो व्यक्ति रागद्वेप रूपी मदिरा पीते हुए जा रहे हैं उनके पास आँखे होकर भी अध वने हैं। ऑखे होते हुए भी जिस समय ऑखो पर पट्टी वाध लेते है तो प्रायः करके वच्चे ही यह खेल खेलते है। उसको क्या कहते है आंखमिचौनी। हॉ वही है यह खेल। मै सोचता हूँ यहॉ सारे के सारे यही खेल रहे है ऑखमिचौनी। यहॉ कोई ऑख वाला दीखता ही नहीं।

अंधकार मे एक व्यक्ति इधर से आ रहा था अंधा था, और इधर से जा रहा था एक ऑख वाला। दोनो आपस में टकरा गये। आँख वाले के मुख से सर्वप्रथम आवाज आयी कि क्या अंधे हो तुम। जहॉ कहीं इस तरह की घटना होती है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी गलती नहीं स्वीकारता। जो अधा व्यक्ति था उसने कहा कि हाँ भइया आप ठीक कह रहे हैं मैं अधा हूँ मेरे नेत्र ज्योति नहीं है। गलती तो हो गयी माफ कर देना। दूसरे दिन वह व्यक्ति उस अंधे से फिर मिल गया लेकिन आज उसने देखा कि अंधे के हाथ मे लालटेन थी। उसने पूछ लिया कि अरे ! तुमने तो कल कहा था कि तुम्हारे आख नहीं है तुम अधे हो फिर हाथ मे यह लालटेन क्यो ले रखी है। लगता है दिमाग ठीक नहीं है। वह अंधा मुस्कराया और उसने कहा कि यह लालटेन इसलिए रखे हूँ कि चूंकि मेरे पास ऑख तो नहीं है और मुझे आवश्यकता भी नहीं है लेकिन आप जैसे आँख वाले लोग टकरा न जाये, उनको देखने में आ जाए कि मैं अंधा हूँ। पर इसके उपरान्त भी यदि आप टकराते हैं तो क्या कहा जाये। ऐसा ज्ञान तो मात्र भार रूप है।

जहाँ कोरा ज्ञान होता है उस ज्ञान के माध्यम से जो कार्य करना चाहिये वह यदि नहीं होता तो ऐसे मे 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जिन जीवों को ज्ञात नहीं है आत्मा का अहित किस में है उनकी तो कोई वात नहीं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को तो मालूम नहीं है कि हित अहित क्या है इसलिए वे भटक रहे हैं ठीक है किन्तु जिन्हे मालूम पड़ गया है यह

विदित हो गया है कि आत्मा का अहित किस मे है उनकी बात ही निराली है।

'क्रोध मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिणाम। ये ही तेरे शत्रु है समझो आतमराम।।' हमारा अहित करने वाले हमारे शत्रु अदर छिपे है उन्हे हम निकाल दे। पडौसी की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। बाहर कोई शत्रु है ही नहीं बाह्य शत्रु और मित्र– ये मात्र नेमित्तिक है। इनमे हमे हर्ष विषाद देने की सामर्थ्य नहीं है देखो दीवार पर अगर एक गेद आपने फेक दी तो दीवार ने प्रत्युत्तर मे आपको वह गेंद वापिस लौटा दी वास्तव मे दीवार ने नहीं फेकी किन्तु दीवार के निमित्त से गेंद का परिणमन ऐसा होता हे कि जितनी तेजी से आप फेकोगे उतनी ही तेजी से वह टकराकर वापिस आयेगी।

जो आपने फेका उसी का प्रतिफलन है यह। न तो दीवार के पास ऐसी कोई शक्ति हे न ही गेद के पास है। अपने आप वह गेद जाकर नहीं टकराती गेद मे उस प्रकार की प्रक्रिया हम पैदा कर देते है। ठीक उसी प्रकार ये रागद्वेष हमारी ही प्रतिक्रियाए हे इनको हम ही करते है और हम ही बार-बार परेशान होते चले जाते है। शत्रु और मित्र हमारे अदर है। किनको हटाना है और किनका पोषण करना है यह समझ मे आ जाये। यही ज्ञान का फल है।

'ज्ञानस्य फल उपेक्षा अज्ञान ह्ननिर्वा' उपेक्षा का अर्थ है चारित्र अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति और अज्ञान की हानि का अर्थ है जो आज तक अज्ञान हमने पाला है वह सारा नष्ट हो जाये यही क्रम अच्छा है। चारित्र पहले होता है स्वाभाविक ज्ञान केवलज्ञान उसके बाद होता है। केवलज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के लिए चारित्र नितान्त आवश्यक है। ऐसा कोई रास्ता नहीं है ऐसी कोई पगडडी नहीं है जिस पर चलकर बिना चारित्र के हम केवलज्ञान-सूर्य को प्राप्त कर ले। इसलिए जो कोई भी शास्त्र स्वाध्याय का परिणाम निकलेगा उसमे प्रथम परिणाम तो यही है कि तत्काल उस व्यक्ति को चारित्र की ओर मुडना होगा। अपेक्षा अर्थात् रागद्वेष और रागद्वेष का एक विलोम भाव है उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का अभाव और वास्तविक निर्जरा इसी को कहते है।

आप लोग निर्जरा कर नहीं रहे है आप लोगो की निर्जरा हो रही है। यहॉ मै करने की बात कह रहा हूँ। होने की बात तो ऐसी है कि वैसे ही समय आने पर कर्मो की निर्जरा होती है लेकिन आस्रव की धारा भी बहती रहती है इसलिए ऐसी निर्जरा से कभी भी कर्म-शत्रुओ का अभाव नहीं हो सकता। समय पर होने वाली सविपाक निर्जरा जो ससारी प्राणियो के प्रत्येक समय हो रही है वह अरहट चक्र की भाँति हो रही है। अरहट चक्र, घटी यत्र को बोलते हैं जिसे आप लोग रहट भी बोलते है। इसमे कई कलश या मटकियॉ बधी होती है और मटकियॉ एक के ऊपर एक इस तरह बधी होती हैं कि आधी मटकियॉ खाली होती जाती है और आधी मटकियॉ भरी हुई ऊपर उठती जाती

हैं। यह क्रम चलता रहता है।

एक माला मटकियों की रहती है और मालूम नहीं पड़ता कि कब खाली होती है और कब ये भरती हैं। भरती भी हैं और खाली भी होती हैं तथापि पानी आना रुकता नहीं है। सविपाक निर्जरा आपके द्वारा इसी तरह हो रही है। उदयागत कर्म निर्जीर्ण हो रहे हैं पर सत्ता में नये कर्म भी आते जा रहे हैं। बैलेन्स ज्यों का त्यों बना है। यह निर्जरा कार्यकारिणी नहीं है। एक निर्जरा ऐसी भी है जो आत्म-पुरुषार्थ से होती है वह निर्जरा 'तपसा निर्जरा च' वाली निर्जरा है।

अपने आप कर्म निर्जरा होने से मुक्ति नहीं मिलती। जब कभी भी विगत में जिन्होंने मुक्ति पायी है या आगे मुक्ति पायेंगे या अभी जो मुक्ति पाने वाली आत्माएँ हैं सभी ने अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर मुक्ति पायी है पायेंगे और पा रहे हैं, विदेह क्षेत्र से। जब पुरुषार्थ के बल पर बंध किया है तो मुक्ति भी पुरुषार्थ से ही होगी। यदि अपने आप बंध हो गया हो तो अपने आप मुक्ति भी मिल सकती है और यह भी ध्यान रखो यदि अपने आप बंध हो रहा है तो मुक्ति संभव ही नहीं है क्योंकि बंध होता ही चला जायेगा निरन्तर।

इसलिए अपने आप यह कार्य नहीं होता आत्मा इसका कर्त्ता है और वही भोक्ता भी है। इसलिए आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने आप का विधाता है ब्रह्मा है, विश्व का विधाता नहीं, वह अपने कर्मों का है। कर्म को संस्कृत में विधि भी कहते हैं। विधि कोई लिखता थोड़े ही है हम जो कर्म करते हैं वे ही विधि के रूप में हमारे साथ चिपक जाते हैं और इस विधि का विधाता आत्मा है हम स्वयं हैं। आत्मा ब्रह्मा भी है, वह संरक्षक है इसलिए विष्णु भी है और आत्मा चाहे तो उन कर्मों का संहार भी कर सकता है इसलिए महेश भी है। एक ही आत्मा ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों रूप है।

आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा की जाने वाली निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है। इसे पाये बिना मोक्ष संभव नहीं है। आप तो कृपण बने हुए हैं कि कमाते तो जा रहे हैं रखते भी जा रहे हैं पर इसे खर्च नहीं करना चाहते छोड़ना नहीं चाहते, और कदाचित् छोड़ते भी हैं तो पहले नया ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे काम नहीं चलेगा तप करना होगा। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बतलाया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारम्भ होती है। उन्होंने लिखा कि जो भगवान का सच्चा उपासक होता है उसी से वह प्रारंभ होती है। अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी यह निर्जरा होती है।

अविपाक निर्जरा बाद में तप के माध्यम से संयम के माध्यम से हुआ करती है। अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अनन्तानुबंधी जन्य असंयम को समाप्त कर देता है तो उसका मार्ग भी प्रशस्त होने लग जाता है। साथ ही दर्शन मोहनीय जो कि भुलावे में

डालने वाला है उसे मिटाने के उपरान्त एक शक्ति आ जाती है। चारित्र मोहनीय को भी धक्का लग जाता है। चारित्र मोहनीय की शक्ति कम पडने लगती है इसलिए निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारभ हो जाता है। चूकि यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बध को रोक नहीं सकता इसलिए उसे मुख्य रूप से निर्जरा मे नही गिनते किन्तु गिनती मे प्रथम तो वह आ जाता है।

यहाँ बात चल रही है उस निर्जरा की जो मुख्य है। जो तप के माध्यम से हुआ करती है। निर्जरा का अर्थ है अदर के सारे के सारे विकारो को निकाल कर बाहर फेक देना। जब तक अदर के विकारो को निकाल कर हम बाहर नहीं फेकेगे तब तक अदर के आनद का जो स्रोत है वह स्रोत नहीं फूटेगा और जब तक वह आनद नहीं आयेगा तब तक हमारा सवेदन दु सवेदन ही रहेगा, दुख का सवेदन रहेगा।

निर्जरा करने वाला व्यक्ति वहुत होशियार होना चाहिये। पहले दरवाजा बद कर ले अर्थात् कर्मो के आगमन का द्वार वद कर ले फिर अदर-अदर टटोले और एक-एक करके सारे कर्मो को निकाल दे। अदर से कर्मो को निकालने के लिए जरा सी ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है क्योकि जहाँ घना अधकार छाया हुआ होता है वहाँ थोडा सा भी प्रकाश पर्याप्त हो जाता है। ऑख मीचकर बाहर के सारे पदार्थों को सवर के माध्यम से हटा दिया जाए फिर अदर ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित कर दे तो उपादेय कौन और हेय कौन है सब मालूम पड जाता है तभी निर्जरा सभव होती है। जब तक हमारी दृष्टि बाहर लगी रहेगी तब तक निर्जरा की ओर नहीं जायेगी। इसीलिए आचार्यो ने पहले सवर को महत्व दिया कि विकार आने का द्वार ही बद कर दो। आने वाले सभी मार्गो का सवर।

अजमेर की बात है। एक विद्वान जो दार्शनिक था वह आया और कहा कि महाराज, आपकी चर्या सारी की सारी बहुत अच्छी लगी, श्लाघनीय है। आपकी साधना भी बहुत अच्छी है लेकिन एक बात है कि समाज के बीच आप रहते हैं और बुरा नहीं मानें तो कह दूँ। हमने कहा भैया, बुरा क्या मानूगा, जब आप कहने के लिए आये है तो बुरा मानने की बात ही नहीं है, मैं बहुत अच्छा मानूगा और यदि मेरी कमी है तो मजूर भी करूँगा। उन्होने पुन कहा कि बुरा नहीं माने तो मै यह कहना चाहता हूँ कि आपको कम से कम लगोटी तो रखना चाहिये। समाज के बीच आप रहते है उठते-बैठते आहार-विहार-निहार सब करते है और आप तो निर्विकार हैं। लेकिन हम लोग रागी है इसलिए लगोटी रख ले तो बहुत अच्छा।

यह चर्चा उस समय की है जब भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया जाने वाला था। कई चित्रो के साथ भगवान महावीर स्वामी का एक चित्र भी रखा था। उस

किताव को जब मैने देखा तो पाया कि हमारे भगवान महावीर तो इसमे नहीं है। लोगो ने कहा कि इसमे है देखिये अतिम नम्वर उन्हीं का है। मैने कहा कि ये तो आप लोगो जैसे दीख रहे है। लोग कहने लगे नहीं ये तो बिल्कुल दिगम्बर हैं मैंने कहा मुख तो सभी का दिगम्बर है पर इतने से कोई दिगम्बर नहीं होता। आपने वस्त्र भले ही नहीं रखे पर वस्त्र/आवरण भी कई प्रकार के है भगवान के सामने चित्र मे यह जो लकडी लाई गयी है वृक्ष दिखाया गया है वह भी वस्त्र का काम कर रही है। इसे हटायेगे तभी हमारे महावीर भगवान से साक्षात्कार होगा।

उस समय यह वात चली थी कि एक लगोटी तो आप पहन ही लो। हमने कहा भइया ऐसा है कि महावीर भगवान का वाना हमने धारण कर रक्खा है और इसके माध्यम से महावीर भगवान कम से कम ढाई हजार वर्ष पहले कैसे थे, यह भी ज्ञात होना चाहिये। तो वे कहने लगे महाराज आप तो निर्विकार हैं और सभी की दृष्टि से कहा है। मैने कहा अच्छा। आप दूसरो की रक्षा के लिए काम कर रहे है तो ऐसा करे कि लगोटी मे तो ज्यादा कपड़ा लगेगा, और महावीर भगवान् का यह सिद्धान्त है कि जितना कम परिग्रह हो उतना अच्छा है। आप एक छोटी सी पट्टी रख लो और जिस समय कोई दिगम्बर साधु सामने आ जाये तो धीरे से आँख पर ढक ले। जो विकारी वनता है उसे स्वय अपनी आँख पर पट्टी लगा लेनी चाहिये।

महावीर भगवान निर्जरा तत्त्व को अपनाने वाले थे। सवर को अपनाने वाले थे। उन्होने कहा कि जिस मार्ग से कर्म आ रहे है उसे ही बद कर दिया जाए, बाहरी द्रव्य अपने आप ही वद हो जायेगे। अगर अपना दरवाजा बद कर लो तो सवका आना रुक जाता है। आत्मा के छह दरवाजे है पाँच इन्द्रिय सबधी झरोखे हैं और छठा दरवाजा है मन। आत्मा का उपयोग इन छहो के माध्यम से बाहरी हेय तत्त्व को उपादेय की दृष्टि से अपनाता है। वाह्य तत्व आते नहीं हैं स्थान से स्थानान्तर नहीं होते किन्तु प्रमेयत्व गुण के माध्यम से आत्मा पर अपना प्रभाव डालते है। यदि इद्रिय और मन का द्वार वद है तो वाहर का रिफ्लेक्शन अदर नहीं आयेगा। इसी को कहते हैं सवर तत्त्व। इससे आत्मा के अदर की शक्ति अदर रह जाती है और निर्जरा के लिए वल मिल जाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के होने वाली निर्जरा एकान्त रूपसे अविपाकी निर्जरा नहीं है क्योकि वह वध तत्त्व के साथ चल रही है। उस निर्जरा को गज स्नानवत् कहा है। जैसे स्नान के समय हाथी करता है कि स्नान तो कर लेता है किन्तु इधर स्नान किया और उधर ढेर सारी धूल अपने सिर पर उडेल ली। भइया! निर्जरा होना अलग वात है और निर्जरा करना वात अलग है। अविरत सम्यग्दृष्टि के निर्जरा हो रही है, लेकिन तप के

द्वारा जो निर्जरा की जाती है वह तो सयमी के ही होती है। कई लोगो का ऐसा सोचना है कि जो सम्यग्दृष्टि बन ही गया है तो अब इसके उपरान्त पूजन करना, प्रक्षाल करना, दान आदि देना इससे और ज्यादा निर्जरा तो होने वाली नहीं। शका बहुत उपयुक्त है लेकिन आप एक ही दृष्टि से देख रहे है। पहले मैने एक बार कहा था कि आप जैनी बन के काम करो। अकेले जैन मत लिखा करो। अग्रेजी मे JAIN शब्द मे एक ही आई है अर्थात् आप एक ही दृष्टि से देख रहे है। जैनी लिख दो तो दो आई हो जायेगी JAINI तब ठीक रहेगा दो ऑख हो जायेगी। दोनो नयों से देखना ही समीचीन दृष्टि है।

श्रावक के लिए षट् आवश्यक कहे गये है। उनमे देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन सभी को प्रतिदिन करना आवश्यक है। हम तो सोचते है दिने दिने के स्थान पर पदे पदे या क्षणे क्षणे होना चाहिये। ये छहो कार्य प्रतिपल एक के बाद एक करते रहना चाहिये। इसमे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आवश्यक जिस समय मे जो है वह ही करना। 'अवश्यमेव भव आवश्यक' ऐसा कहा गया है हमारे आचार्यो ने जब ग्रथ लिखे तो वे यह जानते थे कि जो श्रावक है गृहस्थ है उनके लिए भी कोई आवश्यक बनाने होगे ताकि विषय-कषाय से बचा जा सके। जो मन मे आया वही लिख दिया हो ऐसा नहीं है पूर्वापर विचार करके, तर्क की कसौटी पर तौलकर और अनुभव से उन्होने लिखा है।

पूजा के समय सम्यग्दृष्टि को बध तो होता है क्योकि जब वह पूजा करता है तो आरभ तो होगा ही इसमे कोई सदेह नहीं है लेकिन आचार्यो ने कहा है कि बध ही अकेला होता हो ऐसा नहीं है। उन्होने कहा है कि ये आवश्यक गृहस्थ के लिए तप के समान कार्य करते हैं। जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पचेन्द्रिय के विषयो मे लीन हो जाता है अर्थात् विषय सामग्री का सेवन करता है उस समय उसके अनन्तानुबधी सबधी और मिथ्यात्व सबधी कर्म प्रकृतियो का आस्रव बध तो नहीं होता लेकिन अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा होने वाला बध तो अवश्य होता है और उस समय कर्म प्रकृतियो मे उच्च स्थिति अनुभाग के साथ बध होता है। उस समय उसके निर्जरा नहीं हुई किन्तु बध ही हुआ।

लेकिन पूजा के समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ की हीन स्थिति के साथ बध करेगा और अनुभाग भी मद होगा। उस समय पाप प्रकृतियो के अनुभाग और स्थिति में कमी आयेगी उनमे द्विस्थानीय बध ही हुआ करता है। जिस समय वह पूजन करेगा उसी समय मे वह अप्रत्याख्यान को समाप्त भी कर सकता है क्योकि उस समय भूमिका इस प्रकार की होती है उसके देशव्रत लेने की भावना

जागृत हो सकती है। महाव्रत धारण करने की भावना हो सकती है। क्योकि वीतराग मुद्रा सामने है उसका प्रभाव पडे बिना नहीं रहता, और अदर का सम्यग्दर्शन बोलता है कि कमजोरी कहॉ पर है क्यो वस्त्रो मे अटक रहे हो। इस प्रकार का विचार आते ही सभव है वह जीवन मे वीतराग मुद्रा को धारण कर ले। इसलिए भगवान के सामने जाकर उनसे भेट तो कर लेना चाहिये ताकि उनके अनुरूप बनने के विचार जागृत हो सके, विषय कषायो के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो सके। जो कि निर्जरा का कारण है।

पूजन करते समय अप्रत्याख्यान की निर्जरा तो होती ही है साथ ही जिस समय वह सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने पूजन करने लग जाता है और प्रभु पतित पावन बोलने लग जाता है तो उस समय अनन्तानुबधी की उदीरणा होकर अकाल मे ही वह खिर जाती है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया लोभ की जो चौकडी मिथ्यात्व के साथ सबध रखने वाली है वह सारी की सारी अप्रत्याख्यान के रूप मे आकर फल देकर चली जाती है किन्तु सम्यक्त्व बाधित नहीं होता। जिसके अनन्तानुबधी सत्ता में है उसे सत्ता मे से तो निकालना होगा क्योकि उदय मे आ जायेगी तो सम्यग्दर्शन का घात हो जायेगा। यह पूजन इत्यादि षट् आवश्यक सारे के सारे अदर के कर्मो को निकालने के उपक्रम हैं।

इसलिए सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने जाकर अगर एक घटे कम से कम पूजन करता है तो उतने समय के लिए अनन्तानुबधी की निर्जरा होती है। जिस व्यक्ति को निर्जरा तत्त्व के प्रतिं बहुमान है वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर घर मे नहीं बैठेगा और पूजन की बेला को नहीं टालेगा और यदि टालता है तो वह सम्यग्दर्शन का पोषक नहीं है। यही कहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि श्रावक अष्ट मगल द्रव्य लेकर पूजा करने जाता है और हमारे द्वारा होने वाली पूजन मे द्रव्य नहीं रहती भावो से ही पूजन होती है।

यदि आप श्रावक चाहे कि द्रव्य न लगे, भाव पूजन हो जाये और निर्जरा भी हो जाये तो सभव नहीं है। आप यदि द्रव्य नहीं लगाना चाहते तो इसका अर्थ यही है कि आपको द्रव्य के प्रति मोह है और मोह है तो बध होगा निर्जरा नहीं होगी। भगवान के सामने पूजन करने का अर्थ यही है कि विषय सामग्री का विमोचन-यानी निर्जरा तत्त्व का आह्वान। विषय सामग्री चढ़ाई जाती है भगवान को दी नहीं जाती। हमारे भगवान लेते नहीं है पर आपके पास जितना है उसे छुड़वा देते हैं। तीर्थस्थल पर आप बैठे है तो यहॉ अपने आप छोडने के भाव जागृत हो जाते हैं। घर मे रहकर यह भाव जागृत नहीं होते।

घर मे जब खाना खाते है तो कहते हैं पाटा बिछा दो, पखा चला दो, बिजली का नहीं तो हाथ से ही सही, थाली रक्खो, अच्छी चमकती हुई, गिलास रखो, लोटा रखो

पानी भर कर सारी सुख सुविधाऍ चाहिये लेकिन यहॉ क्षेत्र पर आप लोग खाना खाते है तो यहॉ कोई पाटा नहीं है, थाली नहीं है यू ही एक तरफ बैठे-बैठे कैसे भी करके खा लेते है पाच मिनिट मे। यही तो त्याग है। तीर्थ पर भगवान के सामने सभी व्यक्ति प्राय व्रती बन जाते है त्याग की सीख ले लेते है। यहॉ तो प्रत्येक समय त्याग तपस्या की बात है निर्जरा की बात है। यहॉ निरन्तर चाहे तो मोक्षमार्ग चल रहा है। ससारी और गृहस्थ चौबीस घटे राग-द्वेष और विषय-कषाय मे, धर्म ध्यान को छोडकर लगे हुए है। इन षट्-आवश्यको के माध्यम से वीतराग प्रतिमा के सामने पूजन का सौभाग्य मिल जाता है और ऐसी निर्जरा होती है अविपाक निर्जरा जो तप के माध्यम से होती है। इसलिए पूजन धर्म आवश्यक है।

जो साधक है उन्हे पूजन अपने अनुकूल करना चाहिये। आपको/श्रावक को अष्ट मगल द्रव्य से पूजन का विधान है और हम लोगो को/मुनिजनो को अष्ट मगल द्रव्य के अभाव मे भावो की निर्मलता मे कोई कमी नहीं रखना चाहिये। मुनि लोग जब भी भगवान की पूजा करते है तो उस समय आप से भी असख्यात गुणी कर्म की निर्जरा कर लेते है। केवल आत्म-तत्त्व के माध्यम से ही निर्जरा होती है ऐसा एकान्त नहीं है। सामान्य रूप से होने वाली निर्जरा तो मिथ्यात्व के उदय मे भी होती है। मिथ्यात्व का उदय बाद मे समाप्त होता है। अनन्तानुबधी पहले समाप्त हो जाती है निर्जरा तो वहाँ भी होती है लेकिन यहॉ इस प्रकार की निर्जरा की बात हम नहीं कर रहे है। सजग होकर ज्ञान के साथ जो निर्जरा की जाती है, और पूजन आदि षट् आवश्यको के माध्यम से वह जितनी-जितनी बढती है उतने-उतने अशो मे वह निराकुल बनता चला जाता है। यही षट्-आवश्यक श्रावक के लिए निराकुलता मे कारण बनते हैं। सम्यग्दृष्टि इनके माध्यम से विशेष निर्जरा करता है और आगे बढता जाता है।

गृहस्थ होकर भी जितना अधिक आपका धार्मिक क्षेत्र मे समय खर्च होगा उतना ही आपकी सत्ता मे जो अनन्तानुबधी है वह सक्रमित होकर बिना फल दिये ही चली जायेगी। यदि आप सजग हो करके देवगुरु शास्त्र की पूजन, उनकी उपासना, आराधना उनका चिन्तवन करते है तो उस समय कर्म खिरते चले जाते है। मिथ्यात्व भी जो सत्ता मे है वह उदयावली मे आकर सम्यक्त्व प्रकृति के रूप मे फल देकर चला जाता है इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति की निर्जरा हो जाती है और आपके सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे सम्यग्दर्शन ज्यो का त्यो बना रहता है।

जिस प्रकार आप लोग आठ घटे की ड्यूटी दे देते है उस समय आपको जो वेतन बधा हुआ है वह मिल जाता है विश्वस्त होकर काम करो और थोडा प्रमाद भी हो जाये तो भी वेतन पूरा मिलता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि भगवान के सामने जाकर सो भी जाये

तो भी वेतन मिलता रहता है। यदि ओवर ड्यूटी कर ले तो फिर कहना ही क्या? एक व्यक्ति पसीना-पसीना हो रहा था मैने पूछा कि भइया ऐसा इतना काम क्यो करते हो, समय पर किया करो। उसने कहा क्या करे महाराज घर की बात, बेटी के दहेज के लिए धन तो चाहिये इसलिए अभी दो तीन साल के अदर ओवर ड्यटी करके कमा रहा हूँ। अब सोचो, ससार के कार्यो मे इस प्रकार कमा सकते है तो तप के माध्यम से षट् आवश्यको के माध्यम से मोक्षमार्ग मे निर्जरा को भी बढ़ा सकते है।

समय से पहले अकाल मे ही इस प्रकार आवश्यको के माध्यम से निर्जरा हो सकती है और नये बध से बचा जा सकता है अत पूजन आदि करना परम आवश्यक है। पूजन के माध्यम से मात्र बध ही होता हो ऐसा नहीं है क्योकि बध की प्रक्रिया न तो पूजन के समय पूर्णत रुकी है और न ही विषय भोगो के समय रुकी है बल्कि जिस समय पूजन करते है उस समय पाप की निर्जरा हो जाती है उसका बध रुक जाता है और शुभ-बध प्रारभ हो जाता है। पूजन को केवल बध का कारण कहना— इस तत्त्व को नहीं समझना है। साथ ही साथ यह पाप का समर्थन करना है क्योकि वह व्यक्ति पाप से मुक्त होकर मुनि तो बना नहीं है।

अष्ट द्रव्य से पूजन करना आस्रव का कारण है ऐसा उपदेश उन व्यक्तियो के सामने सुनाने योग्य है जो मुनि बनने के लिए तैयार है। यदि गृहस्थ होकर द्रव्य पूजन नहीं करना चाहते तो गृहस्थ से ऊपर उठ जाओ फिर भाव पूजन करो, फिर मदिर जाने की भी आवश्यकता नहीं है लेकिन मदिर जाने की आवश्यकता नहीं है तो घर जाने की भी आवश्यकता नहीं है यह भी बात है ध्यान रखो। आप चाहे कि मदिर जाना छूट जाये, घर मे बैठे रहे और निर्जरा भी हो जाये तो सभव नहीं है निर्जरा नहीं मिलेगी वहाँ तो जरा ही मिलेगी बुढापा मिलेगा। अत सभी विवक्षाओ को देखने, सोचने विचारने की बडी आवश्यकता है।

नन्हे-नन्हे बच्चो के सामने यदि पूजा को बंध का कारण बता देगे तो कभी उनको और न आपको समझ मे आयेगा कि वास्तव मे आस्रव और बध क्या है और निर्जरा तत्त्व क्या है मोक्ष क्या और जीव तत्त्व क्या है। वह श्रेष्ठ डॉक्टर है जो रोगी को दवाई देता है निदान ठीक-ठीक करता है साथ ही अनुपान का भी ध्यान रखता है। एक माह का बच्चा है और बीमार हो जाता है तो डॉक्टर औषध देगा पर उसे ध्यान रखना होगा कि कौन-सी देना कितनी मात्रा मे देना और किस अनुपान के साथ देना है। यदि पहलवान की तरह मात्रा और अनुपान लेगे तो प्राण संकट मे पड़ जायेगे।

इसी प्रकार जो अभी पूजन ही नहीं कर रहा है धर्म-ध्यान की ओर जिसकी दृष्टि नहीं है उसे पूजन बध का कारण है-यह बता दिया जाए तो वह मोक्षमार्ग पर कभी

आरूढ नहीं हो पायेगा। मोक्षमार्ग से विचलित होकर उन्मार्ग पर बढ जायेगा निचली बात यदि छुडाना है तो धीरे-धीरे उस व्यक्ति को ऊपर की बात उपादेय के रूप मे वता दो। यदि द्रव्य पूजन से बचाना चाहो तो सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह से ऊपर उठ जाओ, निरारम्भ बन जाओ निस्परिग्रही हो जाओ ग्यारह प्रतिमाए ले लो।

ससार के तो अनेक पाप कार्य करना और भगवान की पूजन को बध का कारण बताना अथवा भोग को निर्जरा का कारण बताना यह सब जैन सिद्धान्त का अपलाप है। विवक्षा समझनी चाहिये। यह तो मोक्षमार्ग को अप्रशस्त करना है। जो ऊपर उठने वाले है उन्हे नीचे गिराना है सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है लेकिन ध्यान रखना भोग कभी निर्जरा का कारण नहीं होता। यदि भोग निर्जरा का कारण है तो योग (ध्यान) बध का कारण होगा। सोचना चाहिये ऐसा कहने वालो को। कौन से शब्दो का अर्थ कहॉ क्या लिखा है किस व्यक्ति के लिए लिखा गया है। कुछ भी याद नहीं। आगम का जरा भी भय नहीं। कोई विवेक नहीं और धर्मोपदेश चल रहा है। यह ठीक नहीं है भइया।

सम्यग्दृष्टि का भोग भी निर्जरा का कारण है– ऐसा कथन आया है सभी जानते हैं किन्तु किस व्यक्ति के लिए आया है यह भी देखना चाहिये। जो व्यक्ति विल्कुल निर्विकार वीतराग सम्यग्दृष्टि बन चुका है और दृष्टि जिसकी तत्त्व तक पहुँच गयी है इसके सामने वह भोग सामग्री, भोग सामग्री न होकर जड पदार्थ मात्र रह गयी है उस व्यक्ति के लिए कहा है कि तू कहीं भी चला जाये तेरे लिए ससार निर्जरा का कारण बन जायेगा।

भगवान की मूर्ति वीतराग प्रभु की मूर्ति निर्जरा के लिए कारण है सवर के लिए कारण है लेकिन सिनेमाघर मे जाकर कोई चित्र देखो तो क्या वहॉ निर्जरा होगी? सभव नहीं है आपको। आप स्वय को भूल जायेगे। समाधि के स्थान पर समाप्ति हो जायेगी। व्यसनो मे पडकर भगवान को भूल जाना, साथ ही अपने आप को भूल जाना अलग है और निर्विकल्प ध्यान मे लीन होकर अपने को भूल जाना अलग है दोनों मे वडा अन्तर है। एक ससार मार्ग है और एक मुक्ति का मार्ग है। महाव्रती होकर यदि निर्विकार दृष्टि से वीतराग सम्यग्दृष्टि भोग सामग्री को देखता है तो भी उसको निर्जरा ही होगी।

पात्र को देखकर ही कथन करना चाहिये। भोग निर्जरा का कारण सामान्य व्यक्तियो के लिए नहीं है। अभी वह दृष्टि प्राप्त नहीं है जो हर पदार्थ को ज्ञेय बनाये अभी जब तक दृष्टि इष्ट अनिष्ट की कल्पना से युक्त है हेय उपादेय को नहीं पहचानती तब तक वह स्खलित हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए ग्रथ का अध्ययन, मनन चिन्तन तो ठीक ही है लेकिन उसके रहस्य तक पहुँचे बिना कुछ भी कह देना ठीक नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ की कीमत अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र मे हुआ करती है। जौहरी की दुकान पर आप चले जायेगे तो वह आपको बिठा लेगा आपका मान सम्मान भी करेगा लेकिन आपको अपने हीरे-जवाहरात जल्दी-जल्दी उतावलेपन मे नहीं दिखायेगा, न ही देगा। वह ग्राहक को परखता है फिर ग्राहक के सामने जवाहरात की जो कीमत है उसे बताता है। बहुत कीमती है ऐसा कहकर बड़ी सावधानी से एक-एक ट्रेजरी खोलता है तब कहीं जाकर एक छोटी सी सदूक और उस सदूक मे भी एक छोटी सी डिबिया और उस डिबिया मे भी मखमल और मखमल मे भी एक पुडिया। इस प्रकार वह हीरा तो बहुत अदर है और उसे भी ऐसे ही हाथ मे लेकर नहीं दिखाता दूर से ही दिखा देता है।

इसी प्रकार ग्रथराज समयसार मे इस निर्जरा तत्त्व की कीमत है। ग्रथराज समयसार आचार्य कुदकुद स्वामी ने सभी के हाथ मे नहीं दिया। वे ही हाथ लगा सकते है जो मुनि है या मुनि बनना चाहते है। वे ही इसकी सही कीमत कर सकते है वे ही इसका चिन्तन मनन और पाचन कर सकते है। यह कोई सामान्य ग्रथ थोडे ही हैं। जीवन समर्पित किया जाता है। उस समय यह निर्जरा तत्त्व प्राप्त होता है। विषय भोगो को ठुकरा दिया जाता है तब यह हीरा गले मे शोभा पाता है ऐसे थोडे ही है भइया, बड़ी कीमती चीज है, इस कीमती चीज को आप किसी के हाथ मे यू ही दे दो तो उसका मूल्याकन वह नहीं कर पायेगा। जो भूखा है प्यासा है वह कहेगा यह कोई चमकीली चीज है इसको ले लो और मुझे तो मुट्ठी भर चना दे दो और आज यही हो रहा है।

आचार्य कुदकुद स्वामी कहते है कि तुम्हारी दृष्टि मे यदि अभी भोग आ रहे है तो तुमने पहचाना नहीं है निर्जरा तत्त्व को। एकमात्र अपने आत्मा मे रम जा तू वही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि ज्ञेय तत्त्व मे अटकती है तो निर्जरा तत्त्व टूट जाएगा, वह हार बिखर जायेगा। इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ शेष नहीं रह जाता है। मोक्ष तत्त्व तो निर्जरा का फल है। मोक्ष तो मजिल है वह मार्ग नहीं है। मार्ग यदि कोई है तो वह सवर और निर्जरा हैं। मार्ग मे यदि स्खलन होता है तो मोक्ष रूपी मजिल नहीं मिलेगी। हमे मोह से बचकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होना चाहिये। निर्जरा तत्त्व को अपनाना चाहिये।

□□

☐ मोक्ष तत्त्व

कल चतुर्दशी थी और प्रतिक्रमण का दिन था। वह प्रतिक्रमण आवश्यक उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सामायिक आवश्यक है। प्रत्येक आवश्यक मे कुछ अलग विषय रखे गये है। प्रतिक्रमण आवश्यक में बात बहुत गहरी है। ससारी प्राणी आदिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिए हुए जीवन जी रहा है। परतु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को, जीवन जीने का एक सफल उपाय मानता है।

आक्रमण का अर्थ है बाहर की ओर यात्रा और प्रतिक्रमण का अर्थ है अदर की ओर यात्रा, अपने आप की उपलब्धि। इस तरह आक्रमण ससार है तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। 'कृत दोप निराकरण प्रतिक्रमण' किये हुए दोषो का मन-वचन काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से विमोचन करना, यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है। इस ओर चलता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। अपने आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है अपने आप मे मुक्ति। दोषो से मुक्ति। ससारी प्राणी दोष करता है किन्तु दोषी नहीं है यह सिद्ध करने के लिए निरन्तर आक्रमण करता जाता है दूसरो के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए हजार असत्यो का आलम्बन ले लेता है यही उसे मुक्ति मे बाधक बन जाता है।

मुक्ति का अर्थ तो यह है कि दोषो से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। 'मुन्च' धातु से बना है यह मोक्ष शब्द। मुन्च् विमोचने त्यागे वा। मुन्च धातु विमोचन के अर्थ में आयी है। कोई ग्रथ लिखे, उस ग्रथ का आप विमोचन कर लेते हैं या किसी मे करवा लेते है परतु अपने दोषो का विमोचन करने का कोई प्रयास नहीं करता। विमोचन वही करता है जो मुक्ति चाहता है और यह 'मुन्च' शब्द छोडने के अर्थ मे आया है छूटने के अर्थ मे नहीं, छूटता है तो धर्म छूट जाता है और छोड़ा जाता है पाप। अनादिकाल से धर्म छूटा है अब छोड़ना होगा पाप।

प्रत्येक ससारी प्राणी अपने दोषो को मजूर नहीं करता और न ही उन दोषो का

निवारण करने का प्रयास करता है। किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही है इस ससार मे जो अपने दोषो को छोड़ने के लिए और स्वय अपने हाथो दड लेने के लिए हर क्षण तैयार है। ससार मे मुनि ही ऐसा है जो अपने आप प्रतिक्रमण करता है। मन से, वचन से, और काय से जो कोई भी ज्ञात अज्ञात मे प्रमाद के वशीभूत होकर दोष हो गये हो। या भावना हो गयी हो तो उसके लिए दड के रूप मे स्वीकार करता है वह मुनि। ऐसा कहे कि कल पनिशमेट डे था, दड लेने का दिन था प्रतिक्रमण का दिवस था।

ससारी प्राणी प्राय दूसरे को दड देना चाहता है पर अपने आप दंडित नहीं होना चाहता। मुनिराज ससारी प्राणी होते हुए भी दूसरे को दड देना नहीं चाहते बल्कि खुद प्रत्येक प्राणी के प्रति चाहे वह सुने या ना सुने अपनी पुकार पहुँचा देते है। एक इन्द्रिय जीव से लेकर पचेन्द्रिय तक जितने भी जीव है उनके प्रति क्षमा धारण करता हूँ, मेरे द्वारा, मन से, वचन से, काय से, कृत से कारित से और अनुमोदना से किसी भी प्रकार से, दूसरे के प्रति दुष्परिणाम हो गये हो तो मै उसके लिए क्षमा चाहता हूँ और क्षमा करता हूँ।' ये भाव प्रतिक्रमण के भाव हैं।

आज हम सब आक्रामक बने है और आक्रामक जो भी है वह क्रोधी होता है, मानी होता है, मायावी होता है लोभी होता है, रागी और द्वेषी भी होता है। लेकिन जो प्रतिक्रमण करता है वह इससे विलोम होता है। वह रागी द्वेषी नहीं होता वह तो वीतरागी होता है। वह मान के ऊपर भी मान करता है। मान का भी अपमान करने वाला अर्थात् मान को अपने से निकाल देने वाला यदि कोई है तो वह वीतरागी मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है तो वह मुनि है। क्रोध को भी गुस्सा दिलाने वाला यदि है तो वह मुनि है। अर्थात् यदि क्रोध उदय मे आ जाये तो भी वह मुनि खुद शान्त बना रहता है और क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध हार मान लेता है।

वास्तविक क्रोधी तो मुनि है जो क्रोध के ऊपर भी क्रोध करते है, वास्तविक मानी भी मुनि है जो मान का अपमान कर देते है और उसे दूर भगा देते हैं। वास्तविक मायावी वही हैं जो माया को अपना प्रभाव नहीं दिखाने देता। लोभ को प्रलोभन मे डालकर उन पर विजय पा लेते हैं। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करने वाला यदि देखा जाये तो बड़ा काम करता है। प्रतिक्रमण चुपचाप होता है लेकिन कषायो को शान्त करने की भावना अहर्निश चलती रहती है। अब मुक्ति के बारे मे कहने की आवश्यकता ही क्या है? आप मे से कौन-कौन प्रतिक्रमण के लिए तैयार होते हैं। आत्मा को निर्दोष बनाने की इच्छा किसकी है? जितना-जितना आत्मा को निर्दोष बना लेंगे उतनी-उतनी ही तो है मुक्ति।

मॉ परोस रही थी एक थाली मे विभिन्न-विभिन्न व्यजन रखे और लाडला लडका

वैठा-वैठा खा रहा था। खाते-खाते जब वह बीच मे रुक जाता है तो माँ पूछती है कि बेटा। क्या बात हो गयी। घी और चाहिये क्या? एक बात पूछना चाहता हूँ माँ! वह लडका कहता है। आप रसोई वनाना छोड दे। मेरे अनुमान से आपकी नेत्र ज्योति कुछ कमजोर हो गयी है बात असल मे यह है कि खाते-खाते अचानक कुछ कट्ट से टूटने की आवाज आ गयी है लगता है ककर है भोजन में। सारा का सारा जब बाहर निकालता है भोजन, वह लडका, तो ककर कहीं नहीं दिखता। माँ समझ जाती है कि बात क्या है! वह कह देती है कि बेटा यह ककर नहीं है यह मूंग ही ऐसी है। उसका नाम है टर्रा मूग। इसकी पहचान वैसे नहीं होती। खाते समय ही होती है। यह दिखता मूग के समान हरा-हरा है लेकिन यह सीझता (पकता) नहीं है। इसे कितना भी पकाओ यह कभी नहीं पकता इसी प्रकार ऐसे भी जीव होते हैं जो खुद कभी नहीं सीझते अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं हो पाते और कभी-कभी दूसरे की मुक्ति मे बाधक हो जाते हैं। बधुओ! हमारा जीवन मुक्ति मजिल की ओर वढ़े ऐसा प्रयास करना चाहिये। साथ ही हमारा जीवन दूसरे के लिए, जो मुक्ति पाने के लिए आगे वढ रहे हैं उनके लिए साधक तो कम से कम बने ही वाधक नहीं।

यह ससार अनादि अनंत है। इसमें भटकते-भटकते हम आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति हमारी जो आसक्ति है उसे छोडना होगा और त्रैकालिक जो है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य अर्थात् मै स्वयं आत्मा कौन हूँ इसके वारे मे चितन करना चाहिये। हमारे आचार्यों ने पर्याय को क्षणिक कहा है और उस पर्याय की क्षणभंगुरता, निस्सारता के वारे मे उल्लेख किया है। यद्यपि सिद्ध पर्याय शुद्ध पर्याय हेय नहीं है किन्तु ससारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर आगे वढ़ाने के लिए पर्याय की हेयता वताना अति आवश्यक है। इसके विना उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है उस ओर नहीं जा पाती और जब तक दृष्टि अजर-अमर द्रव्य की ओर नहीं जायेगी तव तक ध्यान रखियेगा, संसार मे रचना-पचना छूटेगा नहीं।

एक वार महाराज जी, (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज) के सामने चर्चा की थी कि महाराज! जिसने यहा मुनि दीक्षा धारण की और वर्षो तक तप किया और सम्यग्दर्शन के साथ स्वर्ग मे सम्यग्दृष्टि देव वन गये तो पुन वापिस आकर यहाँ सबोधन वगैरह क्यो नहीं देते? तो महाराज जी वोले सुनो, ससारी प्राणी की स्थिति ऐसी है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड जाता है कि अतीत के अच्छे कार्य को वह भूल जाता है और जिस पर्याय में पहुँचता है वहीं रच पच जाता है। वहीं के भोगों में व्यस्त हो जाता है। अन्य गतियो की यही स्थिति है किन्तु मनुष्य गति एक ऐसी गति

है जिसमे व्यस्तता से बचा जा सकता है। विवेक जागृत किया जा सकता है।

विवेक छोटे से बच्चे मे भी जागृत हो सकता है। तभी तो उस बच्चे ने अपनी माँ से पूछ लिया था कि यह मूग ऐसा क्यो है? क्या कुछ ऐसे ही मूँग बोये जाते हैं। जो टर्रा होते हैं तब माँ कहती है कि नहीं बेटे बोये तो अच्छे ही जाते है। एक बीज के माध्यम से एक बाल आ जाती है जिसमे कई मूग होते है जिनमे एकाध टर्रा मूग भी हो सकता है। अनेक मूग के साथ एक मूग ऐसा भी हो जाता है जो सीझता नहीं है उस पर द्रव्य क्षेत्र काल का प्रभाव नहीं पडता उसका स्वभाव ही ऐसा है। कैसा विचित्र स्वभाव पड गया है उसका। जो न आज तक सीझा है और ने आगे कभी सीझेगा। हम सब उसमे से तो नहीं है यह विश्वास है क्योकि हमारा हृदय इतना कठोर नही है। हम सीझ सकते है। अपना विवेक जागृत कर सकते हैं।

एक बात और भी है कि टर्रा नहीं होकर भी कुछ ऐसे मूग हैं जो अग्नि का सयोग नहीं पाते, जल का सयोग नहीं पाते इसलिए टर्रा मूग के समान ही रह जाते है वह भी नहीं सीझ पाते उनको दूरानुदूर भव्य की उपमा की गयी है जो टर्रा मूग है वे तो अभव्य के समान हैं। जो मूग बोरी मे रखे है और वैसे ही अनत काल तक रखे रहेगे वो भी नहीं सीझेगे वे दूरानुदूर भव्य हैं। इसका अर्थ यह है कि घर मे रहते-रहते मुक्ति नहीं मिलेगी। आप चाहो कि घर भी न छूटे और वह मुक्ति भी मिल जाये हम सीझ जायें तो यह भूतो न भविष्यति वाली बात है। योग्यता होने के बाद भी उस योग्यता का परिस्फुटन अग्नि आदि के सयोग के बिना होने वाला नहीं है। योग्यता है लेकिन व्यक्त नहीं होगी। सयोग मिलाना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।

अभव्य से दूरानुदूर भव्य ज्यादा निकट है और दूरानुदूर भव्य से आसन्न भव्य ज्यादा निकट है उस मुक्ति के, लेकिन भव्य होकर भी यदि अभी तक हमारा अपना नम्बर नहीं आया, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि आसन्न भव्य तो हम अपने आप को कह नहीं सकेगे। भव्य होकर भी हमने सयोग नहीं मिलाया अभी तक दूरानुदूर भव्य के लिए योग नहीं मिलेगा सच्चे देव-गुरु शास्त्र का ऐसा नहीं है, वह मिलायेगा ही नहीं। अर्थात् तदनुरूप उसकी वृत्ति जल्दी नहीं होगी। देखो, परिणामो की विचित्रता कैसी है कि सीझने की योग्यता होते हुए भी नहीं सीझता। इसलिए जिस समय आत्म-तत्व के प्रति रुचि जागृत हो, शुभस्य शीघ्र उसी समय उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने भव्य के बारे मे कहा है स्वहितम् उपलिप्सु अपने हित की इच्छा रखने वाला प्रत्यासन्ननिष्ठ कश्चिद् भव्य – कोई निकट भव्य था। जिस प्रकार भूखा

व्यक्ति 'अन्न' ऐसा सुनते ही मुख खोल लेता है उसी प्रकार निकट भव्य की स्थिति होती है मैं अपने अनुभव की बात बताता हूँ उसी से आप कम्पेयर कर लेना, बाद मे। जब हाई स्कूल जाते थे हम, चार मील पैदल चलना पडता था और कीचड का रास्ता था। तो स्कूल से छूटने के उपरान्त आते-आते तक तो बस बिल्कुल समझो पेट मे कबड्डी का खेल प्रारम्भ हो जाता था। तेज भूख लगती थी। वहाँ से आते ही खाना परोस दो ऐसा कह देते थे। और मालूम पड़ता था कि अभी रसोई तो बनी नहीं है बन रही है तो कोई बात नहीं जो रोटी रखी है वही लाओ। बिना साग-सब्जी के भी चल जायेगा। कभी-कभी तो साग आ नही पाती थी और जो रोटी पूडी आदि परोसी जाती थी उसे थोडा-थोडा खाते-खाते पूरी खत्म कर देते थे। बाद मे अकेली साग खा लेते थे।

तीव्र भूख का प्रतीक है यह। खीर सामने आ जाये और गरम भी क्यो न हो तो भी बच्चे लोग किनारे-किनारे धीरे-धीरे फूँक-फूँक कर खाना प्रारम्भ कर देते है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह चारित्र लेने के लिए तत्पर रहेगा। अदरसे छटा-पटी लगी रहती है कि कब चारित्र लू। भगवान की वीतरागत छवि को देखकर उसके माध्यम से मुक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। उदाहरण के रूप मे कोई मुनि महाराज मिल जायें तो कह देता है कि अब बताने की भी जरूरत है हम देख देखकर कर लेगे। यही है भव्य जीव का लक्षण। अवाक् विसर्ग वपुषा निरूपयन्त मोक्षमार्गम्। बिना बोले ही वीतरागी मुद्रा से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है।

आप लोग कहते हैं कि महाराज उपदेश दो। अलग से क्या उपदेश दें भइया। दिन रात उपदेश चल रहा है। क्योकि मुनि मुद्रा धारण कर लेने के उपरान्त कोई भी ऐसा समय नहीं है जिस समय वीतरागता का दर्शन न होता हो दया का उपदेश सुनने में न आता हो। बाह्य क्रियाओं के माध्यम से भी उपदेश मिलता है। उपदेश सुनने वाला और समझने वाला होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि इस बारे मे अवश्य सोचता है। वह प्रत्येक क्रिया मे वीतरागता देखता है मुनि महाराज खडे होकर एक बार दिनमे आहार लेते हैं। खड़े होकर खाओ तो पेट भर आसानी से खाया नहीं जा सकता है। खडे होकर खाने मे अप्रमत्त रहना होता है। थोडा भी यदि आसन हिल गया तो अन्तराय माना गया है।

दूसरी बात यह है कि आप सोचते होगे कि हम तो एक ही हाथ से खाते हैं और मुनिराज तो दोनो हाथो से खाते है तो ज्यादा खाते होंगे। ऐसा नहीं है। थाली मे खाने से तो एक हाथ की स्वतत्रता रहती है लेकिन दोनो हाथो मे लेकर खाने मे सावधानी बढ जाती है। जरा भी प्रमाद हुआ और यदि हाथ छूट जाये तो अन्तराय माना गया

है। ये सारे के सारे विधि-विधान, नियम, संयम वीतरागता के द्योतक हैं। यही निमित्त बन जाते है निर्जरा के लिए। इस प्रकार चौबीस घंटे, बैठते समय, उठते समय, बोलते समय, आहार-विहार-निहार के समय या शयन करते समय भी आप चाहें तो मुनियों के माध्यम से वीतरागता की शिक्षा ले सकते हैं। लेने वाला होना चाहिये।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त तो चारित्र धारण करने की भूख तीव्र से तीव्रतम हो जाती है। कठिन से कठिन चारित्र पालन करने की क्षमता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि मुझे जल्दी-जल्दी मुक्ति मिलना चाहिये इसलिए चारित्र को जल्दी-जल्दी अंगीकार कर लो। यदि चारित्र लेने की रुचि नहीं हो रही है तो इसका अर्थ यही निकलता है कि या तो टर्रा मूंग है या अभी दूरानुदूर भव्य है। आसन्न भव्य की गिनती में तो नहीं आ रहा है। भाई, चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिये, पीछे नहीं रहना चाहिये शुभस्य शीघ्र।

मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो त्याग करेगा उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। यही कहलाता है वास्तविक मोक्ष, निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आवे, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना-उतना मोक्ष आज भी संभव है।

आपको खाना खाते समय सोचना चाहिये कि पांच रोटी खाने से आपकी भूख मिटती है तो क्या पांच रोटी साबुत एक ही साथ मशीन जैसे डाल लेते हैं पेट में? नहीं, एक एक ग्रास करके खाते हैं। एक ग्रास के माध्यम से कुछ भूख मिटती है दूसरे के माध्यम से कुछ और भूख मिटती है ऐसा करते-करते पांच रोटी के अन्त मे अन्तिम ग्रास से तृप्ति हो जाती है। कह देते हैं आप कि अब नहीं चाहिये। इसी प्रकार निरन्तर निर्जरा के माध्यम से एक देश मुक्ति मिलती जाती है पूर्णत मुक्त होने का यही उपाय है।

एक देश आकुलता का अभाव होना यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। रागद्वेष आदि आकुलता के परिणामों को जितना जितना हम कम करेंगे उतनी-उतनी निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने-जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही मुक्ति है। आकुलता के जो कार्य हैं आकुलता के जो साधन हैं द्रव्य क्षेत्र काल, भव और भाव इन सबको छोड़कर जहाँ निराकुल भाव जागृत हो वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। आपने तो शायद समझ रक्खा है कि कहीं कोई कोठी या भवन बना हुआ है वहाँ जाना है, ऐसा नहीं है कोई भवन नहीं है भइया। मोक्ष तो यहीं है आत्मा में है।

मोक्ष आत्मा से पृथक् तत्त्व नहीं है। आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। वह फल

के रूप मे है। सभी का उद्देश्य यही है कि अपने को मोक्ष प्राप्त करना। जिस समय मोक्ष होने वाला है उस समय हो जायेगा। मुक्ति मिल जायेगी। प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। प्रयास करने से कैसे मिलेगी, प्रयास करना फालतू है– ऐसा कुछ लोग कह देते है। ठीक है भइया यदि नियत ही आपका जीवन बन जाये तो मैं उस जीवन को सौ-सौ बार नमन करू। आप प्रत्येक क्षेत्र मे नियत अपनाओ, जो पर्याय आने वाली है वह उसी समय आयेगी, अपने को क्या करना 'होता स्वय जगत् परिणाम' – यह तो ठीक है लेकिन 'मै जग का करता क्या काम' – इस ओर ध्यान देना चाहिये। अभी तो जीवन मे 'मै करता जग का सब काम' – सारा काम तो कर रहे है आप।

मुक्ति मिल जायेगी यदि सारी की सारी पर्याये नियत है तो फिर इधर-उधर भाग क्यो रहे है आप। आज आधी सभा जुडी है कल पूरी ठसाठस भरी थी और अगले दिन सब खाली। सब यहॉ वहॉ चले जायेगे यहॉ तो पार्श्वनाथ भगवान रह जायेगे जो मुक्त है। यदि सब नियत है तो फिर जाना कहॉ? प्रत्येक समय मे प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय नियत है यदि यह श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति दूर नहीं परन्तु आपका जहॉ मन आया वहॉ नियतिवाद को अपना लिया और जहॉ इच्छा हुई नहीं अपनाया। यह ठीक नहीं है।

मान लो बारह बजे रोजाना खाना खाते है आप, तो बारह बजे बिल्कुल नियत है आपका खाना। बारह बजे बैठ जाओ और अपनी पत्नी और रसोइये को भी कह दो कि बारह बजे तो नियत खाने का समय है क्यो पसीना-पसीना हो रहे हो, बैठ जाओ आराम कुर्सी के ऊपर, तुम्हें भी एक थाली आ जायेगी और मुझे भी आ जायेगी। आयेगी, समय से आयेगी। इसमे क्या जल्दी करना। दृढ श्रद्धान के साथ बैठ जाओ आप। लेकिन ऐसा कहॉ करते है आप। कह देते है कि देर हो जायेगी जल्दी-जल्दी रसोई बनाओ बारह बजे जाना है और अभी तक रसोई नहीं बनायी, दस मिनिट रह गये, जल्दी करो जल्दी करो, देर हो जायेगी। ऐसा आप समय से पहले ही रसोइये को कहते हैं कि नहीं। समय से पहले ही उतावली करने लगते है। क्रोध आने लगता है। ध्यान रखो नियतिवादी को क्रोध नहीं आता। किसी की गलती भी नजर नहीं आती उसके सामने प्रत्येक पर्याय नियत है।

देखो जानो बिगडो मत– यह सूत्र अपनाता है वह। देखता रहेगा, जानता रहेगा लेकिन बिगडेगा नहीं और आप लोग बिगडे बिना नहीं रहते। आप देखते भी हैं जानते भी है और बिगड जाते है इसलिए नियतिवाद को छोड देते है। भगवान ने जो देखा वह नियत देखा, जो भी पर्याय निकली यह सब भगवान ने देखा था, उसी के अनुसार होगा।

तब फिर क्रोध, मान, माया लोभ के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि आप क्रोध करते है तो अर्थ यह हुआ कि सारी की सारी व्यवस्था पर पानी फेर दिया। नियतिवाद को नकार दिया।

एक बुढ़िया थी। बहुत सतोषी थी। खाती पीती और सो जाती। पैसा बहुत था उसके पास। चोरो को मालूम हुआ तो उन्होने बुढ़िया के घर चोरी की बात सोच ली। चार पॉच चोर गये, देखा बुढिया तो सोई हुई थी। उन्होने सोचा ठीक है पहले बुढिया के घर भोजन कर ले फिर बाद मे देखेगे। उन्होने भोजन कर लिया, सब कुछ लेकर चलने लगे उसी समय कुछ गिर गया और आवाज होते ही बुढिया ने जोर से कहा कि हे भगवान्! बचाओ। आवाज सुनकर आसपास जो भी लोग थे आ गये।

अब चोर क्या करे। बाहर तो भाग नहीं सकते इसलिए इधर-उधर छिप गये। पड़ौसी आकर के पूछते है बुढ़िया से कि मॉजी क्या बात हो गयी। आपके यहॉ कुछ हो गया क्या। तब बुढ़िया ने जवाब दिया कि मैं क्या जानूँ सब ऊपर वाला (भगवान) जाने। लोग समझे कोई ऊपर होना चाहिये। सबने ऊपर देखा तो वहाँ चोर बैठा था। उसने सोचा मै क्यो फसूँ। उसने कहा कि वह दरवाजे के पीछे छिपा है। दरवाजे के पीछे वाला कहता है वह बोरी के पीछे छिपा है जो, वह जाने। बोरी के पीछे वाला रसोई की तरफ इशारा कर देता है इस प्रकार सभी चोर पकड़ मे आ गये। जब दड देने वाली बात आती है तब बुढ़िया कह देती है कि हम क्या, वही ऊपर वाला जाने। दड देने का अधिकार भी हमे नहीं है। जो है सो है, वह भगवान जाने। यदि ऐसा समता परिणाम आ जाये तो आप को भी कर्म रूपी चोरो से छुटकारा मिल सकता है।

नियतिवाद का अर्थ यही है कि अपने आप मे बैठ जाना, समता के साथ। कुछ भी हो परिवर्तन परन्तु उसमे किसी भी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं करना। प्रत्येक कार्य के पीछे यह ससारी प्राणी अहं बुद्धि या दीनता का अनुभव करता है कार्य तो होते रहते है लेकिन यह उसमे कर्तृत्त्व भी रखता है। हमारे भगवान कर्तृत्त्व को एक द्रव्य मे सिद्ध करके भी बाह्य कारण के बिना उसमे किसी भी कार्य रूप परिणत होने की क्षमता नहीं बताते। कार्य रूप जो द्रव्य परिणत होता है इसमे बाहर का भी कोई हाथ है ऐसा जानकर कोई भी व्यक्ति अभिमान नहीं कर सकेगा। यह नहीं कह सकेगा कि मैंने ही किया। दूसरी बात बाह्य कारण ही सब कुछ करता हो ऐसा भी नहीं है। कार्य रूप ढलने की योग्यता उपादान मे है इसलिए दीनता भी नहीं अपनाना चाहिये।

इस प्रकार दीनता और अह भाव दोनो हट जाते है और कार्य निष्पन्न हो जाता है। 'मै' कर्ता हूँ— यह भाव निकल जाये। समय पर सब होता है 'मैं' करने वाला

कौन– यह भाव आ जाये तो समता आ जायेगी। और सब दूसरे के आश्रित है मै नहीं कर सकूँगा ऐसा भाव भी समाप्त हो जायेगा।

आम पकने वाला है। आम मे पकने की शक्ति है। मिठास रूप परिणमन करने की शक्ति है रस रूपी गुण उसमे है। अब देखो आम कब लगते हैं। जब आम लगते हैं और छोटे-छोटे रहते हैं तब सख्या मे बहुत होते हैं यदि उस समय आप उन्हे तोड लो तो क्या होगा। रस नहीं मिलेगा क्योकि वे अभी पके नहीं है। दो महीने बाद पकेगे। अब यदि कोई सोचे कि ठीक है अभी तोड लो दो महीने बाद तो पकना ही है पक जायेगे। भइया! पकेगे नहीं बेकार हो जायेगे। यह क्यों हुआ? आम के पास पकने की क्षमता तो है और दो महीने चाहिये पकने के लिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हे अभी तोडकर दो महीने बाद पका लो। वे तो वहीं डठल के ऊपर टहनी के ऊपर लगे रहे तभी पकेगे। वाह्य निमित्त भी आवश्यक है। दो महीने तक उगते रहे, हवा पानी खाते रहे सूर्य प्रकाश लेते रहे तभी पकेगे।

इतना अवश्य है कि सभी आमो का नम्बर एक साथ नहीं आयेगा इसलिए यदि आप चाहे तो दो महीने से पद्रह दिन पहले तोडकर एक साथ पाल मे रख दें, पॉच दिन तक तो बिल्कुल एक साथ पककर आ जायेगे। दो महीने तक ही डाल पर लगे रहे यह भी नियम नहीं रहा और दो महीने पहले तोड़कर रख लें तो पकेगे यह भी नियम नहीं रहा। योग्यता और बाह्य निमित्त दोनो को लेकर ही कार्य होगा।

मुक्ति के लिए आचार्यो ने बताया है कि हम ऐसे पकने वाले नहीं है। जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते हैं। इस प्रकार ससार मे लटकते-लटकते हमे मुक्ति नहीं मिलेगी। पाल बिसे माली ऐसा बारह भावनाओ के चितन करते समय निर्जरा भावना मे कहा है। जो आसन्न भव्य है वह अपने आत्म-पुरुषार्थ के माध्यम से तप के द्वारा आत्मा को तपाकर अविपाक निर्जरा कर लेता है और शीघ्र मुक्ति पा जाता है यही मोक्ष तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

एक बात और कहता हूँ अपनी। काम कुछ करना न पडे और लाभ प्राप्त हो जाये इसलिए हमने एक बार दूसरे को कह दिया कि तुम आम तोड़ो और तोड़ने के उपरान्त कच्चे ही आधे तुम्हारे और आधे हमारे हैं हिस्सा कर लिया। अब उन्हे पकाने का ठिकाना भी अलग-अलग कर लिया किन्तु उतावलापन बहुत था। शाम को पकाने पाल मे डाले और सुवह उठकर उनको दबा-दबाकर देखा कि पक गये। दो दिन मे ही सारे आम मुलायम तो हो गये पर हरापन नहीं गया और मीठापन भी नहीं आया। पकने का अर्थ होता है कि मीठापन और मुलायमपन आना चाहिये।

कुछ नहीं मिला सारा काम विगड़ गया। ध्यान रहे एकाग्रता न होने से कुछ नहीं मिल पाता।

एकाग्र होकर साधना करनी चाहिये। निराकुल होकर साधना करनी चाहिये। यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत रखना। इच्छा का अर्थ है संसार और इच्छा का अभाव है मुक्ति, मुक्ति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे पाने कहीं जाना है वह मुक्ति तो निराकुल भावों का उद्घाटन करना है अपने अंदर।

आज तक राग का बोलवाला रहा है। वास्तव में देखा जाये तो संसारी प्राणी के दुख का कारण है राग। 'संसार सकल त्रस्त है आकुल विकल है और इसका कारण एक ही है कि हृदय से नहीं हटाया विषय राग को हमने हृदय में नहीं विठाया वीतराग को जो है शरण तारण-तरण।' अत अपने को वीतरागता को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये और राग को हटाना चाहिये। राग के हटने पर ही वीतरागता आयेगी। जहाँ राग रहेगा वहाँ वीतराग अवस्था नहीं हैं, राग में धीरे-धीरे कमी लाये। राग में कमी आते-आते एक अवस्था मे राग समाप्त हो जायेगा ओर पूर्ण वीतराग-भाव प्रकट होंगे। वह प्राणी स्वभावनिष्ठ वनेगा और सारा ससार नतमस्तक हो जायेगा।

सुख को चाहते हुए भी हम राग को नहीं छोड़ पाते इसलिए दुख को नहीं चाहते हुए भी दुख पाते हैं। राग है दुख का कारण। सुख का कारण है वीतराग। दोनों ही कहीं वाहर से नहीं आते। राग वाहर की अपेक्षा अवश्य रखता है किन्तु आत्मा में ही होता है और वीतराग भाव पर की अपेक्षा नहीं किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। वाह्य की अपेक्षा का अर्थ है ससार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यदि अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आवे और संसार से उपेक्षा हो जावे तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं।

मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपनाकर निर्ग्रन्थता अपनायें। सव ग्रथिया खोल दें। एकाकी होने का प्रयास करें कोई व्यक्ति देश से देशान्तर जाता है तो सीमा पर उसकी जाच की जाती है कि कहीं कोई आपत्तिजनक चीज तो लेकर के नहीं जा रहा। इसी प्रकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही है कि आप कुछ छिपाकर ले नहीं जा सकते वाह्य और अंतरंग सभी प्रकार के सग को छोडकर जव तक आप अकेले नहीं होओगे। तव तक मुक्ति का पथ नहीं खुलेगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये वीतरागता के प्रतीक हैं। इन तीनों के साथ कोई वाह्य आडम्बर नहीं रह सकेगा, सांसारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एक मात्र शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह तव माना जाता है जव शरीर के प्रति मोह हो शरीर को मात्र

मोक्षमार्ग मे साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है वह व्यक्ति निस्पृह है और वही मुक्ति का भाजक वन सकता है। एक द्रव्य मुक्ति होती है और दूसरी भाव मुक्ति। द्रव्य मुक्ति, भाव मुक्ति पूर्वक ही होती है अर्थात् भाव मुक्ति हुए विना द्रव्य मुक्ति नहीं होती। द्रव्य मुक्ति का अर्थ है नोकर्म अर्थात् शरीर और आठ कर्मो का छूटना। और भाव मुक्ति का अर्थ है मोह भाव का हट जाना। दो व्यक्ति है और दोनों के पास एक-एक तोला सोना है। मान लो, उसमे एक वेचने वाला है दूसरा बेचने वाला नहीं है। तो जो बेचने वाला नहीं है वह भावो की तरफ सोने के भाव की तरफ नहीं दौडेगा किन्तु जो बेचने वाला है वह भावो की ओर भाग रहा है उसे सोने का अभाव है नींद नहीं आती ठीक से। तो सोने के लिए नींद लेने के लिए सोने के भाव की तरफ मत देखो, सोना तब भी ज्यो का त्यो रहेगा।

मोहभाव का हट जाना ही मुक्ति है। जो भी दृश्य देखने मे आ रहे हैं उन सभी के प्रति मोह हटना चाहिये। जिन-जिन वस्तुओ के प्रति आपका मोह है वही तो ससार है और जिन-जिन पदार्थो के प्रति मोह नहीं है उन-उन पदार्थो की अपेक्षा आप मुक्त है। पडौसी के पास जो धन-पैसा है उससे आपका कोई सरोकार नहीं है लेकिन आपने अपने पास जो रख रक्खा है उसमे आपने अपना स्वामित्व माना है उस अपेक्षा से आप वधे है मुक्त नहीं है। मोह का अभाव हो जाये तो आज भी मुक्ति है उसका अनुभव आप कर सकते हैं।

आज भी रत्नत्रय के आराधक, रत्नत्रय के माध्यम से अपनी आत्मा को शुद्ध वनाने वाले साधक, ऐसे मुनि-महाराज है। जो आत्म-ध्यान के वल पर स्वर्ग चले जाते है और वहाँ इन्द्र या लौकान्तिक देवे होते है और फिर मनुष्य होकर मुनि वनकर मोक्ष को प्राप्त करते है। मुक्ति आज भी है ओर ऐसी मुक्ति कि जैसे कोई यहाँ से देहली जा रहा है एकदम एक्सप्रेस से लेकिन वह एक्सप्रेस गाडी वीच मे रुक कर के जाती है पटरी नहीं वदलती उसी पटरी पर चलती है लेकिन कुछ विश्राम लेती है डायरेक्ट नहीं जाती। आज डायरेक्ट मुक्ति तो नहीं है वीच मे इन्द्र रूप या लौकान्तिक रूप स्टेशन पर रुकना पडता है। यह रुकना, रुकना नहीं कहलाता क्योकि वह उस मोक्ष पथ से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन छूटतानहीं है इसलिए रत्नत्रय की जो भावना यहाँ भायी है वह रुकने के उपरान्त भी वनी रहती है। भावना रहती है कि कव रत्नत्रय मिले। इस प्रकार एक-एक समय वीतता है और श्रुत की आराधना करते हुए इन्द्र या लौकान्तिक आदि देव अपना समय व्यतीत करते है।

वधुओ ! मुक्ति का मार्ग है तो मुक्ति अवश्य है। आज भी हम चाहे तो रागद्वेष

का अभाव कर सकते है। सासारिक पदार्थो की अपेक्षा जो किसी से रागद्वेष नहीं है वही तो मुक्ति की भूमिका है। यह जीवन आज बन सकता है। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते हैं। अभी आपकी रुचियाँ अलग हो सकती है। धारणा अलग हो सकती है विश्वास अलग हो सकता है किन्तु यदि व्यक्ति चूक जाता है तो अन्त मे पश्चाताप ही हाथ लगता है। यह स्वर्ण जैसा अवसर है यह जीवन बार-बार नहीं मिलता इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान मे रखकर इसका मूल्याकन करना चाहिये।

जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहो को सहर्ष अपनाता है। महावीर भगवान ने जो रास्ता वनाया, बनाया ही नहीं बल्कि उसी रास्ते से गये हैं वह रास्ता उपसर्ग और परीषहो मे से होकर गुजरता है। मुनिराज इसी रास्ते पर चलते हैं। यह रास्ता वातानुकूल हो सारी की सारी सुविधाए हो ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग तो यही है जो परीषह-जय और उपसर्गो से प्राप्त होता है।

उत्साह के साथ, खुशी के साथ अपना तन-मन-धन सब कुछ लगाकर मुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिये। इस बार निश्चय करे कि हे भगवन् अपने को किस प्रकार मुक्ति मिले। मुक्ति तो अविपाक निर्जरा का फल है और अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से होती है तो हम तप करे। भगवान से प्रार्थना करें और निरन्तर भावना करें कि हमारे मोहजन्य भाव पलट जाये और मोक्षजन्य भाव जो हैं जो निर्विकार भाव हैं वे जागृत हों।

□□

❑ अनेकान्त

पूज्य गुरुदव (स्व० आचार्य ज्ञानसागर जी) के सान्निध्य मे मेरा 'दर्शन' (फिलासफी) का अध्ययन चल रहा था। उस समय के विचार या भाव आज भी मेरे मानस मे पूर्ववत् तरगायित है। मैने पूछा– 'महाराज जी ! आपने कहा था कि मुझे न्याय-दर्शन का विषय कठिनाई से हस्तगत होगा, इसका क्या कारण है? वे बोले– देखो, प्रथमानुयोग– पौराणिक कथाओ और त्रेशठ शलाकापुरुषो का वर्णन करने वाला है वह सहज ग्राह्य है। करणानुयोग– भूगोल का ज्ञान कराता है, दूरवर्ती होने के कारण उस पर भी विश्वास किया जा सकता है। चरणानुयोग मे आचरण की प्रधानता है अहिंसा को धर्म माना है। किसी को पीडा दो– यह किसी भी धर्म में नहीं कहा गया इसलिए यह भी सर्वमान्य है। किन्तु द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आगम ओर अध्यात्म ये दो प्ररूपणाये चलती है। प्रत्येक आत्मार्थी, अध्यात्म को चाहता है अत जहॉ पर इसका कथन मिलता है वहॉ तो साम्य हो जाता है परन्तु 'आगम' मे साम्य नहीं हो पाता।

'ध्यान' के विषय में भी सव एकमत हैं। ध्यान करना चाहिये– मुक्ति के लिए यह अनिवार्य हे किन्तु ध्यान किसका करना? उसके लिए ज्ञान कहॉ से कैसे प्राप्त करे? यह सव 'आगम' का विषय है। आगम के भी दो भेद हैं कर्म सिद्धान्त और दर्शन। कर्म सिद्धान्त को सारी दुनिया स्वीकार करती है अपने-अपने ढग से, दृष्टियॉ अलग-अलग है लेकिन कर्म को सबने स्वीकृत किया है। अब रहा दर्शन। दर्शनके क्षेत्र मे तत्त्व चिन्तक अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विचार प्रस्तुत करते है ऐसी स्थिति मे छद्मस्थ (अल्पज्ञ) होने के कारण वैचारिक सघर्ष सभव है।

इतना सब सुनने के उपरान्त मैने सहज ही पूछ लिया कि महाराज जी इस सबसे आपका क्या आशय है? वे बोले– 'देखो ! षट्दर्शन के अन्तर्गत वास्तवमे जैन-दर्शन कोई अलग दर्शन नहीं है। वह इन छह दर्शनो का सम्मिलत करने वाला दर्शन है। जो छह दर्शनो को लेकर अलग-अलग भाग रहे है उन सभी को एकत्र करके समझने और समझाने वाला यह जैन दर्शन है।' मैंने कहा– तब तो इसके लिए सभी के साथ मिलन की और समता-भाव की बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। महाराज जी हँसने लगे और बोले

कि इसीलिए तो मुनि बनाया है। मुनि बनने के उपरान्त समता आनी चाहिए तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो जैनदर्शन को भी नहीं समझ सकोगे।

बधुओ ! जैन दर्शन को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन-दर्शन किसी की वकालत नहीं करता अपितु जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से लैस होकर सघर्ष की मुद्रा मे आता है उसे साम्यभाव से सुनकर सही-सही जजमेट लेता है निष्पक्ष होकर निर्णय करता है।

आज हम लोगो के सामने ३६३ मतो की कोई समस्या नहीं उठ सकती, उन्हे समझा और समझाया जा सकता है। बशर्ते कि हम सबकी बात सुने और समझे। किसी की बात को काटना नहीं है क्योंकि जिसका अस्तित्व है इसका विनाश संभव नहीं है। विनाश की प्रवृत्ति सघर्ष को जन्म देती है।

हमे जानना चाहिये कि अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो क्योकि दुनिया मे ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान् की देशना (उपदेश) से सर्वथा असम्बद्ध हो। हम दूसरे की बात समतापूर्वक सुने और समझे। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्धि का विकास होते हुए भी समता के अभाव मे दूसरे के विचारो को ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ पाने से जो लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता।

विविध प्रकार के ३६३ मतो का उद्गम कहाँ से हुआ, जरा विचार करें। तो ज्ञात होगा कि इनका उद्गम तीर्थकर की अनुभय भाषा मे खिरने वाली वाणी का सही-सही अर्थ नहीं समझ पाने से हुआ। केवलज्ञान होने के उपरान्त तीर्थकर की दिव्य-ध्वनि खिरती है। यह दिव्य-ध्वनि अनक्षरी होती है। इसमे वचन अनुभय रूप होते हे। सभी प्राणी जिसे सुनकर अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अर्थ लगा लेते हैं। जिसका होनहार अच्छा होता है जो पुरुषार्थ करता है वह दिव्य ध्वनि के माध्यम से सन्मार्गपरअग्रसर हो जाता है और जिसे अभी ससार ही रुचता है वह वस्तु स्थिति को नहीं समझता हुआ विभिन्न मतों मे उलझ जाता है।

विविध ३६३ मतो के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैनदर्शन का अनुयायी सहज ही झेल लेता है। कोई समस्या ही नहीं है स्याद्वादी के सामने। निष्पक्ष होकर निर्णय लेने वाले जज को कभी परेशानी नहीं होती। वकील लोग भले ही इधर की उधर या उधर की इधर बात करते रहे लेकिन जज के मुख पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। वह दोनो पक्षो को सुनता है समझता है। दोनों पक्ष एकागी होते है इसीलिए झगड़ा होता है यह बात जज जानता है। वह एक तरफा दलीलें सुनकर न्याय नहीं करता।

एकागी होकर न्याय हो भी नहीं सकता। न्याय तो अनेकान्त से ही सभव है। स्याद्वादी ही सही निर्णय लेने मे सक्षम है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान से कहता है कि आप अज्ञानी है। तो वे समता भाव से कह देगे कि हॉ, यह भी ठीक है। आप लोग तो सुनते ही लडने को तैयार हो जायेगें कि हमारे भगवान अज्ञानी नहीं हो सकते। आपके भीतर जिज्ञासा बलवती होगी। आप सोच मे पड गये होंगे कि क्या ऐसा भी सभव है। तो भइया, कथचित् यह सभव है। केवलज्ञानी भी कथचित् अज्ञानी साबित हो जायेंगे। यदि आप इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा देखे तो इन्द्रिय-ज्ञान केवली भगवान को नहीं होता इस अपेक्षा से वे अज्ञानी हो गये। आपके पास पॉच मे से चार ज्ञान हो सकते है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्यय ज्ञान। लेकिन भगवान के पास तो एक ही ज्ञान है। ऐसी स्थिति में वे अज्ञानी हो गये (श्रोताओ मे हॅसी)। यही है सापेक्ष दृष्टि। इसी को कहते हैं अनेकान्त दर्शन।

एक नैयायिक मत है जो 'ज्ञानादिविशेष गुणाभाव मुक्ति' — ज्ञानादि विशेषगुणों के अभाव को मुक्ति मानता है। भगवान् कहते हैं कि हाँ, कथचित् आपकी बात भी ठीक है। 'ठीक है' — ऐसा कहने से उसका स्वागत हो जाता है। मित्रता बन जाती है वह आकर समीप बैठ जाता है। सम्यग्दर्शन कोई मोम का थोड़े ही है कि पिघल जाये। आप सोचते हैं कि ऐसा करने से कहीं मेरा सम्यग्दर्शन न टूट जाये। सम्यग्दर्शन में सर्वाधिक दृढता होती है। वज्र टूट सकता है लेकिन सम्यग्दर्शन ऐसा खण्डित नहीं होता। अत पहले सामने वाले की बात स्वीकार करो फिर अनेकान्त के माध्यम से समझाओ कि देखो, चार ज्ञान का तो अभाव, केवलज्ञान होने पर हम भी मानते हैं। केवलज्ञान विशेष नहीं सामान्य है, शक्ति की अपेक्षा वह तो हमेशा बना रहता है। केवल अर्थात् नथिंग एल्स, ऑनली नालेज— कुछ भी नहीं मात्र ज्ञान।

ज्ञानादि विशेष गुणो का अभाव हो जाता है, तो विशेष को जैन-दर्शन में पर्याय माना है और पर्याय का अभाव तो होता ही है गुण का अभाव कभी नहीं होता। गुण त्रैकालिक होता है यह बात भी माननी चाहिये। इस प्रकार मित्रता के माहौल में सारी बात हो तो धीरे-धीरे अनेकान्त के माध्यम से आँख खुल सकती है। संसार मे जो विचार वैषम्य है उसका कारण है दृष्टि की सकीर्णता। आचार्य कहते है कि विचार-वैषम्य को यदि मिटाना चाहते हो तो दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। सभी के विचार सुनकर अनेकान्त के आलोक मे पदार्थ का निर्णय करना ही समझदारी है।

अनेकान्त की प्ररूपणा के लिए सहायक है नयवाद। भगवान ने केवलज्ञान के माध्यम से जो भी जाना उसकी प्ररूपणा की नयवाद के माध्यम से। यद्यपि केवली भगवान 'अपगत श्रुत' माने जाते हैं फिर भी उनको द्रव्यश्रुत का आलम्बन लेना पडता है। वे

वचन योग के माध्यम से उसे लेकर द्वादशाग वाणी के स्रोत बन जाते है इसलिए मूलकर्त्ता वही है। उन्होने सारी बात जानकर यही कहा कि किसी की बात काटो मत, सबकी सुनो, समझो और जहॉ भी थोड़ी गलती हो रही है उसे सुधारने का प्रयास करो। तभी वस्तु के बारे मे ठीक-ठीक ज्ञान होगा।

नय,एक-एक धर्म के विश्लेषक है और धर्म एक ही वस्तु मे अनन्त माने गये है। 'अनेकान्तात्मक वस्तु' या 'अनन्तधर्मात्मक वस्तु'। वस्तु अलेक धर्मो को लिए हुए है। अनेक अन्ता धर्मा यस्मिन विद्यन्ते इति अनेकान्त -- अर्थात् अनेक धर्म जिसमे समाविष्ट है ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु है। उसे जानने के लिए छद्मस्थ का ज्ञान सक्षम नहीं है। इसलिए उस ज्ञान से प्रत्येक धर्म का आशिक ज्ञान तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अत वस्तु नित्य है, अनित्य है, ध्रुव है, अध्रुव है इस प्रकार एक-एक धर्म की प्ररूपणा करते है। भगवान ने केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ देखा-जाना वह सब प्ररूपित नहीं है वह तो अनन्त है। श्रुत को अनन्त नहीं माना, अनन्त का कारण अवश्य माना है। जितने शब्द-भेद हैं जितने विकल्प है उतने ही श्रुत है। श्रुत अनन्त नहीं असख्यात है। यदि हम विकल्पो में ही उलझे रहे तो केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वाद-विवाद से परे निर्विवाद होने के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेकान्त का अवलबन लिया गया है।

वास्तव मे अनेकान्त कोई वाद नहीं है। अनेकान्तात्मक वस्तु है और उसका प्ररूपण करने वाला वाद है स्याद्वाद। वस्तु मे जो अनेक धर्म है उनका प्ररूपण करने वाला जो श्रुत है वह एक अश को पकड़ने वाला एक धर्म को पकडने वला है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अर्थही कथचिद्वाद अर्थात् नयवाद। यह बहुत गुण है इसे चक्र की उपमा दी गयी है। नयचक्र कहा गया है। मै इस ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ जब कौरवो और पाण्डवो के बीच युद्ध हो रहा था, द्रोणाचार्य कौरवो की ओर हो गए। चक्रव्यहू की रचना की गयी। पॉडवो की ओर से अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जिसे 'वीर' की उपाधि दी गयी थी, कौरवो द्वारा निर्मित चक्रव्यूह मे विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवेश कर गया। वह प्रवेश तो कर गया क्योकि प्रविष्ट होने का ज्ञान तो उसे था पर निकलने का नहीं था। ठीक ऐसा ही आज हो रहा है। अनेकान्त का, स्याद्वाद का सहारा ले तो लेते है लेकिन ठीक-ठीक समझ नहीं पाने से उसी में उलझकर रह जाते हैं।

अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति बहुत ही धीर-गम्भीर होता है, समीचीन दृष्टि वाला होता है वह निर्भीक होता है लेकिन ध्यान रखना निर्दयी कदापि नहीं होता। निर्दयी होना और निर्भीक होना-- एक बात नहीं

है। कभी-कभी हम कोई बात जोर से कहते है। तो आपको लगता होगा कि महाराज ! बहुत जोर से बोलते है इसलिए कषाय तो होती होगी। तो भइया ! आचार्य वीरसेन स्वामी कहते है कि कषाय के साथ सक्लेश परिणामो का अविनाभाव सबध नहीं है। 'ण कसायउड्ढी असादबधकारण तक्काले सादस्स वि बधुवलभा।[१] अर्थात् कषाय की वृद्धि असाता वेदनीय के बध का कारण नहीं है वहाँ सातावेदनीय कर्म का भी बध होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लोग कषाय करना प्रारम्भ कर दे, नहीं, ऐसा मत करना। यहाँ आशय इतना ही है कि सही बात जोर से भी कही जाये, एक बार ही नहीं बार-बार कही जाये, तो इसमे सत्य का समर्थन है उसे बल मिलता है। जैसे आप लोग मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि दो-तीन बार तक कहते है और जोर-जोर से कहते है। ऐसा कहते हुए भी होश नहीं खोते। वहॉ जोश अवश्य होता है पर रोष नहीं होता।

वदार्थो विचराम्यह नरपते ! शार्दूल विक्रीडिलम्— आचार्य समन्तभद्र स्वामी की बात बडे मार्के की है। वे कहते है कि मै सिंह के समान सत्य को कहने के लिए विचरण करता हूँ। यह निर्भीकता की बात है। यहाँ सक्लेश नहीं है। सिह के स्वभाव के बारे मे भी आपको जानकारी होनी चाहिये। सिह मनुष्य की तुलना में अधिक दयावान है। कर्म सिद्धान्त कहता है कि सिह यदि कषाय भी करे तो उसके फलस्वरूप पचम नरक तक जा सकता है परन्तु मनुष्य की कषाय इतनी तीव्र होती है कि सप्तम नरक का भी उद्घाटन कर सकता हैं।

अनेकान्त के रहस्य को पहचानना चाहिये। दूसरे का विरोध करने की आदत ठीक नहीं है। कोई कुछ कहे उसे सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिये। कहना चाहिये कि हॉ भाई, आपका कहना भी कथचित् ठीक है। 'भी' का अर्थ अनेकान्त और 'ही' का अर्थ है एकान्त। 'भी' में कथचित् स्वागत है और 'ही' मे आग्रह है दूसरे को नकारना है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और अस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण है। प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है उसे नकारा नहीं जाना चहिये। जो उसे नकार देता है तो सोचिये उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है। द्रव्य पर श्रद्धान रखने वाला मात्र अपने आत्मा पर ही श्रद्धान नहीं रखता, इसलिए आत्मद्रव्य की भाँति जो अन्य द्रव्य है उन पर भी श्रद्धान आवश्यक है। वस्तु को प्रत्येक पहलू से देखना, समझना और निराग्रही होकर स्वीकार करना यही अनेकान्त के रहस्य को समझना है।

स्याद्वाद को समझने के लिए नयो की व्यवस्था की गयी है। नयो के बिना हम

---

१ धवला पुस्तक ६ पृ० १८२ "कषायो की वृद्धि होने पर भी वहॉ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है तथा कषायों की हानि होने पर भी छठे गुणस्थान तक असाता का बन्ध होता रहता है अत कषाय वृद्धि को सक्लेश का लक्षण नहीं माना जा सकता। (विशेषार्थ, ६/१८२)

ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। 'नय' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो ले जाता है वह नय है। नयति इति नय। कहाँ ले जाता है? तो कहना होगा अनेकान्तामक वस्तु की ओर ले जाता है। इतना ही नहीं, यह भी समझना होगा कि एक ही नय इसके लिए सक्षम नहीं है। नय को एक अर्थ ऐसा भी है कि नय एव नयनं– नय ही नयन अर्थात् ऑख है। ऑख सभी के पास है। लेकिन कितनी हैं। सभी कह देंगे कि दो हैं। तो ऐसे ही नय भी कम से कम दो है। दोनो ऑखो से देखकर ही सही निर्णय लिया जा सकता है। जब दोनो ऑखे आपस मे लड़ती है तब आत्मा को दुख हो जाता है।

समझने के लिए यदि दाहिनी आँख दायी ओर पड़ी वस्तु देख रही है और आप दोनो ऑखो के वीच नाक पर एक दीवार खींचकर पार्टीशन वनाले फिर देखे तो ज्ञात होगा कि उस समय दूसरी वायीं ऑख किसी अन्य वस्तु को अपना विपय नहीं बनाती वल्कि सहयोगी वनती है। यदि आप जवरदस्ती दोनो ऑखो से दो अलग चीजों को विषय वनाना चाहेंगे तो माथे मे दर्द होने लग जाएगा। देख लेना, आप इसे स्वय करके।

एक बात और कि ऑखो के द्वारा वस्तु को देखना है तो एक ऑख को गौण करना होता है। बद करना होता है। अभी तीन-चार दिन पूर्व ही पण्डित जी की आँख की जाच चल रही थी ऑगन मे तो डाक्टर (आई-स्पेशलिस्ट) ने कहा था– पण्डित जी ! एक ऑख हाथ से वद कर लीजिये। पण्डित जी ने एक आँख पर हाथ रख लिया। थोड़ी देर बाद उसने कहा– अव इसे खोल लीजिये और दूसरी ऑख बंद कर लीजिये। यह सव क्या है? सोचिये, पण्डित जी को दोनों आँखो से देखना चाहिये, अच्छा देखने में आयेगा लेकिन ऐसा नहीं है डाक्टर का निर्णय ही सही है। एक आँख दूसरे की सहयोगी बनती है और मुख्य गौण रूप से काम करती है। जब दूरबीन आदि से दूरवर्ती वस्तु को या सूक्ष्मदर्शी के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को आप देखते हैं तो भी एक ऑख वंद कर ली जाती है। वह गौण हो जाती है। यही वात नय के विषय में है।

नय जो है उसके माध्यम से समग्र वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता इसलिए मुख्य रूप से दो नयों की व्यवस्था है और वे है व्यवहार नय और निश्चय नय। दोनों नय उपयोगी हैं। अमृतचद्र आचार्य ने कलशा मे लिखा है कि देखों ! जो व्यवहार नय को नहीं मानोगे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से कहा जाए तो व्यवहार नय का अर्थ है विश्व-कल्याण और निश्चय नय का अर्थ है आत्म-कल्याण। लेकिन ध्यान रखना मात्र निश्चय नय से आत्म-कल्याण तो कर ही नहीं सकते, विश्व-कल्याण भी नहीं कर सकते। जिसको आत्मा का कल्याण करना है उसे चाहिये कि दुनिया के सारे गोरख धंधे छोडकर मुनिव्रत धारण कर लें। समता-भाव पूर्वक दोनों नयों को आलम्बन लेना होगा।

भगवान ने निश्चय नय से अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में रहकर विना किसी

सहारे के जाना है। निश्चय नय से वे आत्मज्ञ है। साथ ही व्यवहार नय से व सर्वज्ञ भी है। इसलिए उन्होंने दोनो नयो का कथन करके व्यवहार नय को 'पर' के लिए रखा और निश्चय नय को 'स्व' के लिए। अत स्व-पर के भेदविज्ञान के माध्यम से ही 'प्रमाण' की ओर बढा जाता है।

एक नदी के तट पर मै एक वार गया था। वहुत सुहावना दृश्य था। नदी वह रही है निर्वाध गति से, लहरें नहीं है नदी शान्त है। जव नदी की ओर देखना वद करके तट की ओर दृष्टिपात किया तो विचार आया ओहो ! नदी कोई चीज अलग और तट कोई अलग चीज है। कूल के वीच अर्थात् तटो के वीच वहने वाली नदी है। एक ओर का कूल (तट) दूसरे ओर के कूल (तट) के लिए तो प्रतिकूल ही है। एक की दिशा दक्षिण है तो पृथक् दूसरे की उत्तर की ओर है। एक पूर्व की ओर है तो दूसरे की पश्चिम की ओर। दोनो पृथक्-पृथक् है। कभी मिलेगे भी नहीं, मिल भी नहीं सकते। जैसे रेखागणित मे वताया कि समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती नहीं है ऐसा ही यहाँ है। नदी के दोनो तट एक दूसरे के प्रतिकूल है। परन्तु वधुओ ! एक कूल दूसरे के लिए प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए तो अनुकूल ही है। इसी तरह व्यवहार नय, निश्चय नय के लिए और निश्चय नय व्यवहार नय के लिये अनुकूल न होकर भी 'प्रमाण' के लिए अनुकूल है और प्रमाण प्रमाण तो नदी है।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि हम लोगो के लिए प्रमाण है, नदी के समान निर्मल है। जो लोग निश्चय नय या व्यवहार नय को लेकर लड रहे है वे नदी को ही समाप्त कर रहे है। अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष है अभी पानी वहुत पीना है। अभी ऐसे लोग भी आयेंगे जो दोनो तटो को सुदृढ वनायेंगे, इतना मजवूत वनायेगे कि नदी अवाध रूप से, अनाहत गति से वहती चली जाए। महावीर भगवान् की दिव्य ध्वनि एक निरन्तर प्रवाहमान निर्झर के समान है आप उस शीतल वाणी रूपी पेय पीकर तृप्त होए। तट कुछ भी नहीं है परन्तु तट के विना शीतल सुस्वादु पानी भी प्राप्त नहीं होगा। एक भी तट विच्छिन्न हो जाता है तो नदी का पानी छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए दोनों तटो को रखिये और उस प्रमाण रूपी नदी मे अवगाहन कीजिये जिसमे आत्मानुभूति सम्भाव्य है।

नयों को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण यह ससारी प्राणी विभिन्न मत-मतान्तरो मे उलझ जाता है। मात्र तट की ही सेवा करने वाला कभी पानी नहीं पी सकेगा। हम तो कहते है कि कोई अनादिकालीन प्यासा व्यक्ति होगा तो वह सीधा डुवकी लगाये विना नहीं रहेगा। डुवकी तट मे नहीं लगायी जाती पर इतना अवश्य है कि तट के माध्यम से डुवकी लगायी जायेगी। जो इस ओर से आयेगा वह इस तट की प्रशसा करेगा, उधर से आने वाला उस तट की प्रशसा करेगा लेकिन तट पर ठहरेगा नहीं, डुवकी लगायेगा

तभी गहराई मिलेगी जहाँ बस आनन्द ही आनन्द है। मैं डुबकी लगा रहा हूँ तो मुझे आनन्द हो रहा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि इधर-उधर तट की ओर मत देखो शीघ्र ही अपनी प्यास बुझा लो।

अमृतचंद्र आचार्य ने एक स्थान पर पुण्य-पाप अधिकार में यह उल्लेख किया है कि नय दो हैं मुख्य रूप से निश्चय और व्यवहार। जो व्यक्ति एकमात्र व्यवहार नय के माध्यम से क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं वे आत्मानुभूमि से वंचित रह जाते हैं और जो निश्चय नय का महत्त्व क्या है यह नहीं समझते और मात्र निश्चय, निश्चय रटते चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। उन्होंने कहा है ज्ञाननयैषिण' — अर्थात् जो ज्ञान को भी एकान्त रूप से मानकर चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। दोनों नयों को जानकर भी जो असंयमी रह जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। जो संयमी है अप्रमत्त है वे ही तैर पाते हैं।

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय, निश्चय-वादी भी डूबे। क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे। प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे। आत्मध्यान में लीन, किन्तु मुनि तीन लोक पै तैर रहे।

यहाँ पर आचार्य द्वारा प्रयुक्त प्रमत्त शब्द समझने योग्य है। प्रमाद के ही फलस्वरूप यह जीव संसार में भटकता रहा है। प्रमाद एक ऐसा प्रत्यय है जो बाहर भटकता है। आत्मा के लिए आत्मा की ओर जाने में एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित कर देता है। प्रमाद अर्थात् कुशलेषु अनादरः प्रमादः। भीतर जो आत्म-तत्त्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है उसका नाम प्रमाद है। जिसमें हमारा हित निहित है उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति ही प्रमाद है। अनादिकाल का यह प्रमाद,, हम लोगों का हटा नहीं है।

स्व जीवितें कामसुखे च तृष्णया,
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान्,
अजागरें वात्म विशुद्धवर्त्मनि।।

हे भगवन्! आपने बड़ा अद्भुत काम किया। क्या किया? देखो दिन रात यह संसारी प्राणी कहाँ फँसा हुआ है? कहाँ अटका हुआ है? इन्द्रियों के सुख की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन में तो नाना प्रकार से परिश्रम करके थक जाता है और रात्रि होने पर बिस्तर पर ऐसा गिर जाता है जैसा कि मुहावरे में कहा है कि घोड़े बेचकर सोता है। उसे होश भी नहीं रहता किन्तु रात भर सोकर जब पेट पुनः खाली हो जाता है तो फिर उठता है और वही क्रम शुरु हो जाता है ऐसा करते करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। लेकिन हे भगवन्! आप आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्षमार्ग में जागते ही रहे दिन रात।

यही अप्रमत्त दशा आपकी श्रेयस्कर है।

मैं यही कहना चाहूँगा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त कोई 'वाद' नहीं है। वस्तु का समीचीन कथन करने वाला स्याद्वाद अवश्य है। जो सब वादो को खुश कर देता है। जो कोई भी एकान्त को पकडे हुए है उसे स्याद्वाद के माध्यम से जो कुछ देने योग्य है द देना चाहिये। जैसे एक व्यक्ति विजय पाने युद्ध क्षेत्र मे जा रहा है और मात्र तलवार लेकर खडा है तो आप क्या कहेगे उसे, 'कि तू गलत है, रणागण मे जाने की तुझे कोई बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, तुझे विजय प्राप्त नहीं हो सकती।' नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं है। उससे कहना होगा कि भइया ! आपने तलवार तो ले ली, यह बहुत अच्छा किया, दूसरे पर प्रहार किया जा सकता है लेकिन आत्म-रक्षा तो नहीं की जा सकती अत एक ढाल भी ले लेना चाहिये।

निश्चय नय ढाल की तरह है आत्म की सुरक्षा करता है और व्यवहार नय तलवार के समान है जा 'पर' के ऊपर वार करने के काम आता है। इस आत्म-सुरक्षा के लिए 'निश्चय' रखो और दूसरे के लिए– उसे समझाने के लिए 'व्यवहार' को अपनाओ। तलवार और ढाल के वीच एक समन्वय है दोनों का जोडा (युग्म)है। दोनो से सज्जित सैनिक ही अपने वाहुबल से विजय प्राप्त कर सकता है। करता भी है। जिसके पास निश्चय रूपी ढाल है वह आत्मा के स्वभाव की ओर ध्यान रखेगे उसकी सुरक्षा करेगा और विपय कषायो को जिनको तोडना है जिनको छोडना है उन्हे तलवार रूपी व्यवहार के माध्यम से हटाता चलेगा। व्यवहार नय को छोडो मत, उसे निश्चय के साथ रखो। व्यवहार सापेक्ष निश्चय ओर निश्चय सापेक्ष व्यवहार ही मोक्ष मार्ग मे कार्यकारी है। मात्र व्यवहार ही नय से तीन काल मे भी केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, नहीं होगा नहीं होगा। साथ ही व्यवहार के माध्यम से 'समता धारण किये विना, निश्चय नय का विषय वीतराग विज्ञान भी नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा।

अव इसके आगे और क्या कहूँ, भइया ! आपका समय पूरा हो गया। हम तो यही कहना चाहते है कि अपने विवेक को जाग्रत रखो। यदि पट्दर्शनों का अध्ययन करोगे तो आपको स्वत ज्ञात हो जाएगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु क्या है? जव 'अप्टसहस्री' और 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' – इन ग्रथो को मैं पढ रहा था, महाराज जी (पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी) के पास तो वे शकित हुए कि मैं इसमे सफल हो पाऊँगा या नहीं किन्तु यह मात्र आशका ही सिद्ध हुई। मैं समझ गया इसमें कोई सदेह नहीं कि जिस व्यक्ति के समता आ जाएगी, वह सारे के सारे विरोधी प्रश्नों को पचा जायेगा और उनके सही-सही उत्तर देने मे सक्षम हो जयेगा। समता के विना ममता के साथ यदि प्रमत्त दशा मे जीवन-यापन करोगे तो विजय श्री का वरण नहीं कर सकोगे।

वह भी एक समय था जब भगवान महावीर के जमाने मे अनेकान्त की प्रशसा होती थी लेकिन आज अनेकान्त को मानने वाले स्याद्वाद के अभाव मे परस्पर विवाद कर रहे हैं। अन्य जैनेतर भाई कहते है कि भइया ! आपके पास तो स्याद्वाद रूपी एक ऐसा अचूक नुस्खा है कि आप हमारी अपनी और सभी की समस्या को निपटा सकते है लेकिन आज आप स्वय ही आपस मे क्यो झगड़ रहे है। उन्हे भी विस्मय होता है। इसलिए बधुओ ! समता धारण करो। यदि कोई व्यक्ति एकान्त पकड़ लेता है तो भी आपका यदि वीतराग समता भाव है तो अवश्य उस पर प्रभाव पड सकता है। धीरे-धीरे उसे सत्य समझ मे आने लगेगा। स्याद्वाद का अर्थ– 'मेरा ही सही' – ऐसा है। 'ही' से 'भी' की ओर बढ़ना– यह स्याद्वाद का लक्ष्य है।

६ के आगे ३ हो तो ६३ बनता है और ३ के आगे ६ हो तो होगे ३६। ३६ की स्थिति मे तो अनेकान्तात्मक वस्तु मिट जाती है स्याद्वाद समाप्त हो जाता है। जब ६३ हो तो मिलन की स्थिति होती है सवाद होता है। स्याद्वादी पीठ नहीं दिखाता किसी को। पीठ दिखाने का अर्थ है उपेक्षा करना, घृणा करना। एक दूसरे की ओर मुख किये हुए ६ और ३ अर्थात् ६३, यह ६३ शलाका पुरुषो के प्रतीक है। आज तिरेसठ शलाका पुरुष वर्तमान मे यहाँ नहीं है तो भी उनके द्वारा उपदेशित अनेकान्त दर्शन, सभी दर्शनो और मत-मतान्तरो के बीच समाधान करने वाला है। एकान्त को लिए हुए जो ज्ञान है वह अहितकारी सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक ज्ञान हमारे लिए हितकारी है। अनेकान्त को मानने वाले जैन लोग है। एक व्यक्ति ने सुझाया था कि 'जैन' शब्द की अपेक्षा जैनी शब्द ठीक है। अँग्रेजी मे 'JAIN' शब्द मे एक आई (I) है। आई (Eye) का एक अर्थ ऑख भी है। 'JAINI" शव्द मे दो आई यानी दो ऑखे है। यह अनेकान्त की प्रतीक है। दो ऑखे दो नय के समान हैं। दोनो नयो के माध्यम से हम प्रमाण (ज्ञान) को समीचीन रूप से आत्मसात कर सकते है। इसी मे हमारा आत्मकल्याण भी निहित है।

मेरा आपसे यही कहना है कि सब वादो मे जितने भी वाद है विवाद है उनके बीच सवाद बनाये। स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु-स्थिति को समझे और सत्य को प्राप्त करे। सुख की उपलब्धि का यही मार्ग है।

प्रवचन पंचामृत

☐ जन्म : आत्म कल्याण का अवसर

पच-कल्याणक की प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण करना तो विद्वानो और गणधरपरमेष्ठी के लिए भी शक्य नहीं पर फिर भी 'क्या छोडना है और क्या ग्रहण करना है' – यह ज्ञान यदि हमे इन पॉच दिनो के अन्दर हो जाता है तो यह हमारा सौभाग्य होगा। धर्म की अधिकाश बाते सूक्ष्म है और परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रिय-ज्ञान गम्य नहीं है। फिर भी पूर्वाचार्यो ने उन सभी बातो को कहने और लिपिबद्ध करके हमे समझाने का प्रयास किया है। उस साहित्य के माध्यम से हमे समझने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही इन शुभ-क्रियाओं को देख कर अपने जीवन को सॅभालने का प्रयास करना चाहिए।

कल जहॉ सध्या के समय हम सामायिक करने वाले थे वहॉ कुछ लोग आये और कहने लगे– महाराज ! कल जन्म-कल्याणक महोत्सव है। आप भी जुलूस के साथ पाडुक शिला तक चले और कार्यक्रम मे सम्मिलित होवे तो अच्छा रहेगा। हम सभी को बड़ा आनन्द आयेगा। तो हमने कहा– भैया ! हमारा कार्य तो दीक्षा कल्याणक के दिन से ही शुरू होगा। अभी तो आपका कार्य है। आप जानो और मै नहीं आया। यद्यपि मेरे पास समय था, मै आ सकता था, लेकिन नहीं आने के पीछे कुछ रहस्य भी था, जिसके माध्यम से कुछ बाते आपको समझानी थीं।

यह मैं भी जानता हूँ कि जन्म कल्याणक मे सौधर्म इन्द्र आता है। अपने हाथो से बालक आदिनाथ को उठाने का सौभाग्य पाता है और जीवन को कृतकृत्य मानता है। इन्द्राणी-शची भी इस सौभाग्य को पाकर आनन्द-विभोर हो जाती है और अपने सासारिक जीवन को मात्र एक भव तक सीमित कर देती है। इस अवसर को प्राप्त करके वह नियम से एक भव के पश्चात् मुक्ति को पा लेती है। इतना सौभाग्यशाली दिन है यह। फिर भी हमारे नहीं आने के पीछे रहस्य यह था, बधुओ ! हमारा धर्म वीतराग धर्म है। जन्म से कोई भी भगवान नहीं होता। जिनकी धारणा हो कि भगवान जन्म लेते है तो वह ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर तो गृहस्थाश्रम मे ही मुक्ति माननी होगी और राग के साथ केवलज्ञान मानना होगा जो कि सभव

नहीं है। जन्म कल्याणक और जन्माभिषेक तो राग-दशा मे होते हैं। इसमे आप सम्मिलित हो यह तो आपका कर्त्तव्य है। क्योकि सरागी श्रावक के लिए तो इसी मे धर्म है। श्रावक की धार्मिक क्रियाओ मे पूजा-प्रक्षाल-अभिषेक आदि शामिल है। अशुभ राग से छूटने तथा वीतरागता को प्राप्त करने के लिए शुभ राग का आलम्बन आवश्यक है। आपको शुभ राग के कार्यो मे जितना आनन्द है उतना ही हमे वीतरागता मे आता है। हमारी दशा अर्थात् साधु की स्थिति आपसे भिन्न है। जैसा अभी-अभी पडितजी ने भी कहा था (प कैलाशचन्दजी सिद्धाताचार्य)। इसलिये हमारा उस अवसर पर आना सम्भव नहीं हुआ।

आपने जन्म-कल्याणक का आनन्द लिया जो आपके लिये उचित ही है लेकिन सही पूछो तो असली आनन्द का दिन कल आने वाला है। जब आदिनाथ का दीक्षा-कल्याणक होगा। वे सारे परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रथ-दिगम्बर होकर तपस्या के लिये निकलेगे। आपके चेहरे फीके पड सकते हैं क्योकि कल से छोड़ने-त्यागने की बात आयेगी। पर बधुओ ! ध्यान रखना आनद तो त्याग मे ही है। आप कह सकते है कि महाराज ! कल तो छोडना ही है इसलिए क्यो ना हम आज ही आदिनाथ को भगवान मान ले? पूज्य मान ले? तो यह ध्यान रखना कि होनहार भगवान और साक्षात् भगवान मे बहुत अन्तर है। पूज्यता तो भगवान बनने पर ही आती है पच-परमेष्ठी ही वीतराग-धर्म मे पूज्य माने गये हैं। क्योकि वे वीतरागी हो गए है।

जन्म कल्याणक के समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और करोडो की सख्या मे देव लोग आते हैं। पाडुक-शिला पर बालक-तीर्थकर को ले जाकर जन्म-कल्याणक मनाते हैं। अभिषेक पूजन और नृत्य-गानादि करते है। रत्नो की वृष्टि होती है। जिसने आज जन्म लिया, यह जन्म लेने वाली आत्मा भी सम्यग्दृष्टि है। उसके पास मति-श्रुत और अवधिज्ञान भी है। हमारे यहाँ जिनेन्द्र भगवान के शासन मे पूज्यता मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं आती, पूज्यता तो वीतरागता से आती है। सम्यग्दर्शन के साथ जन्म हो सकता है परन्तु वीतरागता जन्म से नहीं आ सकती। इसलिये जन्म से कोई भगवान नहीं होता। जब आपका बच्चा बोलना शुरू करता है तब तोतला बोलता है। इधर उधर की कई बाते भी करता है आपको अच्छी भले ही लगती हो लेकिन वे प्रामाणिक नहीं मानी जातीं क्योकि वह अभी बच्चा है। मनुष्यायु का उदय होने पर भी बच्चे को कोई मनुष्य नहीं कहता। यह कोई नहीं कहता कि मनुष्य जन्मा है सभी यही कहते हैं कि बच्चा जन्मा है। इसी प्रकार जो आज जन्मे है वे अभी भगवान नहीं है अभी तो वे बालक आदिनाथ ही कहलायेगे। वच्चे ही माने जायेगे।

दूसरी बात यह भी है कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने उन मुनियों को भी प्रमत्त

कहा है, ना-समझ कहा है जो स्वात्मानुभूति से च्युत होकर शुभ-क्रियाओ मे लगे हुए है। तब ऐसी दशा मे अभी जिस आत्मा ने जन्म लिया है, जो वस्त्र-आभूषण पहने हुए है उसे वीतरागी मानकर, भगवान मानकर कोई मुनि कैसे पूज सकता है? मै अभी उसका सम्मान करूँ, स्वागत करूँ यह नहीं हो सकता। अभी वह आत्मा तीर्थकर नहीं बनी। जिस दिन यह आत्मा राग के ऊपर रोक लगायेगी अर्थात् सयम को ग्रहण करेगी, उस दिन मैं बार-बार उसे नमोस्तु करूँगा और अपने-आपको सौभाग्यशाली समझूँगा क्योकि वह महान् भव्य आत्मा निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करते ही अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करेगी, मन पर्यय ज्ञानी होगी, वर्धमान चारित्र को प्राप्त करेगी और तप के माध्यम से ससार के आवागमन से मुक्त होगी सिद्धालय मे विराजेगी।

आपके मन मे यह भाव आ सकता है कि महाराज ! जब अभी उस आत्मा के पास पूज्यता नहीं है तो हम जन्म कल्याणक क्यो मनाये? ऐसा नहीं सोचना चाहिए। भइया ! यह तो सारा का सारा नियोग है और इद्र आकर स्वय इस सारे कार्यक्रम को यथाविधि सम्पन्न करता है। जिसे देखकर हमे ज्ञात होता है कि एक जीवात्मा ने विगत जीवन मे कैसा अद्भुत पुरुषार्थ किया, जिसका फल स्वर्गादिक मे भोगकर पुन यहाँ मनुष्य जन्म लेकर सासारिक सम्पदा और वैभव को भोग रही है। और इतना ही नहीं इसके उपरात मुनिव्रत धारण करके मुक्तिश्री को प्राप्त करेगी। ऐसी भव्य तद्भव मोक्षगामी आत्मा की जन्म-जयती मनाना श्रावक का सौभाग्य है, पर इसका यह आशय नहीं है कि सामान्य व्यक्ति की जन्म-जयती मनाई जाये। आज तो यहाँ जो भी मनुष्य उत्पन्न होगा चाहे मनुष्य उत्पन्न हो चाहे मनुष्य गति से आये, तिर्यचगति या नरकगति से आये अथवा चाहे देवगति से आये वह सम्यग्दर्शन लेकर नहीं आ सकेगा। ऐसी दशा मे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के साथ जन्म-जयती मनाना उचित नहीं है। बधुओ ! समझो ! यह कौन सी पर्याय है?कब और कैसे हमे मिली है? इसके माध्यम से कोई भी धार्मिक क्रिया बिना विवेक के नहीं करना चाहिए। जो भी धार्मिक क्रियाये करो उनको विवेक पूर्वक करो ताकि आवागमन मिट सके। कर्म के बधन, कर्म की बेड़िया/शृखलाये ढीली हो सके ओर हमारा भविष्य उज्ज्वल बन सके।

कर्म के बन्धन तोडना इतना आसान भी नहीं है कि कोई बिना पुरुषार्थ किये ही कर ले। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये यह कार्य आसान नहीं हो सकता। जिसे एक बार रुचि जागृत हो जाये और जो रत्नत्रय की साधना करे उसे ही यह कार्य सहज है- आसान है। जन्म से लेकर जब तक आठ वर्ष नहीं बीत जाते तब तक

यहाँ सभी मिथ्यादर्शन के साथ ही रहते है। यह पचमकाल है और उसमे भी हुण्डावसर्पिणी काल है। आठ वर्ष के उपरात भी सम्यग्दर्शन हो ही जाये ऐसा नियम भी नहीं है। और दूसरी बात यह कि सम्यग्दर्शन हुआ भी या नहीं हुआ– यह ऐसे मालूम नहीं पड़ सकता क्योकि जो अस्सी साल के वृद्ध हो गये और अभी रत्नत्रय उपलब्ध नहीं हुआ, जीवन मे त्याग नहीं आया तो सम्यग्दर्शन का क्या भरोसा? रत्नत्रय की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि है। आप लोग धन के अभाव मे दरिद्रता मानते है पर वास्तविक दरिद्रता तो वीतरागता के अभाव मे होती है। राग-द्वेष और विषय कषाय ही दरिद्रता के कारण है। गर्भ और जन्म-कल्याणक मे देवो के द्वारा होने वाले रत्नो की वर्षा से आपके घर की दरिद्रता भले ही मिट जाती हो लेकिन मोक्षमार्ग मे दरिद्रता तभी मिटेगी जब हम त्याग की ओर बढेगे, वीतरागी होगे।

आज एक भव्य आत्मा देवगति से शेष पुण्य का फल भोगने के लिये यहाँ आयी है। वह अपने जीवन काल के अन्तराल मे केवल भोग मे ही रची-पची रहे-ऐसी बात नहीं है। वह तो सारे भोग-वैभव को छोडकर दीक्षा ग्रहण करेगी। जो आज भोग-सम्पदा और देव-सम्पदा का अनुभव करने वाले हैं वे होनहार भगवान आदिनाथ कल इस सारी माया-ममता को छोडेगे। क्यो छोड़ेगे? इसलिए छोडेगे कि आवागमन का कारण माया-ममता ही है। आत्मा के अहित विषय-कषाय है। यही भगवान जिनेन्द्र की देशना है। हम लोगो के लिए उपदेश है। ये रागद्वेष और विषय-कषाय ही आत्मा को बन्धन मे डालने वाले है एक मात्र विरागता ही मुक्ति को प्रदान करने वाली है। समयसार मे कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है–

रत्तो बधदि कम्म, मुचदि जीवो विराग सपण्णो।
ऐसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५७।।

राग से जीव बधता है और वैराग्य से मुक्त होता है यही बध तत्त्व का कथन सक्षेप मे जिनेन्द्र देव ने कहा है इसलिए राग नहीं करना चाहिए। आप यह जो भी कार्यक्रम कर रहे है वह अपना कर्त्तव्य मानकर करे क्योकि यही बालक आदिनाथ आगे जाकर तीर्थकर बनेगा और हमे वीतरागता का सदुपदेश देगा। यह स्वय भी परिपूर्ण होगा और हमे भी सही रास्ता दिखायेगा। आगम मे उल्लेख है कि दो चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे, तब नीचे खेलते हुए भावी तीर्थकर बालक को देखकर उनकी धर्म-शकाये दूर हो गयीं थीं उन्हे समाधान मिल गया था। पर एक बात और थी कि उन मुनिराजो ने उस भावी तीर्थकर बालक को नमोस्तु नहीं किया। सोचिये शकाओ का निवारण हो गया, वह बालक तीर्थकर होने वाला है। मुनि स्वयं भी मन:पर्ययज्ञान के द्वारा जान रहे होगे परन्तु वे मुनिराज

राग का समर्थन नहीं करते। वे सरागी बालक को नमस्कार नहीं करते।

एक वात और ध्यान रखना कि वीतरागी ओर अरागी मे वहुत अन्तर है। अरागी उसे कहते है जिसमे रागद्वेष रूप सवेदन की शक्ति ही नहीं रहती। जिसमे जानने-देखने रूप शक्ति भी नहीं रहती अर्थात् जड वस्तु अरागी है। सरागी वह है जो विषय-कषाय से युक्त है। राग-द्वेष कर रहा है। और वीतरागी उसे कहते है जिसमे राग पहले था लेकिन अब उसने छोड दिया है। विगत राग यस्य यस्मात् वा इति विराग। होनहार भगवान अभी वीतरागी वनने के लिये उम्मीदवार है और जब वीतरागी बनेंगे तभी वे तीन लोक मे सभी के द्वारा पूज्यता/आदर के पात्र होगे। तभी हम भी नमोस्तु करेंगे। यही वीतराग-धर्म की महिमा है। इसे समझना चाहिए और आचार्यो ने जो अपने जीवन भर की अनुभूतियो को शास्त्रो मे लिखा है उसके अनुरूप ही धार्मिक क्रियाये विवेक पूर्वक करनी चाहिए। सच्चे देव गुरु शास्त्र की उपासना के माध्यम से हमे अपनी श्रमण-सस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिये। उसमे चार-चाद लगाना तो वडे भाग्यशाली जीवो का ही कार्य है लेकिन जितना मिला है उतना तो सुरक्षित रखने का प्रयास हमे करना ही चाहिए। भइया ! अभी करीब साढे अठारह हजार वर्ष पचमकाल के शेष है। काल की अपेक्षा श्रावक धर्म और मुनि धर्म मे शिथिलता तो आयेगी लेकिन शिथिलता आना बात अलग है और अपनी तरफ से शिथिलता लाना अलग वात है। आत्मानुभूति की कलियॉं धीरे-धीरे मुरझाती जायेगी लेकिन समाप्त नहीं होगी।

जव फसल पकने को होती है, दस वारह दिन शेष रह जाते हैं तो किसान एक वार पुन पानी देता है। यद्यपि पानी का प्रभाव अव फसल के लिये विशेष लाभप्रद नहीं होता परन्तु फिर भी साधक तो होता ही है। इसी प्रकार हमे भी समय-समय पर धार्मिक कार्य करते रहना चाहिये और समय-समय पर आने वाली कुरीतियो कुप्रणालियो से वचते रहना चाहिए।

आज इस जन्म कल्याणक के दिन हमे विचार करना चाहिए कि जन्म, शरीर का हुआ है। आत्मा तो अजर-अमर है, वह जन्मता मरता नहीं है। मात्र आवागमन हो रहा है। इस आवागमन से मुक्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यही कल्याणकारी है। शरीर का कल्याण नहीं करना है, हमे आत्मा का कल्याण करना है। शरीर की पूजा नहीं करनी, शरीर मे वैठी हुई रत्नत्रय गुण से युक्त आत्मा की ही पूजा करनी है। उसी की जयन्ती मनानी है। अमूर्त आत्मा की प्राप्ति में शरीर तो साधन मात्र है। इसका अभिमान नहीं करना चाहिए।

एक वार की वात है। इन्द्र की सभा चल रही थी। इन्द्र स्वयं पृथ्वी के चक्रवर्ती

शरीर के प्रति वैराग्य और जगत् के प्रति संवेग— ये दो बातें ही आत्म कल्याण के लिए आवश्यक है। चार प्रकार के उपदेश होते हैं। जिसमे संवेगनीय और निर्वेगनीय— ये दो उपदेश ही जीव के कल्याण में मुख्य रूप मे सहायक बनते हैं। आक्षेपणी और विक्षेपणी धर्मकथा/धर्मोपदेश न आदि में काम आते हैं और न ही अतमें सल्लेखना के समय काम आते हैं। वे तो मध्य के काल मे उपयोग लगाने के लिये ही उपयोगी हैं। इसलिये संवेग और वैराग्य की बाते ही साधक को मुख्य रूप मे ध्यान में रखना चाहिए। उन्हीं का बार-बार चिंतन-मनन करना चाहिए।

कुछ समय के उपरांत फिर इन्द्र की सभा मे चर्चा आई और इन्द्र ने कहा कि हम तो यहाँ मात्र शास्त्र-चर्चा मे ही रह गये और वहाँ पृथ्वी पर साक्षात् चारित्र को धारण करने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती धन्य हैं। महान् तपस्वी को देखना चाहो तो इस समय मात्र सनत चक्रवर्ती के अलावा कोई दूसरा नहीं है। उन दो देवों को बडा आश्चर्य हुआ कि वह चक्रवर्ती क्या तप करेगा उसे तो अपने रूप का अभिमान हो गया था। फिर भी उन्होंने सोचा कि चलो चलते हैं। चलकर देखेंगे। दोनों भेष बदलकर पहुँचे। बोले महाराज ! आपको क्या हो गया। आपकी कंचन जैसी काया थी। सारी कुष्ट-रोग से गल गयी है। आप चाहो तो हम इसे पहले जैसी कर सकते हैं। आप बहुत पीडा महसूस कर रहे होंगे। हम आपको इस रोग से मुक्त करा सकते है। अब सनत चक्रवर्ती तो राजा से महाराज हो गये। मुनिराज हो गये थे। बोले भइया ! इससे भी भयानक एक रोग और है मुझे। हो सके तो उसका इलाज कर दो। दोनो देव बोले- आप हमें बतायें। हम ठीक कर देंगे। ऐसा कोई रोग नहीं जिसकी औषध जिसका इलाज हमारे पास न हो मुनिराज कहने लगे-भइया ! मुझे तो जन्म-जरा-मृत्यु का रोग है आवागमन की पीडा है। कोई ऐसी औषध बताओ जिससे मेरा ससार मे आना-जाना रुक जाये। वे देव स्वय उसी से पीड़ित थे। तब महाराज बोल-भइया ! शरीर के रोग का इलाज कोई इलाज नहीं है। ये शरीर में आया हुआ रोग तो कर्म-निर्जरा मे सहायक है। संवर पूर्वक की गई निर्जरा से ही आना-जाना रुकता है। मुक्ति मिलती है। आत्मा स्वस्थ हो जाती है। देव ऐसा सुनकर गद्‌गद हो उठे और कहने लगे कि आप वास्तव मे चारित्र के धनी हैं। आपको मुक्ति मिलेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तो बन्धुओं ! यह काया कंचन जैसी भले ही हो जाये लेकिन यह तो पौद्‌गलिक रचना है। जैसे-जैसे आयु कर्म क्षीण होता जाता है यह भी बिखरती जाती है। पूरण और गलन ही इसका स्वभाव है। आचार्यो ने कहा है कि जब तक आयु कर्म है प्रति समय मृत्यु हो रही है। जन्म लिया है तो मृत्यु अवश्य ही होनी है। ये चक्र

अनादिकालीन है। इस अनादिकालीन आवागमन से मुक्त होने के लिये जन्म लेने वाली आत्मायें विरली ही होती है। हमें भी अपनी चैतन्य-शक्ति को पहचान कर इस जड़ पुद्गल शरीर को साधन बनाकर आवागमन से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। खूब विचार कर लीजिये कि हम किस ओर जा रहे हैं। अभी रात शेष है। कल दीक्षा-कल्याणक है। शरीर से आत्मा को पृथक् मानने के उपरांत इस शरीर से मोह छोड़ने की बात आने वाली है। उसी मार्ग पर सभी को बढ़ना चाहिए। जिससे इस संसार का अंत हो सके।

रे मूढ ! तू जनमता मरता अकेला,
कोई न साथ चलता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ-पूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड़ के जब अंत वेला।।[१]

□□

---

१ निजानुभवशतक– आचार्य श्री विद्यासागर कृत, ३३

☐ तप : आत्मशोधन का विज्ञान

आज इस शुभ-घडी से मुनि ऋषभदेव आत्मा-साधना प्रारम्भ करक परमात्मा के रूप मे ढल रहे है। वे भेद-विज्ञान प्राप्त कर चुके है। यही भेदविज्ञान उन्हे केवलज्ञान प्राप्त करायेगा। आत्म-साधना ही केवलज्ञान तक पहुँचाने मे समर्थ है। अद्भुत है यह आत्म-साधना। भेदविज्ञान जब जागृत हो जाता है तो हेय का विमोचन और उपादेय का ग्रहण होता है। यद्यपि अभी उन्हे उपादेय तत्त्व की परम प्राप्ति नहीं हुई है। तथापि हेय के विमोचन क लिए इनके कदम बढ ही चुके ह। उपादेय की प्राप्ति हो जाये उसके उपरात हम हेय का विमोचन करे– ऐसा नही है। हेय का विमोचन करने पर ही उपादेय की प्राप्ति सम्भव है।

बत्तीस मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणो मे आकर नौकर-चाकर की तरह हाथ जोडे खडे रहते हैं और उनकी सेवा मे ही अपना सौभाग्य मानते है। स्वर्ग सम्पदा जिनके चरणो मे रहती है ऐसे भोग वैभव आज उन्होने त्याग दिये हैं। धन्य है उनकी भावना। अद्भुत है उनका भेदविज्ञान। त्याग तो इनका ही सच्चात्याग है कि वे अब त्याग करने के बाद उस ओर मुडकर भी नहीं देखते। यहाँ तक कि किसी से बोलते भी नहीं। सारे सम्बन्ध, सारे नाते तोडकर मात्र अपनी आत्मा से इन्होने नाता जोडा है। जो भी आज तक अज्ञानतावश जोडा था वह सारा का सारा उन्हे नश्वर प्रतीत हुआ है। अब वे इस सबको कभी ग्रहण नहीं करेगे। उनका आवागमन भेदविज्ञान के बल से समाप्त होने वाला है। मै भी यही चाहता हूँ कि भगवन् ! यह अवसर मुझे भी प्राप्त हो। आप कह सकते हैं कि महाराज ! आपको तो प्राप्त हो ही गया है। सो आपका कहना कथचित् ठीक है लेकिन बधुओ ! मै तो उस भेदविज्ञान की प्राप्ति की बात कर रहा हूँ जो साक्षात् केवलज्ञान दिलाने मे सक्षम है।

आचार्यो का कहना है कि आज इस पचमकाल मे साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति सभव नहीं है। अभी मुक्ति तक पहुँचाने वाली डायरेक्ट ट्रेन उपलब्ध नहीं है। अभी तो बीच मे कम से कम दो स्टेशनो पर तो रुकना ही पडेगा। हा इतना आनन्द हमे अवश्य मिल रहा है कि हम तो ट्रेन मे बैठ गये है, भले ही एक स्टेशन बीच मे रुकना

पड़े पर पहुँचेगे अवश्य। आपकी आप जाने।

आज मुझे केवलज्ञान की बात विशेष नहीं करनी है। आज तो केवलज्ञान से पूर्व की भूमिका जो तपश्चरण है उसी की बात करनी है। केवलज्ञान दीक्षा लेने मात्र से नहीं मिलेगा। अभी तो शरीर तपेगा, मन भी तपेगा और वचन भी तपेगा, तव आत्मा शुद्ध होगी। कचन की भाति निर्मल/उज्ज्वल होगी। अभी तो मन, वचन और काय तीनो से निरावरित/निर्ग्रंथ-दशा का अनुभव करने वाले परिव्राज आदिनाथ ऋषि है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने चौवीस तीर्थकरो की स्तुति की है जो स्वयभू-स्तोत्र के नाम से प्रचलित है। उसके प्रारम्भ मे उन्होने आदि तीर्थकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है–

> विहाय य सागर वारिवाससं, वधुमिवेमां वसुधा वधू सतीम्।
> मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत।।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी दार्शनिक होकर भी अध्यात्म की गहराईयो को छूने वाले आचार्य हैं। प्रत्येक स्तोत्र मे उनकी लेखनी से जो दर्शन और अध्यात्म निकला है वह उनकी आत्मानुभूति का प्रतीक है। मुमुक्षु शब्द का प्रयोग उन्होने कहाँ किया है जहाँ त्याग प्रारम्भ मे है। त्याग के उपरात ही मुमुक्षु कहा है। जव तक वृपभकुमार राजा या राजकुमार रहे तव तक मुमुक्षु नहीं कहा। सर्व परिग्रह का त्याग करते ही वे मुमुक्षु कहलाये। मोक्तुं इच्छु' मुमुक्षु' मुच्लृ धातु से मुमुक्षु शब्द बना है जो कि छोड़ने के अर्थ मे आती है। जिसकी रक्षा के लिये चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई वाहुवली पर चक्ररत्न चला दिया उसी सागर पर्यन्त फैली हुई वसुन्धरा को, सारे धन-वैभव-ऐश्वर्य को, घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र सभी को उन्होने छोड़ दिया। जो अपना नहीं था उस सबको उन्होंने छोड़ा तभी वे मोक्ष मार्ग पर आगे वढ़े है।

आज वे प्रव्रज्या ग्रहण करके परिव्राज हुए है। दीक्षित हुए है। व्रज कहते है त्यागने को, तैरने को, आगे वढ़ने को। वे आज सर्व परिग्रह का त्याग करके संसार से पार होने के लिये मोक्षमार्ग पर आगे वढे हैं वे अव मुनि है ऋपि हैं योगी हैं और तभी उनके लिये मुमुक्षु यह शब्द उपयोग में लाया गया है। भगवान वनने के लिए जो रूप उन्होने धारण किया है वह आवश्यक है। क्योंकि भगवान वनने मे जो वाधक कारण हैं उन्हें हटाना पहले आवश्यक होता है। वाधक तत्वो का विमोचन करके वे आज निरावरित दिगम्वरी दीक्षा धारण कर चुके है। तभी उनका मुमुक्षुपन सार्थक हुआ है।

मुमुक्षु वे कहलाते है जिन्होने अपना लक्ष्य मात्र मुक्ति वनाया है। ससार से ऊपर उठने का सकल्प कर लिया है। सिर्फ मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा रही है और

कोई कामना नहीं रही। जो वैभव मिला उसे खूब देख लिया उसमे रस नहीं मिला। रस उसमे था भी नहीं तो मिलेगा कहॉ से? नवनीत कभी नीर के मथन से नहीं मिलता। सुख-शाति और आनन्द तो अपनी आत्मा मे ही है। उन्होने उस आत्मा को ही अपने पास रक्खा। एक अकेला आत्मा और कुछ नहीं। उस आत्म-पद के अलावा सारे के सारे पद फीके पड गये। पर-पद का विमोचन करना और स्व पद का ग्रहण करना ही मुमुक्षुपन है। यही सम्यग्ज्ञान है। भेदविज्ञान है। भेदस्य विज्ञानम्। भेद कृत्वा यद्लभ्यते तत् भेदविज्ञानम्, भेद करके जो प्राप्त होता है वह भेदविज्ञान है। रागान्वित यद् ज्ञान तद् भेदविज्ञान न, वीतराग स्व सवेदन एव भेदविज्ञान अस्ति तदेव मुक्ते साक्षात् कारणम्। वीतराग विज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है।

ये वात ध्यान रखना भइया ! कि जब तक भोक्ता है तभी तक भोगो की कीमत है। भोक्ता जब उनसे मुख मोड लेता है तो भोग्य पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। यही वात ऋषिराज आदिनाथ मुनिराज की है। उन्होने आज से वैराग्य का रास्ता अपना लिया है और उस पर अकेले ही चल रहे हैं। बाह्य पदार्थो की शरण, बाह्य पदार्थों का सहारा छोडकर केवल अपनी आत्मा मे ही शरण का सकल्प कर लिया है। इसे कहते है दिगम्वरी दीक्षा। दिशाएँ ही अम्बर अर्थात् वस्त्र हो जिसका— ऐसा ये रूप है। इस रूप को धारण किये विना किसी को न मुक्ति आज तक मिली है और न ही आगे मिलेगी।

यह बाह्य मे निर्ग्रथता, अदर की शेष ग्रन्थियो को निकालने के लिये धारण की है। इसके लिये आचार्यो ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार चावल प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम धान के ऊपर का छिलका हटाना पडता है उसके उपरात उसकी ललाई हटायी जाती है तभी उसे पकाने पर सुगध आती है। ऐसा कोई यत्र नहीं बनाया गया आज तक कि जिसके माध्यम से पहले ललाई हटायी जाये फिर छिलका हटे। उसी प्रकार दिगम्वर हुए बिना जो शेष ग्रथियॉ है जो कि केवलज्ञान मे वाधक है, यथाख्यात चारित्र मे वाधक हैं, निकल नहीं सकती। वाहर से राग उत्पन्न करने वाली चीजो को जव तक नहीं हटायेगे, नहीं छोडेंगे तव तक अन्दर का राग जा नहीं सकता। लड्डू हाथ मे है, खाते भी जा रहे है और कह रहे है कि लड्डू के प्रति हमारा राग नहीं है तो ध्यान रखना कि गृहस्थावस्था मे रहकर ऐसा हजार साल तक भी करो तो मुक्ति सभव नहीं है। पर का ग्रहण राग का प्रतीक है। न्यूनाधिकता होना वात अलग है लेकिन राग को पैदा करने वाली चीजो का त्याग किया जाये। आज वृषभनाथ मुनिराज ने ऊपर का छिलका अर्थात् वस्त्राभूषण आदि छोड दिया। शरीर के प्रति निर्मम होकर अव अदर की लालिमा को भी निकालेंगे

और इसी कार्य के लिये उन्हे हजार साल की साधना करनी पड़ी।

एक साल नहीं, दो साल नहीं, हजार वर्ष तक ये तप चलेगा, साधना चलेगी। आपका ध्यान तो एक सैकेण्ड भी आत्मा मे नहीं ठहरता और आप कहने लगते है कि महाराज ! हमे मिलता ही नहीं आत्मा? कैसे मिले भइया? वर्षो की तपस्या के उपरान्त आत्म साक्षात्कार होता है। वृषभनाथ मुनिराज को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तो जन्म से ही प्राप्त थे और दीक्षा लेते ही मन-पर्ययज्ञान भी प्राप्त हो गया। चौसठ ऋद्धिया होती है उनमे से एकमात्र केवलज्ञान को छोडकर सभी उनको प्राप्त हो गयी हैं। फिर भी अभी हजार साल तक उन्हे छठे-सातवे गुणस्थान मे झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा मे रहना होगा। वार-बार छठे सातवे मे आने जाने का अर्थ यही है कि जरा देर ठहरकर बार-बार कषायो पर चोट करनी होती है। मै शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरा किसी से नाता-रिश्ता नहीं है-- ऐसी पवित्र भावना वार-बार भानी होती है और ध्यान रखना गृहस्थ अवस्था मे रहकर ऐसी भावना हजार साल भी भावो तो भी मुक्ति सम्भव नहीं है। यह कार्य तो मुनि वनने के उपरात ही करना सार्थक है। जव तक परिव्राज अवस्था प्राप्त नहीं करोगे, दिगम्वरत्व को धारण नहीं करोगे तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज ऋषभनाथ ने दीक्षा ग्रहण की है। आज भगवान बनने की भूमिका, मुक्त होने की भूमिका वनाई है। वीतरागता को जीवन मे प्रकट किया है जो हमारे लिये शरण योग्य हैं चत्तारि शरण पव्वज्जामि-अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म-- ये चारो ही हमारे लिये शरण लेने योग्य है।

समयसार कलशा मे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने एक कारिका लिखी है उसी का पद्यानुवाद किया था--

पद-पद पर वहु पद मिलते हे पर वे सब-पद पर-पद है
सब-पद मे वस पद है वह पद, सुखद निरापद निजपद है।
जिसके सन्मुख सव पद दिखते अपद दलित-पद आपद है
अत स्वाद्य है पेय निजी पद, सकल गुणो का आस्पद है। (१३९)

दुनिया के जितने भी पद है जिन्हे प्राप्त करने की लालसा ससारी जीव को लगी हुई है वे सभी पद निज-पद से दूर ले जाने वाले पद हैं। निज-पद पर धूल डालने वाले, उसे छिपाने वाले, यदि कोई कारण हैं तो वे पर-पद ही हैं। जिनकी चमक-दमक देखकर आप मुग्ध हो जाते है और अनेक गुणो के भडार-रूप आत्म-पद को, निज पद को नहीं समझ पाते, नहीं पा पाते है।

जो मार्ग आज वृषभनाथ ने चुना है वह मोक्ष-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जहॅा किसी

प्रकार का कटक नहीं है, बाधाये नहीं है, व्याधियॉ नहीं है। बडा सरल मार्ग है। जहॉ अनेक मार्ग मिलते हो वहॉ भटकने की भी सभावना हो सकती है लेकिन ये मोक्षमार्ग ऐसा है कि जहॉ पर अनेक मार्गो का काम ही नहीं है। अपने को पर-पदार्थो से हटा लेने और एकाकी बना लेने का ही मार्ग है। जो निषेध को समझ लेता है, वह विधि को सहज स्वय ही समझ लेता है। पर-पदार्थो को 'पर' जानकर स्वय की ओर आना सहज हो जाता है। यद्यपि आत्मा साक्षात् हमे देखने मे नहीं आती किन्तु आगम के माध्यम से आत्मानुभूति सभव हो जाती है। केवलज्ञान के माध्यम से आत्माओं न आत्मा का स्वरूप जाना/समझा। जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं है जिसकी किसी अन्य पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती, इन्द्रियों के द्वारा जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता ऐसी उस आत्मा को हम कैसे ग्रहण करे? तो आचार्य कहते है कि सीधा सा रास्ता है जो आत्मा नहीं है जो आत्म-स्वरूप से भिन्न है उसे छोडो। पूर्व ज्ञात हो जाये तो पश्चिम दिशा किधर है-- यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे ही मुक्ति क्या चीज है, यह पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुक्ति चाहते हो तो बधन है उससे बचो, उसे छोडो। आजादी पहले नहीं मिलती किन्तु बधन के अभाव होने के उपरात मिलती है। बधन के साथ यदि अनुभूति होगी तो वह मुक्ति की अनुभूति नहीं होगी, बधन की ही अनुभूति होगी।

जो वधन को वधन समझ लेता है, दु ख का कारण जान लेता है ओर उससे वचने का प्रयास करता है वही आजाद हो पाता है। उसे ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान होने के उपरात उस रूप आचरण भी होना चाहिए तभी उस ज्ञान की सार्थकता है।

एक व्यक्ति ने पूछा कि महाराज! हम लोगो के ऊपर आपदाये क्यो आती है? ग्रहो का प्रभाव हम पर क्यो पड़ता है? तो मैंने कहा भइया! बात यह है कि आपके पास दसवा ग्रह परिग्रह है इसी कारण अन्य नौ ग्रहो का प्रभाव भी आपके ऊपर खूब पडता है। जो परिग्रह का विमोचन करके अपनी आत्मा मे रम गया, उसके ऊपर वाह्य पदार्थो का प्रभाव नहीं पड सकता। वे समझ गये और हॅसने लगे। वोले महाराज! बात तो सही है। परिग्रह की परिभाषा ही यही है कि परि आसमन्तात् आत्मान ग्रहणाति स परिग्रह। जो चारो ओर से आत्मा तो खींचता है ग्रसित कर लेता है उसका नाम परिग्रह है। परिग्रह को आप नहीं खींचते वल्कि परिग्रह के माध्यम से आप ही खिच जाते है। परिग्रह आपको निगल रहा है। परिग्रह को आप नहीं भोगते बल्कि परिग्रह के द्वारा आप ही भोगे जा रहे हैं। परिग्रह सेठ-साहूकार वन चुका है और आप उसके नौकर।

जिसके पास परिग्रह नहीं है जिसने परिग्रह को छोड दिया है उसे कोई चिन्ता

नहीं सतानी। वह आनन्द की नींद लेता है। पर जिसके पास जितना ज्यादा परिग्रह है वह उतना ही बेचैन है। उसको न दिन में नींद है न रात में। बड़े-बड़े धनी लोग अच्छे-अच्छे गद्दो पर भी रात भर सो नहीं पाते। उन्हे चिता रहती है कि कहीं तिजोरी मे बन्द धन-पैसा-सोना लुट न जाये। तिजोरी मे बन्द सोना यद्यपि जड़ है यही कारण है कि जड/पुद्गल की सेवा मे लगा हुआ वह स्वय भी जड अर्थात् मूर्ख/अज्ञानी हो गया है। ज्ञानी तो वह है जिसको विषयो की आवश्यकता नहीं। जो परिग्रह का आश्रय नहीं लेता। वह तो मात्र अपनी आत्मा का ही आश्रय लेता है। यही कारण है कि वृषभनाथ मुनिराज ने सारे परिग्रह को छोड दिया और ज्ञानी होकर मात्र अपनी आत्मा के आश्रित हो गये हैं।

अध्यात्म-प्रेमी बधुओं को समझना चाहिए कि सही रास्ता तो यही है। परिग्रह को जब तक पकड रखा है तब तक मुक्त होना सम्भव नहीं है। परिग्रह को छोडे बिना ध्यान होना भी सम्भव नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव मे कहा है कि–

अनिषिध्याक्षसंदोह य साक्षात् मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धि शिरसासमहीधरम्।।२०।।३१।।

ध्यान के माध्यम से ही आत्मानुभति होती है। यदि कोई ध्यान को रत्नत्रय का आलबन लिये बिना, दिगम्बर हुए बिना ही साधना चाहे तो ध्यान रखना वह मस्तक के बल पर पर्वत को तोडने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है। ऐसा करने पर पर्वत तो फूटेगा नहीं उसका सिर जरूर फूट जायेगा। इसलिए भइया! साधना को जो क्रम है जो विधि बताई गयी है उसी के अनुसार करोगे तभी मुक्ति मिलेगी। जब दोषों को निकालोगे तब गुण प्रकट होंगे। गुण कहीं बाहर से नहीं आयेंगे वे तो दोषों के हटते ही अपने आप प्रकट हो जायेंगे। गुणों मे ही तो दोष आये है उन दोषो का अभाव होने पर गुणो का सद्भाव सहज ही हो जायेगा। स्वामी समन्तभद्राचार्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आप अठारह दोषो से रहित है इसलिए मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।

बंधुओ! सोचो, जिस परिग्रह का आज वृषभदेव मुनिराज त्याग कर रहे हैं उसे ही आप अपनाते जा रहे है तो मुक्ति कैसे मिलेगी? आप ज्ञानी कैसे कहे जायेंगे? रागपूर्वक ससार को श्री अपनाते जाने वाला ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञानी तो वही है जो भूतकाल मे भोगे गये पदार्थो का स्मरण तक नहीं करता और वर्तमान मे भोगों के प्रति हेयबुद्धि रखता है। समयसार जैसे महान् ग्रंथ मे आचार्य कुन्दकुंद स्वामी ने कहा है उसी का भावानुवाद–

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा
ज्ञानी, जिन्हे विषय तो विष दीखते है
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते है।।२२८।।

ऐसे ज्ञानी मुनिराज धन्य हैं जिनके दर्शन मात्र से ससारी प्राणी को वैराग्य का पाठ सीखने को मिलता है। यही ज्ञानी का लक्षण है। यही वीतराग सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। स्व-समय का अनुभव करने वाला भी यही है।

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी
तम्हिट्ठिदा सहावे, मुणिणा पावंति णिव्वाणं।।१५८।।

परमार्थ कहो, निश्चय कहो, समय कहो, केवली कहो या मुनि कहो, ज्ञानी कहो— यह सब एकार्थवाची हैं। अर्थात् ज्ञानी वही है जो समय अर्थात् आत्मा मे निहित है, शुद्ध मे निहित है, मुनिपने मे निहित है। ऐसा ज्ञानी ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और इसके अलावा अन्य कोई ज्ञानी नहीं है। आज तो विज्ञान का युग है प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको विज्ञानी मान रहा है लेकिन वास्तव मे देखा जाये तो वह ज्ञानी नहीं है। भइया! भावो मे ज्ञानीपना होना अलग बात है और मात्र नाम निक्षेप की अपेक्षा ज्ञानी होना अलग बात है। समयसार के अनुसार तो ज्ञानी पुरुष वही है जिसने बुद्धिपूर्वक विषयो का विमोचन कर दिया है जो निष्परिग्रही है जो अप्रमत्त है और अपनी आत्मा मे लीन रहता है। विषयो के प्रति हेयबुद्धि का अर्थ ऐसा नहीं है कि जैसे आप लोग किसी के घर मेहमान बनकर जाते हैं तो भोजन करते समय यदि मिठाई परोसी जा रही हो तो आप, 'बस-बस! अब नहीं चाहिए', कहते जाते है और खाते भी जाते है। हेयबुद्धि तो वह है जो वर्तमान में मिली भोग-सामग्री को भी छोड़ देता है। अतीत के भोगो की तो बात ही क्या?

भोग-पदार्थो को ग्रहण कर लेने के बाद जो यह कहता है कि ये तो पुद्गल हैं उसे समयसार में ज्ञानी नहीं कहा गया। सोचो! जब पुद्गल को पुद्गल ने ही खाया तो थाली पर खाने के लिए बैठने की जरूरत क्या थी? और अगर निमन्त्रण देकर किसी ने आपको बुलाया और पेट भर नहीं खिलाया, आपके मन पसन्द नहीं खिलाया तो यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि उनके यहाँ गये और उन्होने ठीक से खिलाया भी नहीं। यह ज्ञानी-पना नहीं है। जहाँ राग के साथ पदार्थो का ग्रहण किया जा रहा हो वहाँ विषयो का ही पोषण होता है। हां जहाँ पर राग नहीं है वहाँ पर विषय-सामग्री होने पर भी उसे निर्विषयी कहा जायेगा। मुनि महाराज वीतरागी होकर पदार्थो का उपभोग करते हे इसलिए वे भोक्ता नहीं कहलाते बल्कि ज्ञानी कहलाते

है निर्विषयी कहलाते हैं। सभी भोग्य पदार्थों का त्याग करने के उपरात, पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर मूलगुणों का पालन करते हुए आगम की आज्ञा के अनुसार वे पदार्थों का ग्रहण करते है इसलिये उन्हे ज्ञानी कहा गया है।

'पर' के प्रति राग का अभाव हो जाना ही 'स्व' की ओर आना है। 'पर' को 'पर' मानकर जब तक आप उसे नहीं छोड़ेंगे तव तक स्व समय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्व-समय का स्वाद तभी आयेगा जव 'पर' का विमोचन होगा। ऐसे स्व-समय को प्राप्त करने वाले वृषभराज मुनिराज के चरणों में रागी भी नतमस्तक हो रहे हैं। आज तो वैराग्य का दिन है। तप का दिन है। त्याग का दिन है। मेरे पास कुण्डलपुर में यहाँ के कुछ लोग आये और कहा कि महाराज! पंचकल्याणक महोत्सव किशनगढ़ मे होना है। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। उसके बिना काम नहीं चलेगा। आपको अवश्य आना है। मैंने कहा भइया! आप ले जाना चाहो तो ऐसे मैं किसी के कहने से आने-जाने वाला नहीं हूँ! हा इतना जरूर तय कर लो कि अगर मैं आ भी जाऊँ तो आप क्या करेगे? कार्यक्रम होंगे, सभी लोग लाभ लेंगे, यह तो ठीक है लेकिन आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम आयोजित करेंगे या अपनी भी कुछ फिकर करेंगे? हम वहां आयें या न भी आयें पर आपको जो करना हो वह अभी कर लो उसमें देर मत करो। सारा महोत्सव त्याग का ही है इसलिये त्याग के लिये देर करना ठीक नहीं।

वृषभनाथ मुनिराज तो मौन वैठे हैं। अपना कल्याण करने के लिये दीक्षा ले ली है। दूसरे की उन्हें फिक्र भी नहीं करनी है। पर एक आचार्य के लिये तो स्वयं भगवान् की आज्ञा है कि वह उपदेश के माध्यम से लोगों को त्याग की प्रेरणा दें। दीक्षा के अवसर पर आप लोगों को कुछ न कुछ त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। 'स्व' का आलंबन लेना ही जीवन है, 'पर' का आलंवन लेना, विषयों का आलंबन लेना मृत्यु की ओर वढना। इसलिये आप लोगो को विषयों से ऊपर उठकर निर्विषयी वनकर अपना जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए। और अधिक नहीं तो कम से कम त्याग के भाव तो करना ही चाहिए कि हे भगवन्! मैं कव सर्व परिग्रह से मुक्त होकर अपनी आत्मा का अनुभव करूँ। इस जीवन में आप लोगों को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ी शक्ति मिली है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। सभी को शक्तितस्त्याग अर्थात् यथाशक्ति त्याग तो करना ही चाहिए।

दो प्रकार से व्रतों के ग्रहण की वात आचार्यो ने कही है कि अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रतों का विस्तार भी वहुत लम्बा-चौड़ा हैं जैसे एक रुपया को महाव्रत कहें तो

एक पैसे से लेकर निन्यानवे पैसे तक सभी अणुव्रत-रूप मे कहे जायेगे। व्रत कोई भी हो छोटा नहीं होता। एक पैसे के बराबर भी यदि व्रत लिया जाये तो भी सार्थक है। व्रत-नियमो के सस्कार जीवन मे डालते-डालते ही वह समय भी आ सकता है जबकि हम महाव्रतो को धारण करके स्व-समय को प्राप्त कर ले।

इस महान तप-कल्याण के दिन हम अधिक क्या कहे? हम तो यही भावना करते हैं कि हे भगवन्! हमे जो रास्ता मिला है वह निर्वाण होने तक छूटे नहीं। जो रेल हमने पकडी है वह एक-दो स्टेशन बीच मे भले ही रुक जाये धीरे-धीरे भले ही पहुँचाये, पर जीवन मे मुक्ति मिलनी चाहिये। भगवान के जीवन को आदर्श बनाकर, उनके जीवन का आदर्श सामने रखकर हम भी अपने जीवन को सफल बनायें। कुदकुद स्वामी जैसे महान आचार्यो के ग्रथो के माध्यम से हमारी आखे खुल गयी। हमे ज्ञात हो गया कि क्या कर्म है? क्या ससार है और क्या मुक्ति है? साथ ही आचार्य ज्ञानसागरजी जो मेरे गुरु महाराज थे (आप लोगो को उनका स्मरण तो होगा ही क्योकि उनका अन्तिम समय अजमेर मे ही बीता) के आशीर्वाद से मुझे यह ज्ञान वैराग्य प्राप्त हुआ। उन सभी महान आत्माओ का स्मरण हमेशा बना रहे इसी भावना से इन पक्तियो द्वारा उनका स्मरण करता हू–

कुन्दकुन्द को नित नमू, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम-सुगन्धित महक मे, जीवन मम घुल गया।।

□□

☐ ज्ञानः आत्मोलब्धि का सोपान

आज मुनिराज वृषभनाथ भगवान बनने का पुरुषार्थ कर रहे है। एक भक्त की तरह भगवान की भक्ति मे लीन होकर आत्मा का अनुभव कर रहे है। ससार क्या है– इसके चितन की अब उन्हे आवश्यकता नहीं है किन्तु एक मात्र स्व-समय की प्राप्ति की लगन लगी हुई है। 'समय' का अर्थ यहाँ आत्मा से है। इस आत्मा की प्राप्ति के लिये ही साधना चल रही है।

'समय' की व्याख्या आचार्य कुदकुद स्वामी ने की है जो हमे उपलब्ध है। लेकिन सभी को उसका वोध नहीं हो पा रहा है इसलिये 'समय' की व्याख्या सक्षेप मे यहा आज करूँगा। समीचीनरूप से जो अपनी निधि को प्राप्त कर रहा है, जो अपने आपको सभालने मे लगा हुआ है तथा वहिर्मुखी दृष्टि को जिसने त्याग दिया है। ऐसी समय की व्याख्या प्रत्येक द्रव्य पर घटित हो जाती है किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से मोक्षमार्ग मे उपादेयभूत जो समय है वह स्व-समय है। जो अपने गुण अपनी पर्याय और अपनी सत्ता के साथ एकता धारण करते हुए बहिर्मुखी दृष्टि को हटाकर उत्पाद, व्यय और रहने रूप क्रिया मे लीन है उसका नाम 'समय' है। अपने को सही-सही जानना, अपने मे रहना और अपनी सुरक्षा करते रहना यही स्व-समय है। यहाँ पडाल मे कभी-कभी देखता हूँ कि स्वयसेवको की सख्या जनता से भी अधिक हो जाती है और स्वयसेवकों मे ही अव्यवस्था फैल जाती है। स्वयसेवक का अर्थ अगर आप गहराई से समझे तो स्वयसेवक कहो या कि स्व-समय कहो–एक ही बात है। अपने आपकी जो सेवा करता है वही वास्तविक स्वयसेवक है

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने-सवार्थसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए भव्य जीव के लिए एक विशेपण दिया है– स्व-हित उपलिप्सु – जो अपने हित को चाहता है। अपना हित किसमें है– यह भलीभति जानता है– वही भव्य है। स्व-पर कल्याण करने की दृष्टि तो अच्छी है परन्तु पर के कल्याण मे ही लग जाना और स्व को भूल जाना– यह उचित नहीं है। स्व-हित की इच्छा होना ही वास्तविक धर्मानुराग है, वास्तविक अनुकम्पा है, दया है और वास्तविक जैनत्व भी वही है। अपने ऊपर

कषाय रूपी वैभाविक भावों की जो सत्ता चल रही है, जो विकारी भावों का प्रभाव पड रहा है उसको मिटाने की जिज्ञासा जिसे हो वह भव्य है। इसके अलावा जो भी है उन्हे सज्जन भले ही कह दे, परन्तु निकट भव्य नहीं कह सकते।

भव्य का अर्थ होता है होनहार। 'भवितु योग्य भव्य' – जो होने योग्य हो। होनहार के लक्षण अलग ही होते है जिन्हे देखकर ही होनहार कहा जाता है। आप लोगो के घर मे जब कोई बच्चा पैदा होता है तो आप उसके कुछ विशेष लक्षणो को देखकर उसे होनहार कहते है। मान लीजिये दो बच्चे है, एक शैतानी करता है तो उसे शैतान कहते है और यदि शात रहता है तो होनहार निकलेगा– ऐसा कहते हैं। जो होने की योग्यता रखता है सैद्धातिक भाषा मे उसे ही भव्य कहते है। होने की योग्यता का अर्थ यही नहीं है कि वह बडा होगा। बडे तो सभी होते है। वय के अनुसार बढने का अर्थ होनहार नहीं है। होनहार तो आप उसे मानते है जिसमे आपकी इज्जत और घर की सन्कृति, परम्परा की सुरक्षा के लक्षण दिखाई देते है। हालाकि आप पालन-पोषण दोनो बच्चो का समान रूप से करेगे/करते है– यह बात अलग है लेकिन भीतर ही भीतर उस होनहार बालक के प्रति आपके मन मे प्रेम अधिक रहता है। गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम भी इसी प्रकार हुआ करता है। एक कक्षा में बहुत से विद्यार्थी होते है, गुरु सभी को एक सी शिक्षा देते है लेकिन जो गुणवान है, होनहार है उनके प्रति गुरुओं के मन मे सहज ही प्रमोद भाव आता है।

एक और विशेषण आता है कि वह 'प्रज्ञावान' भी हो। सो ठीक ही है बुद्धिमान भी होना चाहिए। लेकिन ऐसी बुद्धिमानी क्या काम की कि अपना हित भी न कर सके। इसलिये बुद्धिमान होना कोई बडी बात नहीं है। वह तो ज्ञान की परिणति है। कम या ज्यादा सभी के पास होती है लेकिन स्व-कल्याण की मुख्यता होनी चाहिए। भक्तामर स्तोत्र की– आलबन भव जले पतता जनानाम्– ये पक्ति प्रत्येक भाई के मुख से सुनने को मिल जाती है। इसका अर्थ यही है कि जिन्होने अपना कल्याण कर लिया उनके नाम का स्मरण/आलबन लेने वालो की सख्या बहुत है। जो अपना कल्याण कर लेता है वही पर का कल्याण कर सकता है। मै पर-कल्याण का निषेध नहीं कर रहा, लेकिन कहना इतना ही है कि भाई! पर-कल्याण मे ही लग जाना ठीक नहीं है। जब मैं विद्यार्थी था तो परीक्षा भवन में सभी विद्यार्थियो के साथ परीक्षा पेपर हल कर रहा था और समीप बैठा हुआ एक साथी बार-बार कुछ प्रश्नो के उत्तर मुझ से पूछ रहा था। अब परीक्षा भवन मे तो ऐसा है कि जो सही उत्तर लिखेगा उसे ही नम्बर मिलेगे। जो अपने उत्तर न लिखकर मात्र औरो को उत्तर

लिखाने मे लगा रहेगा वह परीक्षा में पास नहीं हो सकेगा। इसलिये परहित कितना, कब और कैसा होना चाहिए यह भी समझना हमे जरूरी है। मेरे मन मे उसे उत्तर लिखकर देने का भाव तो आया लेकिन घडी की तरफ देखा तो सिर्फ पन्द्रह मिनिट शेष थे, एक प्रश्न का उत्तर लिखना अभी मेरे लिये शेष था ऐसी स्थिति मे अगर 'पर' की ओर देखता तो स्व के उत्तर भी नहीं लिख पाता। आचार्यो ने कहा है कि स्वहित करो, साथ ही परहित भी करो लेकिन स्वहित पहले अच्छी तरह करो। इसलिये भाव होते हुए भी पहले अपने हित की चिता मैने की। यह बात आपको कठोर जान पडेगी लेकिन गहराई से विचार करेगे तो कठोर नहीं लगेगी।

जैसे माता-पिता कई बार अपने वच्चो के प्रति कठोर हो जाते है। जब वह शैतानी करता है, पैसे चुराकर घर से भागकर घूमता रहता है, कुसगति मे पडकर पैसा वरबाद करता है तो उसे वे डाटते, मारते-पीटते भी है और घर से बाहर निकालने की धमकी भी देते है पर उनका मन भीतर से कठोर नहीं होता। यदि बेटा घर छोडकर जाने की बात करता है तो वही माता-पिता रोने लग जाते है उसे मनाते भी है। यही बात हमारे पूर्वाचार्यो ने मोक्षमार्ग मे भी ध्यान मे रखी है। हित की दृष्टि से कहीं-कहीं कड़ी बात भी की हैं। मृदुता और कठोरता दोनो एक ही वस्तु के दो पहलू है। आप नवनीत की मृदुता से परिचित है और जानते है कि मृदु से मृदु पदार्थ यदि कोई है तो वह नवनीत है। वह कठोर से कठोर भी है क्योकि यदि नवनीत को तलवार चाकू से काटो तो भी नहीं काट सकते। जो नहीं कटे वही तो व्यवहार मे कठोर माना जाता है। और दूसरी बात यह भी है कि यदि नवनीत को जरा सा अग्नि का सयोग मिले तो वह पिघल जाता है। इसी प्रकार आचार्यो की वाणी भी नवनीत के समान है जिसमे कभी कठोरता भले ही आ जाती हो लेकिन हृदय मे तो उनके मृदुता ही रहती है।

जो डाक्टर शल्य-चिकित्सा करते है और जो लोग शल्य-चिकित्सा करवाते है वे जानते है कि पहले घाव को साफ करना होता है फिर आवश्यक होने पर काटा भी जाता है तभी मरहम-पट्टी होती है। घाव पर सीधे दवाई नहीं लगाते, उसे साफ-सुथरा करते है जिसमे पीडा भी होती है लेकिन भाव तो घाव ठीक करने का होता है। अर्थात् सभी जगह निग्रह और अनुग्रह दोनो ही है। अपराध करने पर अपराधी को दड भी दिया जाता है लेकिन वह दड उसे अपराध-भावना से मुक्त करने के लिए है शुद्धि के लिये है।

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चितन मे,
मर जा पर कर "निजानुभव कर" घडी-घडी मत रच तन मे।

फलत पल म परमपूत को-द्युतिमय निज को पायगा,
देह-नेह तज, सजधज निज को-निज से निज घर जायेगा।।[1]

जिस प्रकार आर्थिक लाभ के लिये आप लोग जैसे-तैसे भी मेहनत-मजदूरी करके लेकिन न्याय-नीति पूर्वक धन का अर्जन करते है उसी प्रकार आचार्य कहते है कि मनुष्य जीवन पाकर आत्मा क बारे मे थोडा चितन तो जरूर करो। भले महनत क्यो न करनी पडे, कष्ट भी क्यो न सहने पडे, पर आत्मा की प्राप्ति के लिए कदम तो अवश्य बढाओ। कई लोग कह देते है महाराज! सामायिक के लिये आसन लगाकर जब बैठते है तो घुटनो मे दर्द होने लगता है अब सामायिक कैसे करे? तो हम यही कहते है कि भइया! सासारिक कार्य करने के लिए दर्द होने पर भी कितना परिश्रम करते हो, उतना/वेसा ही मोक्ष-मार्ग मे भी करो। कम से कम अडतालीस मिनिट सामायिक करने के लिए एक आसन पर तो वैठो। जिस प्रकार हलुआ बनाने में भले ही दो-चार घटे लग जाते है मेहनत भी होती है लकिन खाने म तो थोडा सा समय लगता है और तृप्ति भी मिलती है, इसी प्रकार एक अतर्मुहूर्त तक एकाग्र चित्त होकर ध्यान करने से अनादिकाल से अप्राप्त आत्मानुभूति सम्भव है। भूमिका होनी चाहिए। और दूसरी बात उस ध्यान के काल मे यदि मरण भी हो जाता है तो डरने की वात नहीं है मरण तो शरीर का होता है आत्मा नहीं मरती। आत्मा तो ध्यान करने से तरती है।

आचार्यो ने कहा है कि अपने कल्याण के लिए आत्मानुभूति होना आवश्यक है। शुद्धोपयोग होना आवश्यक है। इतना जरूर है कि जब शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग की दशा मे आ गये हो तो पर-कल्याण हो सकता है लेकिन साथ ही साथ कर्मवन्ध भी होगा। भैया ऐसी कौन सी दुकान है ऐसा कौन सा व्यापार है जिसमे कोई व्यक्ति स्वय तो घाटे मे रहे और दूसरो को मुनाफा दता रहे। ऐसा कोई भी नहीं करता। सभी अपने हित की चिता करते है। और जिसने अपना हित किया है वही दूसरे का भी हित कर सकता हे। जिसने आज तक अपने हित की वात ही नहीं सोची वह दूसरे के कल्याण की कल्पना भी नहीं कर सकता। भिखारी दूसरे को भीख नहीं दे सकता। इसलिये अच्छा तो यही है कि पहले स्वय का हित करो और दूसरे का अहित मत सोचो। सच्चे देव गुरु शास्त्र की शरण मे जाकर आत्मतत्व को पाने के लिए अपनी ओर कदम बढाओ।

एक समय की बात है जगल मे एक व्यक्ति भटक गया। घना जगल था, जहा

---

१ कलशागीत-२३

पर सूर्य की किरण भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। दिन में और रात में भी अंधकार रहता था। एक-दो दिन यू ही बीत गये पर कोई दूसरा व्यक्ति रास्ता बताने वाला नहीं मिला। तीसरे दिन अचानक एक व्यक्ति दूर से आता हुआ दिखाई दिया। भटका हुआ व्यक्ति विचार करने लगा कि चलो अच्छा हुआ। तीसरे दिन कोई तो मिला। भागता हुआ वह दूसरे व्यक्ति के चरणों मे जाकर गिर गया और कहने लगा कि बहुत अच्छा हुआ जो आप मिल गये। यहाँ से निकलने का कोई रास्ता हो तो मुझे बताओ। मै तीन दिन से भटक रहा हूँ। दूसरा व्यक्ति कहने लगा भाई! क्षमा करो मैं क्या बताऊ। मुझे भी भटकते हुए पांच दिन हो गये हैं। मैं भी इसी खोज में था कि कोई साथी मिले तो निर्वाह हो जाये। बस! ऐसी ही स्थिति सभी संसारी प्राणियों की हो रही है। सब भटके हुए लोग एक दूसरे की शरण खोज रहे हैं। भगवान की शरण मे कोई नहीं जा रहा। वे दोनो भटके हुए व्यक्ति एक दूसरे के साथ मजे से रहने लगते है। घूमने फिरने लगते हैं। और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगती है। शहर बन जाता है। अब उन्हे कोई भटका हुआ नहीं मानता। वे भटक गये थे– यह बात उन्हे स्वयं भी स्मृति में नहीं रहती। जैसे दो पागल मिल जाते हैं तो अपने आप को होशियार मानने लगते हैं और शेष सभी उनकी दृष्टि में पागल नजर आते हैं। चार पागल लोग मिलकर जो ठीक है उसे भी पागल बना लेते हैं। वे उसे समझाते हैं कि व्यर्थ भटकते क्यो हो। हमारे साथ आ जाओ, तुम अकेले हो, क्या तुम्हारा रास्ता ठीक हो सकता है। हम चार है हम ही ठीक हैं। और इस तरह भटकने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है। लेकिन जो समझदार हैं जिन्हें स्व-कल्याण की इच्छा है वे ऐसी किसी शरण में नहीं जाते। वे तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण को नहीं छोड़ते क्योंकि इन्हीं के माध्यम से हमारी अनादिकालीन भटकन समाप्त हो सकती है।

बहुमत कहाँ नहीं होता? नरक में नारकियों का बहुमत है और स्वर्ग में देवो का बहुमत है, पागलो का भी बहुमत होता है। पागलखाने में पागलों की आपस मे तुलना की जाती है। कोई कम पागल है और कोई ज्यादा पागल लेकिन पागल तो सभी हैं। ऐसे बहुमत की सत्य के लिये कोई आवश्यकता नहीं। सच्चे सत्य के लिए दूसरे से तुलना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं हैं सत्य एक ही बहुत होता है। एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण की पर्याप्त है भले ही बहुमत हो या न हो। जो स्वहित चाहते हैं वे ऐसे बहुमत/जमघट से प्रभावित नहीं होते। अपने कल्याण मे लगे रहते हैं। संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होकर जीवन जीते हैं।

देह का नेह अर्थात् शरीर के प्रति मोह ही सबसे खतरनाक है। हमें इस शरीर

का ज्ञान पहले होता है फिर शरीर के माध्यम से ही अन्य पर-पदार्थों का ज्ञान होता है। शरीर के पोषण के लिये ही संसार में सारे आविष्कार हुए हैं। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि एक बार जीवन में शरीर पड़ौसी बन जाये, शरीर के प्रति मोह की दीवार टूट जाये तो एक अन्तर्मुहूर्त में आत्मानुभूति संभव है। हमारे लिए इस भौतिक जगत से हटाकर आत्मानुभूति का उपाय बतलाने वाले आविष्कारक कुन्दकुन्द ही तो हैं। मोह रूपी मदिरा पीकर ही व्यक्ति अनादिकाल से अपने स्वरूप को जान नहीं पा रहा है। इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से इसे जाना भी नहीं जा सकता।

इन्द्रियों का ज्ञान नियत और सीमित है काल भी सीमित है। घड़ी को देखकर आपको घड़ी का व्यवहार ज्ञान हुआ यदि वह घड़ी दूर रखी हो तो आप देख नहीं सकते। ऐसे ही यदि उस घड़ी को आंखों से चिपका लेंगे तो भी दिखाई नहीं देगा। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय ज्ञान सीमित है। इस इन्द्रिय ज्ञान पर अभिमान नहीं करना चाहिए। ज्ञेय पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रिय ज्ञान के पास सीमित है मर्यादित है ये चर्म-चक्षु ऐसे हैं कि अपने ही आपको नहीं देख सकते। आपकी आंख में कुछ चीज गिर जाये तो किसी दूसरे से निकलवाना पड़ता है। अपनी ही एक आंख के माध्यम से दूसरी आंख में गिरी हुई मिट्टी आदि नहीं दिखती। आप दुनिया को तो इन आंखों से देख सकते हैं लेकिन अपने को नहीं देख पाते। अपने को देखने के लिये दो आंखें बेकार हैं। ठीक भी है जो आंखें अपने को नहीं देख पाती वे किस काम की। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि दया में निष्ठा लाओ, अहिंसा का पालन करो और इन्द्रियों का दमन करो। इन्द्रिय ज्ञान को समाप्त कर दो अर्थात् बहिर्दृष्टि को समाप्त करके अंदर की ओर देखो।

दया-दम-त्यागसमाधिनिष्ठ,
नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै
जिन त्वदीय मतमद्वितीयम्।।[1]

इसी बात को समझाते हुए संवर के प्रकरण में आचार्य उमास्वामी भी कहते हैं– स गुप्ति-समिति-धर्मानुपेक्षा-परीषहजचारित्रैः। संवर को प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम महाव्रतों को अंगीकार करना चाहिए। चारित्र धारण करना चाहिए। चारित्र धारण करने के उपरांत परीषहजय को नहीं भूलना चाहिए। परीषह जय बारह भावनाओं के चिंतवन/मनन द्वारा कर लिया जावेगा। बारह भावना किसलिये हैं तो

---

१ युक्त्यनुशासन-आचार्य समन्तभद्रस्वामीकृत, ६

कहा कि दस लक्षण-धर्म प्राप्त करने के लिये। दसलक्षण धर्म किसलिए है, हमारी समीचीन प्रवृत्ति हो इसलिए अर्थात् समिति के लिए और समीचीन प्रवृत्ति गुप्ति की ओर ले जाने के लिए है और गुप्ति साक्षात् सवर निर्जरा और मोक्ष के लिए साधन है। सव एक दूसरे के लिए पूरक वनते चले जाते हैं। इसी प्रकार समाधि के लिये दया और दया के लिये इन्द्रिय दमन और इन्द्रिय-दमन के लिये त्याग जरूरी है।

जो व्यक्ति इन्द्रियो का दास हो जायेगा, वह हेय-उपादेय को नहीं जान पायेगा। ऐसी स्थिति मे विना हेय-उपादेय के ज्ञान के वह हेय को, दोष को कैसे छोड़ पायेगा? इसलिये शरीर को पडौसी वनाओ यह कहा गया। शरीर मे स्थित इन्द्रियो के माध्यम से ही विषयो का सग्रह होता है और विषयो का सग्रह जहा होता है वहीं मूर्च्छा आती है और कर्म वध जाते है। कर्मवन्ध होने से ही गति-आगति होती है। ससार म भटकना होता है। पुन शरीर और इन्द्रियाँ मिलती है इन इन्द्रिय रूपी खिडकियो के माध्यम से विषयरूपी हवा आने लगती है। इन्द्रिय विषयो के ग्रहण होते रहने से कषाय जागृत हो जाती है। कषायो के माध्यम से पुन वन्ध हो जाता है ओर ससारी जीव इस तरह जजाल मे फसता ही जाता है। विना इन्द्रिय दमन के मात्र चर्चा कर लेने से समाधि का द्वार खुल नहीं सकता। एक मक्खी आकर शरीर पर वैठ जाती है तो आप उसे उडाने/हटाने की चेष्टा करते है या फिर मच्छरदानी का इन्तजाम करते है ऐसे वातानुकूल भवन मे वैठकर समाधि की चर्चा भले ही हो जाये लेकिन समाधि नहीं हो सकती।

समाधि प्राप्त करने के लिए तो वृषभनाथ भगवान के द्वारा वताये गये मार्ग का अनुसरण करना होगा। समाधि के लिए दया, दम और त्याग को अपनाना होगा। इसके विना कोई सीधा और छोटा रास्ता नहीं है। यदि इसके विना समाधि प्राप्त करने के लिए कोई शार्टकट ढूढने जाओगे तो समाधि के वदले आधि-व्याधियो में ही उलझ जाओगे। समाधि कोई हाथ मे लाकर रख देने की चीज नहीं है, वह तो साधना के द्वारा ही मिल सकती है। जितना दया का पालन करेंगे, जितना इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करेंगे, कषायो का त्याग करेगे उतना ही समाधि के निकट पहुचते जायेगे। समाधि के द्वार पर लगे तालो को खोलने के लिये इन्हीं चावियो की जरूरत है। वधुओ! पुरुषार्थ करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि यदि दु ख से मुक्ति चाहते हो तो श्रमणता अगीकार करो। श्रमण हुए विना आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी। प्रवचनसार की चूलिका मे आचार्य स्वय कहते है कि आत्मानुभूति के लिये पचाचारो का होना अनिवार्य है और पचाचार का सीधा सा अर्थ है कि पाच पापो को मन,

वचन, काय से छोड़ना होगा। महाव्रती ही पचाचार का पालन करता है। आचार्य पचाचारो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे दर्शनाचार, हे ज्ञानाचार, हे चारित्राचार, हे तपाचार और हे वीर्याचार-तुम्हार बिना स्वात्मानुभूति सभव नहीं है और स्वात्मानुभूति के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मै तुम्हे तब तक अपनाता हूँ जब तक मुझे केवलज्ञान नहीं हो जाता, मुक्ति नहीं मिल जाती।' ऐसी स्थिति मे पचाचार को अपनाना अनिवार्य ही है क्योकि कारण के बिना कार्य को साधा नहीं जा सकता। ये पचाचार की शरण तभी तक है जब तक कि शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उद्देश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति का होना चाहिए। जो कोई अभव्य मिथ्यादृष्टि इन्हे धारण करता भी है तो मात्र बाह्य मे धारण करता है इसलिए उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होता है वह इन पचाचारो को बाह्य और अन्तरग दोनो तरह मे धारण करके शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इसी बात को समझाते हुए उपसहार क रूप मे रत्नकरण्ड श्रावकाचार की एक कारिका कहता हूँ—

पापमरातिर्धर्मो बधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्
समय यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुव भवति।।२७।

इस जीव का बैरी पाप है और धर्म, बधु है। ऐसा दृढ निश्चय करता हुआ जो अपने आपको/आत्मा को जानता है वही अपने कल्याण को जानने वाला है। वही ज्ञानी है। ग्रन्थ तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार है लेकिन बात ज्ञानी की है। ध्यान रहे बधुओ! लक्ष्य तो सभी का आत्मानुभूति ही है। परन्तु पात्रों को ध्यान मे रखकर भिन्न-भिन्न शैली मे भिन्न-भिन्न अनुयोगो के माध्यम से आचार्यो ने बात कही है ताकि सभी धीरे-धीरे सही रास्ते पर चलकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ले।

ससार शत्रु नहीं है पाप ही शत्रु है। और पाप जिस आत्मा मे उत्पन्न होता है वही आत्मा चाहे तो उस पाप को निकाल भी सकती है। जो पाप का तो आलिगन करे और धर्म को हेय समझे उसकी प्रज्ञा की कोई कीमत नहीं है। स्वहित करने वालो के लिये पाप से ही लड़ना होगा और धर्म को, रत्नत्रय को, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपनाना होगा। जिसने इस बात को जान लिया, मान लिया और इसके अनुरूप आचरण को अपना लिया वही ज्ञाता है।

आज हमारा सौभाग्य है कि समयसार की गूढ बातो को समझने के लिये जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका उपलब्ध है। मुझे तो सस्कृत एव प्राकृत भाषा भी नहीं आती थी लेकिन आचार्य महाराज गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी ने मुझे सभी बातो का धीरे-धीरे ज्ञान कराया। वैसे आप लोग तो उनसे बहुत पहले से परिचित रहे। इस

अपेक्षा आप हमसे भी सीनियर है। हो सकता है आप मेरे से भी ज्यादा ज्ञान रखते हो परन्तु मुझे तो आचार्य महाराज का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, उनकी साक्षात् प्रेरणा मिली। शिक्षा, दीक्षा सभी उन्ही के माध्यम से हुई। इतनी सरल भाषा मे अध्यात्म की व्याख्या मैने कहीं नहीं सुनी, हिन्दी मे जो आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने समयसार की व्याख्या की है, उनका उपकार मेरे ऊपर आचार्य कुदकुद के ही समान है। आचार्य महाराज के आशीर्वाद से, उन्हीं की साक्षात् प्रेरणा से, आज मैं कुन्दकुन्दाचार्य देव से साक्षात् बात कर पा रहा हूँ। अमृतचन्द्र सूरी की आत्मख्याति जैसे जटिलतम साहित्य को देखने-समझने की क्षमता पा सका हूँ तो जयसेन आचार्य के छिले हुए केले के समान सरलतम व्याख्यान के माध्यम से अध्यात्मरूपी भूख मिटा रहा हूँ और आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता हूँ किन्तु बडे दु ख की बात है कि आप लोग अभी तक उसे नहीं चख पाये, भूखे ही बैठे हुए हैं। आत्मानुभूति शब्दो मे कहने की वस्तु नहीं है। वह तो मात्र सवेदनीय है। वे मुमुक्षु थे और हमारे लिये मोक्षमार्ग के प्रदर्शन हेतु नेता थे। आज से करीब छह वर्ष पहले उन्होने समाधि/सल्लेखना पूर्वक अपने पार्थिव शरीर को छोडा था। आचार्य कुदकुद स्वामी को, अमृतचन्द्राचार्य को और जयसेनाचार्य को स्मृति मे लाते हुए आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज को इस काव्य के माध्यम से श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ–

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा कर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

□□

☐ ज्ञान कल्याणक

तज्जयति पर ज्योति सम समस्तैरनन्तपर्यायैः।[1]
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।१।।

कल वृषभनाथ मुनिराज ने जो छोडने योग्य पदार्थ थे उन्हे छोड दिया और जो साधना के माध्यम से छूटने वाले है उनको हटाने के लिए साधना मे रत हुए है। जो ग्रथिया शेष रह गयी है, जो अन्दर की निधि को बाहर प्रकट नही होने दे रही है उन ग्रन्थिया को तप के द्वारा हटाने मे लगे है। आप लोग अपनी महत्वपूर्ण मणिया को तिजोरी मे बन्द करके रखते है जिस कारण बाहर से देखने पर ज्ञान नही हो पाता कि इसमे बहुमूल्य रत्न रखे है। ऐसे ही आत्मा के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रकट नहीं हो पाती। इतना ही नही आपकी उस मणि को तिजोरी मे रखने के कई स्थान होते है। दरवाजा यदि खुल भी जाये तो भी मणिया चोर के हाथ मे न आ पाये इसलिए उसे एक छोटी सी डिबिया मे बद करके मखमल लगाकर कागज मे लपेटकर रखा जाता है। तिजोरी मे भी एक के बाद एक कई खड होते है। छोटी-छोटी आलमारिया होती है जिनके अलग दरवाजे खुलते है। जब तक तिजोरी के दरवाजे, आलमारी, डिबिया और कागज की पुडिया नहीं खुलेगी तब तक मणियो को हाथ मे लेकर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् आवरण कोई भी हो जब तक आवरण रहेगा तब तक वस्तु का ठीक-ठीक अनुभवन नहीं कर सकते है। वृषभनाथ मुनिराज ने जो बाह्य ग्रन्थिया थी वे तो खोल दी है परन्तु इसके उपरान्त भी ऐसी आन्तरिक ग्रन्थिया शेष है जिनको हटाने के लिये साधना की जरूरत है। आज वे उसी साधना मे लीन हुए है।

आप लोग थोडे समय स्वाध्याय करके ही अपने आपको आत्मानुभवी मानने लगते है, पर सोचो अस्सी वर्ष की आयु मे आप क्या ऐसा और इतना अनुभव कर

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-१

रहे होंगे जो तपस्या में लीन मुनिराज वृषभनाथ प्रतिक्षण कर रहे हैं। उनका यह तप हजार वर्ष तक चलेगा और हजार वर्ष वे यों ही व्यर्थ में व्यतीत नहीं करते बल्कि बारह प्रकार के तपों को अंगीकार करके महाव्रतों के साथ व्यतीत करते हैं। गहरे आत्मज्ञान में डूबकर वे धीरे-धीरे ज्ञान-ज्योति के ऊपर से आवरण हटाने में लगे हुए हैं। यह कार्य इतना आसान नहीं है जितना आप लोग समझ रहे हैं। जब कुल्हाड़े से पेड़ की डाल पर प्रहार किया जाता है तो पहली बार में तो मात्र छिलका ही हटता है उसके मध्य में रहने वाले घनीभूत पदार्थ पर बार-बार और तेजी से प्रहार करने पर ही पेड़ से लकड़ी टूट पाती है। प्रहार करने वाले के हाथ झन्झना जाते हैं। बड़ी मेहनत पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा के भीतर जो अनादिकालीन कषाय घनीभूत होकर बैठ गयी है उसे निकालने के लिए वीतरागता रूपी पैनी छैनी चाहिए। सूक्ष्म ग्रन्थियां खोलना उतना ही कठिन कार्य है जितना कि बाल/केश में पड़ी गांठ को खोलना। रस्सी के अन्दर यदि गांठ पड़ जाये तो आप जल्दी खोल सकते हैं, धागे में पड़ी गांठ खोलना उससे भी कठिन है लेकिन बाल में पड़ी गांठ को खोलना तो और भी कठिन है। ऐसी ही सूक्ष्म ग्रन्थियों को खोलने में इन्हें हजार वर्ष लग गये किन्तु वे ग्रन्थियां अभी पूरी नहीं खुलीं। यह भी ध्यान रहे कि इनकी ग्रन्थियां खुलने पर पुनः वापिस पड़ती नहीं हैं क्योंकि बाल की ग्रन्थि सुलझाना जितना कठिन है वैसे ही बालों में ग्रंथि पड़ना भी।

बहती रहती कषाय नाली शान्ति सुधा भी झरती है,
भव की पीड़ा वहीं यहां पर मुक्ति रमा मन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित है शुचिमय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुततम महिमा आतम की जयमाला है।।[1]

आत्मा की यह लीला, आत्मा का स्वभाव अद्भुत से अद्भुत है। वह लीला वह स्वभाव आत्मा के अन्दर ही घट रहा है। उसी में कषाय की नाली भी बह रही है और वहीं शान्ति सुधा का झरना भी झर रहा है। भव-भव की पीड़ा भी वहीं पर है तो मुक्ति रूपी रमणी का सुख भी वहीं है। संसार भी वहीं है तो मोक्ष भी वहीं है। तीन लोक उसी से आलोकित हो रहा है। इसके उपरांत भी यदि हम कहें कि हमें कुछ नहीं पता, कि यह किसका परिणाम है तो यह हमारी अज्ञानता ही होगी। और इसका कारण भी यह है कि हम अन्दर न झांककर बाहर ही बाहर देखते हैं।

---

१. समयसार, पद्य २३८ (आचार्य श्री विद्यासागर कृत)

हम उनकी शरण में भी आज तक नहीं गये जो अपनी आत्मा की खोज मे लगे है। इसी का परिणाम है कि अन्दर क्या-क्या सुख है हमे ज्ञात ही नहीं है। अब वृषभनाथ मुनिराज अपने ही भीतर झाक कर हजार वर्ष तक साधना करेगें। हेय को निकालकर उपादेय को उपलब्ध करेंगे। वे वर्द्धमान चारित्र वाले है। क्षायिक सम्यक्दर्शन और मन पर्यय ज्ञान के साथ जीवन व्यतीत कर रहे है। पर ध्यान रहे कि कोई तीर्थकर भले ही हो पर जब तक छद्मस्थ रहेगा, तब तक उसे भी अप्रमत्त से प्रमत्त दशा मे आना ही पडेगा। आधा मिनिट के लिए यदि आत्मा के अन्दर टिकेगे तो कम से कम एक मिनिट के लिए बाहर आना ही पडेगा अर्थात् अप्रमत्त दशा का अनुभव यदि एक मिनिट के लिए होता है तो प्रमत्त दशा का उससे दुगने समय तक होगा। हजार वर्ष तक यही चलेगा। यह तो एक तरह से झूला-झूलना है। झूला ऊपर जाता है तो नीचे भी आता है। ऐसा नहीं है कि ऊपर गया तो ऊपर ही रह नीचे न आये। बल्कि होता यह है कि ऊपर तो रहता है कम और नीचे की ओर ज्यादा। इसे ऐसा समझे कि लक्ष्य को छूना कुछ समय के लिए ही हो पाता है फिर पुन छूने के लिए शक्ति को बटोरना पडता है। ससार का त्याग करने के उपरात कोई कितना भी चाहे, भले ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर ले परन्तु इसी प्रकार हजारो बार उसे ऊपर नीचे आना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा मे रहना होगा।

कई लोग कह देते है कि भरतजी को कपडे उतारते उतारते ही केवलज्ञान हो गया, परन्तु ऐसी बाते कहना सिद्धात का ज्ञान नहीं होने का प्रतीक है। भरतजी की प्रशसा मे भी करता हूँ लेकिन प्रशसा ऐसा होनी चाहिए जिसमे सिद्धात से विरोध न आवे। करणानुयोग के अनुसार तो कोई कितना ही प्रयत्नशील क्यो न हो उस दिगम्बरत्व धारण करने के उपरात केवलज्ञान प्राप्त करने मे कम से कम अन्तर्मुहूर्त का काल आपेक्षित है और उस अन्तर्मुहूर्त मे भी उसे हजारों बार प्रमत्त अप्रमत्त दशा मे झूलना पडेगा। कषायो को निकालने के लिये इतना परिश्रम तो करना ही पड़ेगा।

आज वृषभनाथ मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। केवलज्ञान का अर्थ मुक्ति नहीं है। अभी मोक्ष कल्याणक तो कल होगा। अभी तो पीवियस हुआ है फाइनल शेष है। इस केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्हे किस प्रकार की प्रक्रिया करनी पड़ी यह भी जान लेना चाहिए। ससार वर्धक भावो को दूर हटाने की विधि आचार्यों ने बताई है ताकि कोई भी ससारी प्राणी सुगमता से सरलता से अपने लक्ष्य तक पहुच सके। दो बाते पहले समझ ले। एक तो योग और दूसरा मोह। योग अर्थात

आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन और मोह अर्थात् विकृत उपयोग। ज्ञेयभूत पदार्थों से जब उपयोग प्रभावित होता है और ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोग पर प्रभाव डालते हैं तब उपयोग में विकृति आती है जिससे पाप का आस्रव, अशुभ का आस्रव होता है। इसलिए, सर्व प्रथम उपयोग को एकाग्र करना आवश्यक है। वह उपयोग ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित न हो ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ती है। उपाय अलग होता है। उपाय अलग है और उपादेय अलग। उपाय वह है जो उपादेय को प्राप्त करा सके। मुक्ति उपादेय है जो अनंत-काल तक रहने वाली है और विभाव-परिणति दुःख देने वाली और संसार की कारण होने से हेय है। हेय का अभाव करने के लिये और उपादेय को प्राप्त करने के लिये उपाय की बड़ी आवश्यकता होती है। उपाय यही है कि उपयोग को एकाग्र किया जाये और उपयोग को एकाग्र करने के लिए संयम की आवश्यकता है। बारह प्रकार के तपों की आवश्यकता है। जब संयम और तप के माध्यम से उपयोग एकाग्र हो जाता है, ज्ञेय-पदार्थों से प्रभावित नहीं होता तब पाप-प्रकृतियां पूर्ण रूप से निकल पाती हैं।

एक बात ध्यान रखना कि पहले पाप को ही निकालना होगा। पुण्य को शुभ-भाव को आप पहले नहीं निकाल सकेंगे। क्योंकि शुभ भाव योग को कहा है वह योग बाद में जायेगा। सर्व प्रथम मोह जो उपयोग को आघात पहुँचा रहा है उसे निकालना होगा। तभी उस मोह के माध्यम से आई हुई पाप-प्रकृतियों का आस्रव रुक सकेगा। उदाहरण के लिये ऐसा समझें कि एक व्यक्ति गंदे वस्त्र को साफ करना चाहता है और वह वस्त्र इतना गंदा हो गया है कि उसकी सफेदी देखने में नहीं आ रही है उस समय मैल को हटाने के लिए उसे सोडा/साबुन जो भी हो उससे साफ करना होगा। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि वस्त्र के साफ हो जाने के बाद भी साबुन का अंश उस कपड़े में आ गया– रह गया तो उसे भी निकालना होगा या नहीं। निकालना तो होगा लेकिन पहले साबुन का अंश निकले फिर मैल निकालें– ऐसा हो नहीं सकता। पहले तो साबुन के माध्यम से कपड़े का मैल निकलेगा, जिसे पाप कहें, उसके उपरांत साबुन का अंश निकलेगा। अंत में सफेदी लाने के लिये आप लोग कपडों को टिनोपाल मे भी डालते हैं।

कोई व्यक्ति सोचे कि टिनोपाल में डालने से ही वस्त्र चमकदार हो जाते हैं इसलिये की जरूरत ही नहीं है तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ ही है। गंदे कपड़े टिनोपाल कितना भी क्यो न डाले जाये, भले ही पूरी डिबिया समाप्त कर दे पर गंदापन । गंदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन

नहीं जायेगा। गदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन का भी गदापन है और कीचड का भी गदापन है पर दोनो मे बहुत अन्तर है। कीचड का गदापन पाप के समान है जो पहले हटेगा। और जैसे-जैसे पाप को हटायेगे वैसे-वैसे पुण्य की वृद्धि नियम से होती जायेगी। जैसे-जैसे साबुन मलते जायेगे वैसे-वैसे मैल का अश निकलता जायेगा और साबुन का अश बढता जायेगा। जब तक मैल का अश नहीं हट जाता तब तक साबुन आप रगडते ही जायेगे तभी काम बनेगा। जहॉ मात्र योग रहता है वहाँ मात्र पुण्य का आस्रव होता है इसलिये योग का अर्थ है मात्र पुण्य का आस्रव होना, परन्तु मोह के साथ पाप का भी आस्रव होगा। मोह को मैल की तरह पहले निकालना होगा। परन्तु अकेला योग साबुन के अश की तरह आखिरी समय तक रहेगा और बढता ही जायेगा।

सोचो जब आप स्नान करते हैं तो पहले साबुन लगाकर मैल हटाते है फिर पानी से धोते है तव कहीं जाकर तौलिये के माध्यम से उस पानी के अश को भी सुखा देते हैं। तौलिया मैल निकालने के लिये नहीं है वह तो मैल निकालने के बाद पानी को हटाने के लिये है। मोह अर्थात् कीचड या मैल है जिसे निकालने के लिये योग अर्थात् पानी का योग जरूरी है। योग अपना काम करता जाता है, पुण्य आता जाता है और मोह के माध्यम से आने वाला कीचड/पाप समाप्त होता जाता है। जब अकेला योग रह जायेगा अर्थात् जब बदन पर मात्र पानी की बूदे रह जायेगी तब आप योग-निग्रह कर लेते है अर्थात् तौलिये के माध्यम से शरीर को सुखा लेते हैं। तो यही प्रक्रिया है कि पहले पाप का अभाव होता है और बाद मे पुण्य का भी अभाव हो जाता है। जो लोग पहले पुण्य को छोडने के लिये कहते है उनसे मै पूछना चाहूँगा कि भाईयो जब आपके पास पुण्य है ही नहीं तो छोडेगे क्या? पास मे जो पाप है उसे ही पहले छोडने की बात आचार्यो ने कही है।

पापो का त्याग करके सयम के माध्यम से पुण्य का अर्जन होता चला जाता है और जितना-जितना सयम बढता है उतना-उतना पुण्य भी बढता जाता है। जितना आप लोग जीवन मे दान, पूजादि करके पुण्यार्जन करते है उतना और उससे भी ज्यादा पुण्य का अर्जन एक मुनिराज आहार लेते हुए भी कर लेते है क्योकि उनके द्वारा कर्मो की निर्जरा के हेतु अपनाया गया सयम असख्यात गुणी निर्जरा मे सहायक होता है। वे न चाहते हुए भी अधिक पुण्य का अर्जन कर लेते है और श्रावक चाहते हुए भी उतने पुण्य का अर्जन नहीं कर पाता। सबसे ज्यादा पुण्य का अर्जन करने वाला यदि कोई व्यक्ति है तो वह है सयमी। सयमी मे भी यो कहिये यथाख्यात चारित्र

को अपनाने वाला और उसमे भी केवली भगवान के तो अकेला पुण्य का साता का अर्जन होता है जो पुण्य को नहीं चाहते हुए भी विशिष्ट पुण्य का अर्जन करते है। परतु विशेषता सयमी की यही है कि उसने पुण्य के फल को ठुकराया है। ध्यान रखना पुण्य के बध को कोई ठुकरा नहीं सकता। पुण्य के फल को अवश्य ठुकराया जा सकता है। आप लोग पुण्य के फल को तो अपने पास रखना चाहते है रख लेते है लेकिन पुण्य को हेय कहकर उसे छोडने की बात करते रहते है।

दौलतरामजी छहढाला मे कहते है कि "पुण्य पाप फल माहिं हरख विलखो मत भाई।" वे पुण्य-पाप के बध की बात नहीं कहते बल्कि पुण्य और पाप के फल की बात कर रहे है कि पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ फल मे हर्ष-विषाद मत करो। पुण्य के फल को भोगने मे ही ससारी प्राणी स्वाद का अनुभव करता है और लुब्ध हो जाता है। पुण्य का अर्जन करने वाला सयमी व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं भूलता जबकि पुण्य के फल को भोगने वाला असयमी व्यक्ति स्वय को भूल जाता है और पुण्य के फल मे रच-पच जाता है। पुण्य का बध करने वाला जीव आत्मा को भूल जाता है, यदि कोई ऐसा कहता है तो यह उसकी नासमझी ही होगी क्योकि अरिहंत/सर्वज्ञ भगवान को सबसे अधिक पुण्य का आस्रव होता है लेकिन वे आत्मस्थ रहते है। पचेन्द्रिय विषय रूप पुण्य के फल को भगवान ने स्वय ठुकराया और पाप के फल मे उन्होने विषाद नहीं किया। पुण्य के बध को रोकने मे वे भी अभी असमर्थ हैं। आज तक जो भी पाप आ रहा था उसे निकालने के लिए बारह तपो को वृषभनाथ ने अपनाया। पुण्य को हटाने के लिये कल प्रयास होगा तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसलिये बधुओ! सर्व प्रथम पापरूप क्रिया को रोका जाता है और जैसे-२ उपयोग अशुभ से हटकर आत्मा मे एकाग्र होने लगता है वैसे-वैसे पाप आना बद हो जाता है पाप की सत्ता भी नष्ट होती जाती है और अन्तर्मुहूर्त मे कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। कैवल्य की उपलब्धि सहज नहीं है वह ज्ञान की उपयोग की समीचीनता प्राप्त होने पर ही सम्भव है। विचार करो ज्ञान आपके पास है तो ज्ञान भगवान के पास भी है। परन्तु जहॉ आपका ज्ञान पूज्यनीय नहीं है वहीं भगवान् का ज्ञान पूज्यनीय क्यों है? अथवा दोनो के ही ज्ञानो मे पूज्यता क्यो नहीं है? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रभु का ज्ञान ही पूज्य है। हमारा ज्ञान कषाय से अनुरजित है और वे कषाय से रहित है। वैसे आत्मा मे अनन्त गुण विद्यमान हैं किन्तु उन गुणो मे से एक गुण ही ऐसा है जिसके कारण उसे परेशानी हो रही है। वह गुण ज्ञानगुण है। इस चेतन गुण मे ही ऐसी शक्ति है जो स्व और पर को जान लेता है

वस्तु को देखकर राग-द्वेष-कषाय से प्रभावित हो जाता है। हमारा-छद्मस्थो का ज्ञान अपूर्ण है वहीं सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान पूर्ण है वे कषाय तथा राग-द्वेष से भी रहित है। यही हमारे एव उनके ज्ञान की अपूज्यता-पूज्यता के लिये कारणभूत है।

कई सज्जन कहते हैं कि पाप के समान पुण्य भी हेय है। मै उनसे पूछना चाहता हूँ कि पुण्य का अभाव कहॉ पर होता है? पाप कहॉ पर बाधक है? पुण्य का वध मोक्षमार्ग मे वाधक नहीं बनता किन्तु मोक्ष मे बाधक है। पुण्य का वध होता रहता है और मोक्षमार्ग अबाध रूप से चलता रहता है। मोक्षमार्ग तो चौदहवे गुणस्थान, तक चलता है और तेरहवे गुणस्थान तक पुण्य का वध होता रहता है वह बाधक नहीं वनता। अगर पुण्य बाधक होता तो वहॉ पर पहुँचता ही कैसे? इसलिए अभी पुण्य बध अपने लिए छोडने योग्य नहीं है लेकिन पुण्य का फल अवश्य छोडने योग्य है। मैने अभी शुभ और अशुभ भावों की वात कही थी कि अशुभ-भाव से पाप का बध होता है और शुभ भाव से पुण्य का वध होता है। केवलज्ञान होने के उपरात भी साता वेदनीय रूप पुण्य का आस्रव होता रहता है उससे केवलज्ञान मे कोई बाधा नही आती। इसे सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "पुनाति आत्मान पवित्री करोति इति पुण्य" जो आत्मा को पावन बनाये वह पुण्य है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए 'केवल-पुण्य' की ही आवश्यकता है पाप मिश्रित पुण्य की नहीं। जिसमे पाप का एक अश भी नहीं है ऐसे केवल पुण्य के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होती है और ऐसे पुण्य का आस्रव मात्र योग के माध्यम से होता है। योग भी भाव है और यह भाव किसी कर्म-कृत नहीं है किन्तु आत्मा का पारिणामिक भाव है। इस बात का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला-ग्रथ मे स्पष्ट रूप से किया है।

योग आत्मा की क्रियावती शक्ति है जिसके माध्यम से आत्मा मे परिस्पदन होता है जिसके फलस्वरूप कर्मवर्गणाये आती है और चली जाती है। यदि वहीं पर मोह हो तो वे चिपक जाती है लेकिन मोह के अभाव मे मात्र योग होने से वे टकराकर वापिस चली जाती हैं। योग जब तक हैं तब तक कर्मो का आना रुकता नहीं है। इसलिये सर्व प्रथम पाप रूपी रेणु न आये इसका प्रयास किया जाना चाहिए। यदि अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहते हो तो यही क्रम अपनाना होगा। आत्म लक्ष्य हो जाने पर हेय क्या है उपादेय क्या है यह सहज ही समझ मे आ जावेगा। अन्तर्दृष्टि हो जाने पर हेय का विमोचन होता जावेगा तथा उपादेय भूत ग्रहण/उपलब्ध होता

जावेगा।

क्या हो गया, समझ मे मुझको न आता
क्यो बार-बार मन बाहर दौड जाता
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता
पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता।।[1]

मन की चाल श्वान जैसी है वह अन्दर अच्छी जगह टिकना नहीं चाहता। जैसे पालतू कुत्ता आपके घर मे रहता है। जब तक आप उसे रस्सी से बाधकर रखते है तब तक वह घर मे रहता है थोडा रस्सी छोड दो तो बाहर निकल जाता है और बाहर उसकी दृष्टि पहले मल की ओर ही जाती है। इसी प्रकार मन बाहर चला जाता है तो वह कषायो को पाप को ही साथ लेकर आता है। इसलिए यदि पाप से बचना चाहते हो, उसे दूर हटाना चाहते हो तो मन को बाहर ही मत भेजो। मन को अपने भीतर ही एकाग्र करने की कोशिश करो। यह कार्य कठिन है लेकिन जैसे गर्म खीर को खाने के लिये पहले किनारे से फूक-फूककर खाना शुरू कर देते है बीच मे हाथ नहीं डालते इसी प्रकार मन को एकाग्र करने के लिये अपना प्रत्येक समय सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे अपनी आत्मा को ही देखने में लगाना चाहिए।

एक बात और सुनने मे आती है कि ससारी जीव के केवलज्ञान आत्मा मे विद्यमान है और पूर्ण रूप से तो नहीं मात्र किरण के रूप में सामने आता है अर्थात् हमारा जो ज्ञान है वह भी केवलज्ञान का ही अश है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योकि ध्यान रखना केवलज्ञान तो क्षायिक ज्ञान है और उस केवलज्ञान का अश भी क्षायिक ही होगा, वह क्षायोपशमिक हो नहीं सकता जबकि हमारा ज्ञान अभी क्षायोपशमिक है। साथ ही केवलज्ञानावरणीय ये कर्म प्रकृति सर्वघाती प्रकृति है। सर्वघाती उसे कहते है जो आत्मा के विवक्षित गुण का एक अश भी प्रकट नहीं होने देती। केवलज्ञान जब भी होगा वह पूर्ण ही होगा। एक समय के उपरात होने वाला केवलज्ञान एक समय पूर्व भी नहीं हो सकता, एक अश मे भी उदय मे नहीं आ सकता। क्योकि केवलज्ञान की पूर्ण शक्ति को मिटाने वाला केवलज्ञानावरणीय कर्म विद्यमान है। कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है--

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स।।२११।।

---

१ निजानुभव शतक, पद्य ४६, (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

पुद्‌गल की कोई अमूर्तिक शक्ति ऐसी अवश्य है जिसने केवलज्ञान रूप आत्मा के गुण को समाप्त कर रखा है जरा भी प्रकट नहीं होने दिया है। इसलिये हमारा जो वर्तमान ज्ञान है वह क्षयोपशमिक ज्ञान है वह सामान्य कोटि का है। केवलज्ञान की कोटि का नहीं है। बधुओ! केवलज्ञान तो असाधारण ज्ञान है जिस ज्ञान की महिमा अपरपार है, वह ज्ञान पूज्य है। ऐसे केवलज्ञान की तुलना अपने क्षयोपशम ज्ञान के साथ करना उचित नहीं है। साथही यह करणानुयोग को नहीं समझना ही है। पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय मे अमृतचन्द्र सूरी ने लिखा है कि–

तज्जयति पर ज्योति सम समस्तैरनत-पर्यायै ।

दर्पण तल'इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।।

केवलज्ञान मे दुनिया के सारे पदार्थ झलक रहे हैं सभी पर्याये झलक रही हैं। प्रतिबिबित हो रही है। केवलज्ञान का प्रकाश दर्पण के समान स्वच्छ निर्मल और आदर्श है। इसलिये पूजनीय है। हमारा ज्ञान पूज्य नहीं है क्योकि वह कषाय से अनुरजित है।

बधुओ! दिव्य आत्मा बनने की शक्ति हमारे पास भी है। हम उसे दिव्य/आदर्श बना सकते है। अभी वह मोह के माध्यम से कलुषित हो रही है। इसी मोह को हटाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आदिनाथ स्वामी ने जिस प्रकार क्रमश सयम और तप के माध्यम से शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त किया है उसी प्रकार हमे भी प्रयास करना चाहिए। वे धन्य है जिन्होने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान को प्राप्त करने मे रत है और वे भी धन्य है जो केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना को अपनाने की रुचि रखते है।

□□

☐ मोक्षः संसार के पार

हे कुन्दकुन्द मुनि! भव्य सरोज बन्धु,
मै बार-बार तव पाद-सरोज बन्दूँ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम,
है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम।।

आज एक ससारी प्राणी ने किस प्रकार बधन से मुक्ति पाई और किस प्रकार पतन के गर्त से ऊपर उठकर सिद्धालय की ऊचाईयो तक अपने को पहुचाया– ये देखने/समझने का सौभाग्य हमे मिला। यह मुक्त दशा इसे आज तक प्राप्त नहीं हुई थी, आज ही प्राप्त हुई और बिना प्रयास के प्राप्त नहीं हुई बल्कि परम पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुई है। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि ससारी जीव बधन-बद्ध है और उसे बन्धन से मुक्ति मिल सकती है, यदि वह पुरुषार्थ करे तो। वृषभनाथ का जीव अनादि-काल से ससार मे भटक रहा था उसे स्व-पद की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसका कारण यही था कि इस भव्य जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं किया था। लेकिन आज जो शक्ति अभी तक अव्यक्त रूप से उसमे विद्यमान थी, वह पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त हुई है।

कोई भी कार्य अपने आप नहीं होता। सोचो, जब बधन अपने आप नहीं होता तो मुक्ति कैसे अपने-आप हो जायेगी। चोर जब चोरी करता है तभी जेल जाता है बधन मे पडता है। इसी प्रकार यह आत्मा जब राग-द्वेष, मोह करता है पर-पदार्थो को अपनाता है उनसे सबध जोड़ता है और उनमे सुख-दुख का अनुभव करने लगता है तभी उनसे बध जाता है। सभी सासारिक सुख-दुख सयोगज है। पदार्थो के सयोग से उत्पन्न होते है। पदार्थो के सयोग से राग-द्वेष होता है जो आत्मा को विकृत करता है और ससारी जीव अपने ससार का निर्माण स्वय करता जाता है। आज इस ससार रूपी जेल को तोड़कर छूट जाने का दिन है। ध्यान रखना ये अपने आप नहीं टूटता, तोड़ा जाता है और जेल तोडने वाला, बधन से छूटने वाला जेलर नहीं है कैदी ही होता है। जेल को बनाने वाला भी कैदी ही है। जेलर तो मात्र देखता रहता है। इसी

प्रकार ससारी प्राणी अपना ससार स्वय निर्मित करता हे, मुक्तात्माये तो उनके बधन को देखने-जानने वाली है। देखना-जानना ही वास्तव मे आत्मा का स्वभाव है। ससारी प्राणी जब ससार के बधन को तोडकर मुक्त हो जाता है तब वह भी मुक्तात्माओ मे मिल जाता है और मात्र देखने-जानने वाला हो जाता है। हम भी यदि पुरुषार्थ करे तो नियम से इस ससार से मुक्त हो सकते है। यही आज हमे अपना ध्येय बनाना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वतत्र होना चाहता है किन्तु स्वतत्रता के मार्ग को अपनाना नहीं चाहता। तब सोचो क्या यो ही बैठे-बैठे उसे आजादी/स्वतत्रता मिल जायेगी। ऐसा कभी सभव नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र की सत्ता से मुक्त होना चाहता है तो उसे बहुत पुरुषार्थ करना होता है। आजादी की लड़ाई लडनी होती है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले ने। आज से ३० ३२ साल पहले भारत के लोग परतत्रता का अनुभव कर रहे थे। परतत्रता के दुख को भोग रहे थे। तब धीरे-धीरे अहिंसा के बल पर अनेक नेताओ ने मिलकर देश को स्वतत्रता दिलाई। लोक-मान्य तिलक ने नारा लगाया कि स्वतत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। लोगो के मन में यह बात बैठ गयी और परिणामस्वरूप भारत को स्वतत्रता मिली। ठीक इसी प्रकार पराधीनता हमारा जीवन नहीं है, स्वतत्रता ही हमारा जीवन है– ऐसा विश्वास जाग्रत करके जब हम बधन को तोडेगे तभी मुक्ति मिलेगी।

जिस प्रकार दूध मे घी अव्यक्त है, शक्ति-रूप मे विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा मे शुद्ध होने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को अपने पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त करना होगा। तभी हम सच्चे मुमुक्षु कहलायेगे। भव्य कहलायेगे। जो अभी वर्तमान मे पुरुषार्थ नहीं करते वे भव्य होते हुए भी दूरान्दूर भव्य कहे जायेगे। या-दूर-भव्य कहे जायेगे, आसन्न भव्य तो नहीं कहलायेगे। एक अध पाषाण होता है जिसमे स्वर्ण शक्ति-रूप मे तो रहता है लेकिन कभी भी उस पाषाण से स्वर्ण अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दूरान्दूर भव्य है जिनकी भव्य ससार होने पर भी वे अभव्य की कोटि मे ही आ जाते है अर्थात् शक्ति होते हुए भी कभी उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र मे दशवें अध्याय मे मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है। उस मुक्त-अवस्था का क्या स्वरूप हे– यह बतलाया है। और उससे पूर्व नवमे अध्याय मे वह मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होगी- यह बात कही है। जिस प्रकार तूंबी मिट्टी का ससर्ग पाकर अपना तैरने वाला स्वभाव छोडकर डूब जाती है और मिट्टी का ससर्ग पानी मे घुल जाने के बाद फिर से हल्की होकर ऊपर तैरने लग

जाती है, ऐसे ही यह आत्मा राग-द्वेष और पर-पदार्थो के ससर्ग से ससार-सागर मे डूबी हुई है जो जीव पर-पदार्थो का त्याग कर देते हैं और राग-द्वेष हटाते है वे ससार सागर के ऊपर, सबसे ऊपर उठकर अपने स्वभाव मे स्थित हो जाते हैं। दूध मे जो घी शक्ति रूप मे विद्यमान है उसे निकालना हो तो ऐसे ही मात्र हाथ डालकर उसे निकाला नहीं जा सकता। यथाविधि उस दूध का मथन करना होता है। और मथन करने के उपरात भी नवनीत का गोला ही प्राप्त होता है जो कि छाछ के नीचे-नीचे तैरता रहता है। अभी उस नवनीत मे भी शुद्धता नहीं आयी इसलिये वह पूरी तरह ऊपर नहीं आता। भीतर ही भीतर रहा आता है और जैसे ही नवनीत को तपा करके घी बनाया जाता है तब कितना भी उसे दूध या पानी मे डालो वह ऊपर ही तैरता रहता है। ऐसी ही स्थिति कल तक आदिनाथ स्वामी की थी। वे पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जिस प्रकार अग्रेजो से पन्द्रह अगस्त १९४७ को भारत वर्ष को आजादी/स्वतन्त्रता तो मिल गई थी किन्तु वह स्वतन्त्रता अधूरी ही थी। देश को सही/पूर्ण स्वतन्त्रता तो २६ जनवरी १९५० को मिली थी जब ब्रिटिश सरकार और उनके नियम-कानून, लेन-देन आदि के बधनों से मुक्ति मिली और देश अपने ही नियम-कानूनो के अन्तर्गत शासित हुआ। वैसे ही आदिनाथ प्रभु की स्वतन्त्रता अपूर्ण थी क्योकि वे शरीर रूपी जेल मे थे। आज पूरी तरह ससार और शरीर दोनो से मुक्त हुए है। शरीर भी जेल ही तो है। शरीर को फारसी भाषा मे बदमाश कहा जाता है। शरीर शरीफ नहीं है बदमाश है। यदि इस शरीर का मोह छूट जाये तो जीव को ससार मे कोई बाध नहीं सकता।

अत बधुओ! जितनी मात्रा मे आप परिग्रह को कम करेगे, शरीर के प्रति मोह को कम करेगे, आपका जीवन उतना ही हल्का होता जायेगा, अपने स्वभाव को पाता जायेगा। जिस प्रकार नवनीत का गोला जब तक भारी था तभी तक अन्दर था जैसे ही उसे तपा दिया तो वह हल्का हो गया। सुगधित घी बन गया। अब नीचे नहीं जायेगा। अभी आप लोगो मे से कुछ ऐसे भी है जो न घी के रूप मे है और न ही नवनीत के रूप मे बल्कि दूध के रूप मे ही हैं। ससारी जीव कुछ ऐसे होते हैं जो फटे हुए दूध के समान हैं जिसमे घी और नवनीत का निकलना ही मुश्किल होता है तो कुछ ऐसे जीव भी है जो कि भव्य जीव है वे सुरक्षित नवनीत की तरह हैं जो समागम रूपी ताप के मिलने पर घी रूप मे परिणत हो जावेंगे और ससार से पार हो जायेगे। आप सभी को यदि अनन्त सुख को पाने की अभिलाषा हो तो परिग्रह रूपी भार को कम करते जाओ। जो पदार्थ जितना भारी होता है वह उतना ही नीचे जाता है। तराजू मे भारी पलडा नीचे बैठ जाता है और हल्का ऊपर उठ जाता है।

इसी प्रकार परिग्रह का भार ससारी प्राणी को नीचे ले जाने मे कारण बना हुआ है। लौकिक दृष्टि से भारी चीज की कीमत भले ही ज्यादा मानी जाती हो लेकिन परमार्थ के क्षेत्र मे तो हल्के होने का, पर-पदार्थो के भार से मुक्त होने का महत्व है। क्योकि आत्मा का स्वभाव पर-पदार्थो से मुक्त होकर उर्ध्वगमन करने का है।

उमास्वामी आचार्य ने यह भी कहा है कि बहु-आरभ और बहु-परिग्रह रखने वाला नरकगति का पात्र होता है। बहुत पुरुषार्थ से यह जीव मनुष्य जीवन पाता है लेकिन मनुष्य जीवन मे पुन पदार्थो मे मूर्च्छा, रागद्वेषादि करके नरकगति की ओर चला जाता है। नारकी जीव से तत्काल नारकी नहीं बन सकता। तिर्यच भी पाचवे नरक तक ही जा सकता है लेकिन कर्मभूमि का मनुष्य और उसमे भी पुरुष सातवे नरक तक चला जाता है। यह सब बहुत आरभ और बहुत परिग्रह के कारण ही होता है। बडी विचित्र स्थिति है। पुरुष का पुरुषार्थ उसे नीचे की ओर भी ले जा सकता है और यदि वह चाहे तो मोक्ष-पुरुषार्थ के माध्यम से लोक के अग्रभाग तक जाने की क्षमता रखता है। वह मुक्ति का मार्ग भी अपना सकता है और ससार मे भटक भी सकता है। यह सब जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है, केवल पढ लेने से या उनके जानने मात्र से नहीं।

पतन की ओर तो हम अनादि-काल से जा रहे है परन्तु उत्थान की ओर आज तक हमारी दृष्टि नहीं गयी। हम अपने स्वभाव से विपरीत परिणमन करते रहे है और अभी भी कर रहे हैं। इस विभाव या विपरीत परिणमन को दूर करने के लिये ही मोक्षमार्ग है। पाच दिन तक आपने विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम देखे, विद्वानो के प्रवचन सुने। ये सभी बाते विचार करे विवेकपूर्वक क्रिया मे लाने की है। अपने जीवन को साधना मे लगाना अनिवार्य है। जितना आप साधना को अपनायेगे उतना ही कर्म से मुक्त होते जायेगे। पापो से मुक्त होते जायेगे। जैसे तूबी कीचड मिट्टी का ससर्ग छोडते ही पानी के ऊपर आकर तैरने लगती है और उस पक-रहित तूबी का आलबन लेने वाला व्यक्ति भी पार हो जाता है वैसे ही हमारा जीवन यदि पापो से मुक्त हो जाता है तो स्वय के साथ-साथ औरो को भी पार करा देता है। राग के साथ तो डूबना ही डूबना है। पार होने के लिये एकमात्र वीतरागता का सहारा लेना ही आवश्यक है। वर्तमान मे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, जो छिद्र रहित और पक रहित तूबी के समान है उनका सहारा यदि हम ले ले तो एक दिन अवश्य पार हो जायेगे।

स्वाधीनता, सरलता, समता स्वभाव,
तो दीनता, कुटिलता, ममता विभाव।

जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपल-नाव, नहीं बचाव।।१

स्वाधीनता, सरलता और समता ही आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेष क्रोध आदि विभाव है। जो इस विभाव का सहारा लेता है वह समझो पत्थर की नाव मे बैठ रहा है जो स्वय तो डूबती ही है साथ ही बैठने वाले को भी डुबा देती है। आपको वीतरागता की, स्वभाव की उपासना करनी चाहिए। यदि आप वीतरागता की उपासना कर रहे है तो ये निश्चित समझिये कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। ये वीतरागता की उपासना कभी छूटनी नहीं चाहिए। भले ही आपके कदम आगे नहीं बढ़ पा रहे, पर पीछे भी नहीं हटना चाहिए। रागद्वेष के आधी तूफान आयेगे, बढ़ते कदम रुक जायेगे लेकिन जैसे ही रागद्वेष की आधी जरा धीमी हो एक-एक कदम आगे रखते जाइये, रास्ता धीरे-धीरे पार हो जायेगा।

आज तो बडे सौभाग्य का दिन है भगवान को निर्वाण की प्राप्ति हुई। एक दृष्टि से देखा जाये तो उनका जन्म भी हुआ। शरीर की अपेक्षा मरण कहो तो कोई बात नहीं, लेकिन जिसका अनतकाल तक नाश नहीं होगा ऐसा जन्म भी आज ही हुआ है। अजर-अमर पद की प्राप्ति उन्हे हुई है। ससार छूट गया वे मुक्त हो गये हैं। मै भी ऐसी प्रार्थना/भावना करता हूँ कि मुझे भी अपनी ध्रुव-सत्ता की प्राप्ति हो। मै भी पुरुषार्थ के बल पर अपने अजर-अमर आत्म-पद को प्राप्त करूँ।

□□

१ निजानुभवशतक-१६ (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

□ प्रवचन प्रदीप

☐ समाधि दिवसः आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

कभी-कभी भावो की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा अल्प समय मे करना हो तो कठिनाई मालूम पडती है "'मुनिपरिषन् मध्ये सनिषण्ण मूर्तमिव मोक्षमार्ग मवाग् विसर्ग वपुषा निरूपयन्त निर्गथ आचार्य वर्यम्'' -मुनियो की सभा मे बैठे हुये, वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हो, ऐसे आचार्य महाराज को किसी भव्य ने प्राप्त किया और पूछा कि भगवन्! किनु खलु आत्मने हित स्यादिति? अर्थात् हे भगवन्! आत्मा का हित क्या है। तब आचार्य महाराज ने कहा कि आत्मा का हित मोक्ष है। तब पुन शिष्य ने पूछ लिया कि मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?

इस बात का जवाब देने के लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारभ हो जाता है और क्रमश दस अध्यायो मे जवाब मिलता है। ऐसा ही ये ग्रन्थ हमारे जीवन से जुडा है। जो निर्ग्रथता का मूल स्रोत है।

क्या कहे और किस प्रकार कहे गुरुओ के बारे मे क्योकि जो भी कहा जायेगा वह सब सूरज को दीपक दिखाने के समान होगा। वह समुद्र इतना विशाल है कि अपनी दोनो भुजाओं को फैलाकर बताने का प्रयास, भावाभिव्यक्ति, उसका पार नहीं पा सकती।

एक कवि ने गुरू की महिमा कहने का प्रयास किया और कहा कि जितने भी विश्व मे समुद्र है उनको दवात बना लिया जाये पूरा का पूरा पानी स्याही का रूप धारण कर ले और कल्पवृक्ष की लेखनी बनाकर सारी पृथ्वी को कागज बनाकर सरस्वती स्वय लिखने बैठ जाये तो भी पृष्ठ कम पड जायेगे, लेखनी और स्याही चुक जायेगी, पर गुरू की गुरुता-गरिमा का पार नहीं पाया जा सकता।

'गुरु कुम्हार, शिष्य कुभ है गढ-गढ काढ़त खोट। भीतर हाथ पसार के, ऊपर मारत चोट। कुम्हार की भाति मिट्टी को जो दलदल बन सकती है, बिखर सकती है, तूफान मे धूल बनकर उड सकती है, घडे का सुन्दर आकार देने वाले गुरू होते है। जो अपने शिष्य को घडे के समान भीतर तो करुणा भरा हाथ पसार कर सभाले रहते है और ऊपर से निर्मम होकर चोट भी करते है।

बाहर से देखने वालो को लगता है कि घडे के ऊपर प्रहार किया जा रहा है लेकिन भीतर झाक कर देखा जाये तो मालूम पड़ेगा कि कुछ और ही बात है। सभाला भी जा रहा है और चोट भी की जा रही है। दृष्टि मे ऐसा विवेक, ऐसी जागरूकता और सावधानी है कि चोट, खोट के अलावा, अन्यत्र न पड़ जाये। भीतर हाथ वहीं है जहा खोट है और जहा चोट पड़ रही है। यह सब गुरू की महिमा है।

किसी कवि ने यह भी कहा है कि "गुरू गोविद दोउ खड़े, काके लागू पाँय, बलिहारी गुरू आपकी गोविद दियो बताय''।। हमे तो लगता है "बताना'' क्या यहाँ तो "बनाना'' शब्द होना चाहिये। "गोविद दिया बनाय''। वैसे 'बताना'' भी एक तरह से "बनाना'' ही है। जब गणित की प्रक्रिया सामने आ जाती है तो उत्तर बताना आवश्यक नहीं रह जाता उत्तर स्वय बन जाता है।

हम उन दिनो न तो उत्तर जानते थे, न प्रक्रिया या क्रिया जानते थे, हम तो नादान थे और उन्होने (आचार्य ज्ञानसागर जी) हमे क्या-क्या दिया हम कह नहीं सकते। बस! इतना ही कहना काफी है कि हमारे हाथ उनके प्रति भक्तिभाव से हमेशा जुडे रहते है।

गुरू की महिमा आज तक कोई कह नहीं सका। कबीर का दोहा सुना था— "यह तन विष की बेलडी, गुरू अमृत की खान। शीश दिये यदि गुरू मिलें, तो भी सस्ता जान''।। कैसा अद्‌भुत भाव भर दिया। कितनी कीमती आकी है गुरू की। हम इतनी कीमत चुका पाये तो भी कम है। देने के लिये हमारे पास क्या है? यह तन तो विष की बेल है जिसके बदले अमृत की खान, आत्मा मिल जाती है। यदि यह जीवन गुरू की अमृत-खान मे समर्पित हो जाए तो निश्चित है कि जीवन अमृतमय हो जाएगा।

सोचो, समझो, विचार करो, इधर-उधर की बाते छोडो, शीश भी यदि चला जाए तो भी समझना कि सस्ता सौदा है। शीश देने से तात्पर्य गुरू के चरणो मे अपने शीश को हमेशा के लिए रख देना, शीश झुका देना, समर्पित हो जाना। गुरू का शिष्य के ऊपर उपकार होता है और शिष्य का भी गुरू के ऊपर उपकार होता है, ऐसे परस्पर उपकार की बात आचार्यो ने लिखी है। सो ठीक ही है। गुरू शिष्य से और कुछ नहीं चाहता, इतनी अपेक्षा अवश्य रहती है कि जो दिशाबोध दिया है उस दिशा बोध के अनुसार चलकर शिष्य भी भगवान बन जाए। यही उपकार है शिष्य के द्वारा गुरू के ऊपर। कितनी करुणा है। कितना पवित्र भाव है।

"मैं'' अर्थात् अहकार को मिटाने का यदि कोई सीधा उपाय है तो गुरू के चरण-शरण। उनकी विशालता, मधुरता, गहराई और अमूल्य छवि का हम वर्णन भी नहीं कर सकते। गुरू ने हमे ऐसा मत्र दिया कि यदि नीचे की गहराई और ऊपर ऊंचाई नापना चाहो तो कभी ऊपर नीचे मत देखना बल्कि अपने को देखना। तीन लोक की

विशालता स्वय प्रतिबिबित हो जायेगी।

"जो एग्ग जाणदि सो सव्व जाणदि" -- अर्थात् जो एक को यानी आत्मा को जान लेता है वह सबको सारे जगत को जान लेता है। धन्य है, ऐसे गुरू, जिन्होने हम जैसे राग-द्वेषी मोही, अज्ञानी और नादान के लिए भगवान बनने का रास्ता प्रशस्त किया। आज कोई भी पिता अपने लडके के लिए कुछ दे देता है तो बदले मे कुछ चाहता भी है लेकिन गुरू की गरिमा देखो कि तीन लोक की निधि दे दी और बदले में किसी चीज की आकाक्षा नहीं है।

जैसे माँ सुबह से लेकर दोपहर तक चूल्हे के सामने बैठी धुआ सहती रसोई बनाती है और परिवार के सारे लोगो को अच्छे ढग से खिला देती है और स्वय के खाने की परवाह नहीं करती। आप जब भी मा की ओर देखेगे तब वह कार्य मे व्यस्त ही दिखेगी और देखती रहेगी कि कहाँ क्या कमी है? क्या-क्या आवश्यक है? क्या कैसा परोसना है? जिससे सतुष्टि मिल सके। पर गुरुदेव तो उससे भी चार कदम आगे होते है। हमारे भीतर कैसे भाव उठ रहे है? कौन सी अवस्था मे, समय मे, कौन से देश या क्षेत्र मे आपके पैर लडखडा सकते है। यह पूरी की पूरी जानकारी गुरूदेव को रहती है। और उस सबसे बचाकर वे अपने शिष्य को मोक्षमार्ग पर आगे ले जाते हैं। युगो-युगो से पतित प्राणि के लिए यदि दिशाबोध और सहारा मिलता है तो वह गुरू के माध्यम से ही मिलता है। गुरू का हाथ और साथ जब तक नहीं मिलता तब तक कोई ऊपर नहीं उठ सकता।

जैसे वर्षा होने से कठोर भूमि भी द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार गुरू की कृपा होते ही भीतरी सारी की सारी कठोरता समाप्त हो जाती है और नम्रता आ जाती है। इतना ही नहीं बल्कि अपने शिष्य के भीतर जो भी कमिया हैं उनको भी निकालने मे तत्पर रहने वाले गुरूदेव ही है। जैसे काटा निकालते समय दर्द होता है लेकिन काटा निकल जाने पर दर्द गायब होता है। उसी प्रकार कमिया निकालते समय शिष्य को दर्द होता है लेकिन कमिया निकल जाने पर शाति मिल जाती है। विषाक्तता बढ नहीं पाती। गुरूदेव की कृपा से अनतकालीन विषाक्तता निकलती चली जाती है। हम स्वस्थ हो जाते हैं। आत्मस्थ हो जाते है, यही गुरू की महिमा है।

मरूभूमि के समान जीवन को भी हरा-भरा बनाने का श्रेय गुरूदेव को है। आज आप लोगों के द्वारा गुरू की महिमा सुनते-सुनते मन भर आया है। कैसे कहूँ? अथाह सागर की थाह कौन पा सकता है। उनके ऋण को चुकाया नहीं जा सकता। इतना ही है हम उनके कदमों पर चले जाए, उनके सच्चे प्रतिनिधि बनें और उनकी निधि को देख-देख कर उनकी सन्निधि का अहसास करते रहें। यह अपूर्ण जीवन उनकी स्मृति से पूर्ण हो जाये।

धन्य है गुरू आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज, धन्य है आचार्य शांतिसागर जी महाराज और धन्य है पूर्वाचार्य कुदकुद स्वामी आदि महान् आत्माए जिन्होंने स्वय दिगम्बरत्व को अंगीकार करके अपने जीवन को धन्य बनाया और साथ ही करुणा-पूर्वक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जीवो को जीवन-निर्माण मे सहारा दिया।

गुरुदेव ने अपनी काया की जर्जर अवस्था मे भी हम जैसे नादान को, ना-समझ को, हम ज्यादा पढ़े-लिखे तो थे नहीं फिर भी मार्ग प्रशस्त किया। गुरू उसी को बोलते हैं जो कठोर को भी नम्र बना दे। लोहा काला होता है लेकिन पारसमणि के सयोग से स्वर्ण वनकर उज्ज्वल हो जाता है। गुरूदेव हमारे हृदय मे रहकर हमे हमेशा उज्ज्वल वनाते जायेगे, यही उनका आशीर्वाद हमारे साथ है।

हम यही प्रार्थना भगवान से करते हैं, भावना भाते हैं कि– "हे भगवान उस पवित्र पारसमणि के समान गुरूदेव का सान्निध्य हमारे जीवन को उज्ज्वल वनाये। कल्याणमय वनाये उसमे निखार लाये। अभी हम मझधार में हैं, हमे पार लगायें"। अपने सुख को गौण करके अपने दुख की परवाह न करते हुये दूसरो के दुख को दूर करने मे, दूसरों मे सुख शान्ति की प्रस्थापना करने मे जिन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया ऐसे महान् कर्त्तव्यनिष्ठ और ज्ञान-निष्ठ व्यक्तित्व के धारी गुरूदेव का योग हमे हमेशा मिलता रहे। हम मन, वचन, तन से उनके चरणों में हमेशा नमन करते रहें। वे परोक्ष भले ही है लेकिन जो कुछ भी हैं यह सव उनका ही आशीर्वाद है।

"गुरूदेव! अभी हमारी यात्रा पूरी नहीं हुई। आप स्वय समय-समय पर आकर हमारा यात्रा-पथ प्रशस्त करते रहें, अभी स्वयं मोक्ष जाने के लिए जल्दी न करें, हमें भी साथ लेकर जायें" – ऐसे भाव मन में आते हैं। विश्वास है कि गुरूदेव हमेशा हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। उनका जो भाव रहा वह पूरा अपने जीवन मे उतारने और उनकी भावना के अनुरूप आगे वढने का प्रयास हम निरन्तर करते रहेंगे।

स्वयं मुक्ति के मार्ग पर चलकर हमें भी मुक्तिमार्गी वनाने वाले महान् गुरूदेव के चरणों में वारम्वार नमस्कार करते हैं इस जीवन में और आगे भी जीवन में उन्हीं जैसी शात-समाधि, उन्हीं जैसी विशालता, उन्हीं जैसी कृतज्ञता उन्हीं जैसी सहकारिता भीतर आये और हम उनके वताये मार्ग का अनुसरण करते हुए धन्यता का अनुभव करते रहें। इसी भावना के साथ–

अज्ञानतिमिरांधानां, ज्ञानांजनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

□□

□ रक्षा-बंधन

भारत पर्वो, उत्सवों, त्यौहारो का देश है। यों तो जीवन का प्रत्येक दिवस एक पुनीत पर्व की तरह है तथापि किसी घटना विशेष के कारण कुछ दिवस पर्व के रूप मे भी मनाए जाते हैं। दशलक्षण पर्व और आष्टाह्निक पर्व के समान ही रक्षा-बधन पर्व का भी महत्व है। रक्षा-बधन अद्भुत पर्व है। बधन का दिन होने पर भी आज का दिन पर्व माना जा रहा है। सहज ही मन मे जिज्ञासा होती है कि पर्व या उत्सव मे तो मुक्ति होती है स्वतत्रता होती है आज का दिन बधन का दिन होकर भी क्यो इतना पवित्र माना गया है।

बात यह है कि आज का दिन सामान्य बधन का दिन नहीं है प्रेम के बधन का दिन है। यह बधन वात्सल्य का प्रतीक है। रक्षा बधन अर्थात् रक्षा के लिए बधन, जो आजीवन चलता है बडे उत्साह के साथ। यह बधन होकर भी मुक्ति मे सहायक है। क्योकि यह प्राणी मात्र की रक्षा के लिए सकल्पित करने वाला बधन है।

सभी जीवो पर सकट आते है और सभी अपनी शक्ति अनुसार उनका निवारण करते है पर फिर भी मनुष्य एक ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने और दूसरो के सकटो को आसानी से दूर करने में समर्थ है। मनुष्य चाहे तो अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। जीव रक्षा उसका कर्त्तव्य है उसका धर्म भी है।

आज के दिन की महत्ता इसीलिए भी है कि एक महान् आत्मा ने रक्षा का महान् कार्य सम्पन्न करके ससार के सामने रक्षा का वास्तविक स्वरूप रखा कि जीवो की रक्षा अहिंसा की रक्षा और धर्म की रक्षा ही श्रेष्ठ है। कितु आज यह रक्षा उपेक्षित है। हम चाहते है सुरक्षा मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थ पूर्ण सकीर्णता ही सब अनर्थो की जड बन गई है। मै दूसरो के लिए क्यो चिता करूँ, मुझे बस मेरे जीवन की चिता है। मै और मेरा आज का सारा व्यवहार यहीं तक सीमित हो गया है।

रक्षकपना लुप्त हो गया है और भक्षकपना बढ रहा है। रक्षाबधन आदि पर्वो के

वास्तविक रहस्य को बिना समझे बूझे प्रतिवर्ष औपचारिकता के लिए इन्हें मनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। यह ठीक नहीं है। स्वय की परवाह न करते हुए अन्य की रक्षा करना यह है इस पर्व का वास्तविक रहस्य। विष्णुकुमार मुनिराज ने क्या किया? बंधन को अपनाया, अपने पद को छोड़कर मुनियो की रक्षार्थ गये। क्यो? वात्सल्य के वशीभूत होकर धर्म की प्रभावना हेतु, यह है सच्चा रक्षा-वधन। रक्षा हेतु जहॉ वंधन को अपना लिया गया। लेकिन आज हमारा लक्ष्य ऐसा नहीं रह गया है।

बाहर से मधुर और भीतर से कटु ऐसा रक्षा वंधन नहीं होना चाहिये। हमारे द्वारा सपादित कार्य बाहर और भीतर से एक समान होने चाहिये। रक्षा बंधन को सच्चे अर्थो मे मनाना है तो अपने भीतर करुणा को जाग्रत करें, अनुकम्पा, दया और वात्सल्य का आवलम्बन लेकर अषाढ और सावन के जल भरे बादलों की तरह करुणा भी जीवनदायिनी होती है। जो वादल मात्र गरजते हैं और वरसते नहीं हैं उनका कोई आदर नहीं करता। हमें भी जल भरे वादल वनना है रीते बादल नहीं। आज इस पर्व के दिन हम में जो करुणा भाव है वह तन मन धन सभी प्रकार से अभिव्यक्त हो। इतना ही नहीं सदैव वह हमारा स्वभाव वन जाए ऐसा प्रयास करना चाहिये।

'मैत्री भाव जगत में मेरा सव जीवों से नित्य रहे' - प्रतिदिन यह पाठ उच्चारित करते हैं पर इस मेरी भावना को व्यवहार में नहीं लाते। व्यवहार में लाने वाले महान् वन जाते है। गाधीजी की महानता का यही कारण रहा कि वे करुणावान थे। एक बार की घटना है गाधी जी सर्दी मे अपने कमरे में रजाई ओढ़े अगीठी ताप रहे थे। थोड़ी रात होने पर उन्हे कहीं से वच्चो के रोने आवाज सुनाई पड़ी। वाहर आने पर उन्होंने कुत्तो के वच्चों को सर्दी के मारे रोते देखा। तव उनका हृदय भी रो पड़ा वे उन वच्चों को उठाकर अपने कमरे मे ले आये और उन्हें रजाई ओढा दी। यह थी गाधीजी की करुणा।

सभी के प्रति मैत्री भाव हो इसका नाम है रक्षा-बधन। रक्षा-बधन पर्व सिर्फ एक दिन के लिए ही नहीं है। हमारे वात्सल्य, करुणा और रक्षा के भाव जीवन भर वने रहे इन शुभ संकल्पों को दोहराने का यह स्मृति दिवस है। अतः इस पुनीत पर्व पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम आत्मस्वरूप का विचार करते हुए जीव मात्र के प्रति करुणा और मैत्री भाव धारण करे। तभी यह पर्व मनाना सार्थक होगा।

□□

☐ दर्शन-प्रदर्शन

यदि हमे महावीर भगवान बनना है तो पल-पल उनका चिन्तन करना अपेक्षित है। यह महावीर जयन्ती का आयोजन भले ही चौबीस घटे के लिए हो, यदि यह महावीर वनने के लिए है तो सार्थक है। ऐसे ही यदि आप वर्ष का प्रत्येक दिन महावीर भगवान के लिए समर्पित कर दें तो फिर महावीर बनने मे देर नहीं लगेगी। अर्थ यह हुआ कि जितना जितना समय आप भगवान के लिए उनके गुण स्मरण के लिए निकालेंगे उतना ही उनकी ओर बढ़ सकेगे। मात्र उनका जय-जयकार ही पर्याप्त नहीं है।

भगवान महावीर के दर्शन मे प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। कारण यही है कि दर्शन अपने लिए है अपनी आत्मा की उन्नति के लिए है आत्मा की अनुभूति के लिए है। दर्शन का अर्थ है देखना लेकिन प्रदर्शन मे तो मात्र दिखाना ही है। देखना 'स्व' का होता है और दिखाने मे कोई दूसरा होता है। आज तक ससारी प्राणी की सभी क्रियाएँ देखने के लिए न होकर दिखाने के लिए होती आयी है। प्रत्येक व्यक्ति इसी मे धर्म मान रहा है। वह सोचता है कि मै दूसरे को समझा दूँ। यह प्रक्रिया अनादि काल से क्रमबद्ध तरीके से चली आ रही है। यदि ऐसी क्रमबद्धता दर्शन के विषय मे होती तो उद्धार हो जाता।

व्यक्ति जव दार्शनिक वन जाता है तो वह हजारो दार्शनिको की उत्पत्ति मे निमित्त कारण वन जाता है और जब एक व्यक्ति प्रदर्शक बन जाता है तो सब ओर प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। प्रदर्शन की प्रक्रिया बहुत आसान है। देखा-देखी जल्दी होने लगती है उसमे कोई विशेष आयाम की आवश्यकता नहीं है। प्रदर्शन के लिए शारीरिक, शाब्दिक या बौद्धिक प्रयास पर्याप्त है लेकिन दर्शन के लिए एकमात्र आत्मा की ओर आना पर्याप्त है। दर्शन तो विशुद्ध अध्यात्म की बात है।

महावीर भगवान ने कितनी साधना की, वर्षो तप किया लेकिन दिखावा नहीं किया ढिंढोरा नहीं पीटा। जो कुछ किया अपने आत्म-दर्शन के लिए किया। सव कुछ पा लेने के बाद भी यह नहीं कहा कि मुझे वहुत कुछ मिला। प्रदर्शन करने से दर्शन का मूल्य कम हो जाता है। उसका सही मूल्याकन तो यही है कि दर्शन को दर्शन ही रहने दिया

जाये। जब प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी होने लगता है तो उसका मूल्य और भी कम हो जाता है। प्रदर्शन का मूल्य भी हो सकता है लेकिन उसके साथ दर्शन भी हो। जिसने स्वय नहीं किया वह दूसरे को क्या करवा सकेगा।

आज खान-पान, रहन-सहन आदि सभी मे प्रदर्शन बढता जा रहा है। आपका शृगार भी दूसरे पर आधारित है। दूसरा देखने वाला न हो तो शृगार व्यर्थ मालूम पडता है। दर्पण देखते है तो दृष्टिकोण यही रहता है कि दूसरे की दृष्टि मे अच्छा दिखाई पड़ सके। इस तरह आपका जीवन अपने लिए नहीं दूसरे को दिखाने के लिए होता जा रहा है। सोचिये, अपने लिए आपका क्या है? आपकी कौन-सी क्रिया अपने लिए होती है? सारी दुनिया प्रदर्शन मे बहती चली जा रही है। जीवन मे आकुलता का यह भी एक कारण है।

महावीर भगवान का दर्शन तो निराकुलता का दर्शन है। वह अनुभूतिमूलक है। प्रदर्शन में आकुलता है वहाँ अनुभूति नहीं, कोरा ज्ञान है। महावीर भगवान, उस ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते है जो अनुभूत हो चुका है। पराया ज्ञान कार्यकारी नहीं है अपना अनुभूत ज्ञान ही कार्यकारी है। हमारे लिए जो ज्ञान, कर्म के क्षयोपशम से मिला है, वही ज्ञान सब कुछ है। भगवान का केवलज्ञान निमित्त बन सकता है लेकिन उस ज्ञान के साथ हमारे अनुभव का पुट नहीं है। उनका अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान है और हमारा क्षयोपशम ज्ञान है जो सीमित है। अनन्त ज्ञान हमारे लिए पूज्य है हम उसे नमस्कार कह देते है कि 'वन्दे तद्गुण लब्धये' – आपके गुणो की प्राप्ति के लिए आपको प्रणाम करते है। गुणों की प्राप्ति स्वय की अनुभूति से ही होगी।

स्वरूप का भान नहीं होने के कारण ऐसा हो रहा है कि अपने पास जो निधि है उसका दर्शन उसका अनुभवन भी हमे नहीं हो पाता। सारा जीवन दूसरे के देखने-दिखाने में व्यतीत हो जाता है और अधूरा रह जाता है। जो व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है वह दूसरे पर आधारित नहीं रहेगा, दूसरे का आलम्बन तो लेगा लेकिन लक्ष्य स्वावलम्बन का रखेगा। आज तक हमारा जीवन हमारा ज्ञान अधूरा इसलिए रहा क्योकि दूसरे के दर्शन करने और दूसरे के माध्यम से ही सुख पाने का हमारा लक्ष्य रहा। अभी भी कोई बात नहीं है जो होना था वह तो हो गया लेकिन आगे के लिए कम से कम उस ओर न जाये।

आचार्य कुंदकुद स्वामी ने कहा और अनुभव भी किया कि आत्मा वीतरागी है। हम रटने लगे कि आत्मा वीतरागी है। राग का अनुभव करते हुए मात्र आत्मा को वीतरागी कहने से काम नहीं चलेगा। हमारा यह ज्ञान ठोस नहीं माना जायेगा। यह उधार खाते का ज्ञान है। इसे अपनी अनुभूति बनाना होगा। वीतरागता को जीवन में अगीकार करना

होगा। वीतरागता प्रदर्शन की चीज नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते है कि मै जो कह रहा हूँ उसे शत प्रतिशत ठीक तभी मानना जब अपने अनुभव से तुलना कर लो क्योकि मै जो कह रहा हूँ वह अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

रत्नाकर कवि दक्षिण भारत के कवियो मे मुकुट-कवि माने जाते है। भरतेश वैभव उनका श्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है। उनका कहना है कि जो व्यक्ति दूसरे के माध्यम से जीवन व्यतीत कर रहा है वह तभी तक प्रशसा कर सकता है जब तक उसे स्वय अनुभव नहीं हुआ। अनुभव होने के उपरान्त वह जो वास्तविकता है उसे ही कहेगा। लेकिन आज तो जो व्यक्ति अपनी ओर जाता ही नहीं, देखता ही नहीं, अनुभव भी नहीं करता वह व्यक्ति भी अपने आत्मा का प्रदर्शन करने मे लगा है। एक उदाहरण दिया है उन्होने। एक कौआ था। वह पके हुए अगूर खा रहा था। इतने मे एक सियार वहाँ आया। उसने पूछा कि तुम क्या खा रहे हो। कौए ने कहा कि क्या कहूँ– बडा स्वाद आ रहा है। तुम भी यहाँ ऊपर आ जाओ तो मजा आ जायेगा। अगूर ऐसे पके कि बस कहने की फुरसत ही नहीं है। नीचे गिराऊँगा तो ठीक नहीं है। नीचे धूल है ऊपर ही आ जाओ।

सियार ने अगूर की प्रशसा सुन ली, उसे खाने की इच्छा भी हो गयी। लेकिन वह ऊपर कैसे जाता। उसने तीन चार बार छलॉग भी लगा ली जब चौथी बार भी असफलता हाथ आयी तब उसने कह दिया कि अगूर खट्टे है। यही हाल हमारा है। अनुभूति नहीं है मात्र कहा जा रहा है। प्रदर्शन हो रहा है। सैकडो उदाहरण प्रदर्शन के है। सभा मे फोटो खींची गयी हो और उसमें अपना फोटो नहीं हो तो उस सारी फोटोग्राफी का कोई मूल्य नहीं है। एक व्यक्ति कमीज का कालर इधर-उधर कर रहे थे। हमने सोचा कोई कीडा वगैरह चला गया होगा। पर वहाँ कीड़ा नहीं था, वे गले मे पहनी हुए चेन दिखाना चाह रहे थे। चेन दिखाये बिना चैन नहीं आ रहा था। चेन के माध्यम से जो सुख चेन ढूढ रहा है वह पराश्रित है। उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

सुख की अनुभूति अपने ऊपर निर्धारित है। दूसरा कोई हमे सुख नहीं दे सकता। अनन्त चतुष्टय को धारण करने वाले भगवान भी हमे अपना सुख नहीं दे सकते। स्व-पर का भेद-विज्ञान यही है। सम्यग्दृष्टि कम है। मिथ्यादृष्टि की सख्या अनन्त है। कोई कुछ भी कहे, हम अपने ससार के अभाव का प्रयत्न करे। सारे ससार की चिन्ता न करें। दिग्दर्शन वही कर सकता है जो स्वय का दर्शन करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि 'चुक्केज्ज.छल ण घेत्तव्व' – समयसार का दिग्दर्शन मैं आप लोगो को करवा रहा हूँ यदि चूक जाऊँ जो छल ग्रहण मत करना। अपनी अनुभूति से उसका मिलान कर लेना। पचास्तिकाय भी उनका ही प्राकृत ग्रन्थ है। जयसेनाचार्य ने उसकी टीका मे

उल्लेख किया है कि श्रुत का पार नहीं है, काल वहुत अल्प है और हम दुर्मति वाले हैं अल्पज्ञ हैं इसलिए वही उतना ही सीख लेना चाहिये जिसके माध्यम से हमारा जन्म-मरण का जो रोग है वह दूर किया जा सके।

यही भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के अन्त मे भी दिया है 'नाना कम्मा, नाना जीवा' — कि नाना जीव है नाना प्रकार के कर्म हैं वहुत प्रकार की उपलब्धियाँ हैं अनेक प्रकार के चिन्तन है अनेकमत हैं इसलिए व्यर्थ वचन-विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। अनुभूति और दर्शन को महत्त्व देना चाहिये। प्रदर्शन ठीक नहीं है। आचार्यों ने आत्म-कल्याण के ऐसे-ऐसे उदाहरण दिये है कि मैं कह नहीं सकता। उनकी उदारता का वर्णन वचनों मे संभव नहीं है।

चुनाव करने वाले आप हैं प्रदर्शन आपको वहुत अच्छा लग रहा है किन्तु ध्यान रखिये कि सारा प्रदर्शनमय जीवन निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है आप जैसा जीना चाहे जी सकते हैं चूकि आत्मोन्नति और आत्मोपलब्धि दर्शन से ही संभव है। इसलिए अपने जीवन को स्वय सभालने का प्रयास करियें।

□□

❑ व्यामोह की पराकाष्ठा

रात हो गयी। वर्षाकालीन मेघ-घटाए आसमान मे छाई हैं। बीच-बीच मे बिजली भी चमक जाती है। मेघगर्जना के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। किसने अनुमान किया था, किसने जाना था कि यह आने वाला कल, इस प्रकार खतरनाक सिद्ध हो सकता है। दुर्भाग्य का उदय था। वर्षा की रफ्तार तेज होती जा रही थी। जो नदी बहाव बढने से तटो का उल्लघन कर गयी वह नदी कहाँ तक बढेगी, पानी कहाँ तक फैलेगा कहा नहीं जा सकता। चारो ओर सुरक्षा की वार्ता पहुँचा दी गयी, लोग अपनी-अपनी सुरक्षा मे लग गये। किंतु एक परिवार इस पानी की चपेट मे आ गया। समाचार मिलने के उपरात भी वह सचेत नहीं हुआ।

जो बॉध बॉधा था वह नदी के प्रवाह मे टूट गया। बॉध टूटते ही नदी का जल बेकाबू हो गया। बधा हुआ जल फैलने लगा मकान डूबने लगे। कुछ लोग जो सूचना मिलते ही घर छोडकर चले गये थे, वे पार हो गये जिसने समाचार सुनकर भी अनसुना कर दिया था वह चितित हो गया। वह पत्नी से कहता है कि अब हम इस स्थान को छोडकर कही अन्यत्र चले तो ठीक रहेगा क्योकि पानी ज्यादा बढ रहा है। पत्नी कहती है कि ठीक है मे बच्चो को लेकर जाती हूँ आप भी शीघ्रता करिये।

पत्नी बडे साहस के साथ दोनो बच्चों को साथ लेकर पार हो जाती है और वह व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ? क्या-क्या सामान बाध लूँ। कहाँ-कहाँ क्या-क्या रखा है वह उसे खोजने मे लग जाता है और पानी की मात्रा बढती जाती है। वह सोचता है कि यह सब सामान छोडकर भाग जाऊँ तो इसके बिना रहूँगा कैसे? इसलिए इसे लेकर ही जाऊँगा। वह जान रहा है देख रहा है कि पानी बढ रहा है अधेरा बढ़ रहा है। वह जानता हुआ भी अधा बना हुआ है।

'जान बूझ कर अध बने है आखन बाधी पाटी। जिया जग धोखे की है टाटि। सरागी प्राणी की यही दशा है। काल के गाल मे जाकर भी सुरक्षा का प्रबध करना चाहता है। सिह सामने खडा है और वह सोचता है कि सामान की सुरक्षा कर लूँ। धरती खिसक

रही है और वह विषय सामग्री के संचय मे लगा है। वह व्यक्ति धन सामग्री लेकर जैसे ही आगे बढता है नदी के प्रवाह में बहने लगता है। जो कुछ सामान साथ मे लिये था वह भी बहने लगता था। देखते-देखते नदी के प्रवाह मे उसका मरण हो जाता है। लेकिन मरणोपरात भी उसके हाथ मे पोटली नहीं छूटती जिसमे उसने सामान एकत्रित किया था। दूसरे दिन शव के साथ पोटली भी मिलती है। तो लोग दंग रह जाते है। यह तीव्र मोह का परिणाम है।

मोह को जीतना मानवता का एक दिव्य-अनुष्ठान है। इसके सामने महान योद्धा भी अपना सिर टेक देते है। विश्व का कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मोह की चपेट मे न आया हो, लेकिन इसके रहस्य को जानकर इस मोह की शक्ति को पहिचानकर, इस मोह की माया को जानकर, जो व्यक्ति इसके ऊपर प्रहार करता है वही इस ससार रूपी बाढ़ से पार हो जाता है। यह सन् १९५७ की घटना थी। महाराष्ट्र मे पूना के पास एक बांध था वह ध्वस्त हो गया था। यह आश्चर्यजनक घटना उस समय अखबारों मे पढने मे आयी थी। पत्नी और बच्चे सुरक्षित निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गये लेकिन मोह के कारण वह व्यक्ति बह गया। मोह का प्रभाव जड़ के ऊपर नहीं चेतन के ऊपर पडता है। जीवन के केंद्र पर चोट करता है मोह। आदमी मोह की चपेट में आकर छोटी-छोटी बातो से प्रभावित हो जाता है और अपने आपको भूल जाता है।

प्रत्येक प्राणी जानता है कि मोह हमारा बहुत बडा शत्रु है लेकिन मोह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। वह दूसरे को उपदेश दे देता है लेकिन खुद सचेत नहीं होता यही तो खूबी है मोह की। उस घटना को पढकर लगा कि बढ़िया तो यही है कि बाढ़ आने से पूर्व ही वहाँ से दूर चले जायें। क्योंकि जब बाढ आयेगी तो प्रवाह इतना तीव्र रहेगा कि इसमें हम बच नहीं सकेंगे। जानते हुए भी वहीं रहें आना इसे आप क्या कहेंगे। यह मोह से प्रभावित होना है, यह स्वयं की असावधानी भी है। जानबूझ कर अंध बने है, वाली बात है।

जो व्यक्ति मोह के बारे में जानते हुए भी, उससे बचने का प्रयास नहीं करता वह ससार सागर में डूबता है। वह व्यक्ति पार हो जाता है जो पार होने का सकल्प और विश्वास अपने अदर रखता है और निरंतर मोह से बचने के लिए प्रयास करता है। वास्तव मे, जिसने जो जोड़ा है उसे वह छोडना बहुत कठिन होता है। पर पदार्थो की ओर से आख मींच लेना आसान नहीं है। जबर्दस्ती कोई आंख मींच ले ये अलग बात है। आप खेल-खेल में भी आख मींच सकते है यह भी आसान है लेकिन तब भी काम नहीं बनेगा। पर पदार्थो से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ले जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

मोह के ऊपर प्रहार करना उसे जीतना, इसी का नाम है धर्म। कहीं भी किसी भी जगह आप चले जाये धर्म एक है और एक ही रहेगा। जो तैरना जानता है उसे तैरना आवश्यक होता है जो तैरना नहीं जानता उसे सीखना आवश्यक होता है। तैरना जानते हुए भी, पार करना जानते हुए भी वह व्यक्ति पार नहीं हो पाया। एक पत्नी थी, दो बच्चे थे मकान था और वह सग्रहीत द्रव्य था, यही उसका जीवन था ससार था। उसने पत्नी को, छोड दिया, बच्चो को भी छोड दिया, पर धन को नही छोड़ सका। अकेला होता तो धन की भी कोई जरूरत नहीं थी किंतु मन में तो परिवार का ख्याल था इसलिए धन की आवश्यकता हो गई और मोह का जाल बिछता गया, वह स्वय ही बिछाता गया और ऐसा बिछाता गया कि पैर रखते ही उसमे फँसता चला गया। यह है व्यामोह की पराकाष्ठा। जहाँ अपने जीवन से भी हाथ धोना पडा।

इससे वचने के लिए जागृति परम आवश्यक है। जागृति के अभाव मे मोह की चपेट मे आ जाने से हमारा आचार विचार, हमारा दैनिक कार्यक्रम सारा का सारा पराधीन हो जाता है स्वतत्रता का एक अश भी हमारे जीवन मे नहीं आ पाता। जैसे मरण से पहले जागृति के साथ यदि मरण को पहचानने की कोशिश की जाए तो जन्म मरण से मुक्त हुआ जा सकता है ऐसे ही मोह को समझने, मोह के परिणामो को पहचानने का प्रयास यदि कोई जागृत होकर करता है तो मोह से वच सकता है।

एक बार एक सेठ बीमार पडा। बीमार पडते ही फोन करके डॉक्टर को बुलाया गया। उसने आकर सेठ को देखा और मन मे विचार आया कि बडे सेठ है सम्पत्ति की कोई कमी नहीं, जो पैसा मुझे अन्य लोगों से मिलना है उससे अधिक यहाँ मिल सकता है। विचार आते ही डॉक्टर साहव वोले कि 'सेठ जी जो रोग आपको हुआ है वह असाध्य रोग है और इलाज भी क्या करे मेरी समझ मे नहीं आता। रोग पर काबू पाना असभव सा लगता है' सुन रहे हैं आप। वह डॉक्टर सब कुछ जानता है कि कौन सा रोग है और कितनी मात्रा मे बढा है लेकिन भीतर बैठा हुआ मोह यह सव कहलवा रहा है।

डॉक्टर की बात सुनकर सेठजी के लडके ने कहा कि डॉक्टर साहब। आप निश्चित रहिए और जो इलाज सम्भव हो वह करिए। आप जितना चाहेगे आपको मिलेगा। और रुपये का वडल डॉक्टर को दिखा दिया। पर डॉक्टर का मोह और वढ़ गया। उसने कहा कि भारत में इस प्रकार की दवाई मिलना सभव नहीं है विदेश से मगानी पड़ेगी। उसके लिए अधिक खर्च होगा। सेठ के लडके ने अवकी बार सौ-सौ का एक वडल और दिखा दिया। यह सव देखकर डॉक्टर सोचने लगा कि देखें कहाँ तक रुपया वढाता है।

सभव है थोडा और कह तो पचास-साठ हजार तक वात पहुँच जाए। और डॉक्टर ने आपरेशन की सलाह दे दी।

आपरेशन की वात से सभी चितित हो गये। सेठ के लड़के ने फौरन एक लाख रुपया डॉक्टर के सामने रख दिया और कहा कि आप आपरेशन करिये। पिताजी को किसी तरह वचा लीजिए। अब देखिए। यहाँ क्या होता है। एक लाख का नाम सुनते ही उस डॉक्टर को हार्ट अटैक हो गया। अव सोचिये यह कैसा ज्ञान है जो जीवन के लिए घातक सिद्ध हो गया जड़ पदार्थ के द्वारा चेतन का विनाश हो गया, यह सव मोह का प्रभाव है 'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादी' मोह रूपी मदिरा का नशा ससार के प्रत्येक प्राणी को चढा है फिर चाहे वह इजीनियर हो, चाहे डॉक्टर हो चाहे और कोई हो।

जिसने इस मोह के रहस्य को पहचाना है उसने अपने जीवन को उज्ज्वल वनाया है। उससे वढ कर महान् व्यक्ति इस ससार मे दूसरा नहीं है। दुखों की जड है मोह-मै और मेरेपन का भाव। देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है किंतु मोह के वशीभूत होकर ससारी प्राणी शरीर और पर पदार्थो को भी अपना ही समझता है। आप कुछ भी करते हे, तो क्या कहते है। यही कि मै वोल रहा हूँ, मे वैठ रहा हूँ, मै सो रहा हूँ। वताइये कौन सी क्रिया के साथ आप अपने आपको पृथक जानते हुए क्रिया करते हैं। सारी क्रियाएँ मैं ही कर रहा हूँ, सभी को यही अनुभव मे आता है। कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कहे कि मै खिला रहा हूँ, मै सुला रहा हूँ। विरले ही लोग है जो शरीर से स्वय को पृथक् अस्तित्व का अनुभव वढता जाएगा इतना-इतना मोह के ऊपर प्रहार होता चला जायेगा। मोह को यदि क्षीण करना चाहते हो तो आत्म तत्त्व को पृथक् जान लो।

मरण के उपरान्त सव कुछ यहीं पर रखा रह जायेगा, मात्र आत्मा ही साथ जायेगा। ध्यानपूर्वक इस वात को देखो तो सही कि ऐसा कौन सा गठवधन है जिससे दो पदार्थो मे शरीर और आत्मा मे एकता का अनुभव होता है। (शरीर को पडौसी समझना वडा कठिन काम हैं। जो सजग होकर वर्तमान का अनुभव करने का प्रयास करते है, वे शीघ्र ही समझ जाते है कि यह जो कुछ भी जुड़ाव है वह मोह का परिणाम है। शरीर को पृथक् जानकर उसके प्रति मोह ममता घटना चाहिये और चेतन के प्रति मोह-ममता निरन्तर बढ़ती जाना चाहिये। यही वास्तविक ज्ञान है। वीतराग-विज्ञान है।

आज के भौतिक-विज्ञान की किसी भी पोथी मे यह नहीं लिखा कि देह का अस्तित्व पृथक् है और आत्मा का अस्तित्व पृथक् है। इस प्रकार का भेद-विज्ञान धर्म-ग्रन्थों की

देन है। जो बताता है कि किस प्रकार शरीरसे पृथक् आत्म-तत्व की अनुभूति करना सभव है। लेकिन आज तो जितना-जितना भौतिकता का ज्ञान बढता जा रहा है उतना-उतना शरीर के साथ सबध और जुडता जा रहा है। पहले के लोग मोह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों के साथ सबध कम रखते थे, लेकिन आज का युग विकास के नाम पर मोह का विकास कर रहा है और आत्म-ज्ञान से वचित होता जा रहा है।

दो दोस्त बहुत दिनों के बाद कहीं से आकर मिलते है तो चर्चा वार्ता होती है। परस्पर कह देते हैं कि अच्छा-अच्छा मैंने आपको पहिचान लिया लेकिन यथार्थ मे दोनो ने अपने आपको नहीं पहचाना। मात्र पर का परिचय बढ रहा है लेन-देन की बाते आवागमन की बाते, और अर्थ के विकास की बाते ये सब मोह की पुष्टि के लिए है। अर्थ का विकास मोह का विकास ही है। आज मोह को क्षीण करने के लिए कोई रसायन तैयार नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे शान्ति प्राप्त करना कैसे सभव है? जिस त्याग-तपस्या के रसायन से शरीर और आत्मा को पृथक किया जाता है उससे यदि आप दूर रहोगे तो शाति नहीं मिलेगी।

एक व्यक्ति यात्रा के लिए निकला। उसे पहाड के ऊपर चढ़ना था। उसने अपने पैरो मे अच्छे जूते पहनकर चलना प्रारम्भ कर दिया। एकाध मील चला होगा कि उसे एक थैला पड़ा मिल गया। थोड़ा भारी था पर देखने मे अच्छा था उसने उठा लिया और इस तरह कधे पर रख लिया कि जैसे थैले में स्वर्ण आदि श्रेष्ठ वस्तुए रखी हो। जैसे-जैसे चढता गया, वैसे-वैसे उसे दिक्कत होने लगी। बोझ अधिक है ऐसा सोचकर उसने अपनी जो दूसरी थैली थी उसे रास्ते मे ही छोड दिया, थोडी देर मे जूते भी उतार कर अलग कर लिये और आगे बढते-बढते जब बहुत थक गया तो सोचा थोडा विश्राम कर लूँ और देखूँ तो थैले में क्या है? ज्यो ही उसने उस थैले को खोला तो उसमे और कुछ नहीं था एक मात्र पाषाण का टुकडा था। चटनी वगैरह बाटने का पत्थर था।

यही दशा प्रत्येक ससारी प्राणी की है। जो वास्तव में अपना है आत्म तत्त्व है उसे छोडकर बाह्य पर पदार्थो को आप उठाकर आगे बढ़ रहे हैं और व्यर्थ बोझ सह रहे है। हम दुनियादारी की वस्तुओं को अपने ऊपर लादते चले जाये और चाहें कि मोक्ष मिल जाए मोक्ष का पथ मिल जाय तो नहीं है ऐसा कोई पथ नहीं है और कोई उपदेश नहीं है जो आपका भार उतार दे। आप ससार का सग्रह करते जायें और मोक्षमार्ग मिल जाये यह कैसे सभव होगा। मोह को समाप्त करना ही मोक्षमार्ग है।

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए हल्का होना अनिवार्य है। आप यदि तूम्बी पर मिट्टी का लेप कर दे तो वह तैरना भूल जायेगी और पानी के अदर तल मे चली जायेगी लेकिन ज्यो ही मिट्टी का लेप हट जाएगा त्यो ही वह पानी के ऊपरी भाग पर आकर तैरने लगेगी। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा ससार के महासमुद्र मे डूब रही है और इसका एकमात्र कारण है मोह का बोझ। यदि यह छूट जाये तो हम नियम से ऊपर

आ जायेंगे। हमारी यात्रा निर्बाध होगी। यदि आप ऊपर उठना चाहते हो, पीड़ा से छुटकारा पाना चाहते हो तो अपने आप पर स्वयं दया करके मोह को छोड़ने का प्रयास करो।

जहर दो तरह का होता है एक मीठा जहर और एक कड़वा जहर। कड़वा जहर हो तो कोई भी पीते ही थूक देगा लेकिन मीठा जहर ऐसा है कि पीते ही चले जाना आनन्द दायक लगता है। जब जीवन समाप्त होने लगता है तब मालूम पड़ता है कि वह तो जहर था। मोह ऐसा ही मीठा जहर है। जिसे संसारी प्राणी थूकना नहीं चाहता। इसकी मिठास इतनी है कि मृत्यु होने तक यह नहीं छूटता और दूसरे जीवन में भी प्रारम्भ हो जाता है। भव-भव में रुलाने वाले इस मोह के प्रति सचेत हो जाना चाहिये। तभी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता प्रारम्भ होगा तभी अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति होगी। अपने-पराये को जानकर पराये के प्रति मोह छोड़ना ही हितकर है।

शरीर अपना नहीं है, अपना तो आत्मतत्त्व है यदि यह ज्ञान हो जाये तो भी कार्य आसान हो जायेगा 'स्व' को जानने की कला के माध्यम से 'पर' के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे। उनका आग्रह था कि माँ हमें मेला दिखाओ। उस महिला ने सोचा कि चलो बच्चों का आग्रह है तो दिखा लाते हैं किंतु अभी बहुत छोटे हैं इसलिए इन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़े रहना, मेले में भीड़ रहती है कहीं गुम न हो जाना अन्यथा हम नहीं ले जायेंगे।

सभी ने कह दिया कि हम आप जैसा कहोगी वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो। वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची। सारा झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, सारा मेला घुमा दिया, बच्चों को बहुत आनंद आया। शाम हो गई तो उसने सोचा अब घर लौटना चाहिये। उसने बच्चों को देखा कि कहीं कोई गुम तो नहीं गया। गिनकर देखा तो छह के स्थान पर पांच ही थे। दुबारा गिना तो भी पांच थे। अब वह महिला घबरा गयी। इतना बड़ा मेला और हमारा छोटा सा लड़का, कहाँ खोजें समझ में नहीं आता वह रोने लगी। तभी एक सहेली मिल गयी और उसने पूछा कि क्यों बहिन क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ, छह बच्चे लायी थी पांच ही बचे हैं एक बच्चा भीड़ में खो गया। तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पांच बच्चों को गिनने के बाद, उस महिला की गोद में सोये हुए बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छठवाँ लड़का।

यही स्थिति सभी की है। जो अत्यंत निकट है अपना आत्म-तत्त्व, उसे ही सब भूले हुए हैं। बाह्य भोग्य सामग्री की ओर दृष्टिपात कर रहे हैं उसे ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियाएँ हो रही है यदि हम जान लें कि सारी की सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक् हूँ तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी। कर्तृत्वनी

के खेल के समान सारा खेल समझ मे आ जायेगा। शरीर के साथ जब तक आत्मा की डोर बधी है तब तक ससार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही यह डोर टूट गयी तो कठपुतली के समान नाचने वाला शरीर एक दिन भी नहीं टिकेगा।

जो ज्ञानी है मुमुक्षु हैं आत्मार्थी हैं वे इस रहस्य को जान लेते है। जो आस्तिक्य गुण से सम्पन्न हैं वे इस रहस्य को जान सकते हैं। आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करके ही उस आत्मतत्त्व को पाया जा सकता है। शरीर को पर मानना इतना ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ-साथ शरीर से मोह भाव को कम करना भी अनिवार्य है। पर वस्तु के प्रति मोह भाव होने के कारण ही हम उसे अपना लेते हैं लेकिन जिस दिन मालूम पड जाता है कि यह तो पर है तब हँसी आती है कि आज तक हम किसके पीछे पड़े थे।

बधुओ ! शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो पर पदार्थ है उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी लेकिन अपनी गिनती अभी करना बाकी है। मै कौन हूँ- आज के वैज्ञानिक युग मे इसकी खोज भी आवश्यक है। सासारिक क्षेत्र म पदार्थो को जानने के लिए ज्ञान ही मुख्य माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र मे साधना और अनुभूति ही मुख्य है। जिसने अपने आप का अनुभव कर लिया वह पर के प्रति निर्मोही वनता चला जाएगा और एक दिन भगवान राम के समान, भगवान महावीर के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। सपूर्ण मोह के अभाव का नाम है मोक्ष और मोह के अभाव के लिए क्रम-क्रम से उसे कम करते हुए आगे बढ़ने का नाम है मोक्षमार्ग।

□□

☐ आदर्श संबंध

अनत जलराशि का वाष्पीकरण होता है सूर्य के प्रताप से और वह बादलो मे ढल जाता है पुन वर्षा के जल के रूप मे नीचे आ जाता है। पर्वत के शिखर पर भी क्यो न गिरे, वहाँ से वह नीचे की ओर ही बहता है। जल जब तक द्रव रूप मे रहेगा तब तक वह नीचे की ओर ही बहेगा। किंतु जब हम उसे रोक देते हैं तो वह रुका हुआ मालूम पडता है किंतु वह रुकता नहीं है।

अभी उड़ीसा की तरफ से हम आ रहे थे वहाँ पर सबलपुर के पास एक गाँव है हीराकुण्ड। वहाँ महानदी को बाधने का प्रयास इस युग के मानव ने किया है। उस जल को बाधने के उपरात भी वह गतिमान है। पहले वह नीचे की ओर जाता था अब ऊपर की ओर बढ़ रहा है। जितना-जितना पानी ऊपर की ओर बढेगा उतना-उतना खतरा उत्पन्न होता जायेगा। बाध एक प्रकार का बधन है। जैसे बधन मे बधा व्यक्ति उग्र हो जाये तो काम बिगड जाता है। ऐसा ही बाध के पानी का है इसलिए बाध पर खतरा लिखा हुआ रहता है।

पहले जब पानी सहज गति से वहता था तो कोई खतरा नहीं था बल्कि देखने योग्य मनोरम दृश्य था लेकिन अब खतरा हो गया। एक भी ईंट या पत्थर खिसक जाए तो क्या दशा होगी। जो जल ऊपर की ओर बढ़ रहा है उसे रोका नहीं गया है मात्र रास्ता बद किया है और जब किसी का रास्ता रोका जाता है तो वह अपने विकास के लिए प्रयत्न करता है अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और ऐसा होने से सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। नदियो के साथ सघर्ष नहीं है पर वाध के साथ सघर्ष है।

हम जब छोटे थे तव खेत मे जाकर देखते थे। वहाँ पर किसान लोग चरस चलाते थे। पानी आता था और बने हुए रास्ते से गुजरता हुआ चला जाता था। गन्ने के खेत को पानी पिलाया जा रहा था। जहाँ वह जल मुड़ गया था उस मोड पर वह किसान बार बार मिट्टी के ढेले डाल देता था, कभी-कभी गन्ने के छिलके भी लगाता था ताकि मजबूत बना रहे क्योकि वहाँ जल टकराता था इसलिए वहाँ सघर्ष था, मिट्टी रुक नहीं

पाती थी। जव इतने से जल के साथ सावधानी रखनी पड़ती है तब जहाँ बाध वनाया जाता है वहाँ कितना वडा काम है।

यह तो उदाहरण की वात है। ऐसी ही चारों गतियो के प्रवाह मे जीव की स्थिति है। वहाँ उसकी शक्ति देखने मे नहीं आती। लेकिन जव वह उर्ध्वगमन करने लगता है तव शक्ति देखने मे आती हैं आणविक शक्तियो से भी वढ़कर काम करने वाली वह शक्ति है। अपने उपयोग को ऐसा वाध दिया जाए कि कर्म की चपेट से वच सक। तो जीवन का प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है और धीरे-धीरे सिद्धालय की ऊँचाईया छू लेता है। यह वड़ी मेहनत का काम है वड़े-बड़े इजीनियर भी इसमें फेल हो जाते है। वहुत साधना के उपरात भी सफलता मिले यह जरूरी नहीं है। वाध-बनाते समय सारी साधना, आत्मविश्वास और साहस के साथ इजीनियर करता है फिर असाता कर्म का प्रवाह आते ही सारे के सारे खभे गिर जाते हैं।

इस युग के अतिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी को भी इस प्रवाह को रोकने और आत्मा को उर्ध्वगामी करने के लिए पूरे वारह वर्प लग गए थे। आदि ब्रह्मा आदिनाथ को भी एक हजार वर्ष लग गये थे। वे कितने वड़े इजीनियर थे उनकी उस यूनिवर्सिटी को देखने की आवश्यकता है। मैं वार-बार चितन करता हूँ कि उस यूनिवर्सिटी मे हमारा नम्वर आ जाए तो वडा अच्छा रहे। वहाँ नवर आये बिना काम वनने वाला नहीं है। उन्होने अपने उपयोग रूपी बाध का निर्माण कैसे किया यह समझने की वात है।

यह जो आत्म-तत्त्व पानी के समान चारों गतियो मे वह रहा है उसे नियत्रित करना और उर्ध्वगामी वनाना वडा कठिन कार्य है। नदी पर वनने वाले बाध में तो सीमेंट और पत्थर लगाये जाते हैं लेकिन उपयोग के प्रवाह में क्या लगाये, वह तो एक सैकण्ड मे वदल जाता है। वाधते-वाधते ही रास्ता वदल लेता है। इतने सूक्ष्म परिणमन वाले परिवर्तनशील उपयोग को बाधना साधना के बिना सभव नहीं है जब हम स्कूल मे पढ़ते थे, तब एक पाठ पढ़ा था। एक ऐसी नदी चीन मे है जो रातों रात पात्र वदलती है। वहने की दिशा कई बार वदल लेती है। तो लोगो को बडी घवराहट हो जाती है बडा खतरा उत्पन्न हो जाता है। मैं वार-वार सोचता हूँ कि इतने-इतने छोटे-छोटे कामों के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है तब अपने आत्म प्रवाह को बाधने के लिए कितना पुरुषार्थ करना होगा।

भारतीय सस्कृति का इतिहास उज्ज्वल रहा है। भारतीय सस्कृति के अनुरूप वैसे कोई भी कार्य कठिन नहीं है क्योकि पराश्रित कार्य कठिन हो भी सकता है किंतु स्वाश्रित कार्य वहुत आसानी के साथ होते देखे जाते है। इतना अवश्य है कि ऐसे कार्यो के लिये

अपनी ओर देखें अपनी आत्म-शक्ति को जाग्रत करें और श्रद्धा रखें तो सफलता आसानी से प्राप्त हो जाती है। हमारा जीवन जो भोग विलास की ओर ढला हुआ है उसे योग की ओर कैसे लाया जाये? क्या पद्धति अपनायी जाये जिससे हमारा प्रवाह भोगो की ओर से हटकर योग की ओर आ जाए? रात-दिन खाने पीने की इच्छा, शरीर को आराम देने की इच्छा, सुनने की इच्छा, सूघने की इच्छा, स्पर्श करने की इच्छा और मन मे सभी भोगों का स्मरण चलता रहता है ऐसी स्थिति मे योग कैसे धारण करे? तो इतना ही करना है कि जिस प्रकार आप उस ओर जा रहे है उसी प्रकार इस ओर आ जाये।

उपयोग की दिशा मे बदलाहट लानी होगी। बडा दृढ़ श्रद्धानी और धैर्य वाला उपयोग चाहिये। जो बदलाहट के बोझ को सहन कर सके। जैसे आप सीढ़ियो के ऊपर चढ़ते जाते हैं और जरा सा घुमाव आ जाए तो आजू-बाजू सँभालकर चलना होता है उसी प्रकार उपयोग को भोग के धरातल से योग के शिखर तक लाना महान कठिन कार्य है। सावधानी की बड़ी आवश्यकता है। श्रद्धान दृढ बनाना होगा, दिशा का सही चयन करना होगा और सारी वि-दिशाओं को बद करना होगा तभी ऊँचाईयो तक पहुँचना सभव है।

आज का भारतीय नागरिक भोग की ओर जा रहा है और भोग्य सामग्री को जोडता हुआ वह योग को पाना चाह रहा है। योग को पाने के लिए भोग का वियोग करना होगा उसे एकदम विस्मृत करना होगा तभी योग को पाया जा सकता है। भोग मेरे लिए अहितकारी है ऐसा सोचना होगा और अनुभव से ऐसी धारण बनानी होगी कि भोग मेरा साथी नहीं है उससे मेरा उद्धार अभी तक नहीं हुआ और कभी भी नहीं हो सकता। भोग मेरी दिशा और दशा को बदलने वाला है वह मेरे लक्ष्य मे साधक नहीं बल्कि बाधक है। चारो ओर भोगो की ओर जाने वाला उपयोग यदि वहाँ जाना बद कर दे तो उपयोग की धारा को योग की ओर ले जाना आसान हो जायेगा।

जैसे डॉक्टर क्रमश इलाज करता है और रोगी को रोग-मुक्त कर देता है। ऐसा ही यदि आप चाहे तो क्रमश भोगो को कम करते-करते उससे पूरी तरह मुक्त हो सकते है और अपनी चेतना की धारा योग की तरफ मोड सकते हैं। साधना की बात है अभ्यास की बात है। घुड़सवार होते है घोडे के ऊपर बैठ जाते है। आपने कभी गौर से देखा हो तो मालूम पड़ जायेगा कि वे घोड़े के ऊपर बैठते नहीं है जब घोड़ा दौड़ता है तो वे घोडे की पीठ पर लटके पायदान पर पैर रखकर उसके ऊपर सारा वजन डाल देते है लगभग खड़े हो जाते है। घोडो को काबू मे रखने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। इसी प्रकार उपयोग को रोकने के लिए योगीजन प्रयास करते हैं। सतर्क होकर धीरे-धीरे नियंत्रण करते है।

भारत का प्रत्येक नागरिक भोगो को क्रमश नियन्त्रित करने के लिए ही गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है। विवाह करता है। विवाह की पद्धति के बारे मे भारत की प्रथा एक अलग प्रथा है। यहाँ विवाह का अर्थ मात्र भोग का समर्थन करना नहीं है बल्कि भोग को नियन्त्रित रखने की प्रक्रिया है। काम को क्रमश जीतने का एक सीधा सरल तरीका है विवाह। जो व्यक्ति विवाह के बिना रहना चाहता है उसके लिए योग की साधना अलग है। जिसके माध्यम से वह जीवन की ऊर्जा को उर्ध्वगममान बनाता है। अपने जीवन मे फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तियों की सख्या अत्यल्प है।

बहुसख्यक लोगों के लिए, जो विवाह की पद्धति अपनाते हैं, उन्हें भी पूर्व भूमिका का प्रशिक्षण लेना चाहिये, जीवन को किस प्रकार ढालना है इस विषय मे आज कोई नहीं सोचता। सोचना चाहिये यदि माँ पिता लड़की या लडके को देखते है तो पहले धन नहीं बल्कि उनके चारित्र के बारे पूछताछ करना चाहिये, भारतीय सभ्यता के अनुसार तो विवाह की यही प्रक्रिया है। इसके बाद ही सबध होते है। सबध का क्या अर्थ है? 'समीचीन रूपेण बध इति' - समीचीन रूप से बधने का नाम ही सबध है।

आज अधिकतर सुनने मे आता है कि सबध बिगड गया। बिगडने का कारण क्या है तो यही कि पूर्वापर विचार नहीं किया। और सबध तय कर दिया। यही तो मुश्किल है। जो सबध होता है वह माता-पिता के द्वारा किया जाता है और वह वर वधू को मजूर होता है। वे जानते है कि माता-पिता ने हमारे हित के लिए किया है।

एक बार की बात है। मुसलमानो के यहाँ शादी थी। पडाल मे वर को बैठाया गया और वधू को बहुत दूर अदर परदे की ओट में। दोनो पक्षो मे मौलवी रखे गये थे उनके द्वारा पूछा गया कि क्यो यह सबध दोनो को मजूर है तो वे कह देते है कि जी हाँ मंजूर है। यह एक बार नहीं तीन बार बोलना पडता है जैसे आप मन-शुद्धि वचन-शुद्धि और काय-शुद्धि बोलते है हमने सोचा कि यह तो शपथ हो गयी। सभी के सामने शपथ ले ली ताकि सबध पूरी जानकारी के साथ हो।

आज तो भारत की क्या दुर्दशा हो गयी है कभी आपने सोचा कि किस तरह भारतीय सभ्यता टूटती जा रही है विवाह के मामले मे। यदि भारतीय सभ्यता से सस्कारित होकर शादी की जाए तो पति-पत्नि दोनो कुछ ही दिनो मे भोगों से विरक्त होकर घर से निकलने का प्रयास करते है। भोगो को त्यागने की भावना उनके अदर स्वत ही आने लगती है और उसके उपरात आत्मोद्धार करके वे अपने जीवन का निर्माण कर लेते है।

कुल परम्परा और सस्कृति का ध्यान रखकर जो विवाह होते है उनमे भोग की

मुख्यता नहीं रहती। विवाह के समय होने वाले विधि-विधान वर-वधू को सदाचार, विनय, परस्पर स्नेह, और व्यसन मुक्त होकर जीने का सदेश देते हैं। सप्तपदी विवाह मे सात प्रतिज्ञाए दी जाती है। जिनका पालन वर-वधू को जीवन-पर्यंत करना होता है। विवाह की सामग्री में अष्ठ मगल द्रव्य और विशेष रूप से स्वस्तिक को रखा जाता है। हमने सोचा कि साथिया के बिना यहॉ भी काम नहीं चलता। स्वास्तिक का अर्थ है- स्वस्थ अस्तित्व द्योतयति इति स्वास्तिक, अपने अस्तित्व को उद्योत करना, अपने-आप को पा लेना।

उसका सीधा सा अर्थ सही हुआ कि विवाह के समय कह दिया जाता है कि देखो, तुम दोनो मिलने जा रहे हो लेकिन ध्यान रखना सब कार्यो को मिल जुलकर करना अपनी दिशा को नहीं भूलना और 'स्व' के अस्तित्व को भी कभी नहीं भूलना। यह आत्मा को उन्नत वनाने की प्रक्रिया है। यह एक मात्र अवलम्वन है। जिस प्रकार नदी को पार करते समय नाव की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार जगल को पार करते समय मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, किसी सूचना या सकेत फलक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवन साथी के माध्यम से दोनो पार हो जाये भवसागर से, यह परस्पर आलम्वन वनाया जाता है।

इतना ही नहीं सवसे वड़ा सकल्प तो इस वात का किया जाता है कि 'मातृवत् परदारेपु' अर्थात् एकमात्र पत्नी को छोडकर अव पति के लिए ससार मे जितनी भी महिलाए है उनमे अपने से वड़ी को मा के समान, वरावर उम्र वाली को वहिन के समान और छोटी को पुत्री के समान समझना ऐसा कह दिया जाता है। और वधू से कहा जाता है कि वर को छोडकर सवको पिता के समान भाई के समान या पुत्र के समान जानना। इसके अलावा और कोई राग भाव नहीं आना चाहिये।

देखो, कितना अनुशासन है। महानदी असीम क्षेत्र मे फैली हुई थी उसकी शक्ति को एकत्रित करके उस जल का उपयोग करने के लिए वाध का निर्माण किया गया। जो काम इतनी वडी नदी नहीं कर पा रही थी, वह अव वाध के द्वारा होने लगा। जहाँ तक वह पानी फैलाना चाहो, फैलाओ। सारा पानी काम आयेगा। क्योंकि वधा हुआ वाध है अनुशासित है। अभी नदी के वहते हुए जल से विजली नहीं वनती थी अव वाध के माध्यम से विजली का भी निर्माण होगा।

विवाह का सवध भी ऐसा ही अनुशासित वधन है। जिससे उत्पन्न शक्ति के द्वारा समाज का विकास होगा, वह समाज के उपयोग मे आयेगी। प्रत्येक सवध का उद्देश्य ऐसी शक्ति का निर्माण करना है जो विश्व को प्रकाश दे सके, आदर्श प्रस्तुत कर सके।

सव कुछ भूल जाना लेकिन अपने आप को नहीं भूलना, इसी को बोलते है दाम्पत्य बधन। अब दम्पति हो गये। अपनी अनत इच्छाओ का दमन कर लिया उनको सीमित कर लिया।

कभी आपने सोचा कि बाध कब टूटता है। बाध उस समय टूटता है जब बाध बनाने वाले को लोभ आ जाता है। इसी प्रकार आज दाम्पत्य बधन के बीच मे यदि धन सम्पति का लोभ आ जाता है, लालसा बढ़ जाती है तो दुर्घटना घट जानी है जिस जल राशि के द्वारा कल्याण होता था, उसी के द्वारा तबाही होने लगती है। परिवार और समाज की वदनामी हो जाती है। बाध टूट जाने पर पुन निर्माण उसी जगह सभव नहीं होता। बडे-बडे इजीनियर लोग अपना दिमाग लगा देते है, तब भी जोडना मुश्किल पडता है। वस्त्र फट जाने पर आप जोड़ लगा देते है लेकिन पूरी की पूरी मजबूती रहे ऐसा जोड लगाना सभव नहीं होता। जोडकर भी बेजोड बोलते है उसे वे-मेल हो जाता है वह सबध।

बधुओ। भोग से वचकर योग की ओर जाने के लिए एक ऐसा सवध विवाह के द्वारा बनाया जाता है कि जिसके उपरान्त जीवन का प्रवाह अपने आप ही आगे बढ जाये। शरीर भिन्न-भिन्न रहते हुए भी आत्मिक सबध ऐसा हो जाए कि जीवन बेजोड, एक जैसा और अद्भुत महसूस होने लगे। एक गाडी में दो बेल जोते जाते है। एक बैल यदि पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर जाने लगे तो बैलगाडी आगे बढना मुश्किल हो जाता है। बैलगाडी चलाने वाला कितना भी होशियार क्यो न हो, वह भी परेशान हो जाता है। जब दोनो समान दिशा मे चलेगे तभी जीवन की गाडी चल पाती है। आचार-विचार मे ऐक्य होना आवश्यक है। जहाँ ऐक्य है वहाँ जीवन मे वहुत अच्छे-अच्छे कार्य हो सकते है। जीवन के खड-खड नही होने चाहिये जीवन अखड बने ऐसा भाव बनाना चाहिये।

आज की विवाह प्रक्रिया को देखकर लगता है कि व्यक्ति प्राचीनकाल से चली आ रही सही पद्धति को छोड़ते चले जा रहे हैं। धन पैसे का लालच बढता जा रहा है। आज वडी उम्र की कन्याए दहेज के कारण अविवाहित वैठी रहती हैं। आज शादी के उपरात भी कन्याए दहेज के कारण तकलीफ पाती है उनका जीवन उनके घर मे सुरक्षित नहीं रहता। उन पिताओं पर क्या गुजरती है जिनकी बेटियो के ऊपर आए दिन दुर्घटनाए घटती है यह तो वही जानते है। अब तो विवाह न होकर यह तो व्यवसाय हो गया है। यह कैसी परम्परा यह कौन सा आदर्श प्रस्तुत किया जा रहा है पढ़े लिखे आज के समाज द्वारा।

अगर कोई कन्या आगे आकर ऐसा कह दे कि दहेज में हजारो रुपये देकर हमने लड़के को खरीद लिया तो क्या होगा? जीवन पर्यन्त के लिए जो एक हो रहे हैं क्या इस तरह उनके जीवन में ऐक्य हो पायेगा, क्या जीवन पर्यंत वे सुखपूर्वक जी सकेंगे? जो प्रतिज्ञाए उन्हे दिलायी जाती है उनका कोई अर्थ जीवन मे रह जाएगा। कोई अर्थ नहीं रहेगा ऐसे सबध आत्म-कल्याण के लिए बाधक ही बनते है।

पाणिग्रहण होता है एक दूसरे का हाथ पकड़कर जीवन भर साथ चलने का सकल्प लिया जाता है। जीवन मे कौन-कौन सी घाटिया आ सकती हैं, कैसी-कैसी बाधाए आ सकती है इन सभी मे दोनों मिल जुलकर संतोष पूर्वक आनद के साथ रहे दोनो परस्पर सहयोगी बने, एकता के साथ जिए यही भावना होती है। लेकिन अर्थ के प्रलोभन के वशीभूत होकर आज अनर्थ हो रहा है। समाज के द्वारा इस पर अकुश लगाया जाना चाहिये। मात्र धर्म की चर्चा करने से कुछ नहीं होगा, आचार-विचार में धर्म आना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने लिखा है 'अदत्ता दान स्तेय' - देने की भावना नहीं होने पर जो जबर्दस्ती दिलवाया जाये वह सब चोरी है पाप है। लडकी का पिता दहेज दे नहीं रहा है उसे देना पड रहा है उसकी देने की इच्छा नहीं है लेकिन भरे पडाल मे उसे देने के लिए मजबूर किया जा रहा है तो वह क्या है? आप भले ही न माने पर आगम ग्रथों मे इसे चोरी कहा गया है। पाच पापो मे एक पाप है।

आज जिसे आचार्यो ने कन्यादान माना है वह व्यवसाय हो गया है। सौदा हो गया है। चेतन का मोल जड क द्वारा किया जा रहा है जो कि मानवता के महापतन का सूचक है। शादी के बाद जब कन्या पति के घर आती है तब वह गृहलक्ष्मी मानी जाती है देवी के समान मानी जाती है। कन्यादान देने वाला पिता श्रेष्ठ पात्र को खोजकर यह दान देता है ताकि जीवन पर्यन्त उनकी उन्नति की सुरक्षा हो। दोनो मिलकर आत्म कल्याण करे। सासारिक विषय भोगो मे ही न फसे रहें बल्कि आत्मोद्धार के लिए अग्रसर हो। आत्म-चिंतन के लिए समय निकाल सके। धर्मध्यान पूर्वक सदाचारमय जीवन व्यतीत करें।

यह सारे सस्कार, आचार-विचार आज लुप्तप्राय हो गये है। कोई भी आदर्शमय विवाह देखने मे नहीं आता। इतना पैसा कमा करके आप कहाँ रखेंगे? कहाँ ले जायेंगे? यह लोभ धर्म को नष्ट भ्रष्ट करता चला जा रहा है। सभ्य समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज मे यदि एक भी बुरा कार्य हो जाता है तो उसकी बुरी छाप पूरे समाज पर पड़ती है। भाई, यह अर्थ प्रलोभन ठीक नहीं है। भोग सामग्री की लिप्सा आपको कभी योग का स्वाद नहीं लेने देगी। अपने जीवन को ऐसा बनाओ जिससे लोग अच्छी

शिक्षा ले सके। पुराणों मे देखो सद्गृहस्थ का जीवन कितना उज्ज्वल था। कैसी निर्मल साधना थी।

एक साधु गेरुआ रग के वस्त्र पहने हुए थे। हाथ मे रुद्राक्ष की माला लेकर प्रभु के ध्यान मे तल्लीन थे। मौन साधना चल रही थी। कोई बिना मागे कुछ दे देता, तो ठीक, नहीं तो मागने का कोई सवाल नहीं। तभी एक घटना घटी कि आकाश मे बादल छा गए और वर्षा होने लगी। तापसी ने ऊपर देखा तो देखते ही बादल फट गये, बरसात बद हो गयी और आकाश स्वच्छ हो गया। उसे विश्वास हो गया कि साधना पूरी हो गयी है। साधना का फल दिखाई देने लगा।

दूसरे दिन की बात है कि वही महात्मा जी एक पेड के नीचे बैठे थे। पेड की शाखा पर बैठे कबूतर ने उनके ऊपर बीट कर दी। उन्होंने जैसे ही आख उठाकर कबूतर की ओर देखा और वह कबूतर भस्मसात हो गया। अब अपनी शक्ति पर अहकर आ गया और सोचा कि धीरे-धीरे इसका प्रचार-प्रसार करना चाहिये। चमत्कार सभी को मालूम पडना चाहिए। आगे एक गाव की ओर चल पडे। वहाँ जब अपने चमत्कार की चर्चा की तो एक व्यक्ति ने कह दिया कि इसमे विशेष बात नहीं है। गाव मे ऐसे मौन साधक बहुत है जो घर गृहस्थी मे रह कर भी ऐसे चमत्कार दिखा सकते है। साधु को आश्चर्य हुआ और सोचा कि चलकर देखा जाए।

एक घर के सामने पहुँचकर कहा कि भिक्षा देहि, भिक्षा देओ। अदर से आवाज आ गयी कि ठहरिये, ठहरिये अभी थोडा काम कर रही हूँ। थोडी देर ठहरकर साधु से रहा नहीं गया और कहा कि जानती हो मै कौन हूँ? अब की बार अदर से धान कूटने का कार्य कर रही महिला ने कहा कि जानती हूँ मुझे मालूम है आप कौन है। पर ध्यान रहे मै कबूतर नहीं हूँ।

अब तो साधु आपे से बाहर हो गया पर ज्यो ही उसने घर के अदर झॉककर देखा तो दग रह गया। वह महिला धान कूटते-कूटते पति के लिए कुछ सामान देने उठी तो मूसल यूँ ही छोड दिया और चली गयी। मूसल जहाँ छोडा था वहीं हवा मे स्थिर हो गया। जब वह पति की सेवा से निवृत हुई तो मूसल ठीक से सभालकर रखा और साधु के पास पहुँच गयी और कहा कि क्षमा करियेगा महाराज। मै अपने पति की सेवा मे व्यस्त थी इसलिए आपको भिक्षा देने में विलब हुआ।

वह तपस्वी बहुत लज्जित हुआ उसका क्रोध जाता रहा और उसने कहा कि 'माई! आपकी साधना अद्भुत है आपका पतिधर्म श्रेष्ठ है।' सतीत्व के प्रभाव से ही वह मूसल हवा मे स्थिर रह गया। ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ होती थी। ऐसा परस्पर प्रेमभाव हुआ करता

था। भोग-सामग्री के बीच रहकर भी योगी जैसा जीवन जीते थे। और गृहस्थ धर्म के सकल्पों को कर्त्तव्यो को भलीभाति पूरा करते थे। आज भी कुछ भारतीय लोग इन सस्कारो से सस्कारित है किंतु धीरे-२ पश्चिमी प्रभाव से सभी प्रभावित हो रहे हैं।

गृहस्थाश्रम को भी आदर्शमय वनाने का प्रयास गृहस्थ को करना चाहिये। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम की ओर गति होने चाहिये। जीवन पर्यन्त जब तक सबध रहे तब तक एक होकर रहना चाहिये। जीवन के अतिम समय मे महिलाए आर्यिका व्रत ले सकती है और पुरुष साधु बन सकते है। यदि इस प्रकार की साधना कोई करे तो ससार का अत होने में देर नहीं है। यही भोग से योग की ओर जाने का एक मात्र यात्रा पथ है। जो इस पथ पर आरुढ होता है उसका नियम से इस जीवन मे कल्याण होता है और दूसरे के लिए भी आदर्श प्रस्तुत होता है।

□□

☐ आत्मानुशासन

पिता और पुत्र दोनों घूमने जा रहे है। पिता को दर्शनशास्त्र का अच्छा अनुभव है। उम्र के हिसाब से भी वृद्ध है। अपने पुत्र से जाते-जाते रास्ते मे चलती चक्की देखकर कहते है कि यही दशा इस ससार की है। 'चलती चक्की देखकर दिया कबीरा राय, दो पाटन के बीच मे साबुत बचा न कोय।' —ससार रूपी इस चक्की मे सुख-दुख के दो पाटो के बीच सारा ससार पिसता जा रहा है। यहाँ किसी को सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। और दुख का अभाव नहीं हो पाता। क्योकि दो पाटो के बीच मे धान का दाना साबुत नहीं बच पाता।

यह बात सुनकर बेटा कहता है पिताजी जरा इस बात पर भी ध्यान दे कि 'चलती चक्की देखकर दिया कमाल ठिठोय, जो कीली से लग रहे मार सके नहि कोय।' यह कोई नियम नहीं कि ससार के सारे प्राणी दुख का ही अनुभव करते है। या ससार के सारे जीव जन्म मरण रूपी पाटो के बीच पिसते ही रहेगे। जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है जिसका जीवन ही धर्म बन गया है। उसे ससार में कोई भटका नहीं सकता। इस रहस्य को हर कोई नहीं जानता। यह घटना कबीर के जीवन की है। उनका बेटा कमाल था। उसने बात भी कमाल की कही। कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है उसी चक्की मे रहिये लेकिन चक्की के चक्कर मे मत आइये। आप चक्कर मे आ जाते है इसलिए पिस जाते है। कील का सहारा ले लिया जाए तो बचना आसान है। केंद्र मे हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि मे हमेशा घुमाव रहता है।

यह अज्ञानी ससारी प्राणी मृत्यु से डरता है किंतु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता और निरतर मोक्षसुख को चाहता है किंतु चाहने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ यह जीव व्यर्थ ही ससार मे कष्ट पाता है। रहस्य नहीं समझ पाता। जो इस रहस्य को जान लेता है वह ससार समुद्र से पार उतर सकता है।

सुख-दुख दोनों अपनी-अपनी दृष्टि के ऊपर आधारित है। ससार मे जितने जीव है सभी को दुख ही होता है ऐसी बात नहीं है जेल मे देखो जो कैदी है जिसने

अपराध किया है जो न्यायनीति से विमुख हुआ है वही दुख पाता है किंतु उसी जेल मे जेलर भी रहता है उसे उस प्रकार का कोई दुख नहीं होता। बधन कैदी के लिए है जेलर के लिए नहीं। जेलर और कैदी दोनो एक ही स्थान पर है किंतु एक सुख का अनुभव कर रहा है और एक दुख का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख और दुख का अनुभव करने मे कारण व्यक्ति की विचार-धारा ही बनती है। मन की स्थिति के ऊपर ही निर्धारित है उसका सवेदन। बिना उपयोग के वह सुख और दुख सभव नहीं।

समयसार जी मे आचार्य कुदकुद देव कहते है कि कर्मो का उदय मात्र बध का कारण नहीं है किंतु अपने अदर विद्यमान रागद्वेष भाव एव पर पदार्थो मे ममत्व बुद्धि का होना ही बध का कारण है। मात्र वस्तु बध के लिए कारण नहीं है बल्कि उस वस्तु के प्रति हमारा जो अध्यवसान भाव है वही बध का कारण है। ससार मे रहना तो अपराध है ही किंतु ससार में लीन होकर रहना और महाअपराध है। इससे बचने का उपाय बतान वाले सत लोग है जो हमारे लिए हितकारी मार्ग प्रशस्त करते है। ससार का रहस्य समझाने का प्रयत्न करते है। एक नई दिशा एक नया बोध देते है। वस्तुत बात सही है कि जिसने धर्म रूपी कील का सहारा ले लिया, रत्नत्रय का सहारा ले लिया तो वह ससार के जन्म मरण से बच गया।

ससार मे आवागमन करते हुए भी जिसने सयम का आधार ले लिया उसको भटकाने या अटकाने वाली कोई शक्ति अब ससार मे नहीं है। इतना ही नहीं, दूसरी बात यह भी है कि जहॉ कहीं भी धर्मात्मा पुरुष चला जाता है वहॉ पहुँचने से पहले ही लोग स्वागन सत्कार के लिए तत्पर रहते है, और निवेदन करते है कि हमारी सेवा मजूर करके हम सभी को अनुगृहीत कीजिये। धर्मात्मा भले ही कुछ नहीं चाहता लेकिन उसके महान् पुण्य के माध्यम से सभी उसकी प्रशसा करते है। जिनके जीवन मे धर्म का सहारा नहीं है, खाओ पिओ मौज उडाओ-वाली बात जिनके जीवन मे है उन्हे पग-पग पर पीड़ा उठानी पडती है और अनत काल तक इसी ससार रूपी चक्की मे पिसना पडता है।

असयमी का जीवन हमेशा सक्लेशमय और कष्टदायक ही रहता है। जैसे गर्मी के दिनो मे आप आराम से छाया मे बैठकर प्रवचन का, धर्म का लाभ ले रहे है और यदि छाया न हो तो क्या स्थिति होगी, सारा सुख छिन जायेगा ठीक ऐसी ही स्थिति सयम के अभाव मे धर्म के अभाव मे अज्ञानी प्राणी की होती है। ध्यान रखो सयोगवश कभी असयमी जीव देवगति मे भी चला जाता है तो वहॉ पर भी सयम के अभाव मे प्राप्त हुए इन्द्रिय सुखो के छूटते समय और अपने से बडे देवो की विभूति को देखकर सक्लेश करता है जिससे अध -पतन ही हुआ करता है और निरतर दुख सहना पडता है।

'विषय चाह दावानल दह्यो, मरता विलाप करत दुख सह्यो।' ससार मे जो दुख

मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गए अशुभ परिणामो का फल है और जो सुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गये उज्ज्वल परिणामो का फल है। यह ससार एक झील की भाति है जो सुखदायक भी है और दुखदायक भी है। नाव मे बैठकर यदि झील को पार किया जाए तो आनद की लहर आने लगती है किंतु असावधानी करने से सछिद्र नाव मे बैठने से प्राणी उसी झील मे डूब भी जाता है। इस बात को आप उदाहरण के माध्यम से समझ लीजिये।

एक व्यक्ति के जीवन की घटना है जिसका पालन-पोषण-शिक्षण सब बडी सुख सुविधा मे हो रहा था। आना-जाना, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सब अडरग्राउड मे ही होता था। वहाँ पर सारी व्यवस्था वातानुकूल एयरकडीशन थी। साथ ही वातानुकूल अर्थात कहे अनुरूप भी थी। उसे सूर्य और बिजली या दीपक का प्रकाश भी चुभता था इसलिए रत्नदीपक के प्रकाश का प्रबध रहता था। सरसो का दाना भी बिस्तर के नीचे आ जाए तो चुभता था नींद नहीं आती थी। भोजन भी सामान्य नहीं था कमल पत्रो पर रखे हुआ, चाँवल का भात बनता था। उसकी माँ थी पत्नियां थीं सभी की ओर से सुख सुविधा का ध्यान रखा जाता था।

पहले कमाल की बात आपने सुनी यह बात अब सुकमाल की है। यह सारी की सारी व्यवस्था सुकमाल की माँ ने कर रखी थी कि कहीं बेटा घर से विरक्त न हो जाये। एक दिन रत्नकबल बेचने वाला आया और जब वह कीमती कबल राजा नहीं खरीद पाया तो सेठानी ने अर्थात् सुकमाल की मा ने खरीद लिया। पर जब वह मुलायम रत्नकबल भी सुकमाल को चुभने लगा तो सेठानी ने उसकी जूतिया बनवाकर बहुओ को पहना दीं सयोगवश एक जूती पक्षी उठाकर ले गया और राजा के महल पर गिरा दी। राजा को जब सारी बात ज्ञात हुई तो वह सुकमाल को देखने आया कि देखें सचमुच बात क्या है?

सेठानी ने राजा के स्वागत मे जब दीपक जलाया तो सुकमाल की आखो मे पानी आ गया। जब भोजन परोसा तो सुकमाल एक-एक चाँवल बीनकर खाने लगा क्योकि साधारण चाँवल के साथ मिलाकर उस दिन कमल पत्र के चाँवल बनाये गये थे। राजा सब देखकर चकित रह गया और अचरज करता हुआ लौट गया। कुछ समय बीत जाने के उपरात एक दिन राज्य मे किसी मुनिराज का आगमन हुआ। वे मुनिराज और कोई नहीं सुकमाल के पिता ही थे जो सुकमाल के उत्पन्न होते ही विरक्त होकर वन मे चले गये थे। सेठानी ने बहुत प्रयास किया कि मुनि इस नगर मे ना आये पर सयोग ऐसा ही हुआ कि एक दिन रात्रि के अतिम प्रहर मे सामायिक आदि से निवृत्त होकर महल के समीप उपवन में पधारे उन मुनिराज ने वैराग्य पाठ पढ़ना प्रारंभ किया तो सुकमाल के अदर ज्ञान की किरण जागृत हो गयी।

देव कहते है कि ज्ञानी वह है जो कर्मो के बीच रहता हुआ भी अपने स्वभाव मे रहता है अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता जैसे कीचड़ के बीच पडा हुआ स्वर्ण अपने गुणधर्म को नहीं छोडता निर्लिप्त रहता हुआ सदा अपने स्वरूप मे स्थिर रहता है जगत-जगत मे रहता है और ज्ञानी जगत मे भी जगत (जागृत) रहता है।

ज्ञानी अपने आप मे जागृत रहता है और जगत को भी जगाता रहता है। वह बाहर नहीं भागता, वह निरतर अपनी ओर भागता है। भीतर विहार करना यही तो यथाख्यात विहार विशुद्धि 'सयम का प्रतीक है। वह राजकुमार सुकमाल अब मुनि दीक्षा धारण कर लेते है। और मोक्षमार्ग मे स्थित हो जाते है। मोक्षमार्ग तो उपसर्ग और परिग्रहो से गुजरने वाला मार्ग है। अध्यात्म ग्रथो मे आचार्य कुदकुद देव और पूज्यपाद स्वामी जैसे महान् आचार्यो ने लिखा है कि जो सुख के साथ प्राप्त हुआ ज्ञान है वह दुख के आने पर पलायमान हो जाता है और जो ज्ञान कष्ट परीषह झेलकर अर्जित किया जाता है वह अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी वातावरण में स्थायी बना रहता है।

जैसे पौधे को मजबूत बनाना है उसका सही विकास करना है तो मात्र खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है उसे प्रकृति के सभी तरह के वातावरण की आवश्यकता भी है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मे आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। यदि आप सोचते हो कि बीज को छाया मे बोने से अच्छी फसल होगी तो ध्यान रखना बीज अकुरित तो हो जायेगा लेकिन फसल पीली-पीली होगी, दाना ठीक नहीं आयेगा। उसे हराभरा होने के लिए सूर्य की तपन भी चाहिये। वह सूर्य की प्रखर किरणो को भी सहन कर सकता है। इसी प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र को पुष्ट बनाने के लिए उपसर्ग और परीषहो से गुजरने की आवश्यकता पडती है। ज्ञान मे विकास, ज्ञान मे निखार और मजबूती परीषह जय से युक्त चारित्र के माध्यम से आती है।

आज तक कोई जीव ऐसा नहीं हुआ जो उपसर्ग या परीषह को जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध परमेष्ठी बना हो। भरत चक्रवर्ती को भी सिद्ध पद प्राप्त हुआ भले ही अल्प काल मे हुआ लेकिन मुनिपद को धारण किये बिना, सम्यक् चारित्र के बिना नहीं हुआ। उन्हे भी छठे सातवे गुण स्थान में हजारो बार चढना उतरना पडा। यह आवश्यक है। अल्पकाल हो या चिरकाल हो, चतुर्विध आराधना के बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है।

सयम को धारण करके वह कोमल काया वाले सुकमाल जगल में जाकर ध्यान मे एकाग्रचित होकर लीन हो गये। वहॉ पूर्वभव के बैर से प्रेरित हुई उनकी भावज जो स्यालनी हो गयी थी, खून के दाग सूघती हुई पहुँच गयी और वैर के वशीभूत होकर उस स्यालनी ने अपने बच्चो सहित मुनिराज बने सुकमाल की काया को विदीर्ण करना

प्रारभ कर दिया, खाना प्रारभ कर दिया। "एक स्यालनी जुग वच्चायुत पाव भख्यो दुखभारी।" ऐसा वड़े समाधिमरण पाठ में आता है। उसमें उपसर्ग और परीपह को सहन करने वाले और भी मुनियो का वर्णन किया गया है।

तीन दिन तक यह अखंड उपसर्ग चला जो मुनिराज के लिए स्वर्ग व अपवर्ग (मोक्ष) का सोपान माना जाता है। धन्य है वह जीव जिसको सरसों का दाना चुभता था, वही सहनन, वही काया, सब कुछ वही लेकिन इस प्रकार सहन करने की क्षमता कहाँ से आयी तो वंधुओं यह भीतरी परिणामो की वात है। भीतरी गहराई में जव आत्मा उतर जाती है तव किसी प्रकार का बाहरी वातावरण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। आचार्य वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि जव एक अनादि मिथ्या-दृष्टि, मिथ्यात्व से ऊपर उठने की भूमिका वनाता हुआ उपशमकरण करना प्रारभ करता है तो उस समय तीन लोक की कोई भी शक्ति उस पर प्रहार नहीं कर सकती। किसी प्रकार के उपसर्ग का उस पर प्रभाव नहीं पड़ने वाला और उपसर्ग की स्थिति में भी उसकी मृत्यु सभव नहीं है।

यह सव माहात्म्य आत्मा की भीतरी विशुद्धि का है। आत्मानुभूति के समय वाहर भले ही कुछ होता रहे, अंदर तो आनद ही बरसता है। यह आस्था विश्वास का परिणाम है। एकत्व भावना का परिणाम है। वह भावना उस समय कैसी थी कि 'अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइयो सदारूवी, णवि अत्थि मज्झ किंचवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।।" अर्थात् मैं निश्चय से एक हूँ दर्शनज्ञान मय हूँ और सदा अरूपी हूँ, अन्य परपदार्थ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। कैसी परिणामों की निर्मलता है कि स्यालिनी के द्वारा शरीर खाया जा रहा है और मुनिराज आत्मा में लीन हैं।

आप भी ऐसा कर सकते हैं। थोड़ा वहुत एकाग्र होते भी हैं प्रवचन सुनते हैं, अभिषेक करते हैं, पूजन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं यदि इन सभी क्रियाओं को विशुद्धता पूर्वक सकल्प लेकर करते हैं तो असख्यात गुणी निर्जरा क्षणभर मे होना सभव है। आठ वर्ष की उम्र से लेकर पूर्व कोटि वर्ष तक कोई चाहे तो आठ मूलगुणों का पालन कर सकता है वारह व्रतों का पालन कर सकता है। इस प्रकार जीवन पर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन करते रहने से एक असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती मनुष्य या तिर्यच की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा प्रति समय होती रहती है। असंयत सम्यग्दृष्टि की गुणश्रेणी निर्जरा मात्र सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति काल ही हुआ करती है अन्य समय में नहीं। लेकिन व्रती के गुणश्रेणी निर्जरा निरन्तर होती है यही सयम का माहात्म्य है।

गणेश प्रसाद जी वर्णी कहा करते थे कि देखो, कोई असंयत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है और वह सामायिक कर रहा है तो उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली

यह है वीतराग विज्ञान का फल जो आत्मानुशासन के द्वारा अपनी शक्ति को उद्घाटित करने वाले सुकमाल स्वामी को प्राप्त हुआ। उनके द्वारा मोक्षमार्ग पर आगे बढने के लिए जो आत्मिक प्रयोग किया गया वह सफल हुआ। उपसर्ग को जीतकर उन्होने सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया एव अल्प काल मे ही मोक्ष सुख प्राप्त करेगे। बधुओ उसी प्रकार की साधना एव लक्ष्य बनाकर मजिल की प्राप्ति के लिए सभी को कम से कम समय मे विशेष प्रयास कर लेना चाहिये। ज्ञान को साधना के रूप मे ढालकर आध्यात्म को जीवन मे लाने का प्रयास करना चाहिये। यह प्रथमानुयोग की कथा हमारे लिये बोधि और समाधि का कारण बन सकती है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिए ठीक लिखा है कि 'प्रथमानुयोगमर्था ख्यान, चरित पुराणमपि पुण्य। बोधि समाधि निधान बोधति बोध समीचीन ।।' —परमार्थ विषय का कथन करने वाले चरित अर्थात एक पुरुषाश्रित कथा और पुराण अर्थात त्रेसठ शलाकापुरुष सबधी कथा रूप पुण्यवर्धक तथा बोधि और समाधि के निधान रूप प्रथमानुयोग को सम्यक् श्रुतज्ञान जानो। आज वर्तमान मे यदि हम इस प्रथमानुयोग की कथाओं को पढ़कर अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर ससार शरीर और भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करना चाहे तो सहज सभव है। आप भी सुकमाल जैसा कमाल का काम कर सकते हैं। आत्मानुशासित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। धर्म का सहारा लेकर ससार परिभ्रमण से ऊपर उठ सकते हैं।

□□

☐ अंतिम समाधान

एक लौहशाला की बात है। लोहार प्रभात में उठकर अपने प्रात कालीन कार्यक्रमो से निवृत होकर अग्नि-देवता को प्रज्ज्वलित करता है। उन्हे प्रणाम करता है। (केवल यहाँ पर भाव ग्रहण करना यह पहले कहे देता हूँ।) फिर लोहे को तपाना प्रारम्भ कर देता है। कुछ समय के उपरात उस लोह पिण्ड को बाहर निकाल लेता है और निहाई पर रखकर घन का प्रहार करता है। घन का प्रहार करते समय एक आवाज उसके कानो में आती मालूम पडती है, मानो अग्नि कह रही है कि 'मुझे इस तरह मत पीटो, मै कुपित हो जाऊँगी तो सब जलकर राख राख हो जायगा।'

इस वाणी को सुनकर लोहार मुस्करा देता है और कहता है कि तेरे पास अब वह हिम्मत नहीं रही, जो मुझे जला सको, क्योंकि अब तुम लोहे के आधीन हो और लोह पिण्ड मेरे आधीन है। यदि तुम स्वतत्र होती तो बार-बार नमस्कार कर लेता लेकिन अब तुम परतत्र हो गयी हो। लोह की सगति मे उसके साथ तुम भी पिटोगी। अग्नि को बात समझ मे आ गयी। उसे अपनी गलती महसूस होने लगी। 'सत समागम प्रभुभजन, तुलसी दुर्लभ होय, सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।' आज तक ससारी प्राणी ने इस दोहे के रहस्य को नहीं समझा। जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये इस बात पर कभी विचार नहीं किया। और न ही इसके अनुरूप अपने जीवन को बनाने का प्रयास किया है। ऐसी सगति का समागम कर लिया है जैसे अग्नि ने लोहे की सगति की और पिटने के लिए मजबूर हो गयी।

ससारी प्राणी देह की सगति मे आकर निरतर ससार मे दुखी हो रहा है और इस सगति को अच्छा समझकर छोडना नहीं चाह रहा है। जब देह छूटने लगती है तो देह को अक्षुण्ण बनाये रखने के उपाय करता है। सतो की वाणी निरतर समझाती है कि श्रेष्ठ समागम करो, अपने आत्मा का समागम करो तुम स्वय अरिहत हो सकते हो तुम स्वय सिद्ध हो सकते हो परमात्मा हो सकते हो आखे खोलो और देखो कौन सी वस्तु पूज्य है और आज किसे आदर दिया जा रहा है।

भारतीय सस्कृति मे वह वस्तु पूज्य है जिसके पास ज्ञान है जिसके पास सवेदना

है और जो चैतन्य पिण्ड है जिसमे परमात्म दशा प्रकट हो गयी है। इतना ही नहीं ऐसी पूज्य बनने की योग्यता प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है यह बात भी सतो ने कह दी है। वर्तमान मे जिस प्रकार लोहे की सगति से लोहार के द्वारा अग्नि की पिटाई हो रही है उसी प्रकार अज्ञानता के कारण और मोह के प्रभाव से यह आत्मा ससार मे रुल रही है। जब तक आत्मा देह की सगति करेगी तब तक उसकी पिटाई हागी।

सत लोग करुणा करके स्वय लक्ष्य की ओर बढते हुए, जो लक्ष्यहीन जनता है जो सुख की चाह रखती है उसे दिशाबोध देते है ताकि सही रूप से लोगों का मार्ग प्रशस्त हो। भारत की यही विशेषता है कि यहॉ के सतो ने मात्र ज्ञेय पदार्थो की कद्र नहीं की बल्कि ज्ञान की कद्र की। दृश्य जगत की नहीं दृष्टा-पुरुप की कद्र की है। यहॉ भोग्य पदार्थ की नहीं भोक्ता आत्मा की कद्र है। यहाँ की सस्कृति का एकमात्र यही लक्ष्य है कि 'स्व' को पहचानो व उसे पाने का प्रयास करो। वही शक्ति अद्वितीय है जिसके द्वारा जीवन का सारा का सारा सचालन हो रहा है यह ऐसी शक्ति है जिसका कभी नाश नहीं हुआ और न होगा।

भारतीय सस्कृति इसी 'स्व-शक्ति' की उपासना सिखाती है। लेकिन आज प्रत्येक पदार्थ का मूल्याकन हो रहा है उसकी कीमत आंकी जा रही है पर मूल्याकन करने वाले का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान के द्वारा आविष्कृत ज्ञेय पदार्थो का मूल्य तो हम जानते हैं लेकिन ज्ञान का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान का मूल्य आकने वाला ज्ञान क्षीण होता चला जा रहा है। इसी को बोलते है भौतिकवाद।

यह भौतिकवाद का ही प्रभाव है कि ज्ञान को न पूज करके, ज्ञान के द्वारा बनाया गया पदार्थ पूजा जा रहा है। जैसे-जैसे भौतिकवाद बढ रहा है वैसे-वैसे अध्यात्मवाद घटता जा रहा है। ज्ञान को छोड़कर और ज्ञानी को छोडकर मात्र ज्ञेय की उपासना करना, महान दुर्भाग्य की बात है। जो जड पदार्थ है उसे मूल्य नहीं देना चाहिये बल्कि उस ज्ञान को मूल्य देना चाहिये जिसके द्वारा आत्मा को शान्ति मिलती है। जो ज्ञान विश्व को शाति प्रदान कर सकता है जो ज्ञान परतन्त्रता से छुडाकर स्वतन्त्रता की ओर ले जाता है जो ज्ञान हमें मुक्ति तक ले जाता है उसी ज्ञान की पूजा हमें करनी है।

कॉंच के पीछे दौड़ने वाला यह युग कचन को भूल गया है। ध्यान रूपी अग्नि के माध्यम से उस आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है जो कचन के समान उज्ज्वल है। जो हीरे के समान कीमती है। अनमोल है। शरीर तो एकदिन अग्नि में जल ही जाना है जो अजर-अमर अविनाशी आत्म-तत्त्व है वही शेष रहने वाला है। आज कौन इसका मूल्याकन कर रहा है। बहुत कम विरले ही लोग आत्म-तत्त्व की ओर अग्रसर हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी दिशा बदल जाए। हमारा ज्ञान जिस

ओर भाग रहा है उसे सही दिशा बोध मिल जाए। यह बोध हो जाये कि शांति बाह्य भोग्य पदार्थो मे नहीं है, वस्तुओ के सग्रह मे नहीं है, शाति तो आत्म-तत्त्व की ओर आने मे है उसे पाने में है। बडे-बडे वैज्ञानिकों को इस तथ्य का बोध जीवन के अत समय मे हुआ कि जिसके द्वारा दुख होता है वह असत्य है। सत्य तो वह है जिसके द्वारा आत्मोत्थ सुख होता है।

इस सत्य को पहचानने के लिए जड पदार्थो की सगति छोडना होगी। चेतन की सगति मे जाना होगा। सज्जनो की सगति मे रहना होगा। जड पदार्थो की संगति की अपेक्षा एक पागल व्यक्ति की सगति भी कभी-कभी श्रेष्ठ होती है। उससे भी कोई दिशाबोध लेना चाहे तो मिल सकता है। वह कभी अच्छे कपडे नहीं मागता। मान अपमान से कभी हर्ष विषाद नहीं करता। आप पागल बन जाओ मै ये नहीं कह रहा हूँ उसकी वृत्ति से सीखने की बात कर रहा हूँ। जड पदार्थ की अपेक्षा उस चेतन तत्त्व की सगति लाभदायक ही है। जड-पदार्थो की सगति से जीवन मे कितनी आकुलताए और वढनाए वढती चली जा रही हैं यह बात सभी जानते है।

जड वस्तुओ की पूजा उपासना करना अर्थात उसके सचय मे दिन रात लगे रहना यह सबसे बडी मूर्खता है। भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहॉ पर अध्यात्म की पूजा होती है। धन तेरस के दिन लोग धन सम्पत्ति की पूजा करते है यह ठीक नहीं है। उस दिन तो भगवान मुक्ति से पूर्व समवशरण रूपी वैभव को छोडकर योग-निरोध के लिए चले गये थे। वह धनतेरस न होकर धन्य-तेरस कहलाती है। भैया, भौतिकवादी मत बनो। धन की पूजा पतन के गर्त में ले जाने वाली है। आत्मा की पूजा, गुणो की पूजा करना ही वास्तव मे श्रेयस्कर है यही आध्यात्मवाद है। अपनी आत्मा को प्राप्त करके जो जीव परमात्मा बन गये है उनकी पूजा उनकी सगति हमे ससार से पार ले जाने वाली है।

सगति का असर गहरा होता है। एक मेघ का टुकडा आकाश मे यहाँ से वहाँ डोल रहा है। वही वातावरण पाकर-जल बनकर बरसने लगता है वह बरसता हुआ शुद्ध जल नीचे आकर धूल मे मिल जाये तो कीचड का रूप ले जाता है। यदि समुद्र मे गिरे तो लवण का रूप ले लेता है। नीम की जड मे जाकर वही जल की धारा कडवेपन मे बदल जाती है। इक्षुदण्ड (गन्ना) मे पहुँच जाये तो मिठास का रूप धारण कर लती है। यदि वही जल की धारा स्वाति नक्षत्र मे समुद्र मे पड़े सीप में चली जाती है तो मोती वन जाती है। सर्प के मुख मे जाकर वही विष भी बन सकती है। धारा एक ही है लेकिन सगति का प्रभाव अलग-अलग रूप मे उसे परिवर्तित कर देता है। जल का विकास यहाँ तक सभव हुआ कि मुक्ता वन गया। सीप की सगति का यह प्रभाव है।

आत्मा का भी यही हिसाव है वह धर्म की सीप मे पहुँच जाये तो मुक्त हो जाती

है। उपादान में योग्यता है लेकिन निमित्त पाकर ही वह उद्घाटित होती है। पुरुषार्थ के अभाव मे आपका उपादन कड़वी नीम मे भी परिणत हो सकता है। कीचड़ के रूप में परिणत हो सकता है। जहर की तरह विषाक्त भी बन सकता है। उसकी कोई परणति नियामक नहीं है, बनाने वाला चाहिये। निमित्त वनाकर वह उसे किसी भी रूप मे ढाल सकता है। बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

यदि आप अपने जीवन को मौलिक बनाना चाहते हो तो साधना की व सत्सगति की वडी आवश्यकता है। साधना पूर्ण हो जाने पर अनत काल के लिए विश्राम है लेकिन साधना मे तो परिश्रम करना होता है आराम तभी मिलेगा। संसारी प्राणी देह को विश्राम मिलने पर उसी को आराम समझ लेता है। यह समझ की कमी है। सच्चा आराम तो आत्मा को ससार से मुक्त होने पर ही मिलता है। शरीर को माध्यम वनाकर आत्मा को ससार से मुक्ति की ओर ले जाना यही हमारी सस्कृति है। जड पदार्थ जीवन नहीं है वह जड है। हम चेतन है हमारा जीवन उसके लिए नहीं है वह हमारे जीवन के लिए है।

कई लोग जो भौतिक जगत में काम कर रहे हैं वे आत्मा का रहस्य हमसे पूछते हैं। जिसे आखो के द्वारा देखा नहीं जा सकता, किसी अन्य इद्रिय के द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता उस अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व की बात सहज ही समझ मे नहीं आयेगी। आप पहले अध्ययन करते है ग्रेजुएट और पोस्टग्रेजुएट तक पढ़ते है उसके उपरान्त ही शोधकार्य होता है। वर्षो अध्ययन के उपरान्त भी शोध मे सफलता नहीं मिलती। इसी प्रकार किसी भी चीज की अनुभूति करने मे वड़ा परिश्रम करना पड़ता है। प्रकृति मे सब ओर जीवन है। पर उसमें जीवतत्त्व को पहचान पाने के लिए, साधना से प्राप्त दिव्य ऑख चाहिये।

पहले लोग वनस्पति को जड मानते थे अचेतन मानते थे। अब वनस्पति पेड पौधों को भी जीव मानने लगे है। जगदीशचद वसु ने इस वात को प्रयोगों के द्वारा उद्घाटित किया। जीवत्व तो पहले भी था लेकिन हमारा ज्ञान उसे देख नहीं पाता तो हम कह देते है कि नहीं है। जीवात्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। सवेदन शीलता हो तो फिर सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पडती।

माली ने वगीचा लगाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे लगाये है। सभी में फूल खिले है। चारो ओर सौरभ फैल रही है। पवन उस सुगध को दूर-दूर तक ले जा रहा है। माली का काम है पौधो को सिंचित करना, उनकी सुरक्षा करना। सभी को ठीक से सभालना। ज्यो ही माली वगीचे मे उन पौधो के पास पहुँच जाता है वे पौधे भी हिलमिल कर उछलकूद करते मालूम पड़ते है। वे माली की भावनाओं को पहचानते है। माली

भी फूलो को प्यार देता है। माली के अलावा और भी बहुत सारे लोग बगीचा देखने आते है तब उन फूलो को सदेह होता है कि कहीं यह मुझे क्षति नहीं पहुँचा दे। कोई भी व्यक्ति फूल को उस पौधे पर मुस्कराते हुए नहीं देखना चाहता सभी अपने हाथ मे लेना चाहते है और तोड भी लेते है।

जीव-विज्ञान बहुत सूक्ष्म है। समग्र वायुमडल मे तरगायित है भावना। हमने भले ही फूल को हाथ नहीं लगाया केवल तोड़ने की भावना की है तो भी वह फूल जान लेता है कि यह मेरे लिए हितकारी नहीं है। मुझे स्वतत्रता देने वाला कौन है। मेरा शुभचितक और हितैषी कौन है? और कौन मेरे आनद को छीन लेने वाला है। उस फूल को यह सब ज्ञान है। हित को जानना और अहित से बचना यह प्रत्येक जीव का लक्ष्य है। यह बात अलग है कि कौन लक्ष्य तक पहुँच पाता है कौन नहीं पहुँच पाता। फूल पत्तो के पास पेड-पौधो के पास पैर नहीं है कि वे किसी की पकड़ से भाग निकले। पर उनकी भावनाए तो है। उन्हे भी सुख-दुख का अहसास होता है।

जो इन्हे तोडता है उसके प्रति उनमे भी घृणा का भाव होता है। उन्हे लगता है कि देखो जब तक मै खिला नहीं था तब तक तो कोई नहीं आता था, ज्यो ही मै खिला और आनद से झूमने लगा त्यो ही यह लोग मेरे आनद को छीनकर अपने आप को सतुष्ट बनाने का प्रयास करने लगे। जब माली आता है तो उनकी दशा अलग हो जाती है और कोई दूसरा व्यक्ति आता है तो उनकी दशा बदल जाती है। यह दशायें एक ही फूल मे भिन्न-भिन्न प्रकार से क्यो होती हैं तो इतना तो ज्ञात हो गया है कि इनमे भी जीवन है ज्ञान है सवेदना है। लेकिन अभी और जानने शेष है। जीवतत्व इतना ही नहीं है।

एक बार की बात है। बहुत दिन हो गए। मैने बचपन मे एक चित्र देखा था जिसमे दिखाया गया था कि गीत के माध्यम से कैसे कमल खिल जाते हैं। सगीत के माध्यम से दीपक जलाया जाता है। जीवन को सगीत के माध्यम से आनद विभोर किया जाता है। शब्दो में ऐसी शक्ति है। ऐसा बल है जिसके माध्यम से पेड-पौधे भी आनदित होते है। वे भले ही सुने या न सुने किंतु शब्द के माध्यम से आपकी भावना उन तक पहुँच जाती है। भाव तरगे वे पकड लेते है। एक आनद से उठा हाथ व्यक्ति को अभय का अनुभव करा सकता है और दूसरा क्रोध से उठा हाथ व्यक्ति को भयभीत कर देता है।

हमारे भावों की तरगे वायुमडल मे तरगायित हो कर हम जहाँ पहुँचाना चाहे वहाँ पहुँचा सकते हैं। आज का युग-इस बात को स्वीकार करता है। ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर और टेलीफोन के उपरात अब तो टेलीविजन भी आ गया जहाँ शब्दो के साथ व्यक्ति का चित्र भी दिखाई देता है। पहले मूक फिल्म चलती थीं, बोलते नहीं थे मात्र एक्शन

के माध्यम से समझ मे सब आता था कि कहना क्या चाहते है। यह सारे भौतिक साधन तो पराश्रित है। टेलीपैथी सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। सम्प्रेषण एक कला है। जिसमे तन भी शात हो जाता है और मन भी शात हो जाता है। यह स्वाश्रित है। जैनाचार्यो ने हजारो वर्ष पूर्व इसका उल्लेख किया है। परामनोविज्ञान आज इस पर खोज कर रहा है।

इतना अवश्य कहना होगा कि जहॉ भौतिकवाद विश्रात हो जाता है जहॉ जाकर मनो-विज्ञान भी ठहर जाता है वहॉ से अध्यात्म का प्रारभ होता है। आत्मा को निकट से जानना एकदम आसान नहीं है। और दूसरे के साथ तादात्य जोड़ना अपनी भावना उस तक पहुॅचाना भी आसान नहीं है। जिसने अपनी भाव प्रणाली को सूक्ष्म रूप से जान लिया है वही सम्प्रेषण कर सकता है। ज्ञान के माध्यम से वह सामने वाले की वेदना को समझ लेता है। सम्वेदना को अनुभूत कर लेता है। आज के वैज्ञानिको ने इसकी फोटो लेने का प्रयास किया है।

जिसने अपने मन को सयत कर लिया है। इन्द्रियों से ऊपर उठकर मानसिक सफलता पा ली है। जो तामस वृत्ति से ऊपर उठ चुका है। वही इस बात का अनुभव कर सकता है। भावनाओ को ठीक-ठीक समझ सकता है। इसकी पृष्ठ भूमि है समता। जिसका ज्ञान पचेन्द्रिय के विषयो से आकर्षित है वह व्यक्ति मन के माध्यम से विकास की ओर न जाकर विनाश की ओर ही जाता है। समता का विलोम तामस ही तो होता है। तामसता जिनमे अत को प्राप्त हो जाए उसे सत कहेगे। सत की व्याख्या यही तो है कि जो समता से भरा है और आत्म-कल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना रखता है। भावनाओ मे कितना बल है इसका उदाहरण या कहे एक सत्य घटना आपको ज्ञात होगी।

एक राजा और उसके साथी वन मे घूमने के लिए गए है। राजा के मन मे आया कि किसी न किसी जानवर का शिकार करूॅ किंतु उस दिन कोई जानवर नहीं मिला। भटकते-भटकते अचानक एक हिरणो का समूह उन्हे कुछ दूर दिखाई पड़ा और राजा ने घोडे को उनके पीछे भगाना प्रारभ कर दिया। तीर कमान हाथ मे था। यह दृश्य देखकर साथ मे चल रहे साथी दीवान को ठीक नहीं लगा उसने सोचा कि भोले-भाले हिरणो जैसे निरपराध पशुओ के ऊपर यह अत्याचार ठीक नहीं है। इनकी रक्षा करना ही राजा का धर्म है पर आज वही इनका भक्षक बन रहा है। ऐसा विचार आते ही उस दीवान ने आवाज दी कि हे अनाथ हिरणो। ठहर जाओ। तुम्हारे इस समय भागने का कोई मतलव नहीं है। आज जव रक्षक ही तुम्हारा भक्षक बन रहा है तो तुम कहॉं जाकर अपने प्राण बचाओगे, तुम्हारा भागना व्यर्थ है।

की भाषा पहचानता है। पर अहिंसा की पुकार लगाने वाला व्यक्ति निर्विकार होना चाहिये।

विकार स विकार टकराता है। विकार का और निर्विकार का सघर्ष नहीं होता। निर्विकार से यदि विकार टकराता भी है तो विकार हारकर नीचे चला जाता है निर्विकार ऊपर आ जाता है। घी मे घी मिलाओ तो मिलता चला जायेगा लेकिन घी में दूध मिलाओ या पानी मिलाओ तो घी ऊपर आ जायेगा। आप कितना भी उसे नीचे दवाओ वह ऊपर उठ जायेगा। घी विकार से प्रभावित नहीं होता। अहिंसा, हिंसा से नहीं हारती वल्कि अहिंसा के सामने हिसा को हार माननी पड़ती है।

दीवान मे सिह के पिजरे का दरवाजा खोला और भीतर चला गया और सिह के सामने जलेविया और दूध रखकर कहा कि हे वनराज! यदि भूख मिटाना है तो ये जलेबिया खाकर और दूध पीकर मिटा लो और यदि मॉस ही खाना है मै उपस्थित हूँ। मुझे अपना आहार वना लो। सिह ने दीवान की ओर दृष्टि डाली और दीवान की ऑखो में असीम वात्सल्य देखकर चुपचाप जलेविया खा लीं और शात भाव से एक ओर वैठ गया। देखने वाले सभी चकित रह गये। राजा हाथ जोडकर खडा हो गया कि वास्तव मे अहिंसक परिणामो मे अद्‌भुत शक्ति है। हम अपने भावो की निर्मलता के द्वारा पेड़ पौधो और पशुओं सभी के ऊपर प्रभाव डाल सकते है। इसी को वोलते है आत्मीयता।

हमारे पास यह आत्मीयता की शक्ति विद्यमान है लेकिन धीरे-धीरे अस्त होती चली जा रही है। यह दुख की वात है। वस्तुत यदि आप विश्व मे शान्ति चाहते हैं या आत्म शाति चाहते हैं तो दयाधर्म का अनुपालन करना होगा। जीव तत्त्व की तलस्पर्शी खोज करनी होगी। उसे पहचानना होगा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना होगा। इसी के माध्यम से सारे समाधान मिल सकते हैं।

यह घटना दीवान अमरचद जी के साथ जयपुर मे घटी थी। ऐसी घटनाएं समय समय पर घटती रही है। घटना ज्यादा पुरानी नहीं है कितु भौतिकवाद का विस्तार इतना वढ़ गया है कि अव उस ओर कोई गौर भी नहीं करता। विज्ञान भी इसे सत्य मानता है कि हजारो वर्ष में जो काम नहीं हो सकता वह इस प्रकार के सयत और अहिंसक मन के द्वारा अल्पकाल मे सभव है। मन को सयत करने के लिए निर्विकार वनना आवश्यक है। समता लाना आवश्यक है। आप-तामस का विलोम कर दीजिये अर्थात् तामस को जीवन से हटा दीजिये। समता जीवन म आने लगेगी। यही मोक्ष की उपलब्धि का सूत्रपात्र है।

□□

☐ ज्ञान और अनुभूति

अक्षय तृतीया से जो यह श्रुत की वाचना का मगल कार्य प्रारभ हुआ था वह इस मगलमय श्रुतपचमी के अवसर पर सानद सम्पन्न हुआ। आत्मा के पास यही एक ऐसा धन है जिसके माध्यम से धनी कहलाता है। जव यह श्रुतरूपी धन जघन्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह आत्मा दरिद्र हो जाता है। आगम ग्रंथो की वाचना के समय निगोदिया जीव का प्ररूपण करते समय जो वताया गया उसे सुनकर लग रहा था कि आत्मा का यह पतन निगोद मे अतिम छोर को छू रहा है।

लेकिन दरिद्रता का अर्थ धन का अभाव होना नहीं है वल्कि धन की न्यूनता या अत्यधिक कमी होना है। एक पैसा भी पैसा है वह रुपये का अश है। रुपया वह भले ही न हो लेकिन रुपये की प्राप्ति मे सहयोगी है। इसी प्रकार ज्ञान का पतन कितना भी हो किंतु जीव मे कभी ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता यदि वास्तव मे ज्ञान को धन मानकर हम उसका सरक्षण और सवर्धन करे तो आत्मा की ख्याति वढती चली जायेगी। आत्मा मे प्रकाश आ जायेगा कि वह विश्व को भी प्रकाशित कर देगा।

श्रुत पचमी के दिन अपने चिंतन के माध्यम से श्रुत के वारे मे वात समझनी चाहिये। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का स्पर्श है, रसना इन्द्रिय का विषय पाच प्रकार का रस है, घ्राण इन्द्रिय का विषय दो प्रकार की गध है चक्षु इन्द्रिय का विषय पाच प्रकार का रूप है और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। पाचो इन्द्रिया हमारे पास है, लेकिन सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जव पडित जी (प कैलाशचन्द जी सिद्धात शास्त्री वनारसी) वाचना कर रहे थे प्रात काल, तव जयधवलाकार ने वहुत अच्छे ढग से कहा कि पाच इन्द्रियो का होना आवश्यक है पर इतना ही पर्याप्त नहीं है।

शब्द सुनने के लिये कान पर्याप्त है लेकिन तद्विषयक जानकारी के लिए श्रुत के लिए मन आवश्यक है। श्रुत यह मन का विषय है। मन लगाकर जव हम शब्दो को सुन लेते है तव कहीं जाकर आचार्यो के भाव हमारे समझ मे आते है। मन लगाने का पुरुषार्थ अनिवार्य है। केवल वक्ता अपनी वात को रखता जाये और श्रोता मात्र सुनता जाये मन न लगाये तो कल्याण सभव नहीं है।

यहाँ अभी-अभी कई लोगो ने कहा कि यह वाचना जो हुई है पडित जी ने अच्छे ढग से इसे सुनाया है। यह सारा का सारा शब्द ही तो है जो कानो से सुनने मे आया है। शब्द पढने मे नहीं आ सकते, पढने में जो आते है वह केवल उन शब्दो के सकेत है और ये सकेत सारे के सारे अर्थ को लेकर हैं। श्रुतभक्ति मे आया है– "अरिहत भासियत्थ गणधर देवेहिं गथिय सम्म, पणममि भत्तिजुत्तो सुदणाण महोवय सिरसा।।" अर्थात् अरिहत परमेष्टी के द्वारा अर्थ रूप श्रुत का व्याख्यान हुआ है और इसे गणधर देव ने गूथकर ग्रथ का रूप दिया है। ऐसे महान् श्रुत को भक्ति पूर्वक मस्तक झुकाकर हम प्रणाम करते है। अर्थ हमेशा अनन्तात्मक होता है और अनत को ग्रहण करने की क्षमता हमारे पास नहीं है उस अनत को हम सुन नहीं सकते। मात्र शब्द सुनने मे आ जाते है। शब्द इस अनत अर्थ को अभिव्यक्त करने मे सहायक वनते है। अनत की अभिव्यक्ति श्रुत के द्वारा शब्दो के माध्यम से की जाती है।

वहुत छोटी सी किताव है लकिन इसके अर्थ की ओर जव देखते है तो लोक और आलोक दोनो मे जाकर भी हमारा ज्ञान छोर नहीं छू पाता। वह ज्ञेय रूपी महासागर जिसके ज्ञान मे अवतरित हो जाता है वह समाधिस्थ हो जाता है। उस ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। उस अर्थ की प्राप्ति के लिए जो परमार्थभूत है यह सव सकेत दिये गये है। इन सकेतो को सचेत होकर यदि हम पकड लेते है तो ठीक है अन्यथा कुछ नहीं है। जिसका मन मूर्छित है अर्थात् पचेन्द्रिय के विषयो से प्रभावित है वह इन सकेतो को पकड कर भी भावो मे अवगाहित नहीं हो पाता। अतर्मुहूर्त के भीतर वह जो सर्वार्थसिद्धि के देव है उन्हे भी जिस सुख का अनुभव नहीं हो सकता, उससे वढ़कर सुख का अनुभव एक सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य जो सयत है या सयतासयत है, वह अनुभव कर रहा है।

जैसे सूर्य प्रकाश देता है और प्रकाश से कार्य होता है किंतु सूर्य के प्रकाश देने मात्र से हमारा कार्य पूरा नहीं होता। सूर्य का प्रकाश पाकर हमे स्वय पुरुषार्थ करना होगा। दूसरी वात प्रात कालीन सूर्य जव किरणे फेकता है तव हमारी छाया विपरीत दिशा मे पडती है और सायकाल जव अस्ताचल मे जाता है तव भी हमारी छाया विपरीत दिशा मे पडती है लेकिन वही सूर्य जव मध्यान्ह मे तपता है तव हमारी छाया पर पदार्थो की ओर न जाकर हमारे चरणो में ही रह जाती है। यही स्थिति श्रुत की है। जव हमारा श्रुतज्ञान वाह्य पदार्थो मे न जाकर आत्मस्थ हो जाता है तभी ज्ञान की उपलब्धि मानी जाती है। हम मध्य मे रहे और मध्यस्थ रहे तो यह मध्यान्ह हमारे जीवन के लिए कल्याणकारी है।

जव तेज धूप पडती है और पडित जी (प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर)

वार-बार कहते हैं कि महाराज बाहर बहुत ततूरी है। ततूरी का अर्थ बहुत अच्छा उन्होंने बताया था। मुझे मालूम नहीं था कि ततूरी का अर्थ इतना गम्भीर है। तप्त+उर्वी=तप्तूर्वी (ततूरी)। जिस समय उर्वी अर्थात् पृथ्वी तप जाती है उस समय बोलते है बहुत ततूरी है। इस ततूरी के समय मध्यान्ह मे किसान लोग गर्मी के दिनों मे भी शान्ति का अनुभव करते हैं शान्ति का अनुभव इसलिए करते है कि अब मृगशीतला आ गयी और कुछ दिन के उपरान्त वर्षा आयेगी बीज बोयेंगे, फसल लहलहायेगी। यदि अभी धरती नहीं तपेगी तो वर्षा नहीं आयेगी।

इसी प्रकार जब तक श्रुत के साथ हम समाधिस्थ होकर अपने को नहीं तपायेगे तबतक अनत केवलज्ञान रूपी फसल नहीं आयेगी। जिस समय श्रुत आत्मस्थ हो जायेगा तब आत्मा नियम से विश्रुत हो जायेगी। विश्रुत का अर्थ है विख्यात होना। तब आत्मा की तीन लोक मे ख्याति फैल जायेगी। तीन लोक में उसी की ख्याति फैलती है जो सपूर्ण श्रुत को पीकर के विश्रुत हो गया। विश्रुत का दूसरा अर्थ श्रुतभाव या श्रुत से ऊपर उठ जाना भी है। तो जो श्रुत से ऊपर उठे हुए है वे ही केवल ज्ञानी भगवान तीन लोक मे पूज्य है।

श्रुतज्ञान वास्तव मे आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु आत्म-स्वभाव पाने के लिए श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञान के माध्यम से जो अपने आपको तपाता है वह केवल ज्ञान को उपलब्ध कर लेता है। श्रुतज्ञान तो आवरण मे से झाकता हुआ प्रकाश है। जब मेघो का पूर्ण अभाव हो जाता है तब जो सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ बाहर दिखने लगता है ऐसा ही वह केवलज्ञान है। श्रुतज्ञानावरणी कर्म का जब पूर्ण क्षय होगा। तव आत्मा मे एक नई दशा उत्पन्न होगी इसी दशा को प्राप्त करने के लिए यह श्रुत है

'श्रुतमनिन्द्रियस्य' मन का विषय श्रुत है। मन को अनग भी बोलते है वह भीतर रहता है उसके पास अग नहीं है किंतु वह अग के भीतर अतरग होता है। इसी अतरग के द्वारा ही सव कार्य होता है। यदि अतरंग विकृत हो जाए और वहिरग साफ सुथरा रहे तो भी कार्य नहीं होगा। जिसका अतरग शुद्ध होगा उसके लिए श्रुत अतर्मुहूर्त में पूरा का पूरा प्राप्त हो जाता है। अतर्मुहूर्त मे ही उसे कैवल्य भी प्राप्त हो सकता है। वर्तमान मे यह अवसर्पिणी काल होने से श्रुत निरतर घटता चला जा रहा है। वह समय भी आया जब धरसेन आचार्य के जीवन काल मे एक-एक अग का अश ज्ञान शेष रह गया और आज उसका शताश क्या सहस्राश भी शेष नहीं रहा।

आज सुवह पढ लेते है शाम को पूछे तो उसमे से एक पक्ति भी ज्यो की त्यो नहीं बता सकते। थोड़ा सा मन इधर उधर चला गया, उपयोग फिसल गया तो कहीं के कहीं पहुँच जाते हैं। क्या विषय चल रहा था, पता तक नहीं पडता हमारे पूर्वमे हुए आचार्यो

की उपयोग की स्थिरता, उनका श्रुत के प्रति बहुमान आदि देखते है तो उसमे से हमारे पास एक कण मात्र भी नहीं है किंतु भाव-भक्ति और श्रद्धा ही एकमात्र हमारे पास साधन है। यह श्रद्धा-विश्वास हमे नियम से वहीं तक ले जाएगा जहॉ तक पूर्व आचार्य गये है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार मे कहा है कि' सद्दो णाणण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि, तम्हा अण्ण णाण अण्ण सद्द जिणा विति। अर्थात् शब्द ज्ञान नहीं है क्योकि शब्द कुछ भी नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न है। ऐसा जिनेद्र भगवान का कथन है। यहॉ आशय यही है कि शब्द मात्र साधन है। उसके माध्यम से हम भीतरी ज्ञान को पहचान ले यही उसकी उपयोगिता है अन्यथा वह मात्र कागज है। जैसे भारतीय मुद्रा ह वह कागज की होकर भी भारत मे मूल्यवान है दूसरे स्थान पर कार्यकारी नहीं है वहॉ उसको कागज ही माना जायेगा। इसी प्रकार यदि हम श्रुत का उपयोग भिन्न क्षेत्र मे लेते है तो उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि स्वक्षेत्र मे काम लेते है तो केवलज्ञान की उत्पत्ति मे देर नहीं लगती। अर्थात् कोई भी क्रिया करो विधि के अनुसार करो। दान इत्यादि क्रिया दाता और पात्र की विशेषता द्रव्य और विधि की विशेषता से विशिष्ट हो जाती है। फलवनी हो जाती है। औषधि सेवन मे जैसे वैद्य के अनुसार खुराक और अनुपान का ध्यान रखा जाता है ऐसा ही प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी आवश्यक है।

स्वाध्याय करने का कहने से प्राय ऐसा होता है कि जो समय स्वाध्याय के लिए निषिच्द्ध है उन समयो मे भी स्वाध्याय करने लगते है। सिद्धात ग्रथो के पठन पाठन का अष्टमी चतुर्दशी को निषेध किया है तो सावधानी रखना चाहिये शास्त्र के प्रति बहुमान, उसके प्रति विनय, उनके लिए निश्चित काल आदि सभी आपेक्षित हैं। पढना उसे ग्रहण और धारण करना सभी हो सके इसका ख्याल रखना चाहिये। एकवर्ष मे जो शाति से स्वाध्याय करना चाहिये उसे एक माह मे कर ले तो क्या होगा मात्र पढना होगा, ग्रहण और धारण नहीं होगा।

श्रुतज्ञान हमारे लिए बहुत बडा साधन है। श्रुतज्ञान के बिना आज तक किसी को भी मुक्ति नहीं मिली और न आगे मिलेगी। अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान का मुक्ति मे उतना महत्व नहीं है जितना श्रुतज्ञान का है। केवल ज्ञान भी उसी का फल है। यदि इस महान् श्रुत का हम गलत उपयोग करते हैं तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है हमे श्रुत के माध्यम से आजीविका नहीं चलानी चाहिये। इसे व्यापार का साधन नहीं बनाना चाहिए। यह पवित्र जिनवाणी है। वीर भगवान के मुख से निकली है। जो श्रुत प्राप्त है उसके माध्यम से स्व पर कल्याण करना चाहिये।

श्रुत का फल बताते हुए परीक्षामुख सूत्र मे आचार्य माणिक्यनदी जी कहते है कि

'अज्ञान निवृत्तिहानोपानोपेक्षाश्च फलम्' – अर्थात् श्रुत की सार्थकता तभी है जब हमारे अदर बैठा हुआ मोह रूपी अज्ञान– अधकार समाप्त हो जाये और हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त करके हेय से बचने का प्रयास किया जाये और उपादेय को ग्रहण किया जाय अर्थात् चारित्र की ओर कदम बढना चाहिये। भले ही अल्प ज्ञान हो लेकिन उनके माध्यम से हमे सयमित होकर सदा गतिशील रहना चाहिये। यदि सयम की ओर गति होती रही तो हमारी प्रगति और उन्नति होने मे देर नहीं है। हमारा अल्पज्ञान भी सयम के माध्यम से स्थिरता पाकर एक अतर्मुहूर्त मे अनत ज्ञान मे परिणत हो सकता है।

बधुओ ! आज यह पचमकाल है इसमें नियम से ज्ञान मे, आयु मे, शरीर और अन्य मोक्षमार्ग मे सहयोगी अच्छी सामग्री में ह्रास होता जायेगा, अत अपने अल्प श्रुत (क्षयोपशम) की ओर ध्यान न देकर ध्येय की ओर बढने का प्रयास करना चाहिये। जिस प्रकार नदी छोटी होकर भी एक दिन समुद्र की दिशा मे बढने के कारण समुद्र मे मिलकर समुद्र का रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार जिसकी दृष्टि मुक्ति की ओर हो गयी है उसका भी एक दिन ऐसा आयेगा कि केवल ज्ञान रूपी महान सागर मे समा जायेगा। यही एक मात्र उद्देश्य रहना चाहिये, सम्यक् श्रुतज्ञान से आपूरित हर आत्मा के इसी भाव को हमने एक कविता मे बाधा है–

धरी से फूट रहा है/नवजात है/और पौधा/धरती से पूछ रहा है/कि/यह आसमान को कब छूयेगा/छू सकेगा क्या नहीं/तूने पकडा है/ गोद मे ले रखा है इसे/छोड दे/इसका विकास रुका है/ओ माँ/माँ की मुस्कान बोलती है/भावना फलीभूत हो बेटा/आस पूर्ण हो/किन्तु आसमान को छूना/आसान नहीं है/ मेरे अन्दर उतर कर/तब छूयेगा/गहन गहराईयाँ/तब कहीं सभव होगा/आसमान को छूना/

ऊचाईयो की ओर यात्रा उस पौधे की तभी सभव है जब वह पौधा धरती की गहन गहराईयो मे उतरेगा। ध्यान रहे विकास दोनो ओर चलता रहता है। भले ही वह पौधा आधा नीचे की ओर चला गया पर धरती माँ कहती है कि आसमान मे ऊँचे जाना तभी सभव है जब धरती के भीतर जो कठोरता है उसको भी भेदकर भीतर जाने का साहस करेगा। पोधा जैसा आकाश मे ऊपर हवा मे हिलता रहता है जड मे भी ऐसा हिलने लग जाये तो धराशायी हो जायेगा। पेड धरती से सबध छोड दे तो जीवन बर्बाद हो जाता है।

इसी प्रकार जिन वाणी माँ से हमारा सबध है। बधुओ ! जीवन जब तक रहे तब तक जिनवाणी माता को कभी मत भूलना और जिनवाणी माँ को भूलकर अन्यत्र कहीं मत जाना अन्यथा पेड की तरह दशा होगी। उन्नति हम चाहते है लेकिन उन्नति कैसे होगी यह जानना चाहिये। श्रुत को आधार बनाकर चलेगे तभी श्रुत के द्वारा वहाँ पहुँच

जायेगे जहाँ तक महावीर भगवान पहुँचे है। कैवल्य होने से पूर्व बारहवे गुणस्थान के अतिम समय तक श्रुत का आधार प्रत्येक साधक को लेना अनिवार्य है। थोडा सा श्रुत आने लगा तो अहकार मत करो। अहकार करना नादानी है। श्रुत की विनय करना आदर करना और जिस रूप मे वताया है उसी रूप मे करना आवश्यक है।

ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है और ध्यान का प्रयोजन केवल ज्ञान है। अनत सुख और शान्ति है। इसी को पाने का ध्येय बनाकर ज्ञान का आदर हमे करना चाहिये। हमारे ज्ञान मे यदि अस्थिरता रहेगी तो हमारी यात्रा उर्ध्वगामी नही होगी। जैसे-जैसे ऊपर जायेगे वैसे-वैसे देखने मे आयेगा कि आसमान असीम है ज्ञान का पार नहीं है। कैवल्य रूपी निरावरण ज्ञान का आसमान असीम है। यही हमारा साध्य है। इसी को पाने के लिए गणधर स्वामी जैसे महान् आत्मा और कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य हमे निरन्तर ध्यान और आत्मलीनता की ओर प्रेरित करते है।

पानी को निम्नगा माना गया हैं वह नीचे की ओर बहता है। जल का यह स्वभाव है। लेकिन जल का यदि कुछ उपयोग करना है बिजली बनाना है या सिचन के लिए नहरे बनाना है तो क्या करते है। बाँध बनाते हैं। जल की यात्रा तब भी नहीं रुकती। वह अब नीचे न जाकर ऊपर वढने लगता है। ज्ञानोपयोग की धारा भी निरन्तर बहती रहती है। बहने वाले उपयोग का इतना महत्व नहीं है जितना की जब वह उर्ध्वगमन कर रहा है तव महत्वपूर्ण होता है। श्रुतज्ञान होने पर ध्यान रूपी बाँध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाना ही उपलब्धि है। इसके लिए महान सयम की आवश्यकता है। श्रुतज्ञान का सदुपयोग यही है कि उसको सयम का बाँध वाँधकर ऊपर उठा लेना।

कैसे ऊपर उठाना तो ऐसे जैसे पडित जी वाचना के समय लब्धि स्थानो के बारे मे बता रहे थे कि श्रेणी कैसे चढी जाती है। किसी प्रकार साधक अपनी साधना को ऊपर उठाता जाता है। वह अल्प समय मे ही भावो मे विशुद्धता लाता है और देखते-देखते ऊपर चढ जाता है। आप भी चाहे तो सयमित होकर एक-एक गुणस्थान ऊपर चढ सकते है। यही श्रुतज्ञान रूपी प्रवाह मे सयम का बाँध वाँधकर स्वय को ऊँचा उठाने का उपाय है। सयम रूपी वाँध मे वधे हुए श्रुत की यही महिमा है।

जैसे जल को तपाने पर वह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है उसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जब कोई साधक, साधना करते-करते छद्मस्थ अवस्था की सीमा को पार कर जाता है तव अतरिक्ष मे ऊपर उठ जाता है। केवल ज्ञान प्राप्त होते ही धरती से ऊपर उठ जाता है और आत्मा की अनत ऊँचाईयाँ छू लेता है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का यही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये कि मेरा जो श्रुतज्ञान उपलब्ध है इसी मे मुझे सतुष्ट होकर नहीं बैठ जाना है किन्तु इस ज्ञान के माध्यम से

निरावरित केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना है।

मात्र उपदेश देने या सुनने से ज्ञान नहीं बढता ज्ञान को उर्ध्वगमन सयम के द्वारा मिलता है। हम श्रुतज्ञान को केवलज्ञान मे ढाल सकते हैं। लेकिन आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसने सयम के बिना ही श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का रूप दिया हो। श्रुत को केवल ज्ञान का साक्षात् कारण माना है। उसी श्रुत की आराधना आप लोगों ने एक डेढ माह लगातार सिद्धात ग्रथों के माध्यम से की है। जिस जिनवाणी को गुफाओ मे बेठकर धरसेन, पुष्पदत-भूतवली और वीरसेन आचार्य जैसे महान् श्रुत सम्पन्न आचार्यो ने सम्पादित किया है उसे आज आप सभी सुख सुविधाओ के बीच रहकर सुन रहे है तो कोई बात नहीं इस प्रकार के ध्यान-अध्ययन की साधना करते-करते एक दिन आपको वह समय भी उपलब्ध हो सकता है जिस दिन सयमपूर्वक ज्ञान की आराधना के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति होगी।

अत मे उन गुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज का स्मरण कर रहा हूँ। जिनके परोक्ष आशीर्वाद से ही यह सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे है। उन्हीं की स्मृति मे अपनी भावना समर्पित करता हूँ। 'तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश। करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।'

□□

☐ समीचीन साधना

आज की पावन वेला मे भगवान महावीर को उस अलौकिक पद की प्राप्ति हुई है जिस पद के लिए उन्होने वर्षो तक अथक साधना की। उनकी वह साधना दुनिया के समस्त प्राणियो से भिन्न थी। दुनिया का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है किन्तु सुख के सच्चे साधनों के प्रति इतना उद्यमशील चितन मननशील नहीं होता जितना होना आवश्यक है। महावीर भगवान ने मन से, तन से और वचन से सही साधना अपनाकर साधना की और उसका फल भी पाया है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधना आवश्यक है। मोक्षसुख यदि साध्य है। प्राप्तव्य है तो उसके लिए साधना करना अनिवार्य है। सभी बाह्य साधना मिल जाने पर भी अतरग साधना अनिवार्य है। जव तक सही-सही साधना नहीं होगी तव तक अभीष्ट सुख से वचित रहना पड़ेगा। अनत सुख आत्मा का अनन्य और अत्यन्त निकटतम गुण है लेकिन उसे प्राप्त करना दुर्लभ है उसकी अनुभूति के लिए रागद्वेष और सासारिक आशा तृष्णा को समाप्त करने का पुरुषार्थ करना होगा। सम्यक् साधना करनी होगी।

भगवान महावीर का कहना यही था कि 'यह सुख की परिभाषा, ना रहे मन मे आशा। ईदृश हो प्रति भाषा, परित पूर्ण प्रकाशा।' प्रात काल होने को था। रात्रि विश्राम यहॉ वडे बावा के मदिर मे भीड़ भाड की वजह से यहॉ छोटे मदिर मे किया था। एक व्यक्ति दर्शन के लिए आये। उन्होने हाथ मे टार्च ले रखी थीं उसके माध्यम से प्रकाश होता है। उस प्रकाश मे जो वस्तु खो गई है वह हमे प्राप्त हो जाती है। उन सज्जन ने अनजाने मे जैसे ही वटन दवाया तो प्रकाश उन्हीं के मुख पर पड़ा। मुझे चितन के लिए विषय मिल गया। उन सज्जन को क्या मिला यह तो वे ही जाने।

मै सोच मे डूव गया कि यहॉ प्रत्येक प्राणी सुख को बाहर खोज रहा है जवकि सुख अदर ही है। जो ज्ञान हमारे पास है उसका उपयोग हम वाहरी पदार्थो को जानने मे कर रहे हैं। यही ज्ञान का दुरुपयोग है। इसीलिए अनादिकाल से वह सुख हमारे पास होते हुए भी अज्ञात ही रहा है। हम बाहरी पदार्थो की ओर टार्च का प्रकाश डाल रहे हैं। गलती टार्च के प्रकाश की नहीं है उसका काम है मात्र दिखाना। यह हमारा काम है कि हम उसे किस ओर डालते है अपने ऊपर उस टार्च का प्रकाश हमने कभी

डाला नहीं। वह टार्च वाला व्यक्ति कभी भूलकर भी अपने आपको देखना नहीं चाहता, धोखे से उसकी टार्च अपने ऊपर पड गयी। यहाँ एकमात्र हमारे पुरुषार्थ की कमी है। आपके पास साधन होने पर भी उसका समुचित उपयोग करना नहीं चाहते। इसी कमी के कारण अनादि काल से आपके पास अनत सुख होते हुए भी उससे वचित रहना पडा है।

'चेत चेतन चकित हो, स्वचितन वस मुदित हो। यो कहता मैं भूला, अब तक पर मे फूला।' जिस समय वैराग्यमयी ज्ञान किरण आत्मा मे उद्भूत होती है उस घड़ी हम समस्त विश्व को भूल जाते है और उपादेय भूत आत्म तत्त्व की अर्चना प्रारम्भ कर देते है। वह पावन घडी आज तक आप लोगो के जीवन मे उपलब्ध नहीं हुई। आप सोचते हो कि किसी दूसरे को मिल जाए तो आपको भी मिल जायेगी। ऐसा नहीं है। दूसरे की विशुद्धि, दूसरे का पुण्य आपके काम नही आने वाला। भगवान महावीर स्वामी ने जिस समय अपने ध्यान चितन के फलस्वरूप अपने आत्मा को पाया उस समय और भी लोग वहाँ थे लेकिन प्रत्येक को उसका लाभ नहीं मिला। जो प्रयास करेगा उसे ही वह सुखद क्षण मिलेगे।

ऐसी स्थिति मे हमे सोचना चाहिये कि हमारी साधना मे कहाँ पर कमी है। और है तो क्यो है? उस कमी की पूर्ति कैसे होगी? ये तीन प्रश्न आपके मन मे वार-वार उठना चाहिये और तदनुकूल प्रयास भी करना चाहिये। तभी वह पद हमे भी प्राप्त होगा जो महावीर भगवान ने प्राप्त किया था।

'वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा। होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।'

जहाँ पर प्रभु विराजमान है वहीं पर सारा का सारा ससार विद्यमान है। लेकिन उनको अनत सुख है और ससारी प्राणी को अनत दुख है। वहाँ पर मुक्ति है यहाँ पर वधन है। इसका करण यही है कि भगवान की साधना अहिसा की है और आपकी हिंसा की है। उनकी साधन वीतरागता की है और यहाँ आपकी सरागता की है। यही वडा अन्तर है।

'ससार सकल त्रस्त है। पीडित व्याकुल विकल/इसमे है एक कारण/हृदय से नहीं हटाया राग को/हृदय मे नहीं विठाया वीतराग को/जो है शरण तरण तारण।' एक व्यक्ति की दस खड की विल्डिग खडी है और वहीं पडोस मे विल्डिग है लेकिन दोनो के सुख मे अन्तर है। यदि उसके मकान को देखकर आपका मन कहता हैकि कव इस प्रकार की विल्डिग का निर्माण करूँ। यह विचार ही आपके सुख को कम करने वाला है उसने कुछ नहीं किया, आपके दुख नही पहुँचाया आप स्वय अपने भावो से दुखी तो हो सकते हो। इसी प्रकार महावीर भगवान का निर्माण महोत्सव आपको सुखी तभी वना सकेगा जव आप उनके विपरीत न जाकर अपनी साधना को उनकी ओर ले जायेगे।

'सत् साधना सहज, साध्य सदा दिलाती। दु: साधना विषम, दुख को ही पिलाती।।'

विपरीत साधना, राग की ओर जाना ही संसार के दुखों का कारण है। उसे छोड़ बिना सहज सुख मिलना असंभव है। आप रागद्वेष को विषय कषाय को हटाना नहीं चाह रहे हैं और वीतरागता की उपासना मात्र करना चाहते हैं, तो इस उपासना मात्र से अनंत सुख को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। तदनुरूप कार्य भी करना होगा। जिस प्रकार शब्द व्यक्ति को भाव तक पहुँचाने में सीढ़ी का काम करते हैं। उसी प्रकार उपासना भी भगवान तक पहुँचाने में सीढ़ी के समान है। चलना और चढ़ना आपको ही पड़ेगा।

सच्चा साधक तो वही है जो प्रत्येक श्वांस में लक्ष्य को सामने रखता है और लक्ष्य के विपरीत बाधक कारणों से अपने को बचाकर गंतव्य की ओर निरंतर गतिशील रहता है। भगवान महावीर की उम्र उस समय ३० वर्ष की थी जिस समय उन्होंने दीक्षा धारण की। बारह वर्ष के अथक परिश्रम के उपरांत उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। आज तीस-तीस साल के नौजवान कई हैं लेकिन किसी का मन इस प्रकार के लक्ष्य को पाने के लिए तीस मिनट क्या तीस सेकण्ड भी स्थिर नहीं रह पाता। क्षण भर में मन विचलित हो जाता है। भौतिक विषयों की चमक दमक में लक्ष्य छूट जाता है।

'उस पथिक की क्या परीक्षा कि पथ में शूल न हों। उस नाविक की क्या परीक्षा कि धारा प्रतिकूल न हो।' सच्चा पथिक तो वही है जो पथ में कांटे आने पर भी नहीं रुकता। सच्चा नाविक भी वही है जो प्रतिकूल धारा के बीच से नाव को निकालकर गंतव्य तक ले जाता है। इसी प्रकार सच्चा साधक भी वही है जो विभिन्न संकल्प विकल्पों के बावजूद भी अपनी मुक्ति मंजिल की ओर अग्रसर होता रहता है। यही एकमात्र इनकी परीक्षा है परख है।

आज युवकों के मुख से जब पढ़ाई के स्थान पर परीक्षा की तारीख बढ़ाने के लिए हड़ताल की बात सुनता हूँ तो दंग रह जाता हूँ कि ये संस्कार इनमें कैसे और कहाँ से आये। अब लोग परिश्रम से डरते हैं पुरुषार्थ करने से डरते हैं और यह बिना प्रयास सब पा लेने की नीति हमें रसातल की ओर ले जायेगी। विकास चाहते हुए भी विनाश ही होगा। भगवान महावीर ने सर्वप्रथम यह कहा कि आत्म-प्राप्ति के लिए सत् साधना अनिवार्य है। प्राप्ति के लिए देर भले ही लग जाये लेकिन अंधेर नहीं होगा। रेडीमेड जीवन जीना और साधना से बचने का प्रयास करना यह गंतव्य से विपरीत जाना है।

एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ कलकत्ता से बम्बई जाने का टिकिट खरीदा, थका हुआ था, भ्रमवश देहली वाली गाड़ी में बैठ गया और निश्चिंत होकर सो गया कि अब तो सुबह जाकर के उठना है। गाड़ी जा रही है देहली की ओर उसे जाना था बाम्बे की ओर। ज्यों ही वह देहली के स्टेशन पर उतरता है तो चकित रह जाता है कि अरे ! यह तो दिल्ली आ गया। टिकिट चेकर पूछता है कि तुम्हारा टिकिट कहाँ है? अब क्या जवाब दे? टिकिट बॉम्बे का है पहुँच गये दिल्ली। मात्र टिकिट ठीक खरीदने

से क्या होगा। ठीक दिशा वाली गाड़ी मे बैठना अनिवार्य है।

जब एक सामान्य सी यात्रा मे यात्री का कर्त्तव्य होता है कि स्टेशन पर आते ही पता करे कि गाडी किधर जा रही है और मुझे कहाँ जाना है। इसी तरह मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक को सावधान रखनी चाहिये। यदि किसी प्रकार की वह असावधानी करता है तो बहुत जल्दी लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

साध्य के साथ ही साधन पवित्र होना भी अनिवार्य है भगवान महावीर ने साधनों के क्षेत्र मे अहिंसा को ही सर्वश्रेष्ठ माना। मोक्ष के पथिक के लिए वही पाथेय है। इसके विपरीत हिंसा, रागद्वेष मोह है। जिनके माध्यम से कभी कार्य पूर्ण नहीं होगा। साधना यदि मोक्ष पहुँचने की करना है तो इन बाधक साधनों को हटाना भी अनिवार्य है बाधक कारण हटाने पर साधक कारण अपने आप आ जायेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है बाधक कारण का अभाव किये बिना ही आ जायेंगे। नहीं, बाधक कारणों के अभाव के लिए पुरुषार्थ करना होगा।

हिंसा का जैसे-जैसे अभाव होता जायेगा वैसे-वैसे जीवन मे अहिंसा आती जायगी, कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं मात्र भीतरी अधकार को अज्ञान को हटाना है जैसे जैसे अज्ञान अधकार मिटता जाएगा वैसे-वैसे ज्ञान का प्रकाश उद्‌भूत होता जाएगा।

साधन का समुचित उपयोग करना भी साध्य की प्राप्ति मे आवश्यक है। जब तक स्पीकर से आवाज आती रहती है तब तक आप कानो को इधर-उधर की आवाज सुनने मे लगाये रहते है लेकिन स्पीकर बद हो जाये तो आपको एकाग्र होकर कान लगाकर सुनना पडता है वह साधन का समुचित उपयोग नहीं है। स्पीकर से आवाज सुनते समय भी एकाग्रता आनी चाहिये। अन्यथा स्पीकर होना व्यर्थ है। प्राप्त जीवन भी स्वय एक साधन है आपने अपने जीवन को बहुत व्यस्त बना रखा है और व्यस्तता भी फालतू कामो की अधिक है।

व्यय उतना खतरनाक नहीं है जितना अपव्यय। अपव्यय जीवन मे आकुलता पैदा कर देता है। समय का अपव्यय, धन का अपव्यय, शारीरिक शक्ति का अपव्यय ऐसे बहुत प्रकार के अपव्यय होते है। इस तरह मालूम ही नहीं पडता कि हमारा सारा का सारा जीवन अपव्यय की कोटि मे जा रहा है। अंतिम समय मे जब जीवन समाप्त होने लगता है तो पश्चाताप ही हाथ लगता है। 'आधे दिन पाछे गए हरि से किया न हेत। अब पछताये होत का चिडिया चुग गयी खेत।।'

मान लो एक महिला दूध तपा रही है। उसने ध्यान दिया। करीब आधा घटा हो गया अग्नि तेज होने से वह ऊपर आ रहा है उस समय यदि वह महिला उसे फूकने लग जाये तो क्या होगा। फूकते-फूंकते भी वह दूध बाहर आ जाता है बर्तन से जितनी उष्मा चाहिये थी उससे ज्यादा हो गयी तो उष्मा का अपव्यय हुआ साथ ही दूध नीचे

गिर गया यह भी अपव्यय हो गया। दोनों तरह से घाटा पड गया है। तो साधन का सदुपयोग सावधानी से करें अन्यथा हमारा सारा का सारा जीवन आदि से अत तक अपव्यय मे ही चला जा रहा है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने मार्ग मे आने वाले वाधक कारणों को हटाकर साधक कारणो को लाने का प्रयास कर रहा है साधन का सदुपयोग कर रहा है अपव्यय से वच रहा है और साधन की निर्मलता को वनाये रखता है वही मंजिल को पा जाता है। प्राय जो लोग विषय कषाय नहीं छोड़ते वे ही जीवन के अतिम समय मे पश्चाताप करते है। जब वे अपना इतिहास देखते है तो इन्हे रोना आ जाता है कि अपने जीवन में कुछ भी धार्मिक कार्य नहीं किया। अव मुझे नीचे जाना पडेगा। पतन के गर्त मे स्वय को जाते देखकर रोते है।

जिसने अच्छे कार्य किये हैं उसे अत समय में रोना नहीं पडता, जीवन भर भी शाति वनी रहती है। उसका जीवन आगे भी सुखी होता है। वधुओं ! जो भी साधना हो वह अहिंसा पूर्वक हो रागद्वेष को कम करते हुए हो तभी समीचीन होगी। अहिसा कोई अलग चीज नहीं है रागद्वेष को हटाना ही अहिंसा है। जो रागद्वेप से सहित है वे हिंसक है और साधना के मार्ग से स्खलित हो जाते है।

महावीर स्वामी ने अपने आपको वहुत जल्दी रागद्वेप से निवृत किया था। समीचीन साधनों को अपनाकर वारह साल मे अपना कार्य पूरा किया। वारह साल तो प्रवाह की अपेक्षा से लगा था, कैवल्य की उपलब्धि तो अतर्मुहूर्त मे हो गयी। समीचीन साधना के पूरे होते ही सकल चराचर पदार्थो को जानने वाला वह केवलज्ञान उपलब्ध हो गया। इसी प्रकार हमे भी रागद्वेप की प्रणाली से वचते हुए अहिंसा की गोद में अपने आपको समर्पित करना है।

भगवान महावीर और उनके धर्म को लेकर कुछ लोगो का ऐसा मानना है कि इस धर्म में परोपकार की कोई वात नहीं है। लेकिन आप लोग जिस परोपकार की वात करते है उस परोपकार से भी वढकर यदि कोई चीज है तो वह स्व के ऊपर उपकार यही भगवान महावीर और उनके वताये अहिंसा धर्म का आधार है। 'स्व' के ऊपर जो उपकार करेगा उससे वढ़कर और कोई परोपकार नहीं हो सकता जो 'स्व' के उपकार में लग जाता है उसके द्वारा 'पर' के प्रति कोई वाधा नहीं होती यही उसका 'पर' के ऊपर उपकार है। आज तो परोपकार मे भी लेन-देन चलता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए परोपकार किया जाता है।

जैन धर्म मे स्व-पर उपकार को धर्म माना है। जो अपने ऊपर उपकार करता है अपने आत्म-कल्याण मे लगा है, उसके द्वारा 'पर' का उपकार सहज ही हो जाता है। यदि आप दूसरे के लिए वाधा उत्पन्न न करें तो यही 'पर' के प्रति आपका महान उपकार माना जायेगा। जिस समय आप कोई भी प्रवृत्ति करेंगे उस समय दूसरे को कुछ न कुछ

धक्का अवश्य लगेगा। स्वर्णाभरण बनाते समय जिस प्रकार उसमे कुछ न कुछ बट्टा लगता है उसी प्रकार यहाँ पर भी है इसलिए सीधा उपाय है कि 'मरहम पट्टी बाधकर वृण का कर उपचार। एसा यदि ना बन सके डडा तो मत मार।।'' यह कहकर हम अपने आपको कृतार्थ बनाना चाहते हैं कि मैने मरहम पट्टी की। मरहम पट्टी के माध्यम से हम उस व्यक्ति पर अपना उपकार लादना चाहते हैं और घाव ठीक होने के उपरात जब कभी वह मिल जाता है तो कहते है कि हमने तुम्हारी सेवा की थी।

यह सच्चा उपकार नहीं है। अपने इस तरह के उपकार के माध्यम से उस व्यक्ति पर अपना अधिकार जमा लिया। उसका भावी जीवन भी बध गया। समीचीन सेवा तो निस्वार्थ सेवा ही है। जो कि आज तक आपने नहीं की। किसी व्यक्ति ने एक बार मुझे सुनाया था कि एक व्यक्ति तालाव मे डूब रहा था वह जिस समय तालाव मे डूब रहा था उस समय एक दूसरे व्यक्ति ने उसे डूबते देख लिया। वह तैरना जानता था उसने फौरन जाकर उसे वचा लिया। वाहर निकलने के उपरात वह व्यक्ति जो डूब रहा था, वह वडा कृतज्ञ हुआ और नम्रीभूत होकर बोला कि आपने मुझे जीवन प्रदान कर बहुत उपकार किया, मै यह कभी भूलूँगा नहीं। आप यदि कुछ सेवा मुझसे चाहो तो कहो।

डूवने वाला व्यक्ति प्रकाशक था। एक दिन बचाने वाला व्यक्ति उसके पास पहुँच गया और कहा कि आज मेरा थोडा सा काम है। सुनते ही वह व्यक्ति बोला हाँ-हाँ कहिये आपका मेरे ऊपर वहुत उपकार है वह कभी भूलूँगा नहीं। तब उस वचाने वाले ने अपना एक कविता सग्रह देकर कहा कि मैने इसे लिखा है आप उसे प्रकाशित कर दीजिये। वह प्रकाशक कविताए पढकर बोला कि भाई साहब आप ऐसा करो कि मुझे तालाव के किनारे ले चलो मै जिसमे डूवा था, आप मुझे डुबो दो। मुझे डूवना मजूर है लेकिन आपकी यह कविता सग्रह छापना मजूर नहीं है।

आज यही हो रहा है कि यदि कोई व्यक्ति उपकार करता भी है तो प्रत्युपकार की इच्छा से करता है। आप हिसाव लगाते रहते है कि मैने इतने इतने कार्य किये है। यह उपकार नहीं यह तो एक प्रकार व्यवसाय हो गया। इस प्रकार के उपकार की वात महावीर भगवान ने नहीं कही। उपकार का वास्तविक रहस्य महावीर भगवान के जीवन मे प्रकट हुआ कि रागद्वेष से बचते रहो यही उपकार है। रागद्वेष 'पर' की अपेक्षा से होते है 'स्व' की अपेक्षा रागद्वेष कभी पेदा नहीं हुआ करते। हम वस्तु को किसी की अपेक्षा छोटा या वड़ा कहते हैं। पर जो वस्तु को न वड़ा कहता है न छोटा कहता है मात्र समता रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर के मार्ग पर चल पाता है। किसी को अच्छा कह दें तो दूसरे को बुरा लग सकता है इसलिए जो है वही ठीक है।

जो है सो है इसमें कभी रागद्वेष सभव नहीं है। लेकिन क्या है, कैसा है, कौन है, यह वात आते ही तेरा मेरा रूप रागद्वेष होना प्रारभ हो जाता है। 'है' के रूप मे सब स्वीकार करना और तेरे-मेरे के भाव से ऊपर उठना ही सच्ची साधना है। 'है' यह

भाव केद्र की तरह है और 'मै' और 'मेरा-तेरा' यह सव परिधियॉ हैं। केद्र तक पहुचान के लिए परिधि का त्याग परमावश्यक है। जो परिधि में अटक जाताहै वह केद्र तक कभी नही पहुँच पाता। सुरक्षा तो केद्र बिदु मे है ओर परिधि मे मात्र भटकाव है, जीवन लीला वहॉ समाप्त हो जाती है।

महावीर स्वामी ने आज के दिन अनादि काल से चली आ रही, मै और मेरा रूप पर्याय बुद्धि को हटा लिया और जो ध्रौव्य है जिसे केद्र विदु कहना चाहिये उसे प्राप्त कर लिया। केद्र मे रहने वाला व्यक्ति कभी पिसता नहीं है। जो केद्र से हटकर परिधि मे रहा आता है वह चक्की के पाटो मे धान के दाने की तरह पिसता रहता है। इसलिए जो सही जीवन जीना चाहता है जो जन्म जरा और मृत्यु से पार होना चाहता है उस व्यक्ति के लिए यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि महावीर भगवान ने जो केद्र विदु वनाया था वह है मात्र सत्ता, जिस सत्ता मे किसी प्रकार की विक्रिया नहीं होती, उसी सत्ता को हमे प्राप्त करना है।

'व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दे। उसे महासत्ता में मिला दे। आर-पार तदाकार। सत्तामात्र निराकार।' ऐसा जीवन वन जायें। जो आर-पार और निराकार हो जाए। हमारी दृष्टि पर्यायो मे न अटके वल्कि महासत्ता मे लीन हो जाये। यही निर्वाण की दशा है। अदर-कदर, मदर सुदर– अर्थात् जो अदर है द्रव्य है वहाँ ऐसा कदर अर्थात् ऐसी गहराई है कि जहॉ पहुँच जाने पर कोई वाहरी आवाज कानो तक नहीं आ सकती है। वहॉ पर सुदर, मदर अर्थात् चेतनात्मक ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा बैठा हुआ है।

अत मे यही कहना चाहूँगा कि यदि किसी पर उपकार नहीं कर सकते तो अपकार करने के भाव मत करो। किसी का अहित नहीं करना और 'स्व' हित मे लगे रहना सही मायने मे यही परोपकार है। जो अपने ऊपर उपकार करने मे लगा है वही व्यक्ति वास्तव मे सभी जीवों के ऊपर उपकार कर सकता है। भगवान महावीर के आत्म-कल्याण मे जन-कल्याण छिपा हुआ है। हमे उनके वताये मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिये।

□□

मानवता

सर्दी का समय है। रात की बात, लगभग बारह बज गये हैं। सब लोग अपने अपने घरो मे अपनी-अपनी व्यवस्था के अनुरूप सर्दी से बचने के प्रयत्न मे है। खिडकियॉ और दरवाजे सब बद हैं। पलग पर विशेष प्रकार की गर्म दरी बिछी है। उसके ऊपर भी गादी है ओढ़ने के लिए रजाई है। पलग के समीप अगीठी भी रखी है। एक-एक क्षण आराम के साथ बीत रहा है।

इसी बीच कुछ ऐसे शब्द ऐसी आवाज सुनाई पड़ी जो दुख-दर्द भरी थी। इस प्रकार दुख भरी आवाज सुनकर मन वेचैन हो गया। इधर-उधर उठकर देखते हैं। तो सर्दी भीतर घुसने का प्रयास कर रही है। वह सोचते है कि उठूँ कि नहीं उठूँ। कुछ क्षण बीतने के उपरात वह करुण आवाज पुन कानो मे आ जाती है। उठने की हिम्मत नहीं है सर्दी बढती जा रही है पर देखना तो आवश्यक लग रहा है।

थोड़ी देर बाद साहस करके उठकर देखते है तो बाहर कुत्ते के तीन चार छोटे-छोटे बच्चे सर्दी के मारे सिकुड गये थे। आवाज इन्हीं के रोने की थी। उन्हे देखकर रहा नहीं गया और वे अपने हाथो में उन कुत्ते के बच्चो को उठा लेते है और जिस गादी पर वे शयन कर रहे थे उसी पर लिटा देते है। धीरे-धीरे अपने हाथों से उन्हे सहलाते है। सहलाने से वे कुत्ते के बच्चे सुख-शान्ति को अनुभव करने लगे। वेदना का अभाव सा होने लगा। उन वच्चो को ऐसा लगा जैसे कोई मॉ उन्हे सहला रही हो।

सहलाते-सहलाते उनकी ऑखे डब-डबाने लगीं। ऑसू बहने लगे। वे सोचने लगे कि इन बच्चो के ऊपर मैं और क्या उपकार कर सकता हूँ। इनका जीवन अत्यत परतत्र है। प्रकृति का कितना भी प्रकोप हो पर उसका कोई प्रतिकार ये नहीं कर सकते। ऐसा दयनीय जीवन ये प्राणी जी रहे हैं। हमारे जीवन में एक क्षण के लिए भी प्रतिकूल अवस्था आ जाए तो हम क्या करते है। सारी शक्ति लगा कर उसका प्रतिकार करते है। ससार मे ऐसे कई प्राणी होंगे जो प्रतिकार की शक्ति के अभाव में यातना पूर्वक जीते है। कोई कोई तो मनुष्य होकर भी पीडा और यातना सहन करते हैं। उन्होंने इसी समय से सकल्प ले लिया कि "अब मैं ऐश-आराम की जिन्दगी नहीं जिऊँगा ऐश-आराम की जिदगी

विकास के लिए कारण नहीं वल्कि विनाश के लिए कारण है। या कहो ज्ञान का विकास रोकने मे कारण है। मैं ज्ञानी वनना चाहता हूँ। मै आत्म-ज्ञान की खोज करूँगा। सवको सुखी वनाने का उपाय खोजूँगा।'' उन कुत्ते के बच्चो की पीडा को उन्होने अपने जीवन के निर्माण का माध्यम वना लिया। जीवन के विकास के लिए ऐसा ही कोई न कोई निमित्त आवश्यक होता है। यह कथा गाधी जी के जीवन की है। गादी पर सुलाने वाले और कुत्ते के वच्चों को सहलाने वाले वे गांधी जी ही थे।

इस घटना से प्रभावित होकर उन्होने नियम ले लिया कि सभी के हित के लिए अपना जीवन समर्पित करूँगा। जिस प्रकार मैं इस संसार मे दुखित हूँ उसी प्रकार दूसरे जीव भी दुखित हैं। मैं अकेला ही सुखी वनूँ यह बात ठीक नहीं है। मैं अकेला सुखी नहीं बनना चाहता, मेरे साथ जितने और प्राणी हैं सभी को सुखी बनाना चाहता हूँ। जो कुछ मेरे लिए है वह सवके लिए होना चाहिये। दूसरों के सुख में ही मेरा भी सुख निहित है। उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ सीमित कर लीं। एकत्रित भोग्य पदार्थो की सीमा वांध ली।

एक दिन की वात। वे घूमने जा रहे थे। तालाव के किनारे उन्होने देखा कि एक बुढ़िया अपनी धोती धो रही थी। देखते ही उनकी आंखो में ऑसू आ गये। आधी धोती बुढ़िया ने पहन रखी थी और आधी धोती धो रही थी। आपने कभी सोचा? कितने है आपके पास कपडे? एक वार मे एक ही जोड़ी पहनी जाती है यह वात सभी जानते है लेकिन एडवास में जोड़कर कितने रखे है? बोलो, चुप क्यों?

आपकी जिन पेटियो मे सैकडो कपड़े बंद पड़े हैं उन पेटियों मे घुस-घुसकर चूहे कपडे काट रहे होगे पर फिर भी आपके दिमाग में यह चूहा काटता रहता है कि उस दिन वाजार में जो वढ़िया कपड़ा देखा था वह हमारे पास होता। जो पेटी मे वंद है उसकी ओर ध्यान नहीं है जो वाजार में आया है उसे खरीदने की वेचैनी है। सारे काम छोड़कर उसी की पूर्ति का प्रयत्न है। यही तो अपव्यय है। यही दुख का कारण है। गाधी जी ने उस वुढ़िया की हालत देखकर सोचा कि अरे! इसके पास तो ठीक से पहनने के लिए भी नहीं है ओढने की वात तो वहुत दूर है। कितना अभावग्रस्त जीवन है इसका लेकिन फिर भी इसने किसी से जाकर अपना दुख नहीं कहा। इतने में ही काम चला रही है। जव से गाधी जी ने जनता के दुख भरे जीवन को देखा तब से उन्होंने सादा जीवन विताना प्रारम्भ कर दिया। छोटी सी धोती पहनते थे जो घुटने तक आती थी। आप जरा अपनी ओर देखे आपके जीवन मे कितना व्यर्थ खर्च हो रहा है। जो किसी और के काम आ सकता था वह व्यर्थ ही नष्ट हो रहा है

आप भारत के नागरिक हैं। गाधी जी भारत के नेता माने जाते थे। उनका जीवन

कितना आदर्श था। उन्हें दूसरे के दुख का अनुभव था। उनके पास वास्तविक ज्ञान था। ज्ञान का अर्थ है देखने की ऑखे। ऐसी ऑखे उनके पास थीं जिनमे करुणा का जल छलकता रहता था। धर्म यही है कि दीन दुखी जीवो को देखकर आँखों मे करुणा का जल छलक आये अन्यथा छिद्र तो नारियल मे भी हुआ करते हैं। दयाहीन आखे नारियल के छिद्र के समान है। जिस ज्ञान के माध्यम से प्राणीमात्र के प्रति सवेदना जागृत नहीं होती उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं और वे ऑखे किसी काम की नहीं जिनमें देखने-जानने के बाद भी सवेदना की दो तीन बूदे नहीं छलकती।

एक अधे व्यक्ति को हमने देखा था। दूसरे के दुख की बात सुनकर उसकी ऑखों मे पानी आ रहा था। मुझे लगा वे आँखे बहुत अच्छी हैं जिनसे भले ही दिखायी नहीं देता लेकिन करुणा का जल तो छलकता रहता है। गाधी जी के पास पर्याप्त ज्ञान था, विलायत जाकर उन्होने अध्ययन किया और बैरिस्टर बने। बैरिस्टर बहुत कम लोग बन पाते हैं। यह उपाधि भी भारत मं नहीं विलायत से मिलती है। इतना सब होने पर भी उनके भीतर धर्म था सवेदना थी। वे दया धर्म को जीवन का प्रमुख अग मानते थे। या कहो कि जीवन ही मानते थे। उनके जीवन की ऐसी कई घटनायें हैं जो हमे दया से अभिभूत कर देती हैं।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान तुलसी दया न छाड़िये, जब लौं घट मे प्रान। यह जो समय हमे मिला है जो कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं वह पूरी की पूरी उपलब्धियाँ दया धर्म पालने के लिए ही है। ज्ञान के माध्यम से हमें क्या करना चाहिये तो सतों ने लिखा हे कि ज्ञान का उपयोग उन स्थानो को जानने मे करना चाहिये जिन स्थानो मे सूक्ष्म जीव रह सकते है ताकि उनको बचाया जा सके। जीवो को जानने के उपरात यदि दया नहीं आती तो उस ज्ञान का कोई उपयोग नहीं। वह ज्ञानी नहीं माना जा सकता जिसके हृदय मे उदारता नहीं है जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं है। जिसका अपना शरीर तो सर्दी मे कप जाता है। किंतु प्राणियों की पीड़ा को देखकर नहीं कपता, वह लौकिक दृष्टि से भले ही कितना भी ज्ञानी क्यो न हो, परमार्थ दृष्टि से सच्चा ज्ञानी वह नहीं है।

आज पचेन्द्रिय जीव जिनमे तिर्यच पशुपक्षियों की बात तो बहुत दूर रही, ऐसे मनुष्य भी है जिन्हे जीने योग्य आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती। समय पर भोजन नहीं मिलता, रहने को मकान नहीं है शिक्षा के समूचे साधन नहीं है। सारा जीवन अभाव में व्यतीत हो जाता है। कुछ मिलता भी है तो उस समय जब जीवन ढलता हुआ नजर आने लगता है। जैसे शाम तक यदि कुछ राशन मिल भी जाए तो सूरज डूबने को है और रात्रि भोजन का त्याग है। अब खाने की सामग्री होते हुए भी खाने का मन नहीं

है। आप सोचिये रात्रि भोजन का त्याग करने के उपरात भी आप रात्रि मे कितनी चीजे खाने योग्यं जुटा लेते है। ससार मे ऐसे भी लोग है जो दिन मे भी एक बार भरपेट भोजन नहीं आ पाते। थोड़ा उनके बारे मे भी सोचिये। उनकी ओर भी तो थोडी दृष्टि कीजिये। कितने लोग यहाँ हैं जो इस प्रकार का कार्य करते हैं। दूसरे के दुख मे कमी लाने का प्रयास करते हैं।

आज इस भारत मे सैकडो बूचडखानो का निर्माण हो रहा है। पशु पक्षी मारे जा रहे है आप सब सुन रहे है देख रहे है फिर भी उन राम-रहीम और भगवान महावीर के समय मे जिस भारत भूमि पर दया बरसती थी, सभी प्राणियो के लिए अभय था उसी भारत भूमि पर आज अहिंसा खोजे-खोजे नहीं मिलती।

आज बड़ी-बड़ी मशीनो के सामने रखकर एक-एक दिन मे दस-दस लाख निरपराध पशु काटे जा रहे है। सर्वत्र बड़े-बडे नगरो मे हिंसा का ताण्डव नृत्य दिखाई दे रहा है। आपको कुछ करने की यहॉ तक कि यह सब देखने तक की फुरसत नहीं है क्या आज इस दुनिया मे ऐसा कोई दयालु वैज्ञानिक नहीं है जो जाकर के इन निरपराध पशुओ की करुण पुकार को सुन सके, उनके पीड़ित जीवन को समझ कर उनकी आत्मा की आवाज पहचान कर हिंसा के बढते हुए आधुनिक साधनो पर रोक लगा सके।

आज पशुओ की हत्या करके, उनकी चमडी मॉस आदि सब कुछ अलग करके डिब्बो मे बद करके निर्यात किया जाता है। सरकार सहयोग करती है और आप भी पैसो के लोभ मे ऐसे अशोभनीय कार्यो मे सहयोगी बनते है। आप केवल नोट ही देख रहे हैं फॉरेन करेंसी। लेकिन आगे जाकर जब इसका फल मिलेगा तब मालूम पड़ेगा। इस दुष्कार्य मे जो भी व्यक्ति समर्थक है उनके लिए भी नियम से इस हिसा जनित पाप के फल का यथायोग्य हिस्सा भोगना पडेगा। समय किसी को माफ नहीं करता।

छहढाला का पाठ आप रोज करते है। 'सुखी रहे सब जीव जगत के' – यह मेरी भावना भी रोज-रोज भायी जाती है लेकिन निरतर होने वाली हिंसा को रोकने का उपाय कोई नहीं करता। चालीस-पचास साल भी नहीं हुए गाधी जी का अवसान हुए और यह स्थिति उन्हीं के देश मे आ गयी। जिस भारत भूमि पर धर्मायतनो का निर्माण होता था। उसी भारत भूमि पर आज धडाधड सैकडो हिसायतनो का निर्माण हो रहा है। इसमे राष्ट्र के साथ-साथ व्यक्ति का भी दोष है। क्योकि देश मे प्रजातन्त्रात्मक शासन है। प्रजा ही राजा है। आपने ही चुनाव के माध्यम से वोट देकर शासक नियुक्त किया है। यदि आपके भीतर निरंतर होने वाली उस हिंसा को देखकर करुणा जागृत हो जाए तो शासक कुछ नहीं कर सकते। आपको जागृति लानी चाहिये।

सौंदर्य प्रसाधन सामग्री भी आप मुह मागे दाम देकर खरीदते हैं। जीवन का आवश्यक कार्य समझकर उसका उपयोग करते हैं। क्या जानबूझकर आप उसमें होने वाली अधाधुध हिंसा का समर्थन नहीं कर रहे है। आप रात्रि-भोजन नहीं करते, अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते, पानी छानकर पीते हैं नियमित स्वाध्याय करते है पर हिंसा के साधनों का उपयोग करके हिसा का समर्थन करते हैं। इस नश्वर शरीर की सुंदरता बढाने के लिए आज कितने जीवों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। दूध देने वाली भोली भाली गाये, भैंसे दिन दहाड़े मारी जा रही हैं। खरगोश, चूहे, मेंढक और बेचारे बदरो की हत्या दिन प्रतिदिन वढती जा रही है और आप चुप है। सब वासना की मूर्ति के लिए हो रहा है। पशुओं को सहारा देना, उनका पालन पोषण करना तो दूर रहा। उनके जीवन को नष्ट होते देखकर भी आप चुप है कहाँ गयी आपकी दया, कहाँ गया आपका लम्बा चौडा ज्ञान-विज्ञान, कहाँ गया आपका मानव धर्म!

आज मुर्गी पालन केंद्र के नाम पर मुर्गियो को जो यातना दी जा रही है वह आपसे छिपी नहीं है मछलियो का उत्पादन उनकी सख्या बढाने के लिए नहीं उन्हे मारने के लिए हो रहा है। उस सबकी शिक्षा दी जा रही है लेकिन दया की उत्पत्ति अनुकम्पा की उत्पत्ति, और आत्म-शान्ति के लिए कोई ऐसी यूनिवर्सिटी, कोई कालेज या स्कूल कहीं देखने मे नहीं आ रहा। मुझे यह देखकर वडा दुख होता है कि जहाँ परआप लोगो ने धर्म के सस्कारो के लिए विद्यालय और गुरुकुल खोले थे वहाँ भी धर्म का नामो निशान नहीं है। सारे लौकिक विषय वहाँ पढाये जाते है लेकिन जीव दया पालन जैसा सरल और हितकर विषय रचमात्र भी नहीं है।

आज नागरिक शास्त्र की आवश्यकता है। ऐसा नागरकि शास्त्र जिसमे सिखाया जाए कि कैसे श्रेष्ठ नागरिक बने। कैसे समाज का हित करे। कैसे दया का पालन करे। उस नागरिक शास्त्र के माध्यम से हम सही जीवन जीना सीखें और दूसरे प्राणियों को अपना सहयोग दे। पशुओ की रक्षा करे। उनका सहयोग भी अपने जीवन मे ले।

जहाँ पहले पशुओ की सहायता से खेतों मे हल चलाया जाता था, चरस द्वारा सींचा जाता था। वहाँ अब ट्रेक्टर और पप आ गया। जमीन का अनावश्यक दोहन होने लगा और कुए खाली हो गये। चरस चलने से पानी धीरे-धीरे निकलता था, जमीनमें भीतर धीरे-धीरे घुसता चला जाता था जमीन की उपजाऊ शक्ति बनी रहती थी पानी का अपव्यय नहीं होता था। इस सारे कार्य में पशुओ का सहयोग मिलता था। उनका पालन भी होता था, मशीनो के अत्यधिक प्रयोग से यह सब नष्ट हो गया। लाभ के स्थान पर हानि हुई और हिंसा भी वढ गयी। आप सही तरीके से सोचे तो ज्ञात होगा कि सभी क्षेत्रो मे सामाजिक क्षेत्र मे, आर्थिक क्षेत्र में, शैक्षणिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ

जिसकी तुलना हम पूर्व परम्परा से कर सके और उसे अधिक लाभकारी कह सकें।

आप लोग चुपचाप सब बाते सुन रहे है। जीवन मे परिवर्तन लाने का भी प्रयास करिये। अपनी सतान को इस प्रकार की शिक्षा देने मे आपअपने आप को कृतकृत्य मानते है कि हमारा लडका एम बी बी.एस हो जाये, इजीनियर या ऑफीसर हो जाये। ठीक है पर उसके भीतर धर्म के प्रति आस्था, सस्कृति के प्रति आदर और अच्छे सस्कार आयें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। जो कार्य आस्था के बिना और विवेक के बिना किया जाता है वह बहुत कम दिन चलता है। भीतर उस कार्य के प्रति कोई जगह न हो तो खोखलापन अल्प समय तक ही टिकता है। उच्च शिक्षा के साथ मानवीयता की शिक्षा भी होनी चाहिये।

नवनीत और छाँछ ये दो तत्त्व है। जिसमे सारभूत तत्त्व नवनीत है पर आज उसे छोडकर हमारी दृष्टि मात्र छाँछ की ओर जा रही है। अपनी मूल सस्कृति को छोड़कर भारत, पाश्चात्य सस्कृति की ओर जा रहा है यह नवनीत छोडकर छाँछ की ओर जाना है। बधुओ, ज्ञान धर्म के लिए है मानवता के लिए है। मानव-धर्म ही आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने वाला है। यदि ज्ञान दयाधर्म से सबधित होकर दयामय हो जाता है तो वह ज्ञान हमारे लिये हितकर सिद्ध होगा। वे आखे भी हमारे लिए बहुत प्रिय मानी जायेगी जिनमे करुणा, दया अनुकम्पा के दर्शन होते हो। अन्यथा इनके अभाव मे मानव जीवन नीरस प्रतीत होता है।

आज सहनशीलता, त्याग, धर्म वात्सल्य और सह अस्तित्व की भावना दिनोदिन कम होती जा रही है। प्रगति के नाम पर दिनोदिन हिंसा बढती जा रही है। भौतिकता से ऊब कर एक दिन बडे-बडे वैज्ञानिको को भी धर्म की ओर मुडने को मजबूर होना पड़ेगा, हो भी रहे है। कैसे जिये! कैसा व्यवहार करें! ताकि जीवन मे सुख शान्ति आये इन प्रश्नो का समाधान आज विज्ञान के पास नहीं है। अनावश्यक भौतिक सामग्री के उत्पादन से समस्याएँ बढती जा रही है। धन का भी अपव्यय हो रहा है। शक्ति क्षीण हो रही है। हमे इस सबके प्रति सचेत होना चाहिये।

हम जब बहुत छोटे थे, उस समय की बात है। रसोई परोसने वाले को हम कहते थे कि रसोई दो बार परोसने की अपेक्षा एक बार ही सब परोस दो। तो वह कह देते थे कि हम तीन बार परोस देंगे लेकिन तुम ठीक से खाओ तो। एक बार मे सब परोसेंगे तो तुम आधी खाओगे और आधी छोड़ दोगे। इसी प्रकार आज हर क्षेत्र में स्थिति हो गयी है। बहुत प्रकार का उत्पादन होने से अपव्यय होरहा है सभी उसका सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

एक समय वह भी था जब धन संपत्ति का संग्रह होता भी था तो एक दूसरे के

उपकार के लिए होता था। धर्म का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानो में होता था। जो धन दूसरो का हित करने वाला था वहीं धन आज परस्पर द्वेष और कलह का कारण बना है 'मै किसी को क्यो दूँ' इस प्रकार की स्वार्थ भावना मन मे आ गयी है। इसी लिए धन का उपयोग कैसे करे। कहॉ करे इस बात का विवेक नहीं रहा। अर्जन करने की बुद्धिमानी तो है लेकिन सही-सही उपयोग करने का विवेक नहीं है। जैनधर्म का कहना है कि उतना ही उत्पादन करो जितना आवश्यक है। अनावश्यक उत्पादन में समय और शक्ति मत गवाओ। धन का सग्रह करने की अपेक्षा जहॉ पर आवश्यक है वहॉ पर लगाओ। इसी मे सभी का हित निहित है।

बहुत दिन पहले की बात है। राज्य व्यवस्था और राज्य शासन कैसा हो इस बारे मे एक पाठ पढ़ा था। उस राजा के राज्य मे धीरे-धीरे प्रजा की स्थिति दयनीय हो गयी। राजा के पास बार बार शिकायते आने लगीं। राजा ने सारी बात मालूम करके कमियो को दूर करने के लिए सख्त आदेश दे दिया। कह दिया कि हमारे राज्य मे कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं सो सकता। यदि भूखा सोयेगा तो दण्ड दिया जाएगा। कोई भूखा हो तो अपनी बात राजा तक पहुँचाने के लिए एक घटा भी लगवा दिया।

एक दो दिन तक कुछ नहीं हुआ। तीसरे दिन घटा बजने लगा। घटा बजते ही जो सिपाही वहॉ तेनात था उसने देखा कि बात क्या है? घटा बजाने वाला वहॉ कोई व्यक्ति नहीं था, एक घोडा अवश्य था। किसी ने घटे के ऊपर थोडा सा घास अटका दिया था, उसको खाने के लिए वह घोड़ा सिर उठाता था तो घटा बजने लगता था। राजा तक खबर पहुँची राजा ने सोचा कि जरूर यह घोडा भूखा है। उसके मालिक को बुलाया। पूछा गया कि बोलो यह कितने दिन से भूखा था। 'अन्नदाता, मैंने इसे जानबूझकर भूखा तो नहीं रखा' — उस घोडे के मालिक ने डरते-डरते कह दिया। राजा ने पुन प्रश्न किया कि फिर यह भूखा क्यो है? तब वह कहने लगा कि अन्नदाता! इस घोडे के माध्यम से मै जो कुछ भी कमाता हूँ उसमे कमी आ गयी है। पहले लोग जो किराया देते थे अब उसमे कमी करने लगे है। मेरा तो एक बार भोजन से काम चल जाता है पर इसके लिए कहाँ से पूरा पडेगा। मैने सोचा कि अपनी बात यह स्वय आपसे कहे इसलिए इसके माध्यम से घटा बजवा दिया। अब आप ही न्याय करें।

राजा हसने लगा वह सारी बात समझ गया कि कमी कहाँ है? मनुष्य मनुष्य के बीच जो आदान-प्रदान का व्यवहार है उसमे कमी आ गयी है। उसी दिन राजा ने आज्ञा दी कि जो जितना काम करे उसे उसके अनुरूप वेतन मिलना चाहिए फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु भी क्यो न हो। सभी को समान अधिकार है जीने का। यह कहलाती है शासन व्यवस्था। यही राजा का धर्म है आज इस धर्म के पालन मे कमी आ जाने से

सभी दुख का अनुभव कर रहे है। हमे अधर्म से बचकर मानव धर्म के लिए तत्पर रहना चाहिये।

गाधी जी के माध्यम से भारत को स्वतत्रता मिली। उनका उद्देश्य मात्र भारत को स्वतत्रता दिलाने का नही था। व्यक्ति-व्यक्ति स्वतत्रता का अनुभव कर सके, प्राणीमात्र स्वतत्र हो और सुख शान्ति प्राप्त करे यह उनकी भावना थी। सब सतो का धर्मात्मा पुरुषो का उद्देश्य यही होता है कि जगत के सभी जीव सुख शान्ति का अनुभव करे। एक साथ सभी जीवो के प्रति अभय देने की भावना हर धर्मात्मा के अदर होती है, होनी भी चाहिये। इस बात का प्रयास सभी को करना चाहिये।

प्राणी मात्र के भीतर जानने देखने की क्षमता है पशुपक्षी भी हमारी तरह जानते देखते हैं। किसी-किसी क्षेत्र मे उनका इन्द्रिय ज्ञान हमसे भी आगे का है। यहाँ आप बैठे सुन रहे है लेकिन आप ही मात्र श्रोता है ऐसा नहीं है। पेड के ऊपर बैठी चिड़िया भी सुन सकती है। कौआ भी सुन सकता है बदर भी सुन सकता है और ये सब प्राणी भी अपने जीवन को धर्ममय बना सकते है। बनाते भी है। पुराणो के अदर ऐसी कथाओ की भरमार है। इन कथाओ को पढ़कर ऐसा लगता है कि हम लोगो को तो अल्प समय मे ही बहुत उन्नति कर लेना चाहिये।

आज से आप लोग यह सकल्प कर ले कि नये कपडे या अन्य कोई उपयोगी सामग्री खरीदने से पहले पुराने कपड़े और पुरानी सामग्री दया पूर्वक, जिसके पास नहीं है उसे दे दे। परस्पर एक दूसरे का उपकार करने का भाव बनाये।

इस युग मे गाधी जी ने अपने जीवन को 'सिम्पल लिविग एण्ड हाई थिकिग' सादा जीवन उच्च विचार के माध्यम से उन्नत बनाया था। वे सदा सादगी से रहते थे। भौतिक शक्ति भले ही कम थी लेकिन आत्मिक शक्ति धर्म का सम्बल अधिक था। उनके अनुरूप भी यदि आप अपना जीवन बनाने के लिए सकल्प कर लें तो बहुत सारी समस्याएँ समाप्त हो जायेगी। जितनी सामग्री आवश्यक है उतनी ही रखे उससे अधिक न रखें, इस प्रकार परिमाण कर लेने से आप अपव्यय से बचेगे साथ ही सामग्री का सचय नहीं होने से सामग्री का वितरण सभी के लिए सही ढग से होगा। सभी का जीवन सुखद होगा। देश मे मानवता कायम रहेगी और देश की सस्कृति की रक्षा होगी। आत्म कल्याण होगा।

□□

प्रवचन पर्व

आचार्य मुनिश्री विद्यानन्द

प्रवचन पर्व

समग्र/४/२६७

प्राक्कथन

पर्यूषण पर्व एक अद्‌भुत पर्व है । यह मानवीय भावनाओ के परिष्कार या उदात्तीकरण का पर्व है । इसका उद्‌देश्य व्यक्ति को तनाव के कारणो से मुक्ति दिलाना है । तनाव का कारण मनुष्य के अपने विकार है । इन विकारो का जन्म अधर्माचरण से होता है । अधर्म से बचते हुये धर्म का अनुपालन करने वाला जीव ही निर्विकार बन सकता है । शास्त्रो मे उस धर्म को दशलक्षण रूप बताया है ।

हर वर्ष पर्यूषण पर्व मे उन दश धर्मो पर चिन्तन-मनन चलता है । जिस प्रकार दाल-रोटी शरीर की खुराक है, उसी प्रकार भजन-चिन्तन आत्मा की खुराक है । जब हमारी दृष्टि शरीर पर जाती है तो हमारा मन भोजन और भोग की ओर दौड़ता है तथा जब ध्यान आत्मा की ओर जाता है तो भजन और स्वाध्याय के प्रति रुचि जगती/बढ़ती है । प्रस्तुत कृति मे वर्णित दशलक्षण रूप धर्म के चिंतन से आत्महित मे प्रवृत्ति होती है तथा चित्त भोगाकाक्षाओ से हटकर योग-मार्ग मे रमण करने लगता है ।

परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज इस सदी के सतो मे शिरोमणि है । निर्दोष चर्या एव हृदयस्पर्शी वक्तृत्व-कला ने उन्हे जन-जन का ऋषि बना दिया है । सम्पूर्ण भारत मे 'राष्ट्रसत' के रूप मे उनकी ख्याति है । इस पुस्तिका मे दशलक्षणधर्म पर दिये गये उनके प्रवचन सङ्कलित किये गये है । उनकी प्रवचन-शैली की यह विशेषता है कि वह शास्त्रो के गहनतम रहस्यो को भी अपनी चुटीली भाषा और सहज युक्तियो से सरल एव वोधगम्य बना देते है । इन प्रवचनो मे कहीं भी पाडित्य का प्रदर्शन नहीं है, अपितु सर्वत्र अनुभव की सरसता है ।

प्रस्तुत कृति मे पूज्य आचार्य श्री ने परम्परित दृष्टान्तो की अपेक्षा रोजमर्रा की जिन्दगी मे देखे-समझे, उदाहरणो से अपने कथ्य को पुष्ट करने का अधिक प्रयास किया है । सीप और मोती, हलुवा और आग, दूध और घी, दोज के वक्र और पूनम के पूर्ण चन्द्रमा आदि के उदाहरण पुस्तकीय नहीं है । वे अनुभव की ऑख से देखे गये है । उनका हृदय पर सीधा और गहरा असर होता है । शव्द-शक्ति पर उनकी कैसी पकड है, इसका परिचय भी इन प्रवचनो से मिलता है । अनेक स्थानो पर एक ही शब्द या वाक्याश से दो अथवा दो से अधिक अर्थो की अभिव्यक्ति चमत्कार उत्पन्न करती है ।

'पर्व पूर्व भूमिका' शीर्षक अपने प्रथम प्रवचन मे पूज्य आचार्य श्री ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमे पचेन्द्रियो के विषय को छोडते जाना है । यदि धर्म का सेवन इन विषयो का विमोचन किये विना करेगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शाति और तृप्ति नहीं मिलेगी । आत्मा का हित चाहने वालो को अहित के कारणो से वचना

समग्र/४/२९८

ही प्रवेचनकार को इष्ट है और पूरी कृति मे यही लक्ष्य प्रमुखता से उसके सामने रहा है।

कहने के लिए भले ही धर्म के लक्षण दश हैं, किन्तु यथार्थ मे यह सब दश धर्म एक मे ही गर्भित हो जाते हैं। एक के आने से सभी आ जाते हैं।

उत्तम क्षमादि भाव वस्तुत. आत्मा के गुण हैं। यह गुण हर जीव मे पाये जाते हैं। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके भीतर इन गुणो का खजाना न हो, किन्तु सदा बाहर की ओर देखते रहने की अपनी पुरानी आदत के कारण वह इन्हें देख या जान नहीं पाता है। यह प्रवचन व्यक्ति को अन्तर्यात्रा पर ले जाते हैं। अन्तर्यात्रा का अर्थ है स्वभाव मे जीने की कोशिश! जिस प्रकार उत्ताल लहरों का कोलाहल समुद्र की सतह पर ही सुनाई पड़ता है किन्तु उसके भीतर कोई हलचल नहीं होती, उसी प्रकार हमारे जीवन में तनाव भी बाहर से आते हैं (सभी परनिमित्तक हैं) किन्तु यदि हम अपने भीतर झाँक कर देखे तो वहाँ शान्ति का अथाह साम्राज्य ही पायेगे। इसी का नाम स्वभाव है। उत्तम क्षमादि धर्मो का पालन उसी स्वभावगत शान्त या निराकुलता मे जीने या रहने की कला का ही दूसरा नाम है।

इस कृति के माध्यम से जीव मात्र तक को पूज्यश्री का करुणा का प्रसाद पहुँच रहा है। उनके हर प्रवचन मे आत्मा का संगीत सुनाई पड़ता है तथा पग-पग पर आत्मजागरण की प्रेरणा मिलती है। उनका यह उपकार हमारे लिये किसी अयाचित वरदान से कम नहीं है।

इन प्रशस्त प्रवचनो का सम्पादन उनके प्रतिभा-सम्पन्न सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनि क्षमासागर जी महाराज एवं ऐलक श्री अभयसागर जी महाराज ने किया है। कृति के अन्त में जैन धर्म का पारिभाषित शब्द-कोष देकर उन्होंने इसे और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। वीतरागी एवं हितानुशास्ता गुरुओं के चरणो मे हमारा शतश. नमन।

फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश)
दिनांक २७ जून, १९९३

नरेन्द्र प्रकाश जैन
(सम्पादक - जैन गजट)

नमगा ५/२९६
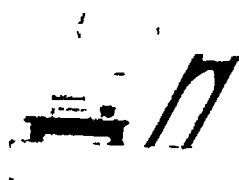
पर्व : पूर्व भूमिका

कल पर्वराज आ रहा है और आत्मा के धर्म अर्थात् स्वभाव के बारे मे वह हमसे कुछ कहेगा। दस दिनो मे आप तरह-तरह से आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति के लिये प्रयास करेगे। कोई बार-बार भोजन की आकाक्षा छोडकर एक बार भोजन करेगा। कोई एकाशन करने वाला कभी-कभी उपवास करने का अभ्यास करेगा और किसी दिन जो जोड़ रखा है उसे छोडने का भाव लायेगा। कोई भी कार्य किया जाता है तो भूमिका बनाना आवश्यक होता है। नीव यदि कमजोर है तो उसके ऊपर महाप्रासाद निर्मित कराना सम्भव नही होता। इसी प्रकार आगामी दस दिनो मे आप जो भी अपने आत्म-विकास के लिये करना चाहे, उसकी आज से ही भूमिका मजबूत कर लेनी चाहिये।

एक रोगी व्यक्ति वैद्य के पास गया कि कुछ इलाज बताइये ताकि कमजोरी दूर हो और शान्ति मिले। तब वैद्य जी ने रोग का निदान करके औषधियॉ बता दी और कह दिया कि इन सभी का हलुवा बनाकर सेवन करना। कुछ दिनो के उपरान्त इसके सेवन से शक्ति और शान्ति मिल जायेगी। सभी चीजो का अनुपात और बनाने की विधि भी बता दी। उस व्यक्ति ने ठीक वैसा ही किया लेकिन उससे वह पौष्टिकता देने वाला हलुवा ठीक से खाया नही गया। दो-तीन दिन तक प्रयास करने के उपरान्त जब उसे वह हलुवा नही खाया गया तो वह वैद्य जी के पास पहुँचा और कहा कि रोग मे कोई लाभ नही हुआ। वह हलुवा जैसे तैसे खाया तो, लेकिन ठीक-ठीक खाया नही गया। आपने जैसा बताया था, वैसा ही किया। उसमे किसी बात की कमी नही रखी लेकिन उसके सेवन के उपरान्त मुझे जरा भी सुख, शान्ति या तृप्ति नही मिली। जैसा आस्वादन मिलना चाहिये वह भी नही मिला। वैद्य जी ने कहा यह सम्भव ही नही है। बताओ क्या क्या मिलाया था? सभी चीजो मगाई गयी। कही कोई कमी नही थी। सभी चीजे नपी-तुली थी, अनुपात भी ठीक था, बनाने की विधि भी ठीक थी पर केशर की डिब्बी जब वैद्य जी ने उठाई तो समझ गये कि बात क्या है। पूछा कि यही केशर डाली थी। उस व्यक्ति ने कहा कि हॉ यही डाली थी। केशर तो असली है, उसमे गड़बड कैसे हो सकती है? वैद्य जी मुस्कराये कहा कि केशर तो असली है पर केशर रखने की डिबिया मे पहले क्या था? तो मालूम पड़ा कि डिबिया मे पहले हीग रखी थी। उस हीग के सस्कार के कारण पूरा का पूरा हलुवा बेस्वाद हो गया। यही गलती हो गयी। इसलिये शान्ति नही मिली और तृप्ति भी नही मिली।

बात आपके समझ मे आ गई होगी। यदि धर्म का सेवन हम विषयो का विमोचन किये बिना करेगे तो स्वाद नही आयेगा, शान्ति और तृप्ति नही मिलेगी। कम से कम धर्म को अगीकार करने से पहले विषयो के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिये। हमारा धर्म महान् है जिसमे भगवान आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौवीस तीर्थकर हुये। भरत जैसे चक्रवर्ती और वाहुवली जैसे कामदेव हुये। वाहुवली भगवान का कोई चिन्ह भले ही नही है, लेकिन उनकी तपस्या से हर कोई उन्हे पहचान लेता है। वे तप

दूर चलने के उपरान्त एक घाटी मे से गुजरते समय कुछ मधुमक्खियाँ आने लगी और गुरुजी को एक-दो स्थान पर काट लिया। गुरुजी पीड़ा से कराहने लगे और वही बैठ गये। कहने लगे कि अब चलना सम्भव नही है।

शिष्य बड़ी दुविधा मे पड़ गया कि आखिर बात क्या है ? उसने पूछ ही लिया कि गुरुजी अभी अभी तो सिह के आ जाने पर आप बिल्कुल विचलित नही हुये थे और अब इतनी छोटी सी मधुमक्खियो से विचलित हो गये। कुछ समझ मे नही आया ? गुरुजी मुस्कराये और बोले उस समय जब सिह आया था तब मेरे साथ भगवान थे, मै उन्ही मे लीन था। विचलित या भयभीत होने की बात ही नही थी लेकिन अब तो तू मेरे साथ है। भयभीत होना स्वाभाविक है। यह है सगति का असर।

आज चतुर्थ काल तो है नही। उत्तम सहनन का भी अभाव है। क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होना सम्भव नही है। ऐसे विषम समय मे विषयो की सङ्गति मे पड़ कर अपने स्वभाव को भूल करके कर्तव्य से च्युत होने की सम्भावना अधिक है। इसलिये समय-समय पर वर्ष भर मे बीच-बीच मे ऐसे पर्व रखे गये है जिनसे श्रावको के लिये तीन सौ पैसठ दिन मे कुछ दिन विषय-कषायो के सम्पर्क से बचने का और धर्म के निकट आने का अवसर मिलता है। दश-लक्षण पर्व इसीलिये महत्त्वपूर्ण पर्व है कि इनमे लगातार दस दिन तक विभिन्न प्रकार से धर्म का आचरण करके अपनी आत्मा के विकास का अवसर मिलता है, जो कि श्रावको के लिये अनिवार्य है। मुनि महाराजो का तो जीवन ही दशलक्षण'धर्ममय होता है।

तो बात यह है कि वीतराग-धर्म सुनने से पूर्व उसके योग्य पात्रता बनाना भी आवश्यक है। जैसे सिहनी का दूध स्वर्ण पात्र मे ही रुकता है उसी प्रकार वीतराग धर्म का श्रवण करके उसे धारण करने की क्षमता भी सभी मे नही होती। उसके लिये भावो की भूमि मे थोड़ा भीगापन होना चाहिये तथा आर्द्रता होनी चाहिये, जिससे वीतरागता के प्रति आस्था और उत्साह जागृत हो सके। चारो ओर भोगोपभोग की सामग्री होते हुये भी इस काया के द्वारा उस माया को गौण करके भीतरी आत्मा को पहचानने और शरीर के पृथक् अवलोकन करने के लिये दश लक्षण धर्म को सुनना मात्र ही पर्याप्त नही है, उसे प्राप्त करना भी अनिवार्य है।

जीवन का एक-एक क्षण उत्तम-क्षमा के साथ निकले। एक-एक क्षण मार्दव के साथ, विनय के साथ निकले। एक-एक श्वास हमारी वक्रता के अभाव मे चले। ऋजुता और शुचिता के साथ चले। पूरा जीवन ही दश-धर्म मय हो जाये। दश धर्म की व्याख्या तो कोई भी सुना सकता है लेकिन धर्म का वास्तविक दर्शन और अनुभव तो दिगम्बर वेश मे ही सम्भव है। उसके प्रतिफल रूप मुक्ति भी इसी दिगम्बरत्व के साथ सम्भव है। जो व्यक्ति दश धर्म के श्रवण और दर्शन के माध्यम से एक समय के लिये भी जीवन मे धर्म

की मूर्ति है । त्याग की मूर्ति है । वे संयम की मूर्ति है । विदेशी पर्यटक भी श्रवणबेलगोल (हासन-कर्नाटक) मे आकर गोम्मटेश बाहुबली स्वामी की मूर्ति देखकर ताज्जुब करते है कि यह कैसी विशाल, भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा है, जो बिना बोले ही शान्ति का उपदेश दे रही है । हमे कहने की आवश्यकता न पड़े और हमारा जीवन स्वय ही उपदेश देने लगे, यही हमारा धर्म है । यही धर्म का माहात्म्य भी है ।

विषय भोगो मे उलझते रहने की वजह से ही हमारे उपयोग की धारा आज तक भटकती आ रही है । बटती चली आ रही है और सागर तक नही पहुँच पाती । मरुभूमि मे ही विलीन हो रही है । पञ्चेन्द्रिय के विषयो के बीच आसक्त रहकर आज तक किसी को धर्मामृत की प्यास नही जगी । आज तक आत्मा का दर्शन नही हुआ । दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमे दुनिया की और कोई वस्तु प्राप्त नही करना है किन्तु जो पञ्चेन्द्रिय के विषय है, उनको छोड़ते जाना है । जिस रुचि के साथ ग्रहण किया है उसी के अनुरूप उसका विमोचन करना भी आवश्यक है । जिस प्रकार कचरे को व्यर्थ मानकर फेक देते है उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के विषयो को व्यर्थ मानकर उनका त्याग करना होगा । उनके प्रति आसक्ति कम करना होगी । धर्म की व्याख्या तो आप कल से सुनेगे, लेकिन आज कम से कम धर्म की केशर की सुगन्ध लेने से पहले अपनी डिब्बी का पुराना सस्कार अवश्य हटा दे ।

एक बार गुरु और शिष्य यात्रा के लिये निकले, छोटी सी कथा पढ़ी थी । आप लोगो को याद हो तो ठीक है, अन्यथा पुन याद ताजा कर ले । कैसा है सङ्गी साथी का प्रभाव? गुरु और शिष्य दोनो चले जा रहे थे । चलते-चलते शाम हो गई । सामायिक ध्यान का काल हो गया । एक पेड के नीचे बैठ गये । आगे भयानक जङ्गल था । वह ध्यान मे बैठे ही थे कि शिष्य की दृष्टि जङ्गल की ओर से आते हुये सिह पर पड़ी । शिष्य घबरा गया कि अब बचना सम्भव नहीं है । गुरु जी को पुकारा पर गुरु जी तो भगवान् के ध्यान मे तल्लीन थे । शिष्य चुपचाप उठा और धीरे से पेड़ पर चढ़कर ऊँचाई पर बैठ गया । वही से बैठे-बैठे उसने देखा कि सिह गुरु जी के पास आया और सूघ कर परिक्रमा लगाकर सब ओर से देखकर लौट गया । शिष्य तो थर-थर कापने लगा कि पता नही क्या होने वाला है । जब सिह चला गया तब दीर्घ श्वास लेकर वह नीचे उतरा और गुरु जी के चरणो मे प्रणाम करके बैठ गया ।

थोडी देर वाद जव गुरु जी ध्यान से बाहर आये और कहा कि चलो । तब शिष्य को बडा आश्चर्य हुआ । शिष्य ने कहा कि गुरुजी आज तो वडा भाग्योदय था । वच गये । एक सिह आया था और विल्कुल आपके पास तक आया था । आपको सूघा भी था । क्या आपको मालूम नही है ? गुरुजी ने कहा कि नही मुझे नही मालूम । अव तो शिष्य और भी अचम्भे मे पडा और श्रद्धा से पैरो पर गिर पड़ा कि अद्भुत है आपका धैर्य और आपकी दृढता । गुरुजी ने अपनी प्रशसा सुनकर मानो अनसुनी कर दी और कहा कि चलो अभी और यात्रा करना है । दोनो फिर आगे यात्रा पर वढ गये । थोड़ी

के प्रति सङ्कल्पित होता है , उत्तम क्षमा धारण करने का भाव जागृत करता है, मै समझता हूँ उसका यह भाव ही उसके लिये भूमिका का काम करेगा ।

रावण ने एक बार मुनि महाराज के मुख से धर्म श्रवण किया । उसके साथी भी साथ मे थे । जब अत मे सभी ने एक-एक करके मुनि महाराज से कुछ न कुछ व्रत लिये तब चारण-ऋद्धिधारी उन मुनिराज ने रावण को कहा कि हे अर्द्धचक्री रावण ! तुम तो बलशाली हो । कौन सा व्रत लेते हो ? ले लो । तब रावण ने कहा कि महाराज आज मुझे अपने से बढकर कोई कमजोर नही लग रहा है । मै आपसे अपनी कमजोरी कैसे कहूँ ? एक छोटा सा व्रत भी मेरे लिये पालन करना कठिन लगता है । इतना ही कर सकता हूँ कि जो स्त्री मुझे नही चाहेगी उसके साथ सम्बन्ध के लिये मै जबरदस्ती उसे बाध्य नही करूँगा, यही मेरा व्रत रहा ।

रावण ने सोचा था कि ऐसी कोई स्त्री नही होगी जो उसे नही चाहेगी । पर आपको ज्ञात ही है कि इस एक व्रत ने भी उसे बहुत अच्छी शिक्षा दी । सीता का हरण तो कर लिया लेकिन सीता को बाध्य नही कर सका । उसने जीवन को थोड़ा बहुत सस्कारित तो अवश्य किया । वैसे ही हमे भी व्रतो को अङ्गीकार करके स्वय को सस्कारित करना चाहिये और व्रतियो को देखकर व्रतो के प्रति आकृष्ट होना चाहिये । सभी को व्रत, नियम, सयम के प्रति प्रोत्साहित भी करना चाहिये ।

बन्धुओ ! यदि एक बार शान्ति के साथ आप विषयो को गौण करके थोडा विचार करे, तो अपने आप ज्ञान होने लग जायेगा कि हमारा धर्म क्या है ? हमारा स्वभाव क्या है ? हमे विषय-कषायो की सङ्गति नही करना चाहिये । वीतरागी की सङ्गति करनी चाहिये ताकि धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ मे आ सके । आज विलासिता दिनोदिन बढ़ती जा रही है । आज तीर्थ-क्षेत्रो पर भी सुख-सुविधा के प्रबन्ध किये जा रहे है । पर ध्यान रखना-सुख-सुविधा से राग ही पुष्ट होता है, वीतरागता नही आती । वीतरागता प्राप्त करने के लिए, धर्म धारण करने के लिये थोड़ा कष्ट तो सहन करने की क्षमता लाना ही चाहिये । स्वय को सयत बनाने का भाव तो आना ही चाहिये । स्वभाव की पहचान करने के लिये विभाव-रूप विषय-कषायो को गौण करना अनिवार्य है । हिंसा से दूर रहकर अहिसा का पालन करते हुये जो व्यक्ति इन दश धर्मो का श्रवण-चिन्तन-मनन करता है, उन्हे प्राप्त करने का भाव रखता है, वह अवश्य ही अपने जीवन मे आत्म-स्वभाव का अनुभव करने की योग्यता पा लेता है और जीवन को धर्ममय बना लेता है ।
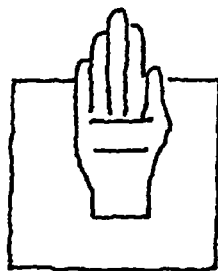
उत्तम क्षमा

- कोहुप्पत्तिस्स पुणो,
  वहिरंग जदि हवेदि सक्खाद
  ण कुणदि किंचि वि कोह,
  तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥

– क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् वाहरी कारण मिलने पर भी थोड़ा भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमा धर्म होता है। (वारसाणुवेक्खा ७१)

अभी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का स्वाध्याय चल रहा है, उसमे एक गाथा आती है –

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाण रक्खण धम्मो ॥

अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है । दस प्रकार के क्षमादिभावो को धर्म कहते हैं । रत्नत्रय को धर्म कहते है और जीवो की रक्षा करने को धर्म कहते है ।

यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म के विविध स्वरूपो को बताया है । वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है और यह भलीभाँति ज्ञात है कि वस्तु की अपेक्षा देखा जाए तो जीव भी वस्तु है । पुद्गल भी वस्तु है । धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी वस्तु है । सभी का अपना-अपना स्वभाव ही उनका धर्म है । अधर्म द्रव्य का भी कोई न कोई धर्म है । (हँसी) तो आज हम कौन से धर्म का पालन करे, कि जिसके द्वारा कम से कम दस दिन के लिए हमारा कल्याण हो । तब आचार्य कहते है कि स्वभाव तो हमेशा धर्म रहेगा ही लेकिन इस स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो किया जाने वाला धर्म है वह है–'खमादिभावो या दसविहो धम्मो'–क्षमादि भाव रूप दस प्रकार का धर्म वह आज से प्रारम्भ होने जा रहा है । ध्यान रखना आप लोगो की अपेक्षा, विशेष अनुष्ठान की दृष्टि से आज से प्रारम्भ हुआ माना जा रहा है साधुओ के तो वह हमेशा ही है ।

यह दस प्रकार का धर्म रत्नत्रय के धारी मुनिराज ही पालन करते है । इसलिए गाथा मे आगे कहा गया कि 'रयणत्तय च धम्मो'–रत्नत्रय भी धर्म है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा की जो परिणति है उसका नाम भी धर्म है । लेकिन इतना कहकर ही बात पूरी नही की । इस रत्नत्रय की सुरक्षा किस तरह, किस माध्यम से होगी, यह भी बताना आवश्यक है । इसलिए कहा कि 'जीवाण रक्खण धम्मो'–जीवो की रक्षा करना धर्म है । जीव का परम धर्म यही अहिसा है । जो उसे अपने आत्मस्वभाव-रूप धर्म तक पहुँचायेगा । इस अहिसा धर्म के बिना कोई भी जीवात्मा अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नही कर सकता ।

इस अहिंसा धर्म की व्याख्या आचार्यो ने विभिन्न प्रकार से की है । जो अहिसा से विमुख हो जाता है उसके भीतर क्षोभ उत्पन्न होता है । जेसे कोई सरोवर शान्त हो और उसमे एक छोटा सा भी कङ्कर फेक दिया जाए, तो कङ्कर गिरते ही पानी मे लहरे उत्पन्न होने लगती हे । क्षोभ पैदा हो जाता है । सारा सरोवर क्षुब्ध हो जाता हे और अगर कङ्कर फेंकने का सिलसिला अक्षुण्ण बना रहे तो एक बार भी वह सरोवर शान्त, स्वच्छ और उज्ज्वल रूप मे देखने को नही मिल पाता । अनेक प्रकार की मलिनताओ मे उसका शान्त स्वरूप खो जाता है । क्षोभ भी एक प्रकार की मलिनता ही है । मोह-राग-द्वेष रूप भाव भी एक मलिनता है । जैसे सरोवर का धर्म शान्त और निर्मल रहना है, लहरदार होना नही है, ऐसा ही आत्मा का स्वतत्त्व परिणाम है जो लहर रूपी क्षोभ और मोह रूपी मलिनता से रहित है, जो निष्कम्प और निर्मल है ।

सरोवर मे कङ्कर फेकने के उपरान्त उसमे हम जब जाकर देखेगे तो अपना मुख देखने मे नहीं आयेगा और न ही सरोवर के भीतर पड़ी निधि/वस्तु का अवलोकन कर सकेगे। मान लीजिये सरोवर शान्त है तथा कङ्कर भी नही फेका गया किन्तु कीचड़ उसमे बहुत है तो भी उस सरोवर के जल मे मुख दिखने मे नही आयेगा। आज मुझे यही कहना है आप लोगो से कि ऐसे ही हमारी आत्मा का सरोवर जब तक शान्त और मलिनता से रहित नहीं होगा तब तक हमे अपना उज्ज्वल स्वरूप दिखाई नही देगा। क्रोध के अभाव मे ही क्षमा धर्म जीवन मे प्रकट होगा। एक बार यदि यह क्षमा धर्म अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाये और आत्मा से क्रोधादि कषायों का सर्वथा अभाव हो जाए तो लोक मे होने वाला कोई भी विप्लव उसे प्रभावित नही कर सकता, उसे स्वभाव से च्युत नही कर सकता, नीचे नही गिरा सकता।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवाना न विक्रिया लक्ष्या[१]--अर्थात् सैकड़ो कल्पकाल भी बीत जाये तो भी सिद्धत्व की प्राप्ति के उपरान्त किसी भी तरह की विकृति आना सम्भव नहीं है। जैसे सरोवर का जल स्वच्छ होकर बर्फ बनकर जम जाये, उसमे सघनता आ जाये तो ककर के फेकने से कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसा ही आत्मा के स्वभाव के बारे मे समझना चाहिये। हमे आत्मा की शक्ति को पहचानकर उसे ऐसा ही सघन बनाना चाहिए कि क्षोभ उत्पन्न न हो सके। आत्मा को ज्ञान-घन रूप कहा गया है। हमारा ज्ञान,-घन-रूप हो जाना चाहिये। अभी वह पिघला हुआ होने से छोटी-छोटी सी बातो को लेकर भी क्षुब्ध हो जाता है। हमारे अदर छोटी सी बात भी क्रोध-कषाय उत्पन्न कर देती है और हम क्षमा धर्म से विमुख हो जाते है।

अनन्त काल हो गया तबसे हम इस क्रोध का साथ देते आ रहे है। क्षमा धर्म का साथ हमने कभी ग्रहण नहीं किया। एक बार ऐसा करो जैसा कि पाण्डवो ने किया था। पाण्डव जब तक महलो मे पाण्डव के रूप मे रहे तब तक कौरवो को देखकर मन मे विचार आ जाता था कि ये भाई होकर भी हमारे साथ बैरी जैसा व्यवहार करते है अत इनसे हमे युद्ध करना ही होगा। इन्हे धर्म-युद्ध के माध्यम से मार्ग पर लाना होगा। इस तरह कई प्रकार की बाते चलती थीं, सघर्ष चलता था। किन्तु जब वे ही पाण्डव गृहत्याग कर निरीह होकर ध्यान मे बैठ गये तो यह विचार आया कि 'जीवाण रक्खण धम्मो' -- जीवो की रक्षा करना, उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा धर्म है। कौरव भी जीव है अब उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। इसी क्षमा धर्म का पालन करते हुए जब उन पर उपसर्ग आया तो लोहे के गरम-गरम आभूषण पहनाने पर भी वे शान्त रहे। क्षुब्ध नहीं हुए, न ही मन मे शरीर के प्रति राग-भाव आने दिया और न ही उपसर्ग करने वालो के प्रति द्वेष भाव को आने दिया।

तप से तो तप ही रहे थे, ऊपर से तपे हुए आभूषण पहनाये जाने पर और अधिक तपने लगे। क्षमा-धर्म के साथ किये गये इस तप के द्वारा कर्मो की असख्यात गुणी निर्जरा होने लगी। जैसे प्रोषधोपवास या पर्व के दिनो मे आप लोग उपवास करते हैं या एकाशन करते

हैं और भीषण गर्मी ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप पड़ जाये तो कैसा लगता है ? दोहरी तपन हो गयी। पर व्रत का सङ्कल्प पहिले से होने के कारण परीषह सहते है। ऐसे ही पाण्डव भी लोहे के आभूषण पहनाये जाने पर भी शान्त भाव से परीषह-जय मे लगे रहे। कौरवो पर क्रोध नहीं आया, क्योकि जीवन मे क्षमा-धर्म आ गया था। जीवाण रक्खण धम्मो यह मन्त्र भीतर ही भीतर चल रहा था।

वे सोच रहे थे कि अब तो कोई भी जीव आकर हमारे लिए कुछ भी करे — उपसर्ग करे, शरीर को जला भी दे तो भी हम अपने मन मे उसके प्रति हिसा का भाव नहीं लायेगे क्रोध नहीं करेगे और विरोध भी नहीं करेगे। अब चाहे कोई प्रशसा करने आवे तो उसमे राजी भी नहीं होगे और न ही किसी से नाराज होगे। क्योकि अब हम महाराज हो गये है। महाराज है तो नाराज नहीं और नाराज है तो महाराज नहीं। लेकिन बात ऐसी है ध्यान रखना कि कभी-कभी लोगो के मन मे बात आ जाती है कि महाराज जी तो नाराज है और आहार देते समय कह भी देते है कि महाराज तो हमसे आहार ही नहीं लेते, नाराज है। हमारी तरफ देखते तक नहीं हैं। अब उस समय हम कुछ जवाव तो दे नहीं सकते और ऐसा कहने वाले वाद मे सामने आते भी नहीं है। कभी आ जाये तो हम फौरन कह देते है कि भइया, हम नाराज नहीं हुए और अगर आपकी दृष्टि मे राजी नहीं होने का नाम ही नाराज होना कहलाता है तो आप अपनी जानो। आप तो इसी मे राजी होगे कि महाराज आप हमारे यहॉ रोज आओ।

ससारी प्राणी राग को वहुत अच्छा मानता है और द्वेष को अच्छा नहीं मानता। लेकिन देखा जाये तो द्वेष पहले छूट जाता है फिर बाद मे राग का अभाव होता है। दसवे गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभ चलता है। मुनि महाराज तो प्रशसा मे राजी नहीं होते और न ही निंदा से नाराज होते हैं, अपितु वे तो दोनो दशा मे साम्य रखते है। राग और द्वेष दोनो मे साम्य भाव रखना ही अहिसा धर्म है, क्षमा धर्म है।

'रागादीणमणुप्पा अहिसगत्त ति देसिद समये।
तेसि चे उप्पत्ती हिसेति जिणेहि णिद्दट्ठा ॥'[२]

यह आचार्यो की वाणी है। रागद्वेष की उत्पत्ति होना हिसा है और रागद्वेष का अभाव ही अहिसा है। जीवत्व के ऊपर सच्चा श्रद्धान तो तभी कहलायेगा जव अपने स्वभाव के विपरीत हम परिणमन न करे अर्थात् रागद्वेप से मुक्त हो। क्रोधादि कषायो के आ जाने पर जीव का शुद्ध स्वभाव अनुभव मे नहीं आता। ससारी दशा मे स्वभाव का विलोम परिणमन हो जाता है। यही तो वैभाविक परिणति है, जो ससार मे भटकाती है।

पॉचो पाण्डव ध्यान मे लीन थे। सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान मे लीन थे। शरीर मे रहकर शरीरातीत आत्मा का अनुभव कर रहे थे। वास्तव मे यही तो उनकी अग्नि परीक्षा की घड़ी थी।

'जह कणयमग्गितविय पि कणयसहावं ण त परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्त ।।'[४]

जिस प्रकार स्वर्ण को तपा दिये जाने पर भी सुवर्ण अपनी स्वर्णता को नहीं छोड़ता बल्कि जितना आप तपाओगे उतनी ही उसकी कीमत बढ़ती जायेगी, उतने ही उसके गुणधर्म उभरकर सामने आयेगे । स्वर्ण को जितना आप कसौटी पर कसोगे उतना ही उसमे निखार आयेगा, उसकी सही परख होगी । आचार्यो ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार अग्नि मे तपाये जाने पर स्वर्ण, स्वर्णपने को नहीं छोड़ता उसी प्रकार ज्ञानी भी उपसर्ग और परीषह के द्वारा खूब तपा दिये जाने पर भी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता, 'पाण्डवादिवत्' यानी पाण्डवो के समान ।

पाण्डवो का उदाहरण दिया सो कौरवो के साथ युद्ध करते समय के पाण्डवो का या राज्य सुख भोगते हुए पाण्डवो का उदाहरण नहीं दिया । बल्कि उन पाण्डवो का उदाहरण दिया जो राजपाट छोड़कर वीतरागी होकर ध्यान मे लीन है और उपसर्ग आने पर भी 'जीवाण रक्खण धम्मो, रयणत्तय च धम्मो' --जीवो की रक्षा को धर्म मानकर, रत्नत्रय को धर्म मानकर उसी की सुरक्षा मे लगे हुए है । वे क्षमाभाव धारण करते हुए विचार कर रहे है कि जानना-देखना ही हमारा स्वभाव है । जो कोई इस आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानी होता हुआ यदि बाधा उत्पन्न करता है, तो वह भी दया और क्षमा का पात्र है ।

कोई यदि स्वर्ण की वास्तविकता के बारे मे सदेह कर रहा हो तो यही उपाय है कि उसको तपाकर दिखा दिया जाए या कसौटी के पाषाण पर कस दिया जाए ताकि विश्वास प्रादुर्भूत हो जाए । पाँडव ऐसी ही अग्नि परीक्षा दे रहे थे । आप भी यदि दूसरे के अदर स्वभाव के प्रति श्रद्धान पैदा कराना चाहते है या स्वय के ज्ञानीपने की परीक्षा करना चाहते है तो आपको भी ऐसी अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ेगा । अपने जीवत्व की रक्षा के लिए सभी जीवो की रक्षा का सङ्कल्प पहले करना होगा । तुलसी दया न छॉड़िये, जबलो घट मे प्राण--जब तक घट मे अर्थात् शरीर मे प्राण है तब तक हम जीव दया अर्थात् जीवो की रक्षा करने रूप धर्म को नहीं छोड़ेगे, ऐसा सङ्कल्प होना चाहिये । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड मे कहा है कि 'धम्मो दया विसुद्धो ।'--धर्म, दया करके विशुद्ध होता है । इस दया-धर्म के अभाव मे मात्र धर्म की चर्चा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि रत्नत्रय मे निष्ठा के बिना नहीं होती और रत्नत्रय मे निष्ठा दया धर्म के माध्यम से, क्षमादि धर्मो के माध्यम से ही जानी जाती है । जहाँ रत्नत्रय के प्रति निष्ठा होगी वहॉ नियम से क्षमादि धर्म उत्पन्न होगे । तभी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होगी । दस प्राणो से अतीत (मुक्त) आत्मा ही अपनी वास्तविक ज्ञान-चेतना का अनुभव करती है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते है कि--

सव्वे खलु कम्मफल थावरकाया तसा हि कज्जजुद ।
पाणित्तमदिक्कता णाण विदति ते जीवा ।।

सभी स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफल के अनुभवन रूप कर्मफल चेतना का अनुभव करते है किन्तु त्रस-जीव उसी कर्मफल के अनुभव मे विशेष रागद्वेष रूप कर्मचेतना का भी अनुभव करते है। यह कर्मचेतना तेरहवे गुणस्थान तक चलती है। क्योकि रागद्वेष का अभाव होने के बावजूद भी वहाँ अभी योग की प्रणाली चल रही है। कर्मो का सम्पादन हो रहा है। भले ही एक समय के लिए हो, लेकिन कर्मबन्ध चल ही रहा है। चौदहवे गुणस्थान मे यद्यपि अभी स्वभाव की पूर्णत अभिव्यक्ति अर्थात् गुणस्थानातीत दशा की प्राप्ति नहीं हुई है, तथापि तेरहवे गुणस्थान की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। वहाँ योग के अभाव मे कर्म का सम्पादन नहीं हो रहा अपितु मात्र कर्मफल की अनुभूति अभी शेष है। इसके उपरान्त दस प्रकार के द्रव्य प्राणो से रहित सिद्ध भगवान ही शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते है।

ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप के समान हमारा भी स्वरूप है। 'शुद्धोऽह, बुद्धोऽह, निरञ्जनोऽह, निर्विकार स्वरूपोऽह' आदि-आदि भावो के साथ पर्यायबुद्धि को छोड़कर पाण्डव ध्यान मे लीन है। लेकिन प्रत्येक की क्षमता एक सी नहीं होती। क्षमा-भाव सभी धारण किये है, पर देखो कैसा सूक्ष्म धर्म है कि अपने बारे मे नहीं, अपने से बडे भाईयो के बारे मे जरा सा विचार आया कि मुक्ति मे बाधा आ गयी। वे नकुल और सहदेव सोचने लगे कि 'हम तो अभी युवा हैं, यह परीषह सह लेगे। लेकिन बड़े भाई तो वृद्ध होने को है, वे कैसे सहन कर पायेगे। अरे! कौरवो ने अभी भी वैर नहीं छोडा'—ऐसा मन मे विकल्प आ गया। कोई विरोध नहीं किया, मात्र विचार आया। क्षमा धर्म मे थोड़ी कमी आ गयी और उस विकल्प का परिणाम ये हुआ कि उन्हे सर्वार्थसिद्धि की आयु बन्ध गयी, मुक्तिपद नहीं मिल पाया।

मान लीजिये, कोई अरबपति बनना चाहता है तो कब कहलायेगा वह अरबपति? तभी कहलायेगा जब उसके पास पूरे अरब रुपये हो। लेकिन ध्यान रखना यदि एक रुपया भी कम है तो भी अरबपति होने मे कमी मानी जायेगी। एक पैसे की कमी भी कमी ही कहलायेगी। यही स्थिति उन अतिम पाण्डवो की हुई। 'जीवाण रक्खण धम्मो' जीवो की रक्षा तो की, लेकिन अपने आत्म परिणामो की सभाल पूरी तरह नहीं कर पाये। शेष तीन पाण्डव निर्विकल्प समाधि मे लीन होकर अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करके साक्षात् मुक्ति को प्राप्त करने मे सफल हुए।

भइया! क्रोध पर विजय पाने के लिए ऐसा ही प्रयास हमे भी करना चाहिये। आज तो सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जा सकते, तो कम से कम सोलह स्वर्ग तक तो जा ही सकते है। सोलहवे स्वर्ग तक जाने के लिए सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के योग्य अणुव्रत तो धारण करना ही चाहिये। आप श्रावक है तो इतनी क्षमा का अनुपालन तो कर ही सकते है कि कोई भी प्रतिकूल प्रसग आ जाये तो भी हम क्रोधित नहीं होगे। क्षमाभाव धारण करेगे। रत्नत्रय हमारी सहज शोभा है और क्षमादि धर्म हमारे अलङ्कार है, इसी के माध्यम से हमारा जीवत्व निखरेगा। अनन्तकाल से जो जीवन ससार मे बिखरा पडा है, उस बिखराव के साथ जीना, वास्तविक जीना नहीं है। अपने भावो को सम्भाल करते हुए जीना ही जीवन की सार्थकता है।

किसी कवि ने लिखा है कि 'असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । और मृत्यो मा अमृतोगमय ।' जो असत् है या जो सत्य नहीं है, जो झूठ है, जो अपना नहीं है, जो सपना है, उससे मेरी बुद्धि हट जाये । मै मोह की वजह से उस असत् को सत् मान रहा हूँ और अपने वास्तविक सत् स्वरूप को विस्मृत कर रहा हूँ । हे भगवन् ! मुझे अज्ञान के अन्धकार से बचा ले और जल्दी-जल्दी केवल ज्ञान रूप ज्योतिपुञ्ज तक पहुँचा दे । मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार मिट जाये और मै केवलज्ञान मे लीन हो जाऊँ ।

हे भगवन् ! यह जन्म, यह जरा, यह मृत्यु और मेरे कषाय भाव–यही हमारे वास्तविक जीवन की मृत्यु के कारण है । अमृत वहीं है जहॉ मृत्यु नहीं है । अमृत वहीं है जहॉ क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं है । अमृत वहीं है जहॉ क्रोध रूपी विष नहीं है ।

इस तरह हम निरन्तर अपने भावो की सम्भाल करे । रत्नत्रय धर्म, क्षमा धर्म या कहो अहिंसा धर्म यही हमे अमृतमय है । क्षमा हमारा स्वाभाविक धर्म है । क्रोध तो विभाव है । उस विभाव-भाव से बचने के लिए स्वभाव भाव की ओर रुचि जागृत करे । जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरे–धीरे अपने [illegible]र क्षमा-भाव धारण करने का प्रयास करता है उसी का जीवन अमृतमय है । हम भगवा[illegible] [illegible] यही प्रार्थना करते है कि हे भगवन् ! क्षमा धर्म के माध्यम से हम सभी का पूरा का पूरा कल्याण हो । जीवन की सार्थकता इसी मे है ।

क्षमा धर्म –

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा – गाथा क्रमाक-४७८

२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार-१३३

३ सर्वार्थसिद्धि-७/२२/७०५/२८१/७

४ समयसार-१९१

५ पञ्चास्तिकाय-३९
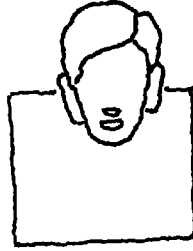
उत्तम मार्दव

☐ कुलरूवजादिबुद्धिसु
तवसुदसीलेसु गारव किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो
मद्दवधम्म हवे तस्स ।।

—जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय मे थोड़ा सा भी घमण्ड नही करता, उसके मार्दव धर्म होता है । (७२)

आज पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तम क्षमा के वारे मे आपने सुना, सोचा, समझा और क्षमा भाव धारण भी किया है। वैसे देखा जाए तो ये सव दस-धर्म एक मे ही गर्भित हो जाते है। एक के आने से सभी आ जाते है। आचार्यो ने सभी को अलग-अलग व्याख्यायित करके हमे किसी न किसी रूप मे धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है। जैसे रोगी के रोग को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार से चिकित्सा की जाती है। दवा अलग-अलग अनुपात के साथ सेवन करायी जाती है। कभी दवा पिलाते है, कभी खिलाते है और कभी इजेक्शन के माध्यम से देते है। वाह्य उपचार भी करते है। वर्तमान मे तो सुना है कि रगो के माध्यम से भी चिकित्सा पद्धति का विकास किया जा रहा है। कुछ दवाए सुघाकर भी इलाज करते है। इतना ही नही, जव लाभ होता नही दिखता तो रोगी के मन को सान्त्वना देने के लिए समझाते है कि तुम जल्दी ठीक हो जाओगे। तुम रोगी नही हो। तुम तो हमेशा से स्वस्थ हो अजर-अमर हो। रोग आ ही गया है तो चला जायेगा, घवराने की कोई वात नही है। ऐसे ही आचार्यो ने अनुग्रह करके विभिन्न धर्मो के माध्यम से आत्म-कल्याण की वात समझायी है।

प्रत्येक धर्म के साथ उत्तम विशेषण भी लगाया है। सामान्य क्षमा या मार्दव धर्म की वात नही है, जो लौकिक रूप से सभी धारण कर सकते है। वल्कि विशिष्ट क्षमा भाव जो सवर और निर्जरा के लिए कारण है, उसकी वात कही गयी है। जिसमे दिखावा नही है, जिसमे किसी सासारिक ख्याति, पूजा, लाभ की आकाक्षा नही है। यही उत्तम विशेषण का महत्त्व है।

दूसरी वात यह है कि क्षमा, मार्दव आदि तो हमारा निजी स्वभाव है, इसलिए भी उत्तम धर्म है। इसके प्रकट हुए विना हमे मुक्ति नही मिल सकती। आज विचार इस वात पर भी करना है कि जव मार्दव हमारा स्वभाव है तो वह हमारे जीवन मे प्रकट क्यो नही है ? तो विचार करने पर ज्ञात होगा कि जव तक मार्दव धर्म के विपरीत मान विद्यमान है तव तक वह मार्दव धर्म को प्रकट नही होने देगा। केवल मृदुता लाओ, ऐसा कहने से काम नही चलेगा किन्तु इसके विपरीत जो मान कषाय है उसे भी हटाना पड़ेगा। जैसे हाथी के ऊपर वदी का वैठना शोभा नही देता, ऐसे ही हमारी आत्मा पर मान का होना शोभा नही देता। यह मान कहाँ से आया ? यह भी जानना आवश्यक है। जव ऐसा विचार करेगे तो मालूम पडेगा कि अनन्त काल से यह जीवन के साथ है और एक तरह से जीव का धर्म जैसा वन वैठा है। इससे छुटकारा पाने के दो ही उपाय है या कहो अपने वास्तविक स्वरूप को पाने के दो ही उपाय है। एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप है। जैसे रोग होने पर कहा जाए कि आरोग्य लाओ, तो आरोग्य तो रोग के अभाव मे ही आयेगा। रोग के अभाव का नाम ही आरोग्य है। इसी प्रकार मृदुता को पाना हो तो यह जो कठोरता आकर छिपकर वैठी है उसे हटाना होगा। जानना होगा कि इसके आने का मार्ग कौन सा है, उसे वुलाने वाला और इसकी व्यवस्था करने वाला कौन है? तो आचार्य कहते है कि हम ही सव कुछ कर रहे है। जैसे अग्नि राख से दवी हो तो अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती, ऐसे ही मार्दव धर्म की मालिक

हो जायेगी । सब से अलग हो जाऊँगा । लोग क्या कहेगे? हमने कहा कि ऐसा मन मे विचार ही क्यो लाते हो कि लोग क्या कहेगे ? अपने को प्रतिभा सम्पन्न होकर पढ़ना है । विद्यार्थी को तो विद्या से ही प्रयोजन होना चाहिये ।

आज यही हो रहा है कि व्यक्ति बाहरी चमक-दमक मे ऐसा झूम जाता है कि सारी की सारी शक्ति उसी मे व्यर्थ ही व्यय होती चली जाती है और वह लक्ष्य से चूक जाता है । यह सब मन का खेल है । मान कषाय है । मान-सम्मान की आकाक्षा काठिन्य लाती है और सबसे पहले मन मे कठोरता आती है, फिर बाद मे वचनो मे और तदुपरान्त शरीर मे भी कठोरता आने लगती है । इस कठोरता का विस्तार अनादिकाल से इसी तरह हो रहा है और आत्मा अपने मार्दव-धर्म को खोता जा रहा है । इस कठोरता का, मान कषाय का परित्याग करना ही मार्दव धर्म के प्रकटीकरण के लिए अनिवार्य है ।

आठ मदो मे एक मद ज्ञान का भी है । आचार्यों ने इसी कारण लिख दिया है कि–ज्ञानस्य फल कि ? उपेक्षा, अज्ञाननाशो वा'' उपेक्षा भाव आना और अज्ञान का नाश होना ही ज्ञान का फल है । उपेक्षा का अर्थ है रागद्वेष की हानि होना और गुणो का आदान (ग्रहण) होना । यदि ऐसा नहीं होता तो वह ज्ञान कार्यकारी नही है । 'ले दीपक कुऍं पड़े' वाली कहावत आती है कि उस दीपक के प्रकाश की क्या उपयोगिता जिसे हाथ मे लेकर भी यदि कोई कूप मे गिर जाता है । स्व-पर का विवेक होना ही ज्ञान की सार्थकता है । पर को हेय जानकर भी यदि पर के विमोचन का भाव जागृत नही होता और ज्ञान का मद आ जाता है कि मै तो ज्ञानी हूँ, तो हमारा यह ज्ञान एकमात्र बौद्रिक व्यायाम ही कहलायेगा ।

ज्ञान का अभिमान व्यर्थ है । ज्ञान का प्रयोजन तो मान की हानि करना है, पर अब तो मान ही हानि होने पर मानहानि का कोर्ट मे दावा होता है । मार्दव धर्म तो ऐसा है कि जिसमे मान की हानि होना आवश्यक है । यदि मान की हानि हो जाती है तो मार्दव धर्म प्रकट होने मे देर नही लगती ।

आप शान्तिनाथ भगवान के चरणो मे श्रीफल चढ़ाते है तो भगवान श्रीफल के रूप मे आपसे कोई सम्मान नही चाहते न ही हर्षित होते हैं, बल्कि वे तो अपनी वीतराग मुद्रा से उपदेश देते है कि जो भी मान कपाय है वह सब यहाँ लाकर विसर्जित कर दो । यह जो मन, मान कपाय का स्टोर बना हुआ है, उसे खाली कर दो । जिसका मन, मान कषाय से खाली है वही वास्तविक ज्ञानी है । उसी के लिए केवलज्ञान रूप प्रमाण-ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है । वही तीनो लोको मे सम्मान पाता है ।

हम पूछते है कि आपको केवलज्ञान चाहिये या मात्र मान-कषाय चाहिये ? तो कोई भी कह देगा कि हमे केवलज्ञान चाहिये । लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति तो अपने स्वरूप की ओर, अपने मार्दव धर्म की ओर प्रयाण करने से होगी । अभी तो हम स्वरूप से विपरीत की प्राप्ति होने मे ही अभिमान कर रहे है । वास्तव मे देखा जाए तो इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नही है । इन्द्रिय-

ज्ञान तो पराश्रित ज्ञान है। स्वाश्रित ज्ञान तो आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। जो इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय के विषयो मे आसक्त नहीं होता, वह नियम से अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ दशा को प्राप्त कर लेता है।

'मनोरपत्य पुमान्निति मानव '[१] कहा गया है कि मनु की सतान मानव है। मनु को अपने यहाँ कुलकर माना गया है। जो मानवो को एक कुल की भाँति एक साथ इकट्ठे रहने का उपदेश देता है, वही कुलकर है। सभी समान भाव से रहे। छोटे-वड़े का भेदभाव न आवे तभी मानव होने की सार्थकता है। अपने मन को वश मे करने वाले ही महात्मा माने गये हैं। मन को वश मे करने का अर्थ मन को दवाना नही है, वल्कि मन को समझाना है। मन को दवाने और समझाने मे वड़ा अन्तर है। दवाने से तो मन और अधिक तनाव-ग्रस्त हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु मन को यदि समझाया जाये तो वह शान्त होने लगता है। मन को समझाना, उसे प्रशिक्षित करना, तत्व के वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाना ही वास्तव मे, मन को अपने वश मे करना है। जिसका मन सवेग और वैराग्य से भरा है वही इस ससार से पार हो पाता है। जैसे घोड़े पर लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। ऐसे ही मन पर यदि वैराग्य की लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य-मोक्ष तक ले जाने मे सहायक होता है।

सभी दश धर्म आपस मे इतने जुड़े हुए हैं कि अलग-अलग होकर भी सम्वन्धित है। मार्दव धर्म के अभाव मे क्षमा धर्म रह पाना सभव नही है, और क्षमा धर्म के अभाव मे मार्दव धर्म टिकता नही है। मान-सम्मान की आकाक्षा पूरी नही होने पर ही तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। मृदुता के अभाव मे छोटी सी वात से मन को ठेस पहुँच जाती है और मान जागृत हो जाता है। जव मान जागृत होता है तो क्रोध की अग्नि भड़कने मे देर नही लगती।

द्वीपायन मुनि रत्नत्रय को धारण किये हुए थे। वर्षो की तपस्या साथ थी। उस तपस्या का फल, चाहते तो मीठा भी हो सकता था किन्तु वे द्वारिका को जलाने मे निमित्त वन गये। दिव्यध्वनि के माध्यम से जव उन्हे ज्ञात हुआ कि मेरे निमित्त से वारह वर्ष के वाद द्वारिका जलेगी तो यह सोचकर वे द्वारिका से दूर चले गये कि कम से कम वारह वर्ष तक अपने को द्वारिका की ओर जाना ही नही है। समय वीतता गया और वारह वर्ष वीत गये होंगे—ऐसा सोचकर वे विहार करते हुए द्वारिका के समीप एक वगीचे मे आकर ध्यानमग्न हो गये। वही यादव लोग आये और द्वारिका के वाहर फेंकी गई शराव को पानी समझकर पीने लगे। मदिरापान का परिणाम यह हुआ कि यादव लोग नशे मे पागल होकर द्वीपायन मुनि को देखकर गालियाँ देने लगे, पत्थर फेंकने लगे। जव वहुत देर तक यह प्रक्रिया चलती रही और द्वीपायन मुनि को सहन नही हुआ तो तैजस ऋद्धि के प्रभाव से द्वारिका जलकर राख हो गयी। तन तो सहन कर सकता था लेकिन मन सहन नही कर सका और क्रोध जागृत हो गया।

महाराज जी (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी) ने एक वार उदाहरण दिया था। वही आपको सुनाता हूँ। एक गांव का मुखिया था। सरपच था। उसी का यह प्रपञ्च है। आप हँसिये

मत । उसका प्रपञ्च सवको दिशावोध देने वाला है । हुआ यह कि एक वार उससे कोई गल्ती हो गयी और उसे दड सुनाया गया । समाज गल्ती सहन नही कर सकती ऐसा कह दिया गया और लोगो ने इकट्ठे होकर उसके घर जाकर सारी वात कह दी । घर के भीतर उसने भी स्वीकार कर लिया कि गल्ती हो गयी, मजवूरी थी । पर इतने से काम नही चलेगा । लोगो ने कहा कि यही वात मञ्च पर आकर सभी के सामने कहना होगी कि मेरी गल्ती हो गयी और मै इसके लिए क्षमा चाहता हूँ । फिर दण्ड के रूप मे एक रुपया देना होगा । एक रुपया कोई मायने नही रखता । वह व्यक्ति करोड़ रुपया देने के लिए तैयार हो गया लेकिन कहने लगा कि मञ्च पर आकर क्षमा मागना तो सम्भव नही हो सकेगा । मान खण्डित हो जायेगा । प्रतिष्ठा मे वट्टा लग जाएगा । आज तक जो सम्मान मिलता आया है वह चला जायेगा ।

सभी ससारी जीवो की यही स्थिति है । पाप हो जाने पर, गल्ती हो जाने पर कोई अपनी गलती मानने को तैयार नही है । असल मे भीतर मान कपाय वेठा है वह झुकने नही देता । पर हम चाहे तो उसकी शक्ति को कम कर सकते है, और चाहे तो अपने परिणामो से उसे सक्रमित (ट्रासफर्ड) भी कर सकते है । उसे अगर पूरी तरह हटाना चाहे तो आचार्य कहते है कि एक ही मार्ग है—समता भाव का आश्रय लेना होगा । अपने शान्त और मृदु स्वभाव का चिन्तन करना होगा । यही पुरुपार्थ मान-कपाय पर विजय पाने के लिए अनिवार्य है ।

आत्मा की शक्ति और कर्म की शक्ति इन दोनो के वीच देखा जाये तो आत्मा अपने पुरुपार्थ के वल से आत्म-स्वरूप के चिन्तन से मान कपाय के उदय मे होने वाले परिणामो पर विजय प्राप्त कर सकता है । मान को जीत सकता है । इतना सयम तो कपायो को जीतने के लिए आवश्यक ही है । सम्यग्दर्शन तो जीव जन्म से ही लेकर आ सकता है लेकिन मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ जो विशुद्धि चाहिये वह चारित्र के द्वारा ही आयेगी । वह अपने आप आयेगी, ऐसा भी नही समझना चाहिये । आचार्यो ने कहा है कि आठ साल की उम्र होने के उपरान्त कोई चाहे तो सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र को अङ्गीकार कर सकता है । लेकिन चारित्र अङ्गीकार करना होगा, तभी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और मुक्ति मिलेगी । कपायो पर विजय पाने योग्य समता परिणाम चारित्र को अङ्गीकार किये विना आना/होना सभव नही है । आत्मा की अनन्त शक्ति भी सम्यक्चारित्र धारण करने पर ही प्रकट होती है ।

एक वात और कहूँ कि सभी कपाये परस्पर एक दूसरे के लिए कारण भी वन सकती है । जैसे मान को ठेस पहुँचती है तो क्रोध आ जाता है । मायाचारी आ जाती है । अपने मान की सुरक्षा का लोभ भी आ जाता है । एक समय की वात है कि एक व्यक्ति एक सन्त के पास पहुँचा । उसने सुन रक्खा था कि सन्त वहुत पहुँचे हुए है । उसने पहुँचते ही पहले उन्हे प्रणाम किया और विनयपूर्वक वैठ गया । चर्चा वार्तालाप के वाद उसने कहा कि आप हमारे यहाँ कल का आतिथ्य स्वीकार करिये । अपने यहाँ हम आपको कल के भोजन के लिए

निमन्त्रित करते है । सन्त जी निमन्त्रण पाने वाले रहे होगे, इसलिए निमन्त्रण मान लिया । देखो निमन्त्रण 'मान' लिया, इसमे भी 'मान' लगा है ।

दूसरे दिन ठीक समय पर वह व्यक्ति आदर के साथ उन्हे घर ले गया, अच्छा आतिथ्य हुआ । मान-सम्मान भी दिया । अन्त मे जव सन्त जी लौटने लगे तो उस व्यक्ति ने पूछ लिया कि आपका शुभ नाम मालूम नही पड सका । आपका शुभ नाम मालूम पड़ जाता तो बड़ी कृपा होती । सन्त जी ने बड़े उत्साह से वताया कि हमारा नाम शान्तिप्रसाद है । वह व्यक्ति वोला वहुत अच्छा नाम है । मै तो सुनकर धन्य हो गया, आज मानो शान्ति मिल गयी । वह उनको भेजने कुछ दूर दस बीस कदम साथ गया और उसने फिर से पूछ लिया कि क्षमा कीजिये, मेरी स्मरण शक्ति कमजोर है । मै भूल गया आपने क्या नाम वताया था ? सन्त जी ने उसकी ओर गौर से देखा और कहा कि शान्तिप्रसाद, अभी तो मैने वताया था । वह व्यक्ति बोला हॉ ठीक-ठीक ध्यान आ गया आपका नाम शान्तिप्रसाद है । अभी जरा दूर और पहुँचे थे कि पुन वह व्यक्ति वोला कि क्या करूँ ? कैसा मेरा कर्म का तीव्र उदय है कि मै भूल-भूल जाता हूँ । आपने क्या नाम वताया था ? अव की वार सन्त जी ने घूरकर उसे देखा और वोले शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद--मैने कहा ना । वह व्यक्ति चुप हो गया और आश्रम पहुॅचते-पहुॅचते जव उसने तीसरी वार कहा कि एक वार और वता दीजिये आपका शुभ नाम । उसे तो जितनी वार सुना जाए उतना ही अच्छा है । अव सन्त जी की स्थिति विगड़ गयी, गुस्से मे आ गये । वोले क्या कहता है तूँ । कितनी वार तुझे वताया कि शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद । वह व्यक्ति मन ही मन मुस्कराया और वोला, मालूम पड गया है कि नाम आपका शान्तिप्रसाद है पर आप तो ज्वालाप्रसाद है । अपने मान को अभी जीत नही पाया, क्योकि मान को जरा सी ठेस लगी और क्रोध की ज्वाला भड़क उठी ।

वधुओ ! ध्यान रखो जो मान को जीतने का पुरुषार्थ करता है वही मार्दव धर्म को अपने भीतर प्रकट करने मे समर्थ होता है । पुरुषार्थ यही है कि ऐसी परिस्थिति आने पर हम यह सोचकर चुप रह जाये कि यह अज्ञानी है । मुझसे हॅसी कर रहा है या फिर सम्भव है कि मेरी सहनशीलता की परीक्षा कर रहा है । उसके साथ तो हमारा व्यवहार, माध्यस्थ भाव धारण करने का होना चाहिये । कोई वचन व्यवहार अनिवार्य नही है । जो विनयवान हो, ग्रहण करने की योग्यता रखता हो, हमारी वात समझने की पात्रता जिसमे हो, उससे ही वचन व्यवहार करना चाहिये । ऐसा आचार्यो ने कहा है । अन्यथा 'मौन सर्वत्र साधनम्'—मौन सर्वत्र/सदैव अच्छा साधन है ।

द्वीपायन मुनि के साथ यही तो हुआ कि वे मौन नही रह पाये, और यादव लोग भी शराव के नशे मे आकर मौन धारण नही कर सके । 'मदिरापानादिभि मनस पराभवो दृश्यते'[१]—मदिरा पान से मन का पराभव होते देखा जाता है । पराभव से तात्पर्य है पतन की ओर चले जाना । अपने सही स्वभाव को भूलकर गलत रास्ते पर मुड़ जाना । गाली के शब्द तो किसी के भी कानो मे पड़ सकते है लेकिन ठेस सभी को नही पहुँचती । ठेस तो उसी

के मन को पहुँचती है जिसे लक्ष्य करके गाली दी जा रही है। या जो ऐसा समझ लेता है कि गाली मुझे दी जा रही है। मेरा अपमान किया जा रहा है।

द्वीपायन मुनि के भीतर तो यही श्रद्धान था कि मैं मुनि हूँ। मेरा वैभव समयसार है। समता परिणाम ही मेरी निधि है। मार्दव मेरा धर्म है। मैं मानी नहीं हूँ, लोभी नहीं हूँ। मेरा यह स्वभाव नहीं है। रत्नत्रय धर्म उनके पास था, उसी के फलस्वरूप तो उन्हें ऋद्धि प्राप्त हुई थी। लेकिन मन में पर्याय बुद्धि जागृत हो गयी कि गाली मुझे दी जा रही है। आचार्य कहते हैं कि 'पज्जयमूढ़ा हि परसमया'' जो पर्याय में मुग्ध है, मूढ़ है वह पर-समय है। पर्याय का ज्ञान होना बाधक नहीं है परन्तु पर्याय में मूढ़ता आ जाना बाधक है। पर्याय बुद्धि ही मान को पैदा करने वाली है। पर्याय बुद्धि के कारण उनके मन में आ गया कि ये मेरे ऊपर पत्थर बरसा रहे हैं, मुझे गाली दी जा रही है और उपयोग की धारा बदल गयी। उपयोग में उपयोग को स्थिर करना था, पर स्थिर नहीं रख पाये। उपयोग आत्म-स्वभाव के चिन्तन से हटकर बाहर पर्याय में लग गया और मान जागृत हो गया।

जो अपने आप में स्थित है, स्वस्थ है उसे मान-अपमान सब बराबर है। उसे कोई गाली भी दे तो वह सोचता है कि अच्छा हुआ अपनी परख करने का अवसर मिल गया। मालूम पड़ जायेगा कि कितना मान कषाय अभी भीतर शेष है। यदि ठेस नहीं पहुँचती तो समझना कि उपयोग, उपयोग में है। ज्ञानी की यही पहचान है कि वह अपने स्वभाव में अविचल रहता है। वह विचार करता है कि दूसरे के निमित्त से मैं अपने परिणाम क्यों बिगाड़ूँ? अगर अपने परिणाम बिगाड़ूँगा तो मेरा ही अहित होगा। कषाय दुःख की कारण है। मान-भाव दुःख ही है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है 'दुःखमेव वा'' आनन्द तो तब है जब दुःख भी सेवा हो जाये। सुख और दुःख दोनों में साम्य भाव आ जाये।

मान कषाय का विमोचन करके ही हम अपने सही स्वास्थ्य का अनुभव कर सकते हैं, साम्य भाव ला सकते हैं। जैसे दूध उबल रहा है अब उसको अधिक नहीं तपाना है तब या तो उसे सिगड़ी से नीचे उतार कर रख दिया जाता है या फिर अग्नि को कम कर देते हैं। तब अपने आप वह धीरे-धीरे अपने स्वभाव में आ जाता है, स्वस्थ हो जाता है अर्थात् शान्त हो जाता है और पीने योग्य हो जाता है। ऐसे ही मान कषाय के उबाल से अपने को बचाकर हम अपने स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। मान का उबाल शान्त होने पर ही मार्दव धर्म प्राप्त होता है। मान को अपने से अलग कर दें या कि अपने को ही मान कषाय से अलग कर लें, तभी मार्दव धर्म प्रकट होगा।

अन्त में इतना ही ध्यान रखिये कि अपने को शान्तिस्वाद जैसा नहीं करना है। हाँ, यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करे तो अपने को शान्तिभाव से सहन करना नहीं भूलना है। अपने परिणामों को सँभालना अपने आत्म परिणामों की सँभाल करना ही धर्म है। यही करने योग्य कार्य है। जिन्होंने इस करने योग्य कार्य को समझ कर लिया

वे ही कृतकृत्य कहलाते हैं। वही सिद्ध परमेष्ठी कहलाते है, जिनकी मृदुता को अब कोई खण्डित नही कर सकता। हम भी मृदुता के पिण्ड बने और जीवन को सार्थक करे।

मार्दव धर्म –

१ (अ) अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् परीक्षामुख सूत्र-५/९

(ब) ज्ञस्वभावस्यात्मन कर्ममलीमसस्य करणालम्वनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो व फलम्–सर्वार्थसिद्धि १/१०/१७०/७०५

२ कातन्त्ररूपमाला–प्रथम सदर्भ, सूत्र ४९३

३ तेषा मन प्राणापानाना मूर्तिमत्वमवसेयम्। कुत ? मूर्तिमद्भि प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिमयहेतुभिरशनिपातादिभिर्मनस प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाभिभव सर्वार्थसिद्धि ५/१९/५६३/२१९

४ अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहि पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥

प्रवचनसार-द्वितीय अधिकार (गाथा-१)

५ तत्वार्थसूत्र, ७/१०
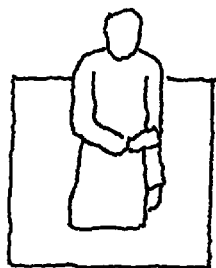
उत्तम आर्जव

- मोत्तूण कुडिलभाव
  णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
  अज्जवधम्म तइयो,
  तस्स दु सभवदि णियमेण ।।

जो मनस्वी पुरुप कुटिल भाव या मायाचारी परिणामो को छोडकर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है । (७३)

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'[1] योगो की वक्रता न होना ही आर्जव धर्म है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे कहा है। मन, वचन और काय इन तीनो की क्रियाओ मे वक्रता नही होने का नाम 'आर्जव' है। ऋजोर्भावो आर्जवम् ऋजुता का भाव ही आर्जव है। ऋजुता का अर्थ है सीधापन। ध्यान करते समय ध्यान के काल मे आनन्द कव आता है ? कौन सी वह घडी है जो आनन्द लाती है ? तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि घडी देखते हुए ध्यान करने वालो के जीवन मे ऐसी घडी नही आयेगी क्योकि आपका मन अपने मे लीन नही है। अपनी सीमा का उल्लघन कर रहा है। अपनी सीमा से यहाँ तात्पर्य है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सीमित करना और उसमे वक्रता नही आने देना। सीधे होने के उपरान्त ही एकाग्रता सम्भव होती है और एकाग्रता आये तो आनन्द की प्राप्ति स्वत होने लगती है।

ध्यान मे एकाग्रता लाने के लिए ध्यान मे वैठने से पहले समझाया जाता है कि रीढ़ की हड्डी सीधी करके वैठना। जिस व्यक्ति के अभी रीढ मे सीधापन नही आया, शरीर मे सीधापन नही आया, वह ध्यान मे एकाग्रता कैसे ला पायेगा ? जीवन की रीढ़ सीधी होनी चाहिये, क्योकि चारित्र ही जीवन की रीढ है। यदि वह न हो अथवा हो पर वक्र हो, तव आर्जव धर्म नही आ पायेगा।

विषय-कषाय मे उलझे हुए उपयोग को वहाँ से हटाकर योग की ओर ले आना और फिर योगो की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोककर दृष्टि को अपने मे स्थिर करना, सीधे अपने से सम्पर्क करना, एक पर टिक जाना, प्रकपित नही होना, चचल नही होना ही ऋजुता है। यही आर्जव-धर्म है। जैसे जल के पास शीतलता है, तरलता भी है, अग्नि वुझाने की क्षमता भी है और वहने का स्वभाव भी है। इसके अलावा कोई आकर उसमे अपना मुख देखना चाहे तो झाँकने पर मुख भी दिख जाता है। यह जल की विशेषता है। लेकिन यदि जल स्पन्दित हो, तरगायित हो, हवा के झोको से उसमे लहरे उठ रही हो, तव आप उस जल मे सामने जाकर भी अपना मुख नही देख पायेगे। जल मे क्षमता होते हुए भी उस समय वह प्रकट नही है क्योकि जल तरङ्गित हो गया है। इस प्रकार योगो के माध्यम से आत्मा मे होने वाले परिस्पन्दन के समय आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप मे अनुभव नही किया जा सकता।

एक वात और है कि यदि जल शान्त भी हो और हमारी दृष्टि चलायमान हो, तो भी जल के तल मे पड़ी वस्तु देखने मे नही आयेगी। लेकिन जो व्यक्ति जल की वक्रता होते हुए भी अपनी दृष्टि को निष्पन्द कर लेता है तो वह लहरो को भेदकर भीतर की वस्तु को देखने मे भी समर्थ हो जाता है। जिसकी दृष्टि मे एकाग्रता रहती है उसको नियम से उस लहरो मे भी रास्ता मिल जाता है। इसी प्रकार साधक को अपने मन-वचन और काय की चञ्चलता के वीच एकाग्र होकर अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करने का प्रयास करना चाहिये।

अपने यहाँ भेद विज्ञान की वड़ी विशेषता वतायी गयी है। भेद -विज्ञान का अर्थ इतना ही नहीं है कि जो वहुत सारे मिले-जुले पदार्थ है, उन्हे अलग-अलग करना, किन्तु भेद विज्ञान का अर्थ यह भी है कि भेद करके भीतर पहुँच जाना। लहरो के कारण वस्तु हमे ऊपर देखने मे नही आती, लेकिन यदि हम भीतर डूव जाये तो ऊपर उठने वाली लहरो के कारण भीतर किसी भी प्रकार की वाधा नही पहुँच सकती। जो व्यक्ति एक वार वस्तु के स्वरूप मे डूव जाता है तो फिर वाह्य मे पर्याय की चञ्चलता उसे बाधक नही वनती। अभी जिसकी दृष्टि मे भेदने की क्षमता नही आयी तो वह ऊपर उठने वाली लहरो के समान पर्यायो को ही देखेगा और उन्ही मे उलझता रहेगा। उन्ही को लेकर रागद्वेष करता रहेगा। वह जितना-जितना रागद्वेष के माध्यम से उलझेगा, उतना-उतना स्वय को देख नही पायेगा। वह कहेगा अवश्य कि देख रहा हूँ, लेकिन मात्र सतह को ही देख पायेगा।

किसी को वुखार आ जाता है तो कोई हकीम-वैद्य की तरह हाथ की नव्ज देखने लगे, तो क्या देखेगा ? केवल नाड़ी की फड़कन को ही देख पायेगा। फड़कन देखना तो आसान है, उसे सभी देख लेते है लेकिन भीतर कहाँ क्या रोग हुआ है, इसका ज्ञान तो नाड़ी के विशषज्ञ को ही हो सकता है, क्योकि नाड़ी का स्पन्दन भीतर की व्याधि की सूचना देता है। अकेले नाड़ी की फड़कन को देखना जैसे पर्याप्त नही है इसके माध्यम से भीतर की व्याधि को जानना भी आवश्यक है, इसी प्रकार 'भेद कृत्वा यद् विज्ञान तद् भेदविज्ञानम्' या कहो कि 'भेदस्य यद्विज्ञान तद् भेदविज्ञानम्'--भेद करके जो जानता है वह भेद विज्ञानी है अथवा भेद को अर्थात् भीतरी रहस्य को जो जानता है वह भेदविज्ञानी है।

जिन परमपैनी सुवुधि छैनी, डारि अतर भेदिया।
वर्णादि अरु रागादि तै निजभाव को न्यारा किया॥[१]

भेद विज्ञान रूपी अत्यन्त पैनी छैनी के द्वारा, जो एक जैसा दिखाई पड़ रहा है, वह पृथक्-पृथक् हो जाये। उसका भेद समझ मे आ जाये, तो अपने निज-स्वभाव को उससे पृथक् किया जा सकता है। एक हस होता है तथा एक वगुला होता है। दोनो सफेद होते है और दोनो की चोच होती है लेकिन हस की चोच के भीतर ऐसी विशेषता है कि वह दूध और जल को पृथक्-पृथक् वना देता है और दूध का आसानी से सेवन करता रहता है और जल को छोड़ता जाता है ? तात्पर्य यह हुआ कि जिसके पास भेद-विज्ञान आ जाता है वह सीधे अपनी निजी वस्तु तक पहुँच जाता है और व्यर्थ के रागद्वेष मे नही उलझता।

जव तक हम इस रागद्वेप मे उलझते रहेगे तव तक हम अपने भीतर वहाँ नही पहुँच पायेगे जहाँ ऋजुता का पारावार है। वास्तव मे देखा जाये तो दूसरे की ओर जाना ही टेढ़ापन है। रागद्वेप करना ही उलझना है। अपनी ओर आना हो तो सीधेपन से ही आना सम्भव है। रागद्वेप के अभाव मे ही सुलझा जा सकता है। जैसे सीधी तलवार हो तो ही म्यान मे जायेगी किन्तु यदि टेढ़ी हो तो नही जायेगी। ऐसे ही यदि ज्ञान का विपय सीधा ज्ञान ही

बन जाये तो नियम से समझना काम हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञान का विषय हम अन्य किसी को बनाते है और बाह्य पदार्थो के साथ अपने ज्ञान को जोडते है तो वक्रता नियम से आयेगी, रागद्वेष रूपी उलझन खड़ी हो जायेगी।

जैसे सीधे देखते है तो कोई एङ्गल (कोण) नही बनता, टेढापन नही आता। यदि थोड़ा भी अपने सिवाय कोई आजू-बाजू की वस्तुओ पर दृष्टिपात करता है तो ऑख को मोड़ना पड़ेगा और कोण बन जायेगा अर्थात् दृष्टि मे वक्रता आ जायेगी। इसी प्रकार मोह-माया के वशीभूत होकर यह जीव अपने-अपने स्वभाव की ओर जब तक दृष्टिपात नही करता जो कि बिल्कुल सीधा है, तो नियम मे वक्रता आती है। अपने स्वभाव से स्खलित होना पड़ता है। आर्जव धर्म अपने स्वभाव की ओर सीधे गमन करने पर ही सम्भव है।

बच्चो को आनन्द तभी आता है जब वे सीधे-सीधे न भागकर टेढ़े-मेढे भागते है। यही दशा वैभाविक दशा मे ससारी प्राणी की है। उसे टेढ़ेपन मे ही आनन्द आता है जबकि वह आनन्द नहीं है। वह तो मात्र सुखाभास है, जो दु ख रूप ही है। विभाव रूप परिणति का नाम ही एक प्रकार से वक्रता है। जल मे कोई चीज डालो तो सीधी नही जाती, यहाँ-वहाँ होकर नीचे जाती है। जैसे ही ससार मे जब तक जीव रागद्वेष-मोह के साथ है तब तक वह चलेगा भी, तो जल मे डाली गयी वस्तु के समान ही टेढा चलेगा, सीधा नही चलेगा। उसका कोई भी कार्य सीधा नही होता। आप देख लीजिये आपके देखने मे टेढ़ापन, आपके चलने मे टेढ़ापन, आपके खाने-पीने, उठने-बैठने मे टेढ़ापन, बोलने और यहाँ तक कि सोचने मे भी टेढ़ापन है। सोचना स्वय ही स्पन्दन रूप है अर्थात् विभाव है और विभाव ही टेढापन है। वास्तव मे परमार्थ से देखा जाये, ऋजुता तो स्वभाव मे स्थित होने मे ही है। सिद्धत्व मे ही ऋजुता है, क्योंकि स्वभाव मे किसी भी प्रकार की विक्रिया सम्भव नही होती और विभाव मे किसी भी प्रकार की प्रक्रिया बिना विक्रिया के नही होती।

आपने युद्ध का वर्णन पुराणो मे पढ़ा होगा। देखा-सुना भी होगा। दो तरह के आयुध होते है। कुछ जो फेंककर युद्ध मे प्रयुक्त होते हैं वे 'अस्त्र' कहलाते है और कुछ हाथ मे लेकर ही लड़ाई की जाती है वे 'शस्त्र' कहलाते है। धनुष बाण अस्त्र है। बाण से निशाना साधने वाला कितना ही दक्ष क्यों न हो यदि वह बाण टेढ़ा है तो लक्ष्य तक, मजिल तक नही पहुँच पायेगा। पहले बाण का सीधा होना आवश्यक है फिर सीधा बाण लेकर जब निशाना साधते हैं तो दृष्टि मे निस्पन्दता होनी चाहिये और हाथ भी निष्कम्प होना चाहिये। हृदय मे धैर्य होना चाहिये। अब तो समय के साथ सब कुछ बदल गया। धनुष के स्थान पर बदूके आ गयी क्योंकि हृदय में, हाथ मे और दृष्टि में सभी मे चञ्चलता आती जा रही है। भय आता जा रहा है। आज तो छुप-छुप कर लड़ाई होती है। यह क्षत्रियता नहीं है, यह वीरता नहीं है बल्कि यह तो कायरता है। यह ऋजुता नहीं बल्कि वक्रता का परिणाम है।

आज का जीवन भय से इतना ग्रस्त हो गया है कि किसी के प्रति मन मे सरलता नहीं रही। आज आणविक-शक्ति का विकास हो रहा है। दूसरे पर निगाह रखने के लिए राडार

का उपयोग किया जा रहा है लेकिन यह सब चञ्चलता का सूचक है। जिस दिन यह चञ्चलता अधिक बढ़ जायेगी उसी दिन विस्फोट हो जायेगा और विनाश होने मे देर नही लगेगी। बधुओ ! सुरक्षा तो सरलता मे है। एकाग्रता मे नही। वक्रता या चञ्चलता मे सुरक्षा कभी सम्भव नही है।

आपने दीपक की लौ देखी होगी उससे प्रकाश होता रहता है और ऊष्मा भी निकलती रहती है। लेकिन यदि दीपक की लौ स्पन्दित हो तो प्रकाश मे तेजी नही रहती। आप इस प्रकाश मे पढ़ना चाहे तो आसानी से पढ़ नही सकते और दूसरी बात यह है कि उस समय ऊष्मा भी कम हो जाती है। सीधी निष्पन्द जलती हुई लौ पर हाथ रखो तो फौरन जलन होने लगेगी। लेकिन यदि लौ हिल रही हो, प्रकम्पित हो तो हाथ रखने पर एकदम नही जलता। कुछ गरमाहट तो होती है लेकिन तीव्र जलन नही होती। कारण यही है कि लौ मे एकाग्रता होने पर उसमे प्रकाश और ऊष्मा की सामर्थ्य अधिक बढ जाती है। लेकिन हवाओ के माध्यम से जब वही लौ चञ्चल हो जाती है, स्पन्दित होने लगती है, उसमे टेढापन आ जाता है, वक्रता आ जाती है तो उसकी सामर्थ्य कमजोर पड जाती है। इसी प्रकार जब तक हमारा ज्ञान, माया रूपी हवाओ से स्पन्दित होता रहता है तब तक उसमे एकाग्र होने और जलाने की क्षमता अर्थात् कर्मो को जलाने या कर्मो की निर्जरा करने की क्षमता नही आ पाती। इसीलिए हमे अपने ज्ञान को एकाग्र अर्थात् सीधा बनाना चाहिये। ज्ञान की वक्रता यही है कि वह पर पदार्थो को अपना मानकर उनकी ओर मुड़ने लग जाता है। उनमे उलझने लग जाता है और यदि वह पर पदार्थो को पकड़ने के लिए न जाये, अपने मे स्तब्ध, स्थिर एव एकाग्र हो जाये तो वही ज्ञान कर्मो की निर्जरा मे सहायक हो जाता है।

"ज्ञान का दूसरे की ओर ढुलक जाना ही दीनता है और ज्ञान का ज्ञान की ओर वापिस आना ही स्वाधीनता है।" धन्य है वह ज्ञान जो पर पदार्थो की आधीनता स्वीकार नही करता धन्य है वह ज्ञान जो बिल्कुल टङ्कोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक पिण्ड की तरह रहा आता है। धन्य है वह ज्ञान जिस ज्ञान मे तीन लोक पूरे के पूरे झलकते है, लेकिन फिर भी जो अपने आत्म आनन्द मे लीन है।

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस-विहीन॥

ससारी प्राणी ज्ञान की चञ्चलता के कारण या कहे ससार मे भटकने और उलझने की इच्छा के कारण त्रस्त हो रहा है और दीन-हीन हो रहा है। अपने स्वभाव की ओर देखने का पुरुषार्थ करे तो सुलझने मे देर नही लगेगी। जिस प्रकार खाया हुआ अन्न देह मे, रग-रग मे मिलकर रुधिर बन जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन मे सरलता या सुलझापन हमारा अभिन्न अङ्ग बन जाये तो जीवन धन्य एव सार्थ हो जावेगा।

अपव्यय के रूप मे उस कार मे से एक बूँद भी पेट्रोल नीचे नही गिरा। मशीन भी ठीक काम कर रही थी पर देखा गया कि कार रुक गयी। उसमे एक बूँद पेट्रोल भी नही

वचा। अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए जितना पेट्रोल आवश्यक था उतना उसमे डाला गया था लेकिन वह पहले ही कैसे समाप्त हो गया ? तव उस चलाने वाले ने कहा कि कार तो और अधिक भी चल सकती थी, लेकिन रुकने का कारण यही है कि रास्ते की वक्रता के कारण पेट्रोल अधिक खर्च हुआ और दूरी कम तय की गयी। अगर रास्ता सीधा हो तो इतने ही पेट्रोल से अधिक दूरी तक कार को ले जाया जा सकता था। यदि सरल-पथ हो तो वह लाभ मिल सकता है।

वधुओ ! आज आर्जव-धर्म की वात है। ऋजुता के अभाव मे जव जड पदार्थ भी ठीक काम नही कर सकता, तो फिर चेतन को तनाव तो होता ही। वक्रता तनाव उत्पन्न करती है। हमारे उपयोग मे वक्रता होने के कारण मन मे वक्रता, वचन मे वक्रता और काय-चेष्टाओ मे भी वक्रता आ जाती है। जैसा हम चाहते है, जैसा मन मे विचार आता है, वैसा ही हम उपयोग को वदलना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन यह ठीक नही है। यही तनाव का कारण वनता है। वास्तव मे जैसा हम चाहते है उसके अनुसार नही, वल्कि जैसी वस्तु है उसके अनुसार हम अपने उपयोग को वनाने की चेष्टा करे तो ऋजुता आयेगी। हमे जानना चाहिये कि उपयोग के अनुरूप वस्तु का परिणमन नही होता। किन्तु ज्ञेयभूत वस्तु के अनुरूप ज्ञान जानता है, अन्यथा वह ज्ञान अप्रमाणता की कोटि मे आ जाता है।

विचार करे वक्रता कैसे आती है और क्यो आती है ? तो वात ऐसी है कि जिस प्रकार के जीवन को हम जीना चाहते है या जिस जीवन के आदी वन चुके हैं उसी के अनुसार ही सव कुछ होता चला जाता है। जैसे किसी पौधे को कोई कुछ प्रवन्ध करके सीधा ऊपर ले जाने की चेष्टा करे तो वह पौधा सीधा ऊपर वढ़ने लगता है। यदि कोई प्रवन्ध नही किया जाए तो नियम से पौधा विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ मे वँटकर यहाँ वहाँ फैलने लग जाता है और उसकी ऊर्ध्वगति रुक जाती है। इसी प्रकार यदि हम अपनी शक्ति को इधर-उधर नही दौड़ाते तो हमारी यह शक्ति एक ही दिशा मे लगकर अधिक काम कर सकती है। लेकिन आज टेढ़ा-मेढ़ा चलना ही ससारी प्राणी का स्वभाव जैसा हो गया है ओर निरन्तर इसी मे शक्ति का अपव्यय हो रहा है। वक्रता वढ़ती जा रही है। वक्रता का ससार दिनोंदिन और मजवूत होता जा रहा हे।

सरलता की शक्ति को पहचानना होगा। सरलता की शक्ति अद्भुत हे। आज जो कार्य यन्त्र नही कर सकता, पहले वही कार्य मनुष्य मन्त्र के माध्यम से अपनी शक्ति को एक दिशा मे लगाकर कर लेता था। वात ऐसी है कि धारणा के वल पर जिस क्षेत्र मे हम वढ़ने लग जाते है वहाँ पर वहुत कुछ साधना अपने आप होती चली जाती है। वस्तुत यह एक दृष्टिकोण का कार्य है। एक आपने विचार वना लिया, या जिस रूप मे धारणा वना ली, उसी रूप मे वह वस्तु देखने मे आने लगती है। जिस दिशा मे हमारी दृष्टि सीधी-साफ होती हे उसी दिशा मे सफलता मिलना प्रारम्भ हो जाती है। वक्रता का अभाव और ऋजुता का सद्भाव होना चाहिये। जैसे आपकी दृष्टि किसी वस्तु को ज मान लीजिये पाषाण को देखने मे लगी है

और उसे साधना के बल से अनिमेष देखने लगे, तो सम्भव है कि उस दृष्टि के द्वारा पाषाण भी टूट सकता है और लोहा भी पिघल सकता है। इतनी शक्ति आ सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि को सीधा रखा जाए और प्राण-प्रण से उसी मे लगाया जाए।

मान लीजिये, आप बैठे है और जगह ऐसी है कि इधर-उधर जाने की कोई गुञ्जाइश नही है। अचानक एक बड़ा सा काला विच्छू पास बैठा हुआ दिख जाए तो मै पूछना चाहता हूँ कि आप अपने शरीर के किसी भी अङ्ग उपाङ्ग को हिलायेगे-डुलायेगे क्या ? नही हिलायेगे, वल्कि एकदम स्तब्ध से होकर बैठे रह जायेगे, जैसे कि कोई योगी ध्यान मे वैठा हो।

"सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण उपल खाज खुजावते ॥"

मन-वचन-काय की क्रियाओ का भली प्रकार निरोध करके जैसे कोई योगी अपनी आत्मा के ध्यान मे लीन हो जाता है। उसकी स्थिर-मुद्रा को देखकर वन मे विचरण करने वाले हिरण लोग उसे चट्टान समझकर अपने शरीर को रगड़ने लग जाते है। ऐसी ही दशा उस समय आपकी हो जायेगी। आपके पास यह शक्ति इस समय कहाँ से आ गयी ? वह कही अन्यत्र से नही आयी अपितु यह शक्ति तो पहले से ही विद्यमान थी। पर आप उस समय हिल जाते तो विच्छू ही आपको हिला देता। इसलिए प्राणो की रक्षा की बात आते ही आपने अपनी ऋजुता की शक्ति का पूर्ण निर्वाह किया। अपनी शक्ति का सही उपयोग किया।

प्रत्येक क्षेत्र मे यही वात है। आप चाहे तो धर्म के क्षेत्र मे भी यही वात अपना सकते है। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और शैक्षणिक आदि सभी विधाओ के लिए एकमात्र दृष्टि की ऋजुता ही उपयोगी है। यदि एक ही वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाए तो नियम से क्रान्ति घटित हो जायेगी। एक व्यक्ति बहुत ही प्रेम-भाव के साथ देखता है। उसकी दृष्टि मे सरलता होती है तो सामने वाला व्यक्ति भी उसकी और सहज ही आकृष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति जिसकी दृष्टि मे वक्रता है, जिसके भावो मे कुटिलता है तो उसे देखकर हर कोई उससे वचना प्रारम्भ कर देता है। जैसे मुस्कराती हुई माँ की दृष्टि ज्यो ही सीधी वच्चे के ऊपर पड़ती है तो वह वच्चा रोना भूल जाता है और देखने लगता है। इतना सरल हो जाता है कि सव कुछ भूलकर उसी सुख मे लीन हो जाता है। यही सरलता की वात है।

जव हम ज्यामेट्री (ज्यामिति) पढ़ते थे, उस समय की वात है। उसमे कई प्रकार के कोण वनाये जाते थे। एक सरल-कोण होता था। एक सौ अस्सी अश के कोण को सरल-कोण वोलते है। सरल कोण क्या है ? वह तो एक सीधी रेखा ही है। हमारी दृष्टि मे आज भी इतनी सरलता आ सकती है कि उसमे सरल-कोण वन जाये। हम सरलता के धनी वन सकते है। जिसकी दृष्टि मे ऐसा सरल कोण वन जाता है तो वह श्रमण वन जाता है। वह तीन-लोक मे पूज्य हो जाता है। लेकिन हमारे जीवन मे ऐसे वहुत कम समय आ पाते है जवकि दृष्टि मे सरल कोण वने और दृष्टि मे सरलता आये।

आँख के उदाहरण के माध्यम से हम और समझे कि हमारी दोनों ऑखो को दोनो ओर दाये-बाये अपनी विपरीत दिशा की ओर भेज करके सरल कोण बनाना चाहे तो यह सभव नहीं है। दो आँखो से हम दो काम नहीं कर सकते। जब वस्तु के ऊपर दोनो ऑखो की दृष्टि पड़ती है और दृष्टि चचल नहीं हो तो ही वस्तु सही ढग से दिखायी पड़ सकती है, अन्यथा नहीं। बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते है जो अपनी दृष्टि को स्थिर रख पाते है और सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते है। नासाग्र दृष्टि ही ऐसी सरल दृष्टि है जहाँ विपरीतता समाप्त हो जाती है और समता आ जाती है। दृष्टि वहाँ दृष्टि मे ही रह जाती है। दृष्टि का एक अर्थ यहाँ प्रमाण-ज्ञान से भी है और दृष्टि कोण का अर्थ नय ज्ञान से है।

'नयन' शब्द मे देखा जाए तो नय + न अर्थात् नयो के पार जो दृष्टि है वही वास्तव मे शात निर्विकल्प और सरल दृष्टि है। नयनो को विश्राम देना हो, आराम देना हो, उनकी पीड़ा दूर करना हो तो एक ही उपाय है कि दृष्टि को नासाग्र रखो। भगवान कैसे वैठे है? 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पे धरे।' हमारी यानी छद्मस्थो की दृष्टि वह मानी जाती है जो-पदार्थ की ओर जाने का प्रयास करती है। और सर्वज्ञ की दृष्टि वह है जिसमे पूरे के पूरे लोक के जितने पदार्थ है–भूत, अनागत और वर्तमान वे सब युगपत् दर्पण मे के समान झलक जाते है–

"तज्जयति पर ज्योति सम समस्तैरनन्तपर्यायै।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥"

उमास्वामी महाराज ने अपने तत्वार्थसूत्र मे कहा है कि 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।' और एकाग्रता का अर्थ बताते हुए अकलक स्वामी अपने तत्वार्थवार्तिक मे लिखते है कि 'व्यग्रतानिवृत्यर्थम् एकाग्रताशब्दस्य प्रयोग'–एकाग्रता शब्द का प्रयोग व्यग्रता के निरोध के लिए आया है। जहाँ पदार्थ को देखने की व्यग्रता नहीं है, वहीं दृष्टि सरल है। केवलज्ञान के लिए ऐसे ही ध्यान की आवश्यकता है। ऐसी ही एकाग्र अर्थात् सरल दृष्टि की आवश्यकता है। वस्तु को जानने के लिए व्यग्र हुए ज्ञान के द्वारा केवलज्ञान नहीं होगा। जब ज्ञान स्थिर हो जायेगा उसमे व्यग्रता रूप वक्रता का अभाव हो जाएगा, वह ध्यान मे ढल जायेगा तभी केवलज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक होगा।

पूरे आगम ज्ञान का अध्येता भी क्यो न हो वह भी तब तक मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता, अपनी आत्मा की अनुभूति मे लीन नहीं हो सकता जब तक कि उसकी व्यग्रता नहीं मिटती। जब तक कि दृष्टि रागद्वेष से मुक्त होकर सरल नहीं होती। व्यग्रता दूर करने के लिए ध्यान ही एकमात्र उपाय है। ध्यान के माध्यम से हम मन-वचन-काय की चेष्टाओ मे ऋजुता ला सकते है और इन योगो मे जितनी-जितनी ऋजुता/सरलता आती जायेगी, उपयोग मे भी उतनी-उतनी व्यग्रता/वक्रता धीरे-धीरे मिटती जायेगी।

आचार्यो ने वक्रता को माया-कषाय के साथ भी जोड़ा है और माया को तिर्यच आयु के लिए कारण बताया है। "माया तैर्यग्योनस्य।"–तिर्यक् शब्द का एक अर्थ तिरछा या वक्र

भी है। इधर-उधर दृष्टि का जाना ही दृष्टि की वक्रता है। इधर-उधर कौन देखता है? वही देखता है जिसके भीतर कुछ डर रहता है। आपने कबूतर को देखा होगा। एक दाना चुगता है लेकिन इस बीच इसकी दृष्टि पता नहीं कितनी बार इधर-उधर चली जाती है। मायाचारी व्यक्ति को दिशा जल्दी नहीं मिलती। मायाचारी तिर्यञ्च गति का पात्र इसी से बनता है।

माया अर्थात् वक्रता भी कई प्रकार की है अनन्तानुबधी जन्य वक्रता अलग है,अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषायजन्य वक्रता अलग है और सञ्ज्वलन की वक्रता अलग है। आचार्यो ने अनन्तानुबधी जन्य वक्रता के लिए बॉस की जड़ का उदाहरण दिया है। गाठो मे गाठ इस प्रकार उलझी रहती है कि उनको सीधा करना चाहो तो सीधी न हो। अप्रत्याख्यान जन्य वक्रता के लिए मेढे के सींगो का उदाहरण दिया है। मेढ़े के सींग घुमावदार होते है। प्रत्याख्यान की वक्रता गोमूत्र के समान कही है। उसमे जटिलता अपेक्षाकृत कम है और सञ्ज्वलन कषाय जन्य वक्रता खुरपे के समान है। जरा से ताप के द्वारा उसे सीधा किया जा सकता है। अब हमे देख लेना चाहिये कि हमारी उपयोग की स्थिति कैसी है ? उसमे वक्रता कितनी है और किस तरह की है, उसमे कितने घुमाव और कितने मोड है ?

इस वक्रता को निकालने के लिए पहले मृदुता की बड़ी आवश्यकता है। मृदुता के अभाव मे ऋजुता नहीं आती। जैसे किसी लोहे की सलाई मे वक्रता आ जावे तो उसको ताप देने के उपरान्त जब उसमें थोडी मृदुता आ जाती है तब एक दो बार घन उसके ऊपर पटक दिया जाए तो उसमे सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार कषायो की वक्रता निकालने के पहले रत्नत्रय धर्म को अगीकार करके तप करना होगा। तभी ऋजुता आयेगी और आर्जव धर्म फलित होगा। घर बैठे-बैठे उपयोग मे ऋजुता लाना सभव नहीं है। सलाई को लुहार के पास ले जाना होगा अर्थात् घर छोड़ना होगा। ऐसे ही तीर्थक्षेत्र पर आकर अपने उपयोग को गुरुओ के चरणो मे समर्पित करना होगा और वे जो तप इत्यादि बतायें इसे ग्रहण करके कषायो पर घन का प्रहार करना होगा, तभी उपयोग मे सरलता आवेगी।

आपने शुक्लपक्ष मे धीरे-धीरे उगते चन्द्रमा को देखा होगा। शुक्लपक्ष मे प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की एक कला खुलती है। लेकिन उसे देखना सम्भव नहीं है। दूज के दिन देखने मिले तो मिल सकता है। दूज के चन्द्रमा को कभी-कभी कवि लोग बङ्किम-चन्द्रमा भी कहते है। अर्थात् अभी चन्द्रमा मे वक्रता है, टेढ़ापन है और जैसे-जैसे चन्द्रमा अपने पक्ष को पूर्ण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी वक्रता कम होती जाती है, जब पक्ष पूर्ण हो जाता है तब वह बङ्किम चन्द्रमा नहीं बल्कि पूर्ण चन्द्रमा कहलाने लगता है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो ग्रन्थिया पडी है, उन ग्रथियो का विमोचन करके हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते है। महावीर भगवान का पक्ष अर्थात् उनका आधार लेकर जब हम धीरे-धीरे आगे बढेगे, तभी पूर्ण मगलता की प्राप्ति होगी। ग्रन्थियो का विमोचन करना अर्थात् निर्ग्रन्थ होना, चारित्र को अङ्गीकार करना पहले अनिवार्य है। बारहभावना मे प० दौलतराम जी कहते है कि –

'जो भाव मोहतै न्यारे दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जवै जिय धारै तव ही सुख अचल निहारै ।।'

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी धर्म को धारण करके सभी प्रकार की अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग ग्रन्थियो का विमोचन करके ही अचल सुख को पाया जा सकता है । अकेले कितावी ज्ञान से कुछ नहीं होगा ।

जीवन की प्रत्येक क्रिया मे धर्म का ध्यान रखना होगा । जिसके पास क्षमा धर्म है, वही क्रोध का वातावरण मिलने पर भी शान्त रहेगा । जिसके पास मान कषाय नहीं है वही लोगो के माध्यम से अपनी प्रशसा सुनकर भी समता-भाव धारण कर सकेगा । यथाजात निर्ग्रन्थ होकर ही कोई जीवन मे वास्तविक ऋजुता का दर्शन कर सकता है । कितावो मे, कोशो मे या मात्र शव्दो के माध्यम से धर्म का दर्शन नहीं हो सकता । इतना अवश्य है कि कुछ सङ्केत मिल सकते है । धर्म का दर्शन तो जीवन मे धर्म को अङ्गीकार करने पर ही होगा या जिन्होने धर्म को धारण कर लिया है उनके समीप जाने पर ही होगा । वालक अपनी मॉ के पास वैठकर अपने हृदय की हर वात वड़ी सरलता से कह देता है उसी प्रकार सरल हृदय वाला साधक जव यथाजात होकर सभी ग्रन्थियॉ खोल देता है और सीधा-सीधा अपने मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है तो उसके जीवन मे धर्म का दर्शन होने लगता है । वह स्वय भी धर्म का दर्शन करने लग जाता है ।

माया जव तक रहेगी, ध्यान रखना इस जीवन मे और अगले जीवन मे भी वह शल्य के समान चुभती रहेगी । मायावी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता । जिस समय कॉटा चुभ जाता है उस समय तत्काल भले ही दर्द अधिक न हो, लेकिन वाद मे जव तक वह भीतर चुभा रहता है तव तक वह आपको चैन नहीं लेने देता । स्थिति ऐसी हो जाती है कि न रोना आता है, न हॅसा जाता है, न भागा जाता है और न ही सोया जाता है कुछ भी वह करने नहीं देता । निरन्तर पीड़ा देता है । ऐसे ही माया कषाय मायावी व्यक्ति के भीतर-भीतर निरन्तर घुटन पैदा करती रहती है ।

वधुओ ! अपने उपयोग को साफ-सुथरा और सीधा वनाओ । जीवन मे ऐसा अवसर वार-वार आने वाला नहीं है । जैसे नदी वह रही हो, समीप ही साफ-सुथरी शिला पड़ी हो और साफ करने के लिए सावुन इत्यादि भी साथ मे हो, फिर भी कोई अपने वस्त्रो को साफ नहीं करना चाहे तो वात कुछ समझ मे नहीं आती । कितनी पर्याये एक-एक करके यूँ ही व्यतीत हो गयीं । अनन्तकाल से आज तक आत्मा कर्ममल से मलिन होती आ रही है । उसे साफ-सुथरा वनाने का अवसर मिलने पर हमे चूकना नहीं चाहिये । कपायो का विमोचन करना चाहिये । वच्चे के समान जैसा वह वाहर और भीतर से सरल है, उसी प्रकार अपने को वनाना चाहिये । यथाजात का यही अर्थ है कि जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही भीतर और वाहर निर्विकार होना चाहिये ।

यही यथाजात रूप वास्तव मे ऋजुता का प्रतीक है। यही एकमात्र व्यग्रता से एकाग्रता की ओर जाने का राजपथ है। इस पथ पर आरूढ होने वाले महान् भाग्यशाली है। उनके दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। उनके अनुरूप चर्या करना और भी दुर्लभ है।

'रहे सदा सतसङ्ग उन्ही का ध्यान उन्ही का नित्य रहे।
उन ही जैसी चर्या मे यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥'[१०]

ऐसी भावना तो हमेशा भाते रहना चाहिये। तिर्यञ्च भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके एक देश सयम को धारण करके अपनी कषायो की वक्रता को कम कर लेते है तो हम मनुष्य होकर ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर यथाजात रूप को धारण क्यो नही कर सकते ? कर सकते है। यथाजात रूप को धारण करने की भावना भी भा सकते है। जो उस यथाजात रूप का बार-बार चिन्तन करता रहता है, वह अपने उपयोग की सरलता के माध्यम से नियम से मुक्ति की मञ्जिल की ओर बढ़ता जाता है और एक दिन नियम से मञ्जिल को पा लेता है।

आर्जव धर्म--

१ सर्वार्थसिद्धि ९/६/७९७/३२३६

२ छहढाला (छठी ढाल-८)

३ मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० १२४-२५

४ छहढाला (छठवी ढाल-४)

५ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-मगलाचरण १

६ तत्वार्थसूत्र ९/२७

७ तत्वार्थवार्तिक ९/२७/१२/६५० (एकाग्रवचन वैयग्रयनिवृत्त्यर्थम्)

८ तत्वार्थसूत्र ६/१६

९ छहढाला (पॉचवी ढाल-१४)

१० मेरी-भावना-५
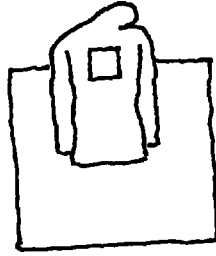
उत्तम शौच

☐ *कखाभावणिवित्ति,*
किच्चावेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी ,
तस्स दु धम्मे हवे सोच्च ॥

जो परम मुनि इच्छाओ को रोककर और वैराग्य रूप विचारो से युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है। (७५)

जब मै बैठा था वह समय, सामायिक का था और एक मक्खी अचानक सामने देखने मे आयी। उसके पख थोडे गीले से लग रहे थे। वह उड़ना चाहती थी पर उसके पख सहयोग नही दे रहे थे। वह अपने शरीर पर भार अनुभव कर रही थी और उस भार के कारण उडने की क्षमता होते हुए भी उड नही पा रही थी। जब कुछ समय के उपरान्त पख सूख गये तब वह उड गयी। मै सोचता रहा कि वायुयान की रफ्तार जैसी उडने वाली उस मक्खी के लिए पानी की छोटी सी बूँद भी बाधक बन गयी और उसकी उड़ने की पूरी की पूरी शक्ति ही मानो समाप्त हो गयी। थोड़ी देर के लिए उसे हिलना-डुलना भी मुश्किल हो गया। यही दशा ससारी-प्राणी की है। ससारी-प्राणी ने अपने ऊपर अनावश्यक न जाने कितना भार लाद रखा है और फिर भी आकाश की ऊँचाईयॉ छूना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति ऊपर उठने की उम्मीद को लेकर नीचे बैठा है। स्वर्ग की बात सोच रहा है लेकिन अपने ऊपर लदे हुए बोझ की ओर नही देखता जो उसे ऊपर उठने मे बाधक सावित हो रहा है।

वह यह नही सोच पाता कि क्या मै यह वोझ उठाकर कही ले जा पाऊँगा या नही। वह तो अपनी मानसिक कल्पनाओ को साकार रूप देने के प्रयास मे अहर्निश मन-वचन और काय की चेष्टाओ मे लगा रहता है। अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वह मूर्त सा व्यवहार करता है। यूँ कहना चाहिये कि अपने स्वरूप को भूलकर स्वय भारमय बनकर उडने मे असमर्थ हो रहा है। ऐसी दशा मे वह मात्र लुढक सकता है, गिर सकता है और देखा जाए तो निरन्तर गिरता ही आ रहा है। उसका ऊँचाई की ओर बढना तो दूर रहा देखने का साहस भी खो रहा है।

जैसे जब हम अपने कधो पर या सिर पर भार लिये हुए चलते है तो केवल नीचे की ओर ही दृष्टि जाती है। सामने भी ठीक से देख नही पाते। आसमान की तरफ देखने की तो बात ही नही है। ऐसे ही ससारी प्राणी के लिए मोह का बोझा उसके सिर पर इतना लदा है, कहो कि उसने लाद रखा है कि मोक्ष की बात करना ही मुश्किल हो गया है।

विचित्रता तो ये है कि इतना बोझा कन्धो पर होने के बाद भी वह एक दीर्घ श्वास लेकर कुछ आराम जैसा अनुभव करने लगता है और अपने बोझ को पूरी तरह नीचे रखने की भावना तक नही करता। बल्कि उस बोझ को लेकर ही उससे मुक्त हुए विना ही मोक्ष तक पहुँचने की कल्पना करता है। भगवान के सामने जाकर, गुरुओ के समीप जाकर अपना दु ख व्यक्त करता है कि हमे मार्गदर्शन की आवश्यकता है। आप दीनदयाल है। महती करुणा के धारक है। दया-सिन्धु, दयापालक है। करुणा के आकर है, करुणाकर है। आपके विना कौन हमारा मार्ग प्रदर्शित कर सकता है ?

उसके ऐसे दीनता भरे शब्दो को सुनकर और ऑखो से अश्रुधारा वहते देखकर सन्त लोग विस्मय और दु ख का अनुभव करते है। वे सोचते है कि कैसी यह ससार की रीत है कि परिग्रह के वोझ को निरन्तर इकट्ठा करके स्वय दीन-हीन होता हुआ यह ससारी प्राणी ससार से मुक्त नही हो पाता।

'शुचेर्भाव शौच्यम् ।' शुचिता अर्थात् पवित्रता का भाव ही शौचधर्म है । अशुचि भाव का विमोचन किये विना उसकी प्राप्ति सम्भव नही है । शुचिता क्या है और अशुचिता क्या है ? यही वतलाने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे एक कारिका के माध्यम से सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो का वर्णन करते हुए कहा है कि–

स्वभावतो ऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥[1]

शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसमे पवित्रता यदि आती है तो रत्नत्रय से आती है । रत्नत्रय ही पवित्र है । इसलिए रत्नत्रय रूपी गुणो के प्रति प्रीतिभाव रखना चाहिये । रत्नत्रय को धारण करने वाले शरीर के प्रति विचिकित्सा नही करना चाहिये ।

चिकित्सा का अर्थ ग्लानि से है । या कहे कि एक प्रकार से प्रतिकार का भाव ही चिकित्सा है और विचिकित्सा का अर्थ विशेष रूप से चिकित्सा या ग्लानि लिया गया है । विचिकित्सा का अभाव होना ही 'निर्विचिकित्सा-अङ्ग' है । जीवन मे शुचिता इसी अङ्ग के पालन करने से आती है । शरीर तो मल का पिटारा है, घृणास्पद भी है । हमारा ध्यान शरीर की ओर तो जाता है लेकिन उसकी वास्तविक दशा की ओर नही जाता । इसी कारण शरीर के प्रति राग का भाव या घृणा का भाव आ जाता है । वासना की ओट मे शरीर की उपासना अनादिकाल से यह ससारी प्राणी करता आ रहा है । लेकिन उसी शरीर मे वैठे हुए आत्मा की उपासना करने की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती ।

विषयो मे सुख मानकर यह जीव अपनी आत्मा की उपासना को भूल रहा है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार मे कहा है कि–

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहि भोगेहि ।
देहादीण विद्धि करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥[2]

अर्थात् इन्द्र और चक्रवर्ती पुण्य के फलरूप भोगो के द्वारा देहादि की पुष्टि करते है और भोगो मे लीन रहते हुए सुखी जान पड़ते हैं, लेकिन वास्तविक सुख वह नही है ।

लोभ के वशीभूत हुआ ससारी प्राणी विषय रूपी वासना मे लिप्त होने के कारण आत्मिक सुख से वञ्चित हो रहा है । चार कषायो के द्वारा चार गतियो मे निरन्तर भटक रहा है । नरको मे विशेष रूप से क्रोध के साथ, तिर्यञ्चो मे माया के साथ, मनुष्यो मे मान के साथ और देवो मे लोभ के साथ यह जीव उत्पन्न होता है । वैचित्र्य तो यह है कि और लोभी बनकर आज यह ससारी प्राणी देव वनना चाहता है । एक तरह से और लोभी ही होना चाहता है । देखा जाए तो स्वर्ग मे भी सागरोपम आयु वाले इन्द्र और अहमिन्द्र को भी विषय कषाय के अभाव मे होने वाली आत्मानुभूति का अनुभव क्षण भर को भी नही होता । भले ही उन्हे सुखानुभूति मनुष्यो की अपेक्षा अधिक रही आवे ।

यदि कषायो का पूरी तरह विमोचन नही होता तो कम से कम उनका उपशमन तो किया ही जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे महान आचार्य धन्य है, जिन्होने इस भौतिक युग मे रहते हुए भी जल से भिन्न कमल के समान स्वय को ससार से निर्लिप्त रखा और विषय-कषाय से बचते हुए अपनी आत्मा की आराधना की। विषय कषाय से बचते हुए वीतराग प्रभु के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का प्रयास किया। रात-दिन अप्रमत्त रहकर, जागृत रहकर उस जागृति के प्रकाश मे अपने खोये हुए, भूले हुए आत्मतत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयास किया।

इतना ही नही ऐसे महान् आचार्यो ने हम जैसे मोही, रागी, द्वेषी, लोभी और अज्ञानी ससारी प्राणियो के लिए जो कि अन्धकार मे भटक रहे है अपने ज्ञान के आलोक से पथ प्रकाशित करके हमारी ऑखे खोलने का प्रयास भी किया है–

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन, तस्मै श्रीगुरवे नम ॥[५]

ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से हमारी ऑखो को खोलकर अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर दिया है। ऐसे परम गुरुओ को हमारा नमस्कार होवे। उनके अपार उपकार का स्मरण करना चाहिये। ऐसे महान् आचार्यों के द्वारा ही हजारो-लाखो वर्षो से चली आ रही अहिंसा-धर्म की परम्परा आज भी जीवन्त है। वस्तुत ध्वनियाँ क्षणिक है, लेकिन जो भीतरी आवाज है, जो दिव्यध्वनि है, जो जिनवाणी है, वही शाश्वत और उपकारी है। एक बार यदि हम अपना उपयोग उस ओर लगा दे तो बाह्य-ध्वनियो की कोई आवश्यकता नही पड़ेगी। इस भीतरी ध्वनि के सामने दुनिया की सारी बाहरी शक्ति फीकी पड़ जाती है। जैसे प्रभाकर के सामने जुगनू का प्रकाश फीका है, कार्यकारी नहीं है, इस प्रकार उत्तम शौच का पालन करने वाले मुनियो के लिए वाह्य-सामग्री कार्यकारी मालूम नही पड़ती और वे निरन्तर उसका विमोचन करते रहते है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार का मङ्गलाचरण करते हुए कहा है कि–

वदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गदि पत्तो।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिद ॥[६]

हे भव्यजीव! मै शाश्वत, अचल और समस्त उपमाओ से रहित ऐसी पञ्चमगति को प्राप्त सव सिद्धो को नमस्कार करके श्रुत-केवली भगवान के द्वारा कहे गये समयप्राभृत ग्रन्थ को कहूँगा। उपनिषदो मे शुद्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जो बात नही लिखी गयी, वह आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिख दी कि एक सिद्ध भगवान को नही, सारे सिद्ध भगवानो को प्रणाम करके ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ। सिद्ध एक ही नही है, अनन्त है। सभी मे, प्रत्येक जीवात्मा मे सिद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। आचार्य महाराज ने भीतर बैठी इसी शुद्धात्मा की शक्ति को दिखाने का प्रयास किया है और कहा है कि यदि थोड़ा-थोड़ा भी, धीरे-धीरे भी लोभ का मल कम करके भीतर झाँकने का प्रयास करोगे तो जैसे दूध मे घृत के दर्शन होते है, सुगन्धी का पान करते है, रस का अनुभव आता है, ऐसे ही शुद्धात्मा का दर्शन, पान और अनुभवन सम्भव है।

आप दूध को तपाकर मावा बनाते है। उसे कहीं-कहीं खोवा या खोया भी बोलते है। वस्तुत वह खोया ही है। दूध को 'खोया' तभी मिला खोया। (हँसी) यूँ कहो कि जो खो गया था, वह मिल गया। हमारा आत्म-तत्त्व मानो खो गया है और कषायो के नीचे दव गया है यदि हम लोभ को खो दे, तो हमारा खोया हुआ आत्म-तत्व हमे मिल जावेगा। तव खोया मिल जायेगा। लोभ की स्थिति वड़ी जटिल है। इसके माध्यम से ही सभी कषायो की सेना आती है। आचार्यो ने लिखा है कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये सभी क्रम-क्रम से उपशम या क्षय को प्राप्त होती है। सवसे अन्त मे लोभ जाता है। लोभ की पकड भीतर वहुत गहरी है। इस लोभ के पूरी तरह क्षय होते ही वीतरागता आने मे और भगवान वनने मे देर नहीं लगती।

मन मे यह जागृति आ जाये कि --'कि जानूँ कि मै कौन हूँ' तो सारी सासारिक लोभ, लिप्सा समाप्त होने लग जाती है। भीतर प्रज्ज्वलित होने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति मे अपने स्वभाव की ओर दृष्टि जाने लगती है। हमे ज्ञात हो जाता है कि भले ही मेरी आत्मा के साथ कर्म एकमेक हुए के समान हो और यह शरीरादि वाह्य सामग्री नोकर्म के रूप मे मुझे मिली हो। रागद्वेषादि भाव मेरे साथ मिलजुल गये हो। लेकिन इन सभी कर्म, नोकर्म और भाव-कर्म से मै भिन्न हूँ। वास्तव मे, वाहरी सम्वन्धो मे अपने को मुक्त कर लेने के उपरान्त हमारी आत्मा की दशा ऐसी हो जाती है कि फिर वाह्य वस्तुओ को पहचानना भी मुश्किल सा लगने लगता है। एक निर्मोही की दृष्टि मे वाह्य पदार्थो की जानकारी पाने के लिए उत्सुकता शेष नहीं रह जाती।

ससारी प्राणियो मे वहुत सारी विचित्रताएँ देखने मे आती है। मनुष्य की विचित्रता यह है कि वह सब कुछ जानते हुए भी अपने जीवन मे कल्याण की वात नहीं सोचता मै पूछता हूँ आप सभी लोगो से कि आपने कभी परिग्रह को पाप समझा या नहीं। आपने वस्तुओ के प्रति अपने मूर्छा भाव को पाप समझा है या नहीं ? आप सभी यह मानते है कि हिसा को हमारे यहाँ अच्छा नहीं माना गया, झूठ भी पाप है। चोरी करना भी हमारे यहाँ ठीक नहीं वताया। कुशील की तो बात ही नहीं है। इस तरह आप चारो पापो से दूर रहने का दावा करते हैं किन्तु जो पापो का सिरमौर है, जो परम्परा से चला आ रहा है परिग्रह, उसे आप पाप नहीं मानते।

वात यह है कि उसके माध्यम से सारे के सारे कार्य करके हम अपने आपको धर्म की मूर्ति वताने मे सफल हो जाते है। भगवान का निर्माण करा सकते हैं, मन्दिर वनवा सकते है चार लोगो के वीच अपने को वडा वता सकते हैं। इस तरह हमने परिग्रह को पाप का वाप कहा अवश्य है, लेकिन माना नहीं है। वल्कि परिग्रह को ही सव कुछ मान लिया है। सोचते है कि यह जव तक है तभी तक हम जीवित है या कि तभी तक घर मे दीपक जल रहा है। हमे लगता है कि धन के विना धर्म भी नहीं चल सकता। देखने मे भी आता है कि अच्छा मञ्च वनाया है, वड़ा पण्डाल लगाया है तभी तो घण्टो वैठकर प्रवचन सुन पा रहे है।

लेकिन ध्यान रखना धर्म की प्रभावना के लिए धन का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि धन को छोडने का महत्त्व है। यह भगवान महावीर का धर्म है जिसमे कहा गया है कि जब तक धन की आकाङ्क्षा है, धन की महिमा गायी जा रही है, तब तक धर्म की बात प्रारम्भ ही नहीं हुई है। किसी ऑंग्ल कवि (इगलिश पोयट) ने कहा है कि सुई के छेद से ऊँट पार होना सम्भव है, लेकिन धन के सग्रह की आकाङ्क्षा रखने वाले व्यक्ति को मुक्ति सम्भव नहीं है।

हमारे यहाँ धर्म के अर्जन की बात कही गयी है, धन के अर्जन की बात नहीं कही गयी, बल्कि धन के विसर्जन की बात कही गयी है। हम इस मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को समझे और यह भी समझे कि हम इस दुर्लभ वस्तु को किस तरह कौडियो के दाम बेच रहे है। किस तरह धन के पीछे हम अपना मूल्यवान आत्म-धन नष्ट कर रहे है। जैसे कोई हमेशा अन्धकार मे जीता रहे तो उसे कभी दिन का भान नहीं हो पाता, उसे पूर्व और पश्चिम दिशा का ज्ञान भी नहीं हो पाता। ऐसे ही जो व्यक्ति हमेशा धन की आकाङ्क्षा मे और विषय भोगो की लालसा मे व्यस्त रहता है उसे यह पहचान ही नहीं हो पाती कि भगवान वीतराग कैसे है ? उन्होने किस तरह परिग्रह का विमोचन करके तथा लोभ का त्याग करके पवित्रता, वीतरागता पायी है। ध्यान रखना वीतरागता कभी धन के माध्यम से या लोभ के माध्यम से नहीं मिलती।

परित समन्तात् गृह्णाति आत्मानम् इति परिग्रह –जो आत्मा को चारो ओर से अपनी चपेट मे ले, वह परिग्रह है। लोग कहते है ग्रह दशा ठीक नहीं चल रही, तो मै सोचता हूँ कि परिग्रह से बड़ा भी कोई ग्रह है, जो हमे ग्रसित करे ? परिग्रह रूपी ग्रह ही हमे ग्रसित कर रहा है। इसी के कारण हम परमार्थ को भूल रहे है और जीवन के वास्तविक सुख को भूलकर इन्द्रिय सुखो को ही सब कुछ मान रहे है। जिसके पास जितना परिग्रह है या आता जा रहा है, वह मान रहा है कि परिग्रह (बाह्य पदार्थो का सग्रह) हमारे हाथ मे है और हम उसके मालिक है। लेकिन ध्यान रखना परिग्रह आपके वश मे नहीं है बल्कि आप ही परिग्रह के वशीभूत है, परिग्रह ने ही आपको सब ओर से घेर रखा है। तिजोरी के अन्दर धन-सम्पदा बन्द है और आप पहरेदार की तरह पहरा दे रहे है और सेठ जी कहला रहे है। क्या पहरा देने वाला सेठ जी हो सकता है ? वह तो पहरेदार ही कहलायेगा वह मालिक नहीं नौकर ही कहलायेगा। धन सपत्ति मालिक बनी हुई है और आराम से तिजोरी मे राज्य कर रही है, आप उसी की आरती उतार रहे है और स्वय को धन्य मान रहे है। दीपावली के दिन भगवान महावीर को मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी, लेकिन आज लोग परिग्रह रूपी धन-सपत्ति को लक्ष्मी मानकर उसी की पूजा कर रहे है, जो अज्ञानता का ही प्रतीक है।

आचार्यो ने परिग्रह सज्ञा को ससार का कारण बताया है और ससारी प्राणी निरन्तर इसी परिग्रह के पीछे अपने स्वर्णिम मानव जीवन को गॅवा रहा है। जिस आत्मा मे परमात्मा बनने की, पतित से पावन बनने की क्षमता है वही आत्मा परिग्रह के माध्यम से, लोभ-लिप्सा के

माध्यम से ससार मे रुल रहा है । एक वार यदि आप अपने भीतरी आत्म-वैभव का दर्शन कर ले तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि अविनश्वर सुख-शाति का वैभव तो हमारे भीतर ही है । अनन्तगुणो का भण्डार हमारे भीतर ही है और हम वाहर हाथ पसार रहे हैं ।

कम से कम आज आप ऐसा सङ्कल्प अवश्य लेकर जाइये कि हम अनन्त-काल से चले आ रहे इस अनन्तानुवन्धी सम्वन्धी अनन्त लोभ का विमोचन अवश्य करेगे और अपने पवित्र स्वरूप की ओर दृष्टिपात करेगे । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि –

अरसमरुवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण आलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ।।[*]

जो रस रहित है, जो रूप रहित है, जिसका कोई गन्ध नहीं है, जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, चेतना-गुण से युक्त है, शव्द रहित है, किसी वाहरी चिन्ह या इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार वताया नहीं जा सकता, ऐसा यह जीव है आत्मतत्त्व है ।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य पूज्यपाद जैसे महान् निष्परिग्रही आत्माओ के द्वारा इस आत्म स्वरूप की उपासना की गयी है, उन्हीं निष्परिग्रही आत्माओ के हम भी उपासक है, होना भी चाहिये । अभी जैसे आप स्वय ही अनुभव कर रहे है कि देह रूपी परिग्रह तक का ध्यान भूलकर किस तरह तन्मय होकर धर्मलाभ लिया जा सकता है । भाई ! अपने जीवन को इसी प्रकार लोभ-मल से वचाकर पवित्र होने का, शौच-धर्म प्राप्त करने का उपाय करना ही सच्चा पुरुषार्थ है ।

आज सीप का नहीं, मोती का, आज दीप का नहीं, ज्योति का, स्वागत करना है और अपने जीवन को, आदर्श भास्वत करना है । ससारी प्राणी इस रहस्य को नहीं जान पा रहा है कि शुचि क्या है और अशुचि क्या है ? इन दोनो के वीच भेद क्या है ? यह क्रम अनादि से चला आ रहा है, लेकिन ससारी प्राणी जैसे इस वात से अनभिज्ञ है । जहाँ पर कमल उगता है वहीं देखा जाए तो नीचे कीचड़ भी देखने मे आता है । सीप मे से मोती निकलता है और दीप मे ज्योति जलती है, प्रकाश होता है । मोती मूल्यवान है तथा प्रकाश की महत्ता है । भगवान के चरणो मे चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अञ्जुलि भर-भर कर मोती ही चढ़ाते है । कीचड़ मे उगने वाला कमल भगवान के चरणो मे चढ़ाया जाता है । कीचड़ को कोई छूना भी नहीं चाहता । किन्तु आज उस कमल का, उस ज्योति का और मोती का अनादर किया जा रहा है और अशुचि रूप कीचड़ मे ही जीवन लथपथ हो रहा है ।

ससारी प्राणी मोती को छोड़कर सीप मे ही चॉदी की कल्पना करके फॅसता जा रहा है । इसी प्रकार अशुचि का भण्डार यह शरीर भी है । हम शरीर को ही आदर देते जा रहे है । अस्सी साल का वृद्ध भी दिन-भर मे कम से कम एक वार दर्पण देखने का अवश्य इच्छुक रहता है । किन्तु आत्म-तत्त्व देखने के लिए आज तक किसी ने विचार नहीं किया । यह कोई नहीं सोचता कि ऐसा कौन सा दर्पण खरीद लूँ जिसमे मै अपने आपका वास्तविक रूप देख

सकूँ। आकर्षण का केन्द्र शरीर न होकर उसमे रहने वाली आत्मा ही आकर्षण का केन्द्र हो जाये। लेकिन ससार की रीत बड़ी विपरीत है। वहुत कम लोगो की दृष्टि इस ओर है।

'गगन का प्यार, धरा से हो नहीं सकता और मदन का प्यार कभी जरा से हो नहीं सकता। यह भी एक नियति है, सत्य है कि सृजन का प्यार कभी सुरा से हो नहीं सकता-विधवा को कभी अङ्गराग रुचता नहीं, कभी सधवा को भी सग त्याग रुचता नहीं, कभी ससार से विपरीत रीत, विरलो की ही होती है कि भगवाँ को कभी भी राग दाग रुचता नहीं ?

मै मानता हूँ अशुचिता से अपने आपके जीवन को ऊपर उठाना, हँसी-खेल नहीं है। लेकिन खेल नहीं होते हुए भी उस ओर दृष्टिपात तो अवश्य करना चाहिये। ऐसे-ऐसे व्यक्ति देखने मे आते है कि खेल कामेण्ट्री सुनने मे दिन-रात लगा देते है और भूख-प्यास सब भूल जाते है। शरीर की ओर दृष्टि नहीं जाती। यह एक भीतरी लगन की बात है। जैसे खेल नहीं खेलते हुए भी खेल के प्रति आस्था, आदर और बहुमान होने के कारण यह व्यवहार हो जाता है। उसी प्रकार यदि आज हम स्वय आत्मत्व का दर्शन नहीं भी कर पाते, उसे नहीं पहचानते तो कोई वात नहीं, किन्तु जिन्होने उस आत्म-तत्व को पहचाना है उनके प्रति आस्था, आदर और वहुमान रखकर उनकी बात तो कम से कम सुनना ही चाहिये।

माँ उस समय चिन्तित हो जाती है, जव लड़का अच्छा खाना नही खाता और खेलकूँद के लिए भाग जाता है। उसी प्रकार सारे विश्व का हित चाहने वाले आचार्यों को भीतर ही भीतर उस समय चिन्ता और दु ख होता है, जब ससारी प्राणी अपने आत्म-निधि से स्वय ही वञ्चित होने लग जाता है और अपवित्रता की ओर अपने पैर बढ़ाता है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया आत्म-तत्त्व के अभाव मे ससारी प्राणी अपने उस स्वभाव से जिसमे वास्तविक आनन्द है, जो वास्तविक सम्पदा है, उससे एक समय के लिए भी परिचित नही हुआ। आचार्य समन्तभद्र महाराज जो दर्शन (फिलासफी) के प्रति गहरी रुचि और आस्था रखते थे और जिनकी सिंह गर्जना के सामने हाथियो के समान प्रवादियो का मद (अहङ्कार) गल जाता था। वे कहते है ससारी प्राणी ने आज तक पवित्रता का आदर नही किया है और अपवित्रता को ही गले लगाया है। यही कारण है कि उसे आत्म-तत्त्व का परिचय नही हुआ। अशुचिमय शरीर मे वैठे हुए आत्मा का-जो ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है, दर्शन नही हुआ।

कीचड़ के सयोग से लोहा जङ्ग खा जाता है लेकिन स्वर्ण, कीचड़ का सयोग पाकर भी अपने स्वर्णत्व को नही छोड़ता। ऐसे ही शरीर के साथ रहकर भी आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन गुण को नही छोड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि स्वर्ण-पाषाण की भाति हमारा आत्मा अभी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नही कर पाया है। जैसे स्वर्ण पाषण मे स्वर्ण है और उसे विधिवत् निकाला जाये तो निकल सकता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व को कर्म-मल के वीच से निकालना चाहे तो निकाला जा सकता है। वास्तविक मल तो यही कर्म-मल है जो अनादि काल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है और आत्मा मे विकार उत्पन्न करता है।

वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये आत्मा की विभिन्न दशाऐं हैं। इनमे से अपनी परमात्म-दशा को विधिवत् निकाल लेना ही सच्चा पुरुषार्थ है और जो ऐसा करता है वह फिर

शरीर को महत्त्व नही देता। वल्कि आत्मा को वचाकर पवित्र वनाने का प्रयास करने मे जुट जाता है। शरीर का इतना ही महत्त्व है कि उसके माध्यम से आत्म-तत्त्व को प्राप्त करना है यह ज्ञानी जानता है और शरीर को सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखकर आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने मे लग जाता है। हमे जानना चाहिये कि आत्म-तत्त्व के द्वारा ही शरीर को महत्त्व मिलता है अन्यथा उसे कोई नही चाहता। वह अशुचिमय है और आत्मा से पृथक् है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी अशुचिता को समझे और उसके प्रति आसक्ति को छोडकर रत्नत्रय से पवित्र आत्मा के प्रति अनुरक्त हो।

वीतराग यथाजात दिगम्वर रूप ही पवित्र है, क्योकि इसी के माध्यम से आत्मा चार प्रकार की आराधना करके मुक्ति को प्राप्त होती है और पवित्र होती है। वस्तुत पवित्रता शरीराश्रित नही है लेकिन यदि आत्मा शरीर के साथ रहकर भी धर्म को अङ्गीकार कर लेती है तो शरीर भी पवित्र माना जाने लगता है, क्योकि तव उसमे राग नही है और उसमे द्वेष भी नही है। वह सप्त-धातु से युक्त होते हुए भी पूज्य हो जाता है। शरीर के साथ जो धर्म के द्वारा सस्कारित आत्मा है, उसका मूल्य है और उस सस्कारित आत्मा के कारण ही शरीर का भी मूल्य वढ़ जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति धागे को गले मे नही लटकाता किन्तु फूलो की माला के साथ या मोती की माला के साथ वह धागा भी गले मे शोभा पाता है और फूल सूख जाने पर फिर कोई उसे धारण नही करता। इसी प्रकार यदि धर्म साथ है तो शरीर भी शोभा पाता है। धर्म के अभाव मे जीवन शोभा नही पाता। उसे कोई मूल्य नही देता तथा उसे कोई पूज्य भी नही मानता। हमारे यहॉ जड़ का आदर नही किया गया। आदर तो चेतना का ही किया जाता है। जो इस चेतना का आदर करता है, उसका परिचय प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर लेता है। वही तीन लोक मे पूज्यता को प्राप्त होता है।

जैसे कोई अन्धा हो या ऑख मूँद कर वैठा हो तो उसे प्रकाश का दर्शन नही होता और वह सोच लेता है कि प्रकाश कोई वस्तु नही है अन्धकार ही अन्धकार है। उसी प्रकार ससारी प्राणी लोभ के कारण अन्ध हुआ है उसे आत्म-तत्त्व प्रकाशित नही हो रहा है। उसे रत्नत्रय का दर्शन नही हो पा रहा है और उसका जीवन अन्धकारमय हो रहा है। वह सोचता है कि जीवन मे आलोक सम्भव ही नही है। लेकिन जो ऑख खोल लेता है, लोभ को हटा देता है, विकारो पर विजय पा लेता है, उसे प्रकाश दिखायी पडने लग जाता है और उसका जीवन आलोकित हो जाता है। शरीर के प्रति रागभाव हटते ही शरीर मे चमकने वाला आत्म-तत्त्व का प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है और वह आत्मा उस औदारिक अशुचिमय शरीर से मुक्त होकर परम-औदारिक शरीर को प्राप्त कर लेता है। परम पावन हो जाता है।

वन्धुओं। आज अशुचि का नही शुचिता का आदर करना है। सीप का नही मोती का आदर करना है। दीप का नही ज्योति का स्वागत करना है और अपने जीवन को प्रकाशित करना है। व्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने वाले के लिए समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है कि वह शरीर के वारे मे ऐसा विचार करे–

मलबीज मलयोनि गलन्मल पूतिगन्धि बीभत्स ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥[10]

ब्रह्मचारी वह है, जो शरीर को मल का बीज मानता है, मल की उत्पत्ति का स्थान मानता है और दुर्गन्ध तथा घृणास्पद चीजो का ढेर मानकर उससे राग नही करता । उससे विरक्त रहकर अपने ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व का ही अवलोकन करने मे आनन्द मानता है ।

जिस शरीर को शुद्ध बनाने के लिए, सुगन्धित बनाने के लिए हम नाना प्रकार के उपाय करते है, वह शरीर कैसा है उसका विचार करे तो मालूम पड़ेगा कि

'केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी ।
देह परसते होय अपावन निशदिन मलझारी' ॥[11]

केशर लगाओ, चाहे चन्दन छिड़को या सुगन्धित फूलो की माला पहनाओ, यह सब करने के उपरान्त भी शरीर अपावन ही बना रहता है। ये सभी चीजे शरीर का सम्पर्क पाकर अपावन हो जाती है । ऐसा यह शरीर है । शरीर की अशुचिता के बारे मे ऐसा विचार किया जाए तो शरीर को सजाने-सँवारने के प्रति लोभ कम होगा आर आत्म-तत्त्व की ओर रुचि जागृत होगी ।

शरीर की अशुचिता और आत्मा की पवित्रता का चिन्तन करना ही उपादेय है । आप शरीर की सुन्दरता और गठन देखकर मुग्ध हो जाते है और कह देते है कि क्या पर्सनालिटी है ? लेकिन वास्तव मे देखा जाए तो व्यक्तित्व, शरीर की सुन्दरता या सुडौलता से नही बनता, वह तो भीतरी आत्मा के सस्कारो की पवित्रता से बनता है । अशुचिता हमारे भावो मे हो रही है उसे तो हम नही देख रहे है और शरीर की शुचिता मे लगे है । हमे भावो मे शुचिता लानी चाहिये । भावो मे निर्मलता लानी चाहिये । भावो मे मलिनता का कारण शरीर के प्रति बहुत आसक्त होना ही है । इसी की सोहबत मे पड़कर आत्मा निरन्तर मलिन होती जा रही है । आत्मा की सुगन्धि खोती जा रही है और आत्मा निरन्तर वैभाविक परिणमन का ही अनुभव कर रही है ।

सम्यग्दृष्टि शरीर को गौण करके आत्मा के रत्नत्रय रूप गुणो को मुख्य बनाता है । वह जानता है कि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहेगी आत्मा का दर्शन उपलब्ध नही होगा । इसलिए शरीर के सम्बन्धो को, शरीर के रूप लावण्य को, शरीर के आश्रित होने वाले जाति और कुल के अभिमान को, लोभ को गौण करके एक बार आत्मा के निर्मल दर्पण मे झाँकने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर है । सिद्ध परमेष्ठी तो पारदर्शी काँच के समान है और अर्हन्त भगवान काँच के पीछे चाँदी का पालिश लगे हुए दर्पण के समान है । लेकिन यह ससारी प्राणी तो दर्प का पुतला बना हुआ है । लोभ का पुतला बना हुआ है । शरीर के प्रति जो दर्प (अभिमान) है उसे छोड़ने के उपरान्त ही दर्पण के समान निर्मल अर्हन्त पद की प्राप्ति सम्भव है ।

दर्पण स्वय कह रहा है कि मुझमे दर्प न अर्थात् अहङ्कार नही रहा। सब उज्ज्वल हो गया। जैसा है वैसा दिखायी पड़ने लगा। बन्धुओ! शरीरवान् होना तो ससारी होना है। शरीर से रहित अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। शरीर से रहित अवस्था ही वास्तव मे पवित्र अवस्था है। अशरीरी सिद्ध परमात्मा ही वास्तव मे परम पवित्रात्मा है।

ज्ञानशरीरी त्रिविधकर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते है निकल अमल परमातम भोगे शर्म अनन्ता ॥[12]

ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीनो प्रकार के कर्म-मल-द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो-कर्म अर्थात् शरीर रूपी मल से रहित है, ऐसे सिद्ध परमात्मा ही अत्यन्त निर्मल है और अनन्त-सुख का उपभोग करते है। हमे भी आगे आकर अपने सिद्ध स्वरूप को, आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

शौचधर्म–

१ रत्नकरण्डक श्रावकार-१३

२ प्रवचनसार-१७३/१२९

३ (प्रवचनसार गाथा ७३ टीका जयसेनाचार्य) यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादक विषयतृष्णावि-च्छित्तिकारक च स्वाभाविक सुख तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ता सुखाभासेन देहादीना वृद्धि कुर्वन्ति।

४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा-३९७

५ कातन्त्ररूपमाला-(मगलाचरण-५)

६ समयसार-४९

७ नियमसार-४६

८ मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० ३०७

९ मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० ३५३-५४

१० रत्नकरण्डक श्रावकाचार १४३

११ मङ्गतरायकृत बारहभावना १४

१२ छहढाला (तीसरी ढाल ६)
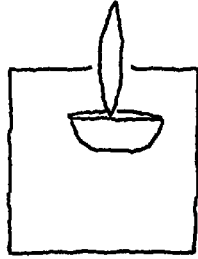
आज 'उत्तम-सत्य' के बारे मे समझना है। पिता जी बड़े है या पुत्र बड़ा है ? पति बड़े है कि पत्नी बड़ी है ? नाती बड़ा है या दादाजी बड़े है ? तब लौकिक-व्यवहार मे कहने मे आता है कि पुत्र छोटा है और पिता जी बड़े हैं। पत्नी छोटी है और पति बड़े हैं। नाती छोटा है दादाजी बड़े है। यह सब सापेक्ष सत्य है। चूकि जिस समय पुत्र हुआ उस समय पिता की उम्र पच्चीस-तीस वर्ष होगी इसलिए पुत्र को छोटा कह दिया। लेकिन देखा जाए तो जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, उसी समय पिता का भी जन्म हुआ। इससे पहले उस व्यक्ति को कोई पिता नही कहता था। वह पुत्र होते ही पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाने लगा। इस तरह दोनो एक साथ उत्पन्न हुए। पिता और पुत्र समान हो गये। इसी प्रकार दादाजी और नाती के सम्बन्ध मे कहा जायेगा। जिस समय विवाह हुआ उसी समय पति और पत्नि ऐसा कहने मे आयेगा। तब दोनो का एक ही मुहूर्त मे जन्म हुआ।

यही बात जीव के सम्बन्ध मे भी है। कौन सा जीव बड़ा है और कौन सा जीव छोटा है ? चींटी छोटी है और छिपकली उससे बड़ी है। परन्तु छिपकली छोटी भी है क्योंकि सर्प उससे भी बड़ा है और हाथी उससे भी बड़ा है। तो सत्य क्या है ? इतिहास देखे, सभी जीवो का तो निर्णय करना और मुश्किल होगा कि बड़ा कौन है और छोटा कौन है ? अगर जीव का लक्षण देखा जाए तो सभी जीवो मे समान रूप से घटित होगा। 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' - द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और पुद्गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं। नित्य हैं अर्थात हमेशा से है और रहेगे। सभी जीव हमेशा से हैं और रहेगे। इस अपेक्षा देखा जाए तो कौन बड़ा और कौन छोटा ? प्रवाह की अपेक्षा सभी समान हैं। सभी अनादि काल से चले आ रहे है और शेष जितनी भी सम्भावनाएँ है वे सब सापेक्ष हैं।

जीव के बाह्य रूप मे ससार उलझा है और अपने आप के बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे से संघर्ष करता आ रहा है कि मैं बड़ा हूँ या कि तुम छोटे हो। यह विसंवाद चल रहा है। जो वास्तव मे देखा जाए तो असत्य है।

सत्ता नहीं उपजती उसका न नाश, पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर वारिधि सत्य सत्ता, ऐसा सदैव कहते गुरुदेव वक्ता॥

सत्ता क्या चीज है ? द्रव्य क्या चीज है और पर्याय क्या चीज है ? यदि ऐसा पूछा जाए तो भगवान कहते है कि सत्ता या द्रव्य तो वह है जिसका कभी नाश नहीं होता और न ही जो कभी उत्पन्न होती है। वह तो शाश्वत है। पर्याय की उत्पत्ति और नाश अवश्य देखने मे आते हैं।

पर्याय तो सागर मे उठती लहरो के समान है, जो क्षणभङ्गुर है। उठती और मिटती रहती है। शाश्वत सत्य सत्ता तो सागर के समान है। पर इस सत्य, सत्ता को देखना सहज सम्भव नहीं है। इसे देखने के लिए श्रद्धा की आँखे खोलने का प्रयास करना होगा। सत्य श्रद्धा की आँखो से ही दिखायी देता है। लोक व्यवहार मे कहा जाता है कि मैं सत्य बोलता

हूँ या तुम असत्य बोलते हो। लेकिन वास्तव मे बोलने से सत्य आता ही नही है और जब सत्य बोलने मे नही आता तो असत्य भी बोलने मे नही आ सकता। फिर भी व्यवहार की कुछ सीमाएँ वनायी गयी है। उसी के माध्यम से सत्य और असत्य का व्यवहार चलता है। जैसे आप सागर के तट पर खड़े हैं तव देखने मे क्या आ रहा है? लहरे देखने मे आ रही है वे वही उठती है और वही समाती जाती है। कोई वालक यदि वही हो तो वह उन्हे पकडना चाहेगा। सीधा-सीधा दौडकर हाथो से पकडने का प्रयास करेगा। जो कोई वहाँ सीनरी (दृश्यावली) देखने आये है वे उस दृश्य को आँखो के माध्यम से या कैमरे के माध्यम से पकडा चाहेगे। कोई यदि कवि होगा तो वह शब्दो के माध्यम से कविता बनाकर उसे पकडने का प्रयास करेगा और आनन्दित होगा।

कोई ऐसा भी होगा जो सारे दृश्य को परख रहा होगा। इन सबके माध्यम से यदि पकड मे आयेगा तो कथञ्चित् सत्य ही पकड मे आयेगा। मै पकड़ना भी एक तरह से कथंचित् सत्य कह रहा हूँ क्योंकि इसमे भी छोडना और ग्रहण करना है। वास्तव मे सत्य तो छोडने और ग्रहण करने से परे है। लहर अच्छी लगती है, तो सोचो मात्र अच्छी लगती है या वास्तव मे अच्छी है। लहर तो लहर है, वह वनती है और मिटती भी है। उसको सत्य सत्ता नही कहा जा सकता क्योकि सत्ता तो अविनश्वर है। उसे पकडना भी सम्भव नही है। जो पकड मे आ रहा है, वह पूरी तरह सत्य नही है, एक प्रकार से असत्य है और इसलिए दु खदायी है। सत्य ही एकमात्र सुखदायी है।

वालक लहरो को पकड़ना चाहता है तव उसे पालक (आप लोग) समझाते है कि पकड़ो नही, मात्र परखो। 'परखो' का एक अर्थ यह भी है कि 'पर' यानी दूसरा और 'खो' यानी खोना। अर्थात् जो पर है, दूसरा है उसे खो दो। ऐसा परखना यदि हो जाए तो असत्य खो जायेगा। असत्य को खोना ही वास्तव मे परखना है। मोह को छोडकर ही परखना सम्भव है। तभी सत्य हाथ आयेगा। वस्तु-तत्व को यदि आप परखना चाहो तो हमेशा माध्यस्थ होकर ही परखना होगा।

किसका स्वभाव क्या है? किसका क्या रूप है? क्या सत्य है और क्या असत्य है? यह जानने की कला तभी आ सकती है जव मोह का उपशम हो और माध्यस्थ भाव आये। जैसे स्वर्ण पाषाण मे कितना स्वर्ण है और कितना पाषाण है यह वात उस विषय का ज्ञान रखने वाला परीक्षक या वैज्ञानिक जान लेता है और सव वता देता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य को परखने की क्षमता हमारे पास है, उसे प्रकट करना आवश्यक है तभी सत्य का दर्शन होगा। सत्य सामने आ जाए तो हर्ष-विषाद नही होता। पिताजी सोचते है कि मैने पुत्र को वडा किया, खिलाया-पिलाया और अज्ञानी से ज्ञानी वना दिया, अत हम वडे है। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होगा वह द्रव्य के प्रवाह को देखेगा कि यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। इतना ही नही जिस लडके का पालन-पोषण किया जा रहा है, सम्भव है वही पूर्व मे उसका पिता भी रहा हो। पुराणो मे भी ऐसी वात (कथा) आती है। अध्यात्म भी यही कहता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्'[३] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है सत्ता। एक वार एक विद्वान् हमारे पास आये थे। कुछ दिन रहने के बाद एक दिन जब जाने लगे तो कहा कि महाराज जी ! मै जा रहा हूँ। तो हमने कहा पण्डित जी, आना-जाना तो लगा हुआ है। वे हँसने लगे। बात समझ मे आ गयी कि 'आना' तो हुआ 'उत्पाद', 'जाना' अर्थात् 'व्यय', लगा हुआ है यही द्रव्य की ध्रुवता है। यही सत् का लक्षण है। यह अनुभव मे आ जाए तो वनने- मिटने पर हर्ष-विषाद नही होगा। छोटे-वड़े की बात नही आयेगी। कौन किसका पिता है ? कौन किसका पुत्र है ? यह मात्र पर्याय की ओर दृष्टिपात करने पर ही दिखायी देता है। यह मोह का परिणाम है। यही मोह छूट जाये तो वास्तविकता मालूम पड़ने लगती है कि शरीर का अवसान होने पर यह सारे सम्वन्ध छूट जाते है। शरीर यही पड़ा रह जाता है और जीव क्षण भर मे कहाँ पहुँच जाता है, किस रूप मे उत्पन्न हो जाता है पता भी नही पडता। जिसके मरण के उपरान्त आप यहाँ रो रहे होते है वह कही और उत्पन्न होने की तैयारी कर रहा है।

कैसा वैचित्र्य है। एक नाटक की तरह रङ्गमञ्च पर जैसे विभिन्न पात्र आ रहे है, जा रहे है और देखने वाला जान रहा है कि यह सव नाटक है, फिर भी उसमे हर्ष विषाद करने लगता है। इसी प्रकार यह सारा ससार रङ्गमञ्च की तरह है। जो ससार से विरक्त है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टि मे यह सव नाटक की भाँति दिखायी पड़ने लगता है। वह सत्य को जान लेता है और पर्याय मे मुग्ध नही होता। हर्ष-विषाद नही करना। हम थोड़ा सा भीतर देखने का प्रयास करे और अपना इतिहास समझे कि मै कौन हूँ ? किस तरह छोटे से वड़ा हो गया और एक दिन मरण के उपरान्त सारे के सारे लोग इस देह को जला आयेगे मै फिर भी नहीं जलूँगा। यह सत्य है।

जिनवाणी मे इसी सत्य का प्ररूपण किया गया है। 'काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।'[४] अनन्तकाल हमने निगोद मे व्यतीत कर दिया और एक इन्द्रिय की पर्याय धारण की। विचार करे तो अपने आप आँखे खुलने लग जायेगी। निगोद की वात आयी तो वह घटना स्मृति मे आ गयी कि चक्रवर्ती को चिन्ता हो गयी कि ये तीर्थङ्कर के वश मे पैदा हुए और इस प्रकार गूँगे-वहरे कैसे हो सकते है ? यहाँ तो भगवान की वाणी गलत सिद्ध हो जायेगी। तव भगवान ने कहा कि हे चक्री ! तुम्हे मोह ने घेर रखा है इसलिए सत्य दिखाई नही पड़ता। सत्य यह है कि ये सभी भव्य है और निकट-भव्य हैं। ये तुम्हारे ही सामने दीक्षित होकर मुक्ति को प्राप्त हो जायेगे।

चक्रवर्ती सुनकर दग रह गये और वही हुआ भी। सभी ने भगवान ऋषभदेव के चरणो मे दीक्षा का निवेदन कर दिया और वोले कि सभी से क्या वोलना, हम तो सिर्फ आप ही से वोलेगे। सभी से वोलने के लिए हम गूँगे है। दीक्षित होकर उन्होने तप के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति की और मुक्ति का सम्पादन कर लिया। चक्रवर्ती भरत ने पूछा कि भगवन् ! यह सव कैसे हुआ ? इनका इतिहास क्या है ? तव भगवान ने वताया कि ये सभी जीव निगोद

से आकर सीधे मनुष्य-भव धारण करके तुम्हारे पुत्र बनकर उत्पन्न हुए है। इनका वैराग्य इतना था कि किसी से नही बोले और इन्होने अपना कल्याण कर लिया। तुम यहाँ समवशरण मे चार-चार बार दिव्य ध्वनि सुन रहे हो और चार-चार बार लोगो को प्रवचन सुना रहे हो। पर इतने मात्र से क्या होगा ? उन्होने कमाल कर दिया। निगोद से सीधे निकलकर आठ साल के भीतर-भीतर अपने आपको सँभाला और आठ वर्ष मे ही दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त कर ली।

कही-कही पर निगोद से आकर बीच मे एक पर्याय इन्द्रगोपादि भी धारण की है, ऐसी चर्चा भी आती है लेकिन सीधे निगोद से आये हो, ऐसा भी सम्भव है। निगोद भी दो तरह का है--एक तो नित्य-निगोद है जहाँ से जीव आज तक नही निकला और न ही आगे निकलेगे और दूसरा इतर-निगोद है जहाँ से जीव निकलकर आ सकता है और अपना कल्याण भी कर सकता है। हमे सीखने की बात यही है कि सत्य को जानने वाला फालतू बोलता नही है। वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र दीक्षित होने तक दीक्षा से पूर्व किसी से नही बोले। उन्होने सोचा कि जो ससार से विरक्त नही है उनसे एक विरक्त व्यक्ति का बोलने का प्रयोजन ही क्या है ? सत्य तो बोलने से प्राप्त नही होगा। पाप-क्रियाओ से मौन लेकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आज तो सारा ससार जिसमे कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नही है, उसी के पीछे पड़ा है। सत्य का बोध नही करता है। जल के अथाह समूह को सागर कहा जाता है उसमे कितनी भी लहरे उठे या मिटे लेकिन वह सागर बनता मिटता नही है। वह ज्यो का त्यो रहा आता है। कोई लहरो को देखकर खेद करता है, बालक हो तो देखकर हर्षित होता है, लेकिन जो ससार से विरक्त है, सत्य को जानता है, वह सोचता है कि जीवन भी इसी प्रकार लहरो की तरह प्रतिपल मिटता जा रहा है। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। अनन्त सुखो का भण्डार यह आत्मा अज्ञानता के कारण सत्य को नही समझ पा रहा है।

दुनिया मे सभी लोग दुनिया को देख रहे हैं। दुनिया को पहचानने की चेष्टा मे लगे है लेकिन सत्य को पहचानने की जिज्ञासा किसी के अन्दर नही उठती। बार-बार कहने-सुनने के उपरान्त भी ज्ञान नही होता, तो यह मोह की प्रबलता का ही प्रभाव समझना चाहिये। इस मोह से बचने का उपाय यही है कि हम ससार से विरक्त होकर वस्तु तत्त्व का चिन्तन करे। वस्तु तत्त्व की वास्तविकता का चिन्तन ही हम लोगो के लिए कल्याण के लिए एकमात्र आधारशिला है।

'जगत्कायस्वभावौ वा सवेगवैराग्यार्थम्'।[५] जगत् के स्वभाव के बारे मे सोचो तो सवेग आयेगा अर्थात् ससार के दु खो से बचने का भाव उत्पन्न होगा और शरीर के स्वभाव के बारे मे विचार करोगे तो वैराग्य आयेगा। शरीर के प्रति, भोगो के प्रति निरीहता भी आ जायेगी। यही सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य है। आज तो मात्र ज्ञान की चर्चा है लेकिन अकेले

ज्ञान और सम्यग्ज्ञान मे अन्तर है । शरीर के बारे मे सम्यग्ज्ञान यदि हो तो ही निरीहता आयेगी । अकेले शरीर की जानकारी कर लेने मात्र से कुछ नही होता । कोई एम बी बी एस का करने वाले एक-एक अङ्ग के बारे मे जानता है और कोई-कोई तो एक-एक अङ्ग विशेष मे स्पेस्लिस्ट भी हो जाते है । लेकिन इतना सब जान लेने के बाद भी उसी नश्वर शरीर मे रमे रहते है । ऐसा कैसा ज्ञान है कि भीतरी सभी घृणास्पद पदार्थो को देख लेने के बाद भी उससे विरक्ति नही होती । असत्य को जान कर भी उसे छोड़ने का भाव नही आता । बल्कि असत्य के सम्पादन मे ही लोग अपना ज्ञान लगाते है । कोई दुकान मे असत्य का सम्पादन कर रहा है, तो कोई वकील बनकर कोर्ट मे कर रहा है और कोई डॉक्टर बनकर अस्पताल मे कर रहा है । प्रत्येक का लक्ष्य मात्र पैसा हो गया है । विषयो का सम्पादन हो रहा है ।

लौकिक दृष्टि से भले ही उन्हे प्रबुद्ध कहा जाता है, अनुभवी और शोध करने वाला कहा जाता है । लेकिन सभी की चेष्टा यही रहती है कि पैसा किस तरह कमाया जाए और दुनिया को किस तरह आकर्षित किया जाए । किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह ज्ञान कार्यकारी नही है । सही ज्ञान-कला तो वह है जिसके द्वारा आत्मिक शान्ति मिलती है । 'क' यानी आत्म-सुख, और 'ला' यानी लाने वाली, अर्थात् आत्मसुख लाने वाली कला ही वास्तविक 'कला' है । ससार की जितनी भी और कलाएँ है वे सब ससार के पदार्थो को जुटाने वाली और आत्मा को दु ख के गर्त मे ले जाने वाली है । इस सत्य का भान आज किसे है ?

इसीलिए आचार्य कहते है कि छोटा-बडा कोई नही है । सभी समान हैं । यही सत्य है और जहाँ पर यह समानता की दृष्टि आ जाती है वहाँ पर सभी प्रकार के झगडे समाप्त हो जाते है । जहाँ विषमताएँ है वही पर झगड़ा है, विसवाद है और विषमता तो बुद्धिजन्य है । विषमता वस्तुजन्य नही है । वस्तु न अपने मे बडी है न छोटी है, वह तो अपने मे समान है । जैसे देवो मे ऊपर जो अहमिन्द्र है उनके वहाँ कलह नही है । वे बहुत शान्त है, क्योंकि सभी समान-रूप से इन्द्र है । कोई किसी से कम या अधिक पद वाला नही है ।

समानता रूपी इस सत्य के साथ ही सुख और शान्ति का स्रोत फूट जाता है । हम सभी यदि पर्यायो की विषमता को गौण करके द्रव्य की समानता को मुख्यता दे तो यहाँ किसी जीव के प्रति बैर और किसी के प्रति राग हो ही नही सकता । सत्तयार्थयुक्त सत्यम् जो सत् से युक्त है वही सत्य है और असत् से युक्त है अर्थात् जो है ही नही, उसकी कल्पना मे जो उलझा है वह असत्य है । वस्तुत वस्तु अच्छी बुरी नही होती, हमारी कल्पना के द्वारा ही उसमे अच्छे बुरे का भेद आ जाता है । किसी जीव का लक्षण मूर्ख या बुद्धिमान्, छोटा या बडा हो, ऐसा कही नही आता । उपयोगो लक्षणम्[१] जीव का लक्षण उपयोगवान् होना है अर्थात् जो ज्ञानदर्शन से युक्त वह जीव है । प्रत्येक समय हमे इस सत्य की ओर ही दृष्टिपात करना चाहिये ।

मोह के प्रभाव से ससारी जीव स्वय को—

मै सुखी-दुखी मै रक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत तिय मै सबल दीन बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ।।

ऐसा मानता है और इसी मोह चक्र मे फॅसा प्रत्येक जीव ससार मे निरन्तर चक्कर काटता रहता है, घूमता रहता है । लेकिन जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है, जो वैराग्यवान् है वे संसार के स्वभाव को जानते है और ससार मे रहते हुए भी मोह के चक्कर मे नही आते । जैसे मेले मे आपने हिण्डोलना देखा होगा । बच्चे-बडे सभी उसमे बैठ जाते है और हिण्डोलना वाला उसे घुमाता है । सभी का मनोरञ्जन होता है लेकिन हिण्डोलना घुमाने वाला मात्र घूमते हुए हिण्डोलने को देखता रहता है उसमे मनोरञ्जन नही मानता । उसी प्रकार आप लोग भी चाहे तो जो दुनिया मे हिण्डोलने मे बैठे है उन्हे बैठे रहने दे और स्वय को मात्र देखने जानने वाला बनाये रखने का प्रयास करे । तो ससार का चक्कर धीरे-धीरे समाप्त कर सकेगे ।

बधुओ ! पर्यायमूढ़ता तो बच्चो जैसा घूमने वाला खेल है और द्रव्य के स्वरूप मे लीन होना अर्थात् जानने-देखने रूप स्वभाव मे स्थिर होना इस हिण्डोलना घुमाने वाले जैसा काम है । द्रव्य तो प्रतिक्षण परिणमनशील है । परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है लेकिन उस परिवर्तन मे हम अपने आप को मिटने वाला या उत्पन्न होने वाला समझ लेते है । यही हमारी गलती है । जन्म होने मे सुख और मरण मे दु ख का अनुभव करने का अर्थ यही है कि अभी हिण्डोलने मे बैठने का खेल चल रहा है । यह मोह की चपेट जब तक है तब तक सुख शान्ति मिलने वाली नही है ।

जैसे पीपल का पत्ता बिना हवा के ही हिलता रहता है, लेकिन पीपल का तना, तूफान आने पर भी नही हिलता । इसी प्रकार द्रव्य कभी अपने स्वभाव से हिलता डुलता नही है, पर्याये झूलती रहती है और झूलती हुई पर्यायो मे आप भी यूँ ही झूलने लगते है और भूल जाते हैं कि यह सारा का सारा परिणमन द्रव्य का ही है । द्रव्य का परिणमन कभी रुकता नही है वह तो प्रतिक्षण इतनी तीव्रता से होता रहता है कि उसकी सूक्ष्मता को पकड पाना सहज सम्भव नही है । उसे पकड़ पाने के लिए बडी पैनी दृष्टि चाहिये । वह दृष्टि तभी आयेगी जब हमारी दृष्टि बाह्य जगत् से हटकर सूक्ष्मता की ओर देखने का प्रयास करेगी ।

पाषाण मे स्वर्ण उसी को दिखता है जिसे स्वर्ण की जानकारी है और जो पाणाण को स्वर्ण से पृथक् जानता है ।

ससार मे सब कुछ देखते हुए भी कोई चाहे तो शान्त और मध्यस्थ रह सकता है । पर इसके लिए ससार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति अपनी दृष्टि को समीचीन बनाना होगा । कई दिन से लगातार उपदेश सुनते-सुनते एक व्यक्ति को ससार के प्रति वैराग्य हो गया और उसने जाकर अपनी पत्नी से कहा कि ससार की यथार्थता मुझे ज्ञान हो गयी है, इसलिए मै जा

रहा हूँ। अपना कल्याण करूँगा। पत्नी बोली बहुत अच्छा। हम भी यहाँ रहकर क्या करेगे। हम भी साथ चलते है। उस व्यक्ति ने समझाया कि यह तो कोई बात नही हुई। मुझे तो उपदेश सुनकर वैराग्य हुआ है। तुमने तो उपदेश कुछ सुना ही नही है। पत्नी बोली कोई बात नही, उपदेश सुनने वाले आपको देखना ही पर्याप्त है। आपका वैराग्य ही मेरे वैराग्य मे कारण बन गया है।

दोनो प्राणी घर से विरक्त होकर जङ्गल की ओर चल पड़े। पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे चल रही थी। चलते-चलते पति को सामने कुछ दिखायी पड़ गया और उसने झुककर थोड़ी धूल उस पर डाल दी। उसी समय पीछे से आकर पत्नी ने देख लिया और पूछ लिया कि क्या बात है? क्या था? पति ने सोचा बताना ठीक नही है। पता नही बताने से उसके मन मे लालच न आ जाये इसलिए कह दिया कि कुछ नही था। पत्नी को हँसी आ गयी, बोली मैने सोचा था कि आपका वैराग्य पूरा है पर लगता है अभी कुछ कमी है। तभी तो मिट्टी के ऊपर मिट्टी डाल रहे थे। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मे तो सोने की डली भी मिट्टी ही है। कोई मिट्टी काली होती है, यह पीली मिट्टी है। यह सुनकर पति चकित रह गया और कहने लगा कि मैने तो समझा था कि स्त्रियो को स्वर्ण के आभूषणो का लालच कुछ अधिक ही रहता है इसलिए तुम्हे नही बताया, पर तुमने तो मुझ भी पीछे छोड़ दिया। अब तो पत्नी और हँसने लगी। बोली अरे! आपकी दृष्टि मे अभी यह भेदभाव भी है। आप स्वय को पुरुष मान रहे है और मुझे स्त्री मान रहे हो। अभी आप तीन लोक के पति नही हो सकते। अभी तो आपका वैराग्य कमजोर है। वैराग्य की बात करना और वैराग्य से बात करना इन दोनो मे बहुत अन्तर है। वस्तु तत्त्व जिसको सही मायने मे पकड मे आ गया है वही सत्य के माध्यम से वैराग्य से कभी नही डिगता।

वह वस्तु के उत्पन्न होने मे हर्ष और नाश मे विषाद नही करता क्योकि वह सत्य को जानता है। आज 'उत्तम-सत्य' के दिन मै आपसे यही कहना चाहूँगा कि ससार को आप एक बार असत्य की दृष्टि से देखे। केवल मिटने के अलावा ससार कुछ भी तो नही है। जो स्थायी है वह दिखने मे नही आता और जो दिखने मे आ रहा है वह निरन्तर मिट रहा है। यही ससार है। हम सयोगज पर्यायो से दृष्टि को हटाकर मूल की ओर देखे। तो तेरा-मेरा, छोटा-बड़ा आदि सभी विचार आपोआप शान्त हो जायेगे। सभी के प्रति समान भाव आने से परस्पर उपकार का भाव आयेगा। सभी परस्पर एक दूसरे के निकट आयेगे, और इस बहाने वस्तु तत्त्व को और अच्छे ढग से समझना सरल हो जाएगा।

जैसे आप भोजन करते है तो भोजन करते हुए भी बीच-बीच मे साँस लेना आवश्यक है, लेते भी है। पानी पीते है तो साँस भी लेते रहते है। ऐसा नही है कि पानी पीना छोडकर अलग से साँस ले, फिर पानी पिये। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग मे आरूढ़ होने के उपरान्त खुद भी धर्मामृत पीता रहता है और यदि कोई दूसरा आ जाता है तो उसे भी पिलाता है।

जो सत्य को जान लेता है वह स्वय भी लाभान्वित होता है, साथ ही दूसरो को भी उसके माध्यम से सत्य का दर्शन होने लगता है। यही सत्य है और यही सत्य की महिमा भी है।

सत्यधर्म–

१ तत्त्वार्थसूत्र ५/४

२ निजानुभवशतक, ३६ (आचार्य विद्यासागर-कृत)

३ तत्त्वार्थसूत्र ५/३०

४ छहढाला (प्रथमढाल-३)

५ तत्त्वार्थसूत्र ७/१२

६ तत्त्वार्थसूत्र २/८

७ छहढाला (द्वितीयढाल-४)
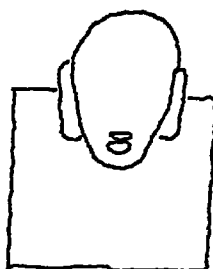
उत्तम संयम

□ वदसमिदिपालणाए
दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो,
संजमधम्मो हवे णियमा॥

व्रत व समितियों का पालन, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रियजय; ये सब जिसको होते हैं, उसको नियम से संयम धर्म होता है। (७६)

'अनाश्रिता लता स्वयमेव लीयते'—आश्रयहीन बेल अपने जीवन की अन्तिम बेला आने से पूर्व स्वयमेव ही समाप्त हो जाती है। स्वयं अपनी शक्ति के द्वारा जमीन से रस खीचकर अपना विकास करती है। इसके उपरान्त भी वह बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह अनाश्रित होती है। किन्तु बाग का होशियार माली जब उस बेल के फैलते ही उसे लकडी का सहारा देकर हल्के से बॉध देता है तब वह ऊर्ध्वगामी होकर बहुत ऊँचाई पर पहुँच जाती है। हल्का सा वह बॉधा गया बन्धन उसे उन्नति मे बाधक नही बनता अपितु ऊँचे बढ़ने मे साधक ही बनता है।

अगर विचार करे, तो ज्ञात होगा कि यह जो सहारा दिया गया उस बेल को, वह सहारा अपने आप मे है और बेल का बढना अपने आप मे है। फिर भी यदि सहारा नही मिलता तब वह बेल निश्चित ही ऊर्ध्वगामी न होकर अधोगामी हो जाती और शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाती। या यूँ कहिये कि उसका असमय मे ही जीवन समाप्त हो जाता। यह तो एक उदाहरण है, आप समझ गये होगे सारी बात। जिस दिशा की ओर बढने की हमारी भावना हो तथा जो हमारी दृष्टि या लक्ष्य हो, उसके अनुरूप फल पाने के लिए हमे एक सशक्त सहारे की और हल्के से बन्धन की आवश्यकता तो होगी है। आज का सयम धर्म आलम्बन और बन्धन दोनो रूपो मे है।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥[1]

आचार्य समन्तभद्र स्वामी बहुत अच्छी बात हमारे लिए कहकर गये है कि जिसका मोहरूपी अन्धकार समाप्त हो गया है, जिसे सम्यग्दर्शन का लाभ होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सहज हो गयी है, इसके उपरान्त वह क्या करे ? जब तक अन्धकार का अभाव नही हुआ था, सम्यक्त्व का सूर्य नही उगा था, तब तक बिस्तर पर पड़े-पडे वह सोच रहा था और सोचना उसका ठीक भी था कि ज्यो ही सूरज का उदय होगा, अन्धकार हटेगा त्यो ही उसके कदम आगे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जायेगे। अब जब प्रकाश हो गया, अन्धकार हट गया तो अब क्या करे ? अब यह कहने की भी आवश्यकता नही होनी चाहिये कि क्या करे ? जीवन की उन्नति का विचार रखने वाले के लिए प्रकाश अपने आप बता देता है कि क्या करना आवश्यक है ? ठीक ऐसे ही जैसे कि मन्दाग्नि समाप्त होने पर भूख लगती है और अपने आप ज्ञात हो जाता है कि मुझे क्या करना है ? सम्यग्दृष्टि को तो यह पूछने की आवश्यकता ही नही पड़ती कि अब क्या करना है ?

शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि—

न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन् पादद्वय ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदु खनिचय ससारघोरार्णव ।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि ॥[2]

हे भगवन् ! मैने जो आपके चरणो की शरण गही है वह मात्र यह सोचकर नही कि आपके चरण बहुत सुन्दर है, बहुत अच्छे है, वहुत उपकारी है, उनके प्रति स्नेह करना चाहिये, और न ही आपके चरणो ने मुझे आपके पास आने का कोई सन्देश भेजा है पर फिर भी मैं आपके ही पास आया हूँ अन्यत्र नही गया । इसका कारण तो एक मात्र यह विचित्र कर्मो के समूह से सहित ससार रूपी भयकर समुद्र है, क्योकि अत्यन्त प्रचण्ड किरणो से धरती को तपा देने वाला ग्रीष्मकाल का सूर्य स्वयमेव ही चन्द्रमा की किरणो से, पानी से और छाया से अनुराग करा देता है । कहने की आवश्यकता नही पडती अनादिकाल की प्यास और पीड़ा ही मुझे यहॉ तक ले आयी है । आपके प्रति अनुराग सहज ही हो गया । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उदय होते ही चरण शीघ्र ही मार्ग पर, मञ्जिल की ओर चल पडते है । राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधु-पुरुष चारित्र का आश्रय सहज ही ले लेते है ।

आज सयम का दिन है । उत्तम सयम का दिन है । आप लोगो के लिए अभी तक सयम एक प्रकार से बन्धन ही लगा करता है । लेकिन जैसे उस लता के लिए लकड़ी आलम्बन और वन्धन के रूप मे उसके अपने विकास के लिए आवश्यक है । उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान को अपनी चरम सीमा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने वाला ही सयम का आलम्वन और वन्धन है । उसका सहारा लेते समय ध्यान रखना कि जैसे योग्य खाद्य और पानी देना भी पौधे के लिए अनिवार्य है, अकेले सहारे या वन्धन से काम नही चलेगा, वैसे ही सयम के साथ शुद्ध भाव करना भी अनिवार्य है ।

आज तक सयम के अभाव मे ही इस ससारी-प्राणी ने अनेको दु ख उठाये है । जो उत्तम सयम को अङ्गीकार कर लेता है, साक्षात् या परम्परा से वह मोक्ष अवश्य पा लेता है । आत्मा का विकास सयम के विना सम्भव नही है । सयम वह सहारा है जिससे आत्मा ऊर्ध्वगामी होती है । पुष्ट और सन्तुष्ट होती है । सयम को ग्रहण कर लेने वाले की दृष्टि मे इन्द्रिय के विषय हेय मालूम पड़ने लगते है । लोग उसके सयमित जीवन को देखकर भले ही कुछ भी कहे दे, पागल भी क्यो न कह दे, तो भी वह शान्त भाव से कह देता है कि आपको यदि खाने मे सुख मिल रहा है तो मुझे खाने के त्याग मे आनन्द आ रहा है । मै क्या करूँ ? यह तो अपनी-अपनी दृष्टि की वात है । सम्यग्दृष्टि सयम को सहज स्वीकार करता है । इसलिए वह सव कुछ छोड़कर भी आनन्दित होता है ।

प्रारम्भ मे तो सयम वन्धन जैसा लगता है लेकिन वाद मे वही जव हमे निर्वन्ध वना देता है, हमारे विकास मे सहायक वनता है हम ऊपर उठने लगते है और अपने स्वभाव को प्राप्त करके आनन्द पाते है, तव ज्ञात होता है कि यह वन्धन तो निर्वन्ध करने का वन्धन था । प्रारम्भ मे मन और इन्द्रियो की स्वच्छन्दता को दूर करने के लिए सयम का वन्धन स्वीकार करना हमारे हित मे है ।

जब हम बचपन मे साइकिल चलाते थे, तब साइकिल चलाना तो आता नही था और मन करता था कि साइकिल चलाये और पूरी गति से चलाये, तभी आनन्द आयेगा। साइकिल बड़ी थी और सीट पर हम बैठ नही पाते थे, क्योकि शरीर की ऊँचाई कम थी और यदि सीट पर बैठ भी जाये तो पैर पैडिल तक पहुँच नही पाते थे। तब पहले-पहले पीछे कोई व्यक्ति पकड़ता था और आगे भी एक हाथ से हैण्डिल पकड़ता था। धीरे-धीरे हैण्डिल पकड़ना आने लगा लेकिन बिना सहारे चला नही पाते थे। फिर पैरो मे जब अभ्यास हुआ और हाथ से पकड़ने की क्षमता भी आ गयी और अपने बोझ को सॅभालने का साहस भी आ गया तो हमने कहा कि भइया! तुम पकडते क्यो हो ? छोड दो लेकिन कुछ दिन वह पीछे से सहारा देकर पकड़े रहता था। कभी जरा छोड़ता था तो गिरने की नौबत आ जाती थी। फिर उसने कहा कि देखो मै इस तरह पकड़े हूँ कि तुम्हे चलाने मे बाधा नही आती। पीछे पकडकर मे खीचता नहीं हूँ, मैं तो मात्र सहारा दिये रहता हूँ।

यही सयम का बन्धन ऐसा ही सहारा देने वाला है फिर जब पूरी तरह अपने बल पर चलने की क्षमता आ गयी तो उसने अपने आप छोड दिया। लेकिन समझा दिया कि ध्यान रखना मोड़ आने पर या किसी के सामने आ जाने पर ब्रेक का सहारा अभी भी लेना पड़ेगा। सयम के पालन मे निष्णात हो जाने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियो मे विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

एक बार आनन्द लेने के लिए गाडी को हम चढ़ाव पर लेकर गये फिर उसके उपरान्त उतार पर गाड़ी को लगा दिया और पॉच-छह पैडल भी तेज-तेज चला दिया। गति ऐसी आ गयी कि अब सॅभालना मुश्किल लगने लगा। आगे एक मोड़ था और सॅभालना नही आ रहा था। अचानक ब्रेक लगाऊँ तो गिरने का डर था। तब एक पगडण्डी जो सडक के बाजू से जाती थी, जो थोड़ी चढ़ाव वाली थी। बस। हमने उस ओर हैण्डिल मोड़ दिया और गाडी उस पगडण्डी पर जाकर धीरे-धीरे थम गयी। अगर ऐसे ही छोड़ देता तो नियम से गिरना पडता। अर्थ यह हुआ कि सयम के साथ सावधानी की बडी आवश्यकता है।

आप लोग तो अभी ब्रेक लगाये बिना ही गाड़ी को दोड़ा रहे है और नीचे जाते हुए भी आँख मीचे बैठे है। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। आप सोचते है कि हम सुरक्षित रह जायेगे लेकिन आप स्वय सोचो, क्या सयम के बिना जीवन सुरक्षित रह पायेगा ? जैसे गाडी सीखने-समझने के उपरान्त भी सयम और सावधानी की बड़ी आवश्यकता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी सयम की बड़ी आवश्यकता है, कोई चेम्पियन भी क्यो न हो, उसे भी वाहन चलाते समय सयम रखना पड़ता है अन्यथा दुर्घटना होने मे देर नही लगती। सडक के नियमो का पालन न करे तो भी दुर्घटना हो सकती है। जैसे सड़क पर चलने वाले हर यात्री को सडक के नियमो का पालन करना अनिवार्य होता है, इसी प्रकार मोक्ष के मार्ग मे चलने वाले के लिए नियम-सयम का पालन अनिवार्य है।

लेटे हुए व्यक्ति को कोई विशेष सावधानी की आवश्यकता नही पडती, पर वैठे हुए व्यक्ति को थोडी सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि वैठे-वैठे भी असावधानी होने से गिरना सम्भव है। इसके उपरान्त यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर खड़ा हो जाये और आँख मींच ले, तव तो वड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। ऐसे ही मोक्षमार्ग मे स्थित होकर नियम-सयम से चलने वाले को सावधानी रखने की वडी आवश्यकता है।

आचार्यों ने कहा है कि खडे होकर साधक यदि ध्यान लगाये या महाव्रती आहार ग्रहण करे तो इस वात का ध्यान रखे कि दोनो पञ्जो के वीच मे लगभग वारह अङ्गुल का और दोनो पैरो की एडियो के वीच कम से कम चार अगुल का अन्तर वनाये रखे। तभी सतुलन (वैलेंस) अधिक देर तक वना रह सकेगा। अन्यथा गिरना भी सम्भव है। यह तो खड़े होने की वात कही, यदि आप चल रहे हैं और मान लीजिये वहुत सकरे रास्ते से चल रहे हैं तव तो और भी सावधानी रखनी होगी। शिखरजी मे चन्द्रप्रभु भगवान की टोंक पर जाते चढ़ते समय सकरी पगडण्डी से चलना पड़ता है। सीढियाँ नही हैं, ऊवड-खावड़ रास्ता है, तो वहाँ सन्तुलन आवश्यक हो जाता है। वैसे ही सभी जगह सन्तुलन आवश्यक है।

अभी आप यहाँ सुन रहे हैं। सुनने के लिए भी सन्तुलन की आवश्यकता है। जरा भी ध्यान यहाँ-वहाँ हुआ कि शब्द छूट जायेगे। वात पूरी समझ मे नही आ पायेगी। अभी थोड़ी देर पहले हम वोलते-वोलते रुक गये थे। आप पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यो हुआ ? तो वात ये है भइया ! कि आचार्यों ने हमारे लिए भाषा-समिति पूर्वक वोलने का आदेश दिया है। आचार्यो ने कहा कि हमेशा सयम का ध्यान रखना। असयमी के वीच वैठकर भी असयम का व्यवहार नहीं करना। जिस समय वोलना सहज रूप से सम्भव हो उसी समय वोलना। यदि वोलते समय किसी व्यवधान के कारण वोलने मे विशेष शक्ति लगानी पडे तो भाषा समिति भङ्ग होने की सभावना रहती है। अभी ऊपर पण्डाल पर पानी की वूँदो के गिरने की तेज आवाज आ रही थी और माइक होते हुए भी आवाज आप तक नहीं पहुँच रही थी, अत- तेज आवाज मे वोलना ठीक नहीं था, इसलिए चुप रह गया।

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'[3] प्रमाद पूर्वक प्राणों का घात करने से नियम से हिंसा होती है।

अत: सयम सभी क्षेत्रो मे रखना होगा। सयम से व्यक्ति का स्वय वचाव होता है और दूसरे का वचाव भी हो जाता है। जव आप लौकिक कार्यो मे भी सयम का ध्यान रखते हैं तो आचार्य कहते हैं कि जिस मोक्षमार्ग पर मुमुक्षु चलता है उसके लिए तो चौवीसों घण्टे या जीवन पर्यन्त ही सावधानी की, सयम की वड़ी आवश्यकता होती है। थोड़े समय के लिए भी यदि असयम भाव आ जायेगा तो नियम से वह गुणस्थान मे नीचे गिर जायेगा अर्थात् परिणामों से पतित हो जायेगा। तव जहाँ निर्जरा होना आरंभिन थी वहाँ निर्जरा न होकर वन्ध होना प्रारम्भ हो जायेगा। असयम के द्वारा जो वन्ध होता है वह कभी भी पूरी तरह

निर्जरित नही हो सकता और मुक्ति भी नहीं मिलती । सयम के साथ जो सवर पूर्वक निर्जरा होती है उसी से निर्बन्ध दशा की प्राप्ति होती है । सयम के द्वारा प्रतिक्षण असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती रहती है ।

तत्त्वार्थ सूत्र जी मे एक सूत्र आया है–'सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा '' इसमे कही भी असयम के द्वारा असख्यात गुणी निर्जरा होने का उल्लेख नही आया । सम्यग्दर्शन के साथ भी मात्र उत्पत्ति के समय असख्यात गुणी निर्जरा होती है उसके उपरान्त नही । जीवन पर्यन्त सम्यग्दृष्टि अकेले सम्यक्त्व के द्वारा असख्यात गुणी निर्जरा नहीं कर सकता । लेकिन यदि वह देशसयम को अङ्गीकार कर लेता है, अर्थात् श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर लेता है तो उसे असख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है । एक क्षायिक सम्यग्दृष्टि मान लीजिये सामायिक के काल मे सामायिक करने बैठा है तो भी उसकी असख्यात गुणी निर्जरा नहीं होगी और वहीं एक देशव्रती भोजन कर रहा है तो भी उसकी असख्यात गुणी निर्जरा हो रही है । आचार्य कहते है कि यही तो सयम का लाभ है तथा सयम का महत्त्व है । यदि कोई सकल-सयम को धारण करके महाव्रती बन जाता है तो उसकी असख्यात गुणी निर्जरा और बढ जाती है । एक देश सयमी श्रावक सामायिक मे जितनी कर्म-निर्जरा करता है उससे असख्यात गुणी निर्जरा एक मुनि महाराज आहार लेते समय भी कर लेते है । इसका कारण यही है कि जिसने सयम की ओर जितने कदम ज्यादा बढ़ाये है उसकी कर्म-निर्जरा भी उतनी ज्यादा होगी । इतना ही नहीं जिसने सयम की ओर कदम बढ़ाये उसके लिए बिना माँगे ऐसा अपूर्व-पुण्य का सञ्चय भी होने लगता है जो असयमी के लिए कभी सम्भव ही नहीं है ।

सयम वह है जिसके द्वारा अनन्तकाल से बन्धे सस्कार भी समाप्त हो जाते है । तीर्थङ्कर भगवान भी घर मे रहकर मुक्ति नहीं पा सकते । वे भी सयम लेने के उपरान्त निर्जरा करके सिद्धत्व को प्राप्त करते है । सम्यग्दर्शन का काम इतना ही है कि हमे प्रकाश मिल गया । अब मञ्जिल पाने के लिए चलना हमे ही है । उद्यम हमे करना है और उस उद्यम मे जितनी गति होगी उतनी ही जल्दी मञ्जिल समीप आ जायेगी ।

सयम के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है सयम के माध्यम से ही हमारी यात्रा मञ्जिल की ओर प्रारम्भ होती है और मञ्जिल तक पहुँचती है । यात्रा-पथ तो सयम का ही है । देशसयम और सकल सयम ही पथ बनाते है क्योकि चलने वाले से ही पथ का निर्माण होता है । बैठा हुआ व्यक्ति पथ का निर्माण नहीं कर सकता । वह पथ को अवरुद्ध अवश्य कर सकता है । असयम के सस्कार अगर देखा जाए तो अनादि काल से है तभी तो आज तक आप कभी भी, भूलकर भी, स्वप्न मे भी दीक्षित नहीं हुए होगे । कभी मुनि महाराज बनने का स्वप्न नहीं देखा होगा । हाँ, महाराजो को आहार देने का स्वप्न अवश्य देखा होगा ।

जिसकी सयम मे रुचि गहरी है वह स्वप्न मे भी अपने को सयमी ही देखता है । जिसका मन अभी दिन मे भी भगवान की पूजा, भक्ति और सयम की ओर नहीं लगता वह रात्रि

मे स्वप्न मे भगवान की पूजा करते हुए या सयम पूर्वक आचरण करते हुए स्वय को कैसे देख पायेगा ? बन्धुओ ! अगर अपना आत्म कल्याण करना हो तो सयम कदम-कदम पर अपेक्षित है । लेकिन ध्यान रखना सयम के माध्यम से किसी लौकिक चीज की अपेक्षा मत रखना । अन्यथा वह बाह्य तप या अकाम-निर्जरा की कोटि मे ही आयेगा ।

समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भू स्तोत्र मे शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि –

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विन केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्ति समधीरवारुणत् ॥[५]

हे शीतलनाथ भगवन् ! आपने जो सयम धारण किया, आपने जिस चारित्र को अङ्गीकार किया उसका उद्देश्य साधारण नहीं था । अन्य तपस्वियो की तरह आपने 'अपत्य-तृष्णया' अर्थात् पुत्र-रत्न की प्राप्ति की वाञ्छा से या 'वित्त-तृष्णया' अर्थात् धन-प्राप्ति की आकाङ्क्षा से या 'उत्तरलोकतृष्णया' अर्थात् परलोक या कदाचित इहलोक के सुखो की प्राप्ति की आकाङ्क्षा से सयम धारण नहीं किया । अपितु जन्म-जरा और मृत्यु का नाश करने के लिए सयम को अङ्गीकार किया है । यही आपकी असाधारण विशेषता है । आप रात-दिन अपनी आत्मा मे लीन रहे । कभी प्रमाद को अङ्गीकार नहीं किया तथा कषाय को भी अङ्गीकार नहीं किया । आपकी प्रत्येक क्रिया मे सावधानी ही नजर आती है । चलते समय आप सावधान रहे, भोजन करते समय भी आपने सावधानी को नहीं छोड़ा । अत आप जैसे सयमी की चर्या से चौबीसो घण्टे उपदेश मिलता रहता है ।

सयमी का पूरा जीवन ही उपदेशमय हो जाता है । दौलतराम जी ने बारह-भावना का उपसहार करते हुए पॉचवी-ढाल मे लिखा है कि–

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये ।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥[६]

और आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ मे कहते है कि "अवाग्–विसर्ग वपुषा निरूपयन्त मोक्षमार्ग" –वचन वोले विना, कुछ कहे बिना, जिनके दर्शन मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है, ऐसे सकल-सयम के धारी वीतरागी आचार्य ही भव्य जीवो का कल्याण करने मे सहायक होते है ।

जिसके भीतर सयम के प्रति रुचि है वह तो सयमी के दर्शन मात्र से ही अपने कल्याण के पथ को अङ्गीकार कर लेता है । जिसे अभी आत्मतत्त्व के वारे मे जिज्ञासा ही नहीं हुई कि हम कौन है ? कहॉ से आये है ? ऐसे कव से है ? और ऐसे ही क्यो है ? हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह मोक्षमार्ग पर कैसे कदम वढ़ायेगा । जिसके मन मे ऐसी जिज्ञासा होती है, वही सयम के प्रति और सयमी के प्रति भी आकृष्ट होता है । वह ही सच्चा मुमुक्षु है ।

यह तो भीतरी बात हुई पर बाहर का भी प्रभाव कम नहीं है। एक सयमी व्यक्ति के सयमित आचरण को देखकर दूसरा भी सयम की ओर कदम बढ़ाने लग जाता है। जैसे क्लास मे एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान पर आ जावे तो सारे के सारे विद्यार्थियो की दृष्टि इस ओर चली जाती है और मास्टर के कहने की आवश्यकता नही पड़ती कि तुम सभी को और मेहनत पढ़ाई मे करनी चाहिये। विद्यार्थी अपने आप पढ़ने मे मेहनत करने लग जाते हैं। एक राजा यदि सयम ग्रहण कर लेता है तो अन्य प्रजाजनो के मन मे भी सयम के प्रति अभिरुचि अवश्य जागृत होने लगती है। वीतरागता की सुगन्ध अपने आप सभी तरफ फैलकर अपना प्रभाव डालती है और स्वयमेव ज्ञात होने लगता है कि आत्मोपलब्धि के लिए सयम की बड़ी आवश्यकता है।

सयम का एक अर्थ इन्द्रिय और मन पर लगाम लगाना भी है और असयम का अर्थ बे-लगाम होना है। बिन ब्रेक की गाड़ी और बिना लगाम का घोड़ा जैसे अपनी मञ्जिल पर नही पहुँचता, उसी प्रकार असयम के साथ जीवन बिताने वाले को मञ्जिल नही मिलती। एक नदी मञ्जिल तक तभी पहुँच सकती है, सागर तक तभी जा सकती है जब कि उसके दोनो तट मजबूत हो। यदि तट भग हो जाये तो नदी वही-वही मरुभूमि मे विलीन हो जायेगी। उसी प्रकार सयम रूपी तटो के माध्यम से हम अपने जीवन की धारा को मञ्जिल तक ले जाने मे सक्षम होते हैं। अकेला सम्यग्दर्शन विषयो की ओर जाते हुए इन्द्रिय और मन को रोक नही पाता। उसके साथ सम्यक् चारित्र का होना भी नितान्त आवश्यक है।

सयमी व्यक्ति ही कर्म के उदय रूपी थपेड़े झेल पाता है। जैसे बिजली के वायर मे भारी से भारी करेण्ट क्यो न हो लेकिन एक जीरो वॉट का बल्ब लगा दिया जाए तो वह सारे के सारे करेण्ट को सँभाल लेता है और धीमा-धीमा प्रकाश बाहर आ पाता है। जबकि उसी स्थान पर अगर सो वॉट का बल्ब लगा दिया जाये तो पूरा प्रकाश बाहर आने लगता है, इसी प्रकार भीतरी कर्म के उदय को सँभालने के लिए सयम जीरो वॉट के बल्ब की तरह काम करता है। वह उदय आने पर विचलित नही होने देता। सयम बनाये रखता है। कर्म अपना प्रभाव पूरा नही दिखा पाता।

कर्म के वेग और बोझ को सहने की क्षमता असयमी के पास नही है। वह तो जब चाहे तब जैसा कर्म का उदय आया वैसा कर लेता है। खाने की इच्छा हुई और खाने लगे। देखने की इच्छा हो गयी तो देख लिया। सुनने की इच्छा हुई तो सुन लिया। वास्तव मे देखा जाये तो इन्द्रियाँ कुछ नहीं चाहतीं। वे तो खिड़कियों के समान है। भीतर बैठा हुआ मन ही उन खिड़कियो के माध्यम से काम करता रहता है। कभी कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शब्द की ओर आकृष्ट होता है, कभी आँख के द्वारा रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, कभी नासिका के द्वारा गंध लेता है, कभी वह रसना इन्द्रिय के द्वारा रस चखने की आकाक्षा करता है, तो कभी स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से बाहर पदार्थों के स्पर्श में रत रहता है। जो इस मन पर लगाम लगाने का काम करता है वही सयमी हो जाता है और वही कर्म के उदय मे, उसके आवेग को झेल पाता है।

वह सयमी विचार करता है कि इन्द्रियो के विषयो की ओर जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है। मेरा/आत्मा का स्वभाव तो मात्र अपनी ओर देखना और अपने को जानना है। सयमी ही ऐसा विचार कर पाता है और सयमी ही आत्म पुरुपार्थ के वल पर अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

'न भूत की स्मृति, अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हे विषय तो विष दीखते है, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते है॥"

सयमी ही वास्तव मे ज्ञानी है। जिसे पूर्व मे भोगे गये इन्द्रिय विषयो की स्मृति करना भी नहीं रुचता और आगे भोगोपभोग की सामग्री मिले, ऐसी लालसा भी मन मे नहीं आती। वह तो विषयो को विष मानकर छोड़ देता है और निरन्तर हमे/ससारी-प्राणियो को वैराग्य का पाठ सिखाता है। वैराग्य का पाठ सिखाने वाला सयमी के अलावा और कोई नहीं हो सकता। आप चाहो कि सयम के अभाव मे मात्र सम्यग्दर्शन मे यह काम हो जाये तो सम्भव नहीं है।

मै पूछता हूँ कि यदि धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा मजवूत श्रद्धान आपका है तो मोक्षमार्ग पर चलने का साहस क्यो नहीं है ? रात्रि मे खाते नहीं है पर रात्रि भोजन का त्याग भी नहीं है। तात्पर्य यही हुआ कि कभी खाने का अवसर आया तो खा भी लेगे। रास्ते से चलते समय आप देखकर चलते है क्योकि कङ्कर-पत्थर या कॉटा लगने का भय है, लेकिन नीचे देखकर चलने के पीछे चींटी आदि को वचाने का भाव कभी नहीं आता। खाने-पीने की चीजे देखकर खाते पीते है कि कहीं भीतर जाकर शरीर के लिए वाधक न वन जाये। वहॉ दृष्टि आगम की अपेक्षा शोधन करने की नहीं है। अभिप्राय मे यही अन्तर असयम का प्रतीक है।

एक वार पन्द्रह अगस्त की वात है। जिस समय हम स्कूल जाते थे। स्कूल मे सुवह पहले प्रभात फेरी निकाली गयी फिर वाद मे ध्वजारोहण किया जाना था। प्रवन्ध सव हो गया। ध्वजारोहण के साथ ही पुष्पवृष्टि की व्यवस्था भी की गयी थी। जव ध्वजारोहण के लिए डोर खींची गयी तो पुष्पवृष्टि नहीं हुई और ध्वजा भी नहीं फहरायी। वात यह हुई कि असावधानी हो गयी। ऐसी गॉठ ध्वजा की डोर मे लगा दी कि समय पर डोर खींचने से खुली नहीं और ध्वजा के साथ पुष्पवृष्टि भी नहीं हुई।

दुनियॉ के वन्धन सव ऐसे ही है। तव हमने उसी समय समझ लिया कि भइया! ऐसे वन्धन मे नहीं वन्धना है कि जिसके द्वारा जीवन मे पुष्पवृष्टि रुक जावे। धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा श्रद्धान होते ही सयम मे इस ढग से वन्धो कि धर्म-ध्वजा ऊपर भी पहुँच जाय और ऊपर पहुँचकर फहराये तथा पुष्पो की वर्षा भी हो। विना वन्धे तो ध्वजा ऊपर नहीं जायेगी और न ही पुष्प ऊपर जा पायेगे इसलिए वन्धन तो अनिवार्य है, पर ऐसा वन्धन कि डोर खींचते ही ध्वजा फहराये और पुष्पो की वर्षा हो। गॉठ इतनी ढीली भी न हो कि वीच मे ही खुल जाये और पुष्प गिर जाये। अकाल वृष्टि भी ठीक नहीं, अत समय पर वृष्टि हो और वातावरण मे सुगन्ध फैल जाये।

वन्धुओ ! सयम ऐसा चाहिये जो जीवन मे सुगन्धि पैदा कर दे । सयम के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन मे आदि से लेकर अन्त तक पुष्पवृष्टि के द्वारा अभिषिक्त होता रहता है । उसके जीवन मे कभी विषाद, या विकलागता या दीनता-हीनता नहीं आती । वह तो राजाओ से वढ़कर अर्थात् महाराजा वनकर निश्चिन्तता को पा लेता है । उसे किसी वात की चिन्ता नहीं रहती । वह हमेशा खुश रहता है । ध्यान रखना– खुश्क नहीं रहता, खुश रहता है । (हँसी) हाँ ऐसा ही खुश । उसके वचन भी खुश रहते है । जीवन भी खुश रहता है । सभी कुछ खुश रहता है और इस खुशहाली का कारण उत्तम-सयम ही है ।

सारे वन्धनो से मुक्त होकर, सभी कुछ छोड़कर एक मात्र सच्चे देव-गुरू-शास्त्र से वँधना होता है, तभी जीवन मे स्वतन्त्रता आती है । जीवन मे उच्छृखलता ठीक नहीं है । भारत को स्वतन्त्रता पाये आज लगभग अड़तीस वर्ष हो गये, लेकिन स्वतन्त्रता जैसा अनुभव यदि कोई नहीं कर पाता तो उसका कारण यही है कि सयम को प्राप्त नहीं किया । वैसे तो स्वतन्त्रता को प्राप्त करना ही कठिन है, लेकिन स्वतन्त्रता के द्वारा आनन्द का अनुभव करना विना सयमित जीवन के सम्भव नहीं है ।

सयम के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन मे सुगन्ध आ रही है या नहीं ? जीवन मे सयम के साथ सुगन्ध तभी आती है जव हम सयम को प्रदर्शित नहीं करते वल्कि अन्तरङ्ग मे प्रकाशित करते है । प्राय करके यही देखने मे आ जाता है कि सयम का प्रदर्शन करने वाले के जीवन मे खुशवू न देखकर अन्य लोग भी सयम से दूर हटने लग जाते है । उन्हे समझना चाहिये कि कागज के वनावटी फूलो से खुशवू आ कैसे सकती है ? सयम प्रदर्शन की चीज नहीं है । दिखावे की चीज नहीं है ।

अष्टपाहुड मे आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियो के लिए लिखा है कि 'भावेण होई णग्गो'[८] यानि भाव से नग्न हो । भाव से नग्नता ही जीवन को सुवासित करेगी, मात्र वाह्य नग्नता से काम नहीं चलेगा । साथ ही यह भी कह दिया कि सकल सयम का धारी मुनि अपने आप मे स्वय तीर्थ है । उसे अन्य किसी तीर्थ पर जाना अनिवार्य नहीं है । लेकिन वह प्रमाद भी नहीं करता यानी तीर्थ के दर्शन मिलते है तो अवश्य करता है और नहीं मिलने पर अपने लिए जिन-विम्व का निर्माण भी नहीं कराता ।

वड़ी सावधानी का काम है । जो भगवान को अपने हृदय मे स्थापित कर लेता है वह तो प्रतिक्षण उनके दर्शन करता ही रहता है स्वयम्भूस्तोत्र मे नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते है कि –

स्तुति स्तोतु साधो कुशलपरिणामाय स तदा ।
भवेन्मा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सत ॥
किमेव स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रेयसपथे ।
स्तुयान्नत्वा विद्वान् सततमभि पूज्य नमिजिनम् ॥[९]

हे नमि जिन ! आप यहाँ हो तो ठीक और यहाँ नहीं हो तो भी ठीक ! कुशल परिणामो के द्वारा की गयी आपकी स्तुति फलदायिनी हुए बिना रह नहीं सकती । आपके द्वारा वताया गया श्रेयस्कर मार्ग उतना स्वाश्रित है और सहज सुलभ है । इसी से तो विद्वान्-जन आपके चरणो मे नतमस्तक होते है और आपकी ही स्तुति करते है । यह है सयमी की आस्था । आस्था के साथ सयमपूर्वक भक्ति की क्रिया चलती है । इसलिये तो सयमी को कहा कि तुम स्वय चैत्य हो । तुम स्वय तीर्थ हो । धर्म की मूर्ति भी तुम स्वय हो । तुम्हे देखकर अनेको को दिशाबोध मिल जाता है ।

ऐसा यह जिनलिङ्ग धारण करने वाले सयमी महाव्रती का माहात्म्य है । जिसने तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा, आरम्भ और विषय कषाय सव छोड़ दिया । हाथ से भी छोड़ दिया और मन से भी छोड दिया । इस जिनलिङ्ग को धारण करने वाले हे मुनि ! अव स्मरण रखना कि कभी जोड़ने का भाव न आ जाये । भाव से भी नग्न रहना । अन्यथा सयम का वाना मात्र प्रदर्शन होकर रह जायेगा । सयम तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनाना ।

सयम वह है जिसके द्वारा जीवन स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो जाता है । ऐसा सयम प्राप्त करना सरल भी है, और कठिन भी । जो चौबीसो घण्टे अपने मे लीन रहे, अपने आत्मा के आनन्द को पान करे उसे तो सरल है और जब कोई अपने अकेले होने से आनन्द के स्थान पर दु ख का अनुभव करने लगे तो यही उसे कठिन हो जाता है । जैसे कि बारात घर से चली जाती है तो घर मे ऐसा लगता है कि भाग चलो यहाँ से । हमारी निधि ही मानो यहाँ से चली गयी हो । सयमी व्यक्ति जव सयोग और वियोग सभी मे समान भाव से रहता है तो सयम का मार्ग सरल लगने लगता है । अपने मे लीनता आना ही सरलता की ओर जाना है । सयमित जीवन मे प्रतिक्षण आत्मा का अध्ययन चलता रहता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियो के अट्ठाईस मूलगुणो मे षट् आवश्यक के अन्तर्गत अलग से स्वाध्याय नहीं रखा । नियमसार ग्रन्थ मे कह दिया कि प्रतिक्रमण ही स्वाध्याय है । जो चौवीसो घण्टे अपने आवश्यको मे मन को लगाये रखता है, उसका स्वाध्याय तो निरन्तर चलता ही रहता है । ईर्या-समिति पूर्वक चलना, एषणा-समिति पूर्वक आहार ग्रहण करना, भाषा समिति पूर्वक वोलना, आदान-निक्षेपण समिति को ध्यान मे रखते हुए उठना-बैठना, उपकरणो को उठाना-रखना तथा मलमूत्र के विसर्जन के समय प्रतिष्ठापन-समिति का पालन करना, इन सभी के माध्यम से जो निरन्तर सावधानी वनी रहेगी जागरूकता और अप्रमत्तता वनी रहेगी, वही तो स्वाध्याय है ।

सयोग-वियोग मे जो समता परिणाम वनाये रखता है तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता मे हर्ष-विषाद नहीं करता ऐसा सयमी व्यक्ति ही सच्चा स्वाध्याय करने वाला है । अव तो कोई सयम पूर्वक ग्रन्थ की उपयोगी वातो को हृदयङ्गम नहीं करते, मात्र दूसरे को वताने की

दृष्टि से समयसार आदि महान ग्रन्थो को मुखाग्र कर लेते है। कहे कि मात्र शिरङ्गम कर लेते है और इसी को स्वाध्याय मानकर बैठ जाते है।

वन्धुओ ! वास्तव मे तो स्वाध्याय अपनी प्रत्येक क्रिया के प्रति सजग रहने मे है। 'स्व' का निकट से अध्ययन करने मे है। सयमपूर्वक प्रत्येक घड़ी, असख्यात गुणी निर्जरा करते हुए समय का सदुपयोग करना ही कल्याणकारी है और इसी मे मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

सयम धर्म–

१ रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४७

२ शान्तिभक्ति - १

३ तत्त्वार्थसूत्र ७/१३

४ तत्त्वार्थसूत्र ९/४५

५ स्वयम्भूस्तोत्र ४९

६ छहढाला (पॉचवी ढाल-१५)

७ समयसार-गाथा २२८ (हिन्दी पद्यानुवाद आ० विद्यासागर कृत)

८ भावपाहुड ७३

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिग जिणाणाए ॥

९ स्वयम्भूस्तोत्र-११६
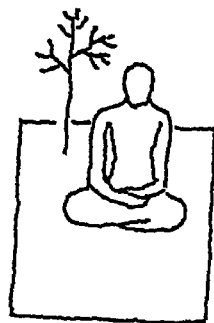
उत्तम-तप

- *विसयकसायविणिग्गह,*
  भावं काऊण झाणसिज्झीए।
  जो भावइ अप्पाणं,
  तस्स तवं होदि णियमेण॥

पाँचो इन्द्रियो के विषयो को तथा चारो कषायों को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है उसके नियम से तप-धर्म होता है। (७७)

आम अभी हरा-भरा डाल पर लटक रहा है। अभी उसमे से कोई सुगन्ध नहीं फूटी है और रस भी चखने योग्य नहीं हुआ है, किन्तु बगीचे के माली ने उस आम्रफल को तोड़ा और अपने घर मे लाकर पलाश के पत्तो के बीच रख दिया है। तीन-चार दिन के उपरान्त देखा तो वह आम्रफल पीले रग का हो गया, उसमे मीठी-मीठी सुगन्ध फूट गयी है और रस मे भी मीठापन आ गया, कठोरता के स्थान पर कोमलता आ गयी। खाने के लिए आपका मन ललचाने लगे, मुख मे पानी आ जाये। ऐसा इतना अविलम्ब परिवर्तन उसमे कैसे आ गया ? तो माली ने बता दिया कि यह सब अतिरिक्त ताप/ऊष्मा का परिणाम है। तप के सामने कठोरता को भी मुलायम होना पड़ता है और नीरस भी सरस हो जाता है। सुगन्धी फूटने लगती है और खटाई, खटाई मे पड़ जाती है। अर्थात् मीठापन आ जाता है।

आज तप का दिन है। बात आपके समझ मे आ गयी होगी। अनादि-काल से ससारी प्राणी इसी तरह कच्चे आम्रफल के रूप मे रह रहा है। तप के अभाव मे चाहे वह सन्यासी हो, चाहे वनवासी हो या भवनवासी हो अर्थात् महलो मे रहने वाला हो, उसका पकना सम्भव नहीं है। तप के द्वारा भी पूर्व सञ्चित कर्म पककर खिर जाते है मङ्गतराय की 'बारह भावना' मे निर्जरा-भावना के अन्तर्गत कुछ पक्तियाँ आती है—

उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली।
दूजी है अविपाक पकावै पाल विषै माली॥[1]

जैसे वह माली पलाश के पत्तो मे पाल लगाकर आम्रफल को समय से पहले पकाने की प्रक्रिया करता है और बाहरी हवा से बचाये रखता है। तब वह आम्रफल मीठा होकर, मुलायम होकर सुगन्ध फैलाने लगता है, यही स्थिति यहाँ परमार्थ के क्षेत्र मे भी है। आत्मा के स्वभाव का स्वाद लेने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य जैसे महान् आचार्य हमे सम्बोधित करते है कि हे भव्य ! यदि रत्नत्रय को धारण कर लो तो शीघ्र ही तप के माध्यम से तुम्हारे भीतर आत्मा की सुगन्धी फूटने लगेगी और आत्मा का निजी स्वाद आने लगेगा। रत्नत्रय के साथ किया गया तपश्चरण ही मुक्ति मे कारण बनता है।

तपश्चरण करना अर्थात् तपना जरूरी है और तपने की प्रक्रिया भी ठीक-ठीक होनी चाहिये। जैसे किसी ने हलुआ की प्रशसा सुनी तो सोचा कि हम भी हलुआ खायेगे। पूछा गया कि हलुआ कैसे बनेगा ? तो किसी ने बताया कि हलुआ बनाना बहुत सरल है। तीन चीजे मिलाना पड़ती है। आटा चाहिये, घी और शक्कर चाहिये। तीनों को मिला दो तो हलुआ बन जाता है। उस व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी से तीनो चीजे मिला कर खाना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन स्वाद नहीं आया। आनन्द नहीं आया। कुछ समझ मे नहीं आया कि बात क्या हो गयी ? फिर से पूछा कि जैसा बताया था उसी के अनुसार तैयार किया है लेकिन स्वाद क्यो नहीं आया ? जेसा सुना था वैसा आनन्द नहीं आया। तो वह बताने वाला हँसने लगा, बोला कि अकेले तीनो को मिलाने से स्वाद नहीं आयेगा। हलुआ का स्वाद तो तीनो को ठीक-ठीक प्रक्रिया करके मिलाने पर आयेगा और इतना ही नहीं अग्नि पर तपाना भी होगा। फिर तीनो जब धीरे-धीरे एकमेक हो जाते है, स्वाद तभी आता है और सुगन्ध तभी फूटती है।

'जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेद् न जहाँ' ध्यान मे पहुँचकर ऐसी स्थिति आ जाती है। चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि ध्यान करने वाला, ध्यान की क्रियाओर ध्येय, तीनो एकमेक हो जाते है। विना अग्नि-परीक्षा के तीनो को मिलना सम्भव नहीं है। ध्यान की अग्नि मे तपकर ही परम पद का स्वाद पाया जा सकता है। मिलना ऐसा हो कि जैसे हलुआ मे यह शक्कर है, यह घी है और यह आटा है –ऐसा अलग-अलग स्वाद नहीं आता, एकमात्र हलुआ का ही स्वाद आता है, ऐसा ही आत्मा का स्वाद ध्यान मे एकाग्रता आने पर आता है।

किसी को पकौडी या वड़ा खाने की इच्छा हुई तो वह क्या करेगा ? सारी सामग्री अनुपात से मिलाने के उपरान्त कड़ाही मे तलना पड़ेगा। वडा वनाने के लिए वड़े को अग्नि परीक्षा देनी होगी। विना अग्नि मे तपे वड़ा नहीं वन सकता। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति रत्नत्रय के साथ एक अन्तर्मुहूर्त तक ध्यानाग्नि मे तपे विना सम्भव नहीं होती। रत्नत्रय के साथ पूर्व कोटि व्यतीत हो सकते हैं लेकिन मुक्ति पाने के लिए चतुर्विध आराधना करनी होगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना अर्थात् रत्नत्रय की आराधना के साथ ही साथ चौथी तप-आराधना करना भी आवश्यक है।

जिस समय कोई दीक्षित हो जाता है, श्रमण वन जाता है तो उसे रत्नत्रय या पञ्चाचार का पालन करना होता है। किन्तु ध्यान रखना उसके साथ ही साथ उसके लिए एक तप और विशेष रूप से दिया जाता है। इसलिए कि तप का अनुभव वह साधक यहीं से आरम्भ कर दे और रत्नत्रय का स्वाद उसे आने लगे। साक्षात् मुक्ति रत्नत्रय से युक्त होकर तप के द्वारा ही होती है। अकेले रत्नत्रय से अर्थात् भेद रत्नत्रय से मुक्ति परम्परा से होती है। जैसे दुकान पर तुरन्त लाभ पाने के लिए आप कड़ी मेहनत करते है, ऐसे ही मोक्षमार्ग मे तुरन्त मुक्ति पाने के लिए आचार्यो ने तप को रखा है।

परमात्म प्रकाश मे योगीन्दु देव ने लिखा है कि –

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥[2]

उन परमात्मा को हम वार-वार नमस्कार करते है, जिन्होने परमात्मा वनने से पहले ध्यान रूपी अग्नि मे अपने को रत्नत्रय के साथ तपाया है और स्वर्ण की भाँति तपकर अपने आत्म स्वभाव की शाश्वतता का परिचय दिया है। स्वर्ण की सही-सही परख अग्नि मे तपाने से ही होती है उसमे वट्टा लगा हो तो निकल जाता है और सौ टञ्च सोना प्राप्त हो जाता है। जैसे पाषाण मे विद्यमान स्वर्ण से आप अपने को आभूषित नहीं कर सकते लेकिन अग्नि मे तपाकर उसे पाषाण से पृथक् करके शुद्ध करके उसके आभूषण वनाकर आभूषित हो जाते हैं, इसी प्रकार तप के माध्यम से आत्मा को विशुद्ध करके परम पद से आभूषित हुआ जा सकता है। यही तप का माहात्म्य है।

दक्षिण भारत मे कर्नाटक के आसपास विशेष रूप से बेलगाम जिले मे ज्वार की खेती प्राय अधिक होती है। वहाँ कुछ लोग पानी पड़ जाने के डर से समय से पूर्व आठ-दस दिन पहले ही यदि ज्वार को काटकर छाया मे रख लेते है, तो घाटे मे पड़ जाते हैं। लेकिन जो अनुभवी किसान है, वे जानते है कि यदि मोती जैसी उज्ज्वल ज्वार चाहिये हो तो उसे पूरी तरह पक जाने पर ही काटना चाहिये। इसलिए वे पानी की चिन्ता नहीं करते और पूरी की पूरी अवधि को पार करके ही ज्वार काटते है। जो पूरी की पूरी सीमा तक तपन देकर ज्वार काटता है उसके ज्वार घुँघरू की तरह आवाज करने वाले और आटे से भरपूर रहते है। वे वर्ष भर रखे भी रहे तो भी कीड़े वगैरह नहीं लगते। खरावी नहीं आती। इसी प्रकार पूरी तरह तप का योग पाकर रत्नत्रय मे निखार आता है फिर कैसी भी परिस्थिति आये वह रत्नत्रय का धारी मुनि हमेशा अपनी विशुद्धि वढ़ाता रहता है। सङ्क्लेश परिणाम नहीं करता। जो आधा घण्टे सामायिक करके जल्दी-जल्दी उठ जाते हैं, वे जल्दी थक भी जाते हैं, विचलित हो जाते है। लेकिन जो प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन घण्टे सामायिक और ध्यान मे लीन रहने का अभ्यास करते है, उनकी विशुद्धि हमेशा वढ़ती ही जाती है। इधर-उधर के कामो मे उनका मन नहीं भटकता और वे एकाग्र होकर अपने मे लगे रहते है।

तप की महिमा अपरम्पार है। दूध को तपाकर मलाई के द्वारा घी वनाते है तव उसका महत्त्व अधिक हो जाता है। घी के द्वारा प्रकाश और सुगन्धी दोनो ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वह पौष्टिक भी होता है। घी की एक और विशेषता है कि घी को फिर किसी भी तरल पदार्थ मे डुवोया नहीं जा सकता। घी को दूध मे भी डाल दो तो भी वह दूध के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। इसी प्रकार तप के माध्यम से विशुद्ध हुई आत्मा लोक के अग्र भाग पर जाकर विराजमान होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा कि जब भी मुक्ति मिलेगी तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपो का आलम्बन लेकर जो समय-समय पर आत्मा की आराधना मे लगा रहता है, उसे ही मोक्षपद प्राप्त होता है। जव कोई परम योगी, जीव रूपी लोह-तत्व को सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी औषध लगाकर तप रूपी धौंकनी से धौककर तपाते हैं, तव वह जीव रूपी लोह-तत्व स्वर्ण वन जाता है। ससारी-प्राणी अनन्त काल से इसी तप से विमुख हो रहा है और तप से डर रहा है कि कहीं जल न जाये। पर वैचित्र्य यह है कि आत्मा के अहित करने वाले विषय-कषायो मे निरन्तर जलते हुए भी सुख मान रहा है। आतम हित हेतु विराग ज्ञान। ते लखे आपको कष्ट दान"। जो आत्मा के हितकारी ज्ञान और वैराग्य है उन्हे कष्टकर मान रहा है। वन्धुओ! जव भी कल्याण होगा ज्ञान, वैराग्य और तप के माध्यम से ही होगा।

आचार्यों ने तप के दो भेद कहे है – एक भीतरी अतरङ्ग तप और दूसरा वाह्य तप। वाहरी तप एक प्रकार से साधन के रूप मे है और अतरङ्ग तप की प्राप्ति मे सहकारी है। वाहरी तप के विना भीतरी तप का उद्भव सम्भव नहीं है। जैसे दूध को तपाना हो तो

सीधे अग्नि पर तपाया नहीं जा सकता। किसी बर्तन मे रखकर ही तपाना होगा। दूध को बर्तन मे तपाते समय कोई पूछे कि क्या तपा रहे हो, तो यही कहा जायेगा कि दूध तपा रहे है। कोई भी यह नहीं कहेगा कि बर्तन तपा रहे हैं। जबकि साथ मे बर्तन भी तप रहा है। पहले बर्तन ही तपेगा फिर बाद मे भीतर का दूध तपेगा। इसी प्रकार बाहरी तप के माध्यम से शरीर रूपी बर्तन तपता है और बाहर से तपे बिना भीतरी तप नहीं आ सकता। भीतरी आत्म-तत्त्व को तप के माध्यम से तपाकर सक्रिय करना हो तो शरीर को तपाना ही पड़ेगा। पर वह शरीर को तपाना नहीं कहलायेगा, वह तो शरीर के माध्यम से भीतरी आत्मा मे बैठे विकारी भावों को हटाने के लिए, विकारों पर विजय पाने के लिए किया गया तप ही कहलायेगा।

जो सही समय पर इन तपों को अङ्गीकार कर लेते हैं, वास्तव मे वह समय के ज्ञाता है और समय-सार के ज्ञाता भी है। ऐसे तप को अङ्गीकार करने वाले विरले ही होते है। तप के ऊपर विश्वास भी विरलों को ही हुआ करता है, उसकी चर्चा भी विरले लोग ही सुन पाते है। यह सभी दुर्लभ से दुर्लभ बाते हैं। कल्पना करें कि कैसा होता होगा जब साक्षात् भगवान के समवशरण मे तप की देशना होती होगी और भव्य आत्माएँ भगवान के सम्मुख समवशरण मे दीक्षित होकर तप को अङ्गीकार करती होंगी। इतना ही नहीं बल्कि तप को अङ्गीकार करके अल्पकाल मे ही अपनी विशुद्ध आत्मा का दर्शन भी कर पाते होंगे। आप लोग यहाँ थोड़ा बहुत प्रोग्राम बना लेते हैं। दस दिन के लिए घर द्वार छोड़कर तीर्थ-क्षेत्र पर धर्म ध्यान करते हैं, तब सब भूल जाते हैं। लगता है ससार छूट गया और मोक्ष की ओर जा रहे हैं। दस-अध्यायों मे भी देखा जाए तो क्रम-क्रम से मोक्ष-तत्त्व की ओर जा रहे हैं।

ज्यों-ज्यों भावनाएँ पवित्र होती जाती हैं तो आत्मा को विशुद्ध बनाने की भावना भी प्रबल होती जाती है। इसी के माध्यम से क्रम-क्रम से एक न एक दिन हमें भी तप की शरण मिलेगी और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। जैसे रोगी की जठराग्नि मन्द हो जाने पर पहले धीरे-धीरे मूंग की दाल का पानी देते हैं। बहुत भूख लग जाये तो भी एक दो चम्मच मूंग की दाल के पानी से अधिक नहीं देते फिर बाद मे थोड़ी शक्ति आने पर रोटी वगैरह देना प्रारम्भ कर देते है। उसी प्रकार हम भी पुराने मरीज हैं। एक साथ तप की बात बहुत मुश्किल लगती है तो धीरे-धीरे चारित्र को धारण करके हम अपने तप की अग्नि को बढ़ाते जाएँ और जितनी-जितनी तप मे वृद्धि होती जायेगी उतना-उतना आनन्द आयेगा और यही आनन्द तप मे वृद्धि के लिए सहायक बनता जाएगा।

विशुद्धि के साथ किया गया तप ही कार्यकारी होता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि अणुव्रतों को धारण करके क्रम-क्रम मे विशुद्धि बढ़ाते हुए आगे महाव्रतों की ओर बढ़ना चाहिये। विशुद्धि हो तो विदेह क्षेत्र भी यहीं पर आ सकता है और विशुद्धि न हो तो विदेह भी शून्य हो सकता है। जहाँ निरन्तर तीर्थङ्कर का सानिध्य बना रहता है वहाँ भी यदि विशुद्धि नहीं है तो तीन-तीन बार दिव्यध्वनि सुनने वाला भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता जितनी

कि यहाँ व्रतो के माध्यम से विशुद्धि बढ़ाकर निर्जरा की जा सकती है। बहुत कम लोग ही अवसर का लाभ उठा पाते है। ससारी प्राणी की यही विचित्रता है कि जब तक नहीं मिलता तब तक अभाव खटकता है और मिल जाने के उपरान्त वह गौण हो जाता है। उसका सदुपयोग करने की भावना नहीं बनती। जो निकट भव्य-जीव होते है वे नियम से तप का अवसर मिलते ही पूरा का पूरा लाभ लेकर अपना कल्याण कर लेते है।

आप लोगो से मेरा इतना ही कहना है कि तप एक निधि है, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अङ्गीकार करने के उपरान्त प्राप्त करना अनिवार्य है। बिना तप का अनुष्ठान किये मुक्ति का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जैसे दीपक की लौ यदि टिमटिमाती हो और स्पन्दित हो, चचल हो तो न ही प्रकाश ठीक हो पाता है और न ही उससे पर्याप्त ऊष्मा ही मिल पाती है। इसी प्रकार रत्नत्रय के साथ जब तक ज्ञान स्थिर नहीं होता और जब तक उसमे एकाग्रता नहीं आती तब तक अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को वह ज्ञान अनुभव नहीं कर सकता। अर्थात् मुक्ति मे साक्षात् सहायक नहीं बन सकता। चेतना की धारा एक दिशा मे बहना चाहिये, और ध्याता और ध्येय की एकरूपता होनी चाहिये।

बन्धुओ! दुनियादारी की चर्चा मे अपना समय व्यतीत नहीं करना चाहिये, उससे कोई भी लाभ मिलने वाला नहीं है। सही वस्तु का आलोडन करने से ही उपलब्धि होती है। दस किलो दूध के दही से आप किलो, दो किलो नवनीत निकालो तो निकल भी आयेगा लेकिन उससे चौगुनी मात्रा मे भी पानी को मथकर नवनीत चाहो तो जरा भी नहीं निकलेगा। आप लोग दस दिन तक सुबह से शाम जिस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक कार्य मे लगे रहते है उसी प्रकार का कार्यक्रम हमेशा चलता रहना चाहिये। तब कहीं जाकर आत्मा मे पवित्रता आना प्रारम्भ होगी। जितना समय इसमे देगे उतना ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

यावत् स्वास्थ्यशरीरस्य, यावत् इन्द्रियसपदा। तावत् युक्त तपश्कर्म वार्धक्ये केवल श्रम
जब तक शरीर स्वस्थ है इन्द्रिय सम्पदा है, ज्ञान है और तप करने की क्षमता है तब तक तप को एकमात्र कार्य मानकर कर लेना चाहिये। क्योंकि वृद्धावस्था मे जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है और ज्ञान काम नहीं करता, तब हाथ क्या आता है? केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। यह शरीर भोगो के लिए नहीं मिला और न ही देखने के लिए मिला है इसके द्वारा तो आत्मा का मन्थन करके अमृत पा लेना चाहिये। आज तो मात्र खाओ, पिओ और मौज करो वाली बात हो रही है। इसके बीच भी यदि कोई विषय-कषाय से विरक्त तप की ओर अग्रसर होता है तो यह उसका सौभाग्य है। इतना ही नहीं उसका सान्निध्य भी जिसे मिलता है वह भी सौभाग्यशाली है। ससारी प्राणी ने आज तक दृढ़ता के साथ तपश्चरण को स्वीकार नहीं किया और तो सैकडो कार्य सम्पादिन किये लेकिन एक यही कार्य नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि दु ख मे ही सुख का आभास करने का सस्कार दृढ़ होता गया। आप पूजन करते समय बोलते अवश्य है कि—

ससार महादु ख सागर के, प्रभु दु खमय सुख आभासो मे।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कञ्चन-कामिनी प्रासादो मे॥

लेकिन भीतर इस बात का अनुभव नहीं हो पाता। तब ही दुःख जैसा प्रतीत होता है और इन्द्रिय विषयों में सुख जैसा लगता है। पर वास्तव में देखा जाए तो सच्चा सुख तो स्व में ही है। इन्द्रिय सुख तो मात्र सुखाभास है।

आत्मा की शक्ति अनन्त है। इस श्रद्धान के साथ जो व्यक्ति अपने इस जीवन को अविनश्वर सुख की खोज में लगा देता उसका जीवन सार्थक हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि –

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥[६]

आज भी स्वरूप की आराधना करके आत्म-ध्यान में लीन होकर इन्द्र के पद को प्राप्त कर सकते हैं, लौकान्तिक देव बन सकते हैं। इतना ही नहीं, वहाँ से नीचे आकर मनुष्य होकर नियम से मुक्ति पा सकते हैं। बन्धुओ! ऐसा जीवन न जाने किसका कितना रहा? आप चाहें तो इस समय में भी पुण्य की पूर्ण कर्म-निर्जरा अपने आत्म-पुरुषार्थ और आत्म बल के द्वारा कर सकते हैं। जो व्यक्ति निमित्त पाकर भी अपने उपादान को जागृत नहीं करता, वह अभी निमित्त-उपादान के वास्तविक ज्ञान से वंचित है। निमित्त में कार्य नहीं हुआ करता, कार्य तो उपादान में ही होता है, लेकिन निमित्त के बिना उपादान का कार्य कभी संभव भी न हुआ और न कभी होगा।

स्वरूप के साथ बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति सम्पादन कर सकता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है।

सन्दर्भ–

१. मंगतराय कृत बारहभावना १९
२. छहढाला (पाँचवीं ढाल ९)
३. परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेव
४. छहढाला (दूसरी ढाल-३)
५. देवशास्त्रगुरु पूजा - (द्यानतराय)
६. मोक्षपाहुड ७७
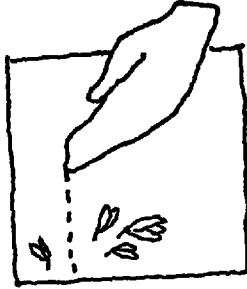
उत्तम त्याग

- *णिव्वेगतिय भावइ,*
  मोह चइऊण सव्वदव्वेसु ।
  जो तस्स हवेच्चागो,
  इदि भणिद जिणवरिंदेहि ॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यो के मोह को छोड़कर ससार, देह और भोगो से उदासीन परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है। (७८)

उत्तम त्याग की बात है। दान और त्याग ये दो शब्द आते हैं। दोनो मे थोडा सा अन्तर है। रागद्वेष से अपने को छुड़ाने का नाम 'त्याग' है। वस्तुओं के प्रति रागद्वेष के अभाव को 'त्याग कहा गया है। दान मे भी रागभाव हटाया जाता है किन्तु जिस वस्तु का दान किया जाता है उसके साथ किसी दूसरे के लिए देने का भाव भी रहता है। दान पर के निमित्त को लेकर किया जाता है किन्तु त्याग मे पर की कोई अपेक्षा नहीं रहती। किसी को देना नहीं है, मात्र छोड़ देना है। त्याग स्व को निमित्त बनाकर किया जाता है।

दान-रूप त्याग के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह अकेले स्व का नहीं, पर का भी होता है। 'पुरुषार्थ सिद्धियुपाय' ग्रन्थ मे आया है कि 'स्वपरानुग्रहहेतो'[1] स्व के ऊपर अनुग्रह और पर के ऊपर भी अनुग्रह जिससे हो वही दान रूप त्याग धर्म है। जो धर्म मे स्खलित हो गये हो, मोक्षमार्ग से च्युत होने को हो, संकट मे फँसे हुए हो, उनको सही मार्ग पर लगाना यह तो हुआ पर के ऊपर अनुग्रह और स्व के ऊपर अनुग्रह इस माध्यम से होने वाला पुण्य का सञ्चय है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि परोपकार सम्यग्ज्ञानादिवृद्धि स्वोपरोकार पुण्यसञ्चय[2] जिन्हे दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही पर का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का सञ्चय होता है वह अपना उपकार है।

आचार्यो ने दान, पूजा और अभिषेक को श्रावक के प्रमुख कर्त्तव्यो मे गिना है। अतिथि सत्कार करना भी प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। यह सभी शुभ क्रियाए लोभ को शिथिल करने के लिए है। जो लोभ कर्म हमारे आत्मप्रदेशो पर मजबूती से चिपक गया है, जिससे हमारी नि श्रेयस् और अभ्युदय की गति रुक गयी है, उस लोभ-कर्म को तोडने का काम यही त्याग धर्म करता है।

त्याग और दान का सही-सही प्रयोजन तो तभी सिद्ध होता है, जब हम जिस चीज का त्याग कर रहे है या दान कर रहे है, उसके प्रति हमारे मन मे किसी प्रकार का मोह या मान-सम्मान पाने का लोभ न हो। क्योंकि जिस वस्तु के प्रति मोह के सद्भाव मे कर्मो का बन्ध होता है, वही वस्तु मोह के अभाव मे निर्जरा का कारण बन जाती है। बन्धन से मुक्ति की ओर जाने का सरलतम उपाय यदि कोई है तो वह यही त्याग धर्म और दान है।

'आतम के अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय'[3]—सामान्य व्यक्ति भी अहितकारी वस्तुओं को सहज ही छोड़ देता है। विष को जिस प्रकार सभी प्राणी सहज ही छोड देते है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विषय-भोग की सामग्री को अहितकर जानकर छोड देते है। विषयो को छोडने से नियम से भीतर पड़ा हुआ कषाय का सस्कार शिथिल हो जाता है। 'पद्मनदी पञ्चविशतिका'[4] मे तो एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि अतिथि के दर्शन से जो अहोभाव होता है, उसके निमित्त से मोह का बन्धन ढीला पड़ जाता है। सद्पात्र को दान देकर वह निरन्तर अपने मोह को कम करने मे लगा रहता है।

दान के माध्यम से 'स्व' और 'पर' के अनुग्रह मे विशेषता यह है कि 'पर' यानी दूसरा तो निमित्त है, उसका अनुग्रह हो भी और नहीं भी हो लेकिन 'स्व' के ऊपर अर्थात् स्वयं

के ऊपर अनुग्रह तो नियम से होता ही है। मान लीजिये, जैसे तालाब मे बॉध बना दिया जाता है और पानी जब तेजी से उसमे भरने लगता है तो लोगो को चिता होने लगती है कि कहीं पानी के वेग से बॉध टूट न जाये, क्योंकि संग्रहीत हुए पानी की शक्ति अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। जो बॉध बनाते है वे लोगो को समझा देते है कि हमने पहले से ही व्यवस्था बना रखी है। घबराने की कोई बात नहीं है। हमारे पूर्वजो ने पहले ही हमे शिक्षा दे रखी है कि कहीं प्रवेश करो तो बाहर आने का रास्ता पहले ही देख लेना चाहिये, नहीं तो भीतर जाकर अभिमन्यु की तरह स्थिति हो सकती है।

तालाब को बॉधते समय ही पानी के निकालने की व्यवस्था कर दी जाती है। मोरी (गेट) बना देते है तब पानी अधिक होने पर उससे अपने आप बाहर निकलने लगता है। आपको 'जयपुर' की घटना याद होगी। कैसी भयानक स्थिति बन गयी थी ? राजस्थान मे हमेशा पानी की कमी रहती है पर उस समय ऐसी वर्षा हुई कि लगातार दो दिन तक पानी ही पानी हो गया और भारी क्षति हुई। कारण यही था कि पानी तो आता गया लेकिन निकलने का मार्ग नहीं था। आप समझ गये होगे कि संग्रह ही संग्रह करते जायेगे तो क्या स्थिति बनेगी ? परिग्रह की सीमा होनी चाहिये। दान करने की आवश्यकता उसी परिग्रह को सीमित बनाये रखने के लिए है।

आप यहॉ तीर्थ क्षेत्र पर बैठे है। सुबह से शाम तक धर्मध्यान चल रहा है। यहॉ पर किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। सभी रागद्वेष से बचकर वीतराग धर्म की उपासना मे लगे है। यही यदि आप किसी बड़े शहर मे करना चाहते तो दुनिया भर की परेशानियाँ आतीं। नगर पालिका से या और लोगो से जगह के लिए स्वीकृति (परमीशन) की आवश्यकता पड़ती। वहॉ शोरगुल के बीच धर्मध्यान करना सम्भव नहीं हो पाता लेकिन यहाँ इस तरह की कोई बात नहीं है। यहॉ बन्धन नहीं है। यहॉ तो धर्मध्यान के द्वारा असख्यात गुणी निर्जरा ही हो रही है। तीर्थक्षेत्र का यही प्रभाव है, या कहिये श्रावक के चार धर्मो —'दाण-पूजा-सीलमुववासो सावयाण चउव्वियो धम्मो'[५]-दान, पूजा, शील और उपवास मे से विशिष्ट दान का सुफल है।

महापुराण मे आचार्य जिनसेन लिखते है कि भूदान, ग्रामदान, आवासदान, यह सभी दान अभयदान के अन्तर्गत आते है। 'पाड़ाशाह' ने यहॉ मन्दिर का निर्माण कराया। शान्तिनाथ भगवान की मनोज्ञ विशाल प्रतिमा जी की स्थापना करायी, जिससे आज तक लाखो लोग यहॉ पर आकर दर्शन-वदन का लाभ ले रहे है। अभिषेक और पूजन करके अपने पापो का विमोचन कर रहे है। वीतराग-छवि के माध्यम से वीतरागता का पाठ सीख रहे है। पूर्व मे कैसे-कैसे उदार-दाता थे, यह बात इन तीर्थो को देखकर आज सहज ही समझ सकते है। त्याग हमारा परम धर्म है। कितनी अच्छी पङ्क्तियॉ कवि दौलतराम जी ने लिखी है —

'यह राग आग दहै सदा तातै समामृत सेइये।
चिर भजे विषयकषाय अब तो त्याग निजपद बेइये ॥'

ससारी प्राणी अपने जीवन के बारे मे न जाने कितने तरह के कार्यक्रम बनाता है, पर अहित के कारणभूत रागद्वेष-भाव को त्याग करने का कोई कार्यक्रम नही बनाता। बन्धुओ! विषय-कषाय का त्याग ही उस ससार के भीषण दु खो से बचने का एकमात्र उपाय है।

"इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलौ न रोग जरा गहै तबलौ झटिति निज हित करो।"[७]

कितनी भीतरी बात कही है तथा कितनी करुणा से भरकर कही गयी है कि ससार की वास्तविकता को जानकर अब आलस मत करो, साहस करके इस शिक्षा को ग्रहण करो कि जब तक शरीर नीरोग है, बुढ़ापा नही आया तब तक जल्दी-जल्दी अपने हित की बात कर लो। भविष्य के भरोसे बैठना ठीक नही है। भविष्य का कोई भरोसा भी नही है। अगले क्षण क्या होगा, कहा नही जा सकता। बाढ़ आती है और देखते-देखते लोग सँभल भी नही पाते और सब बाढ़ मे बह जाते है। भूकम्प आते है और क्षण भर मे हजारो की सख्या मे जनता मारी जाती है। बन्धुओ! मृत्यु के आने पर कौन कहॉ चला जाता है पता भी नही लगता। सारी की सारी सम्पदा यही की यही धरा पर धरी रह जाती है। नाम-पता सब यही पर पड़ा रह जाता है। इस बीच यदि कोई अपने मन मे त्याग का सङ्कल्प कर लेता है तो उसके आगामी जीवन मे सुख-शान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है।

जीवन्धर कुमार और उनके पिता राजा सत्यन्धर की कथा बहुत रोचक है। प्रेरणास्पद भी है। जीवन्धर के पिता जीवन्धर के जन्म से पहले विलासिता मे इतने डूबे रहते थे कि राज्य का काम-काज कैसा चल रहा है, ध्यान ही नही रख पाते थे। मन्त्री ने सोचा अच्छी सन्धि (अवसर) है। उसने भीतर से भीतर राज्य हड़पने की योजना बना ली और किसी को कुछ पता ही नही चला। जब मालूम पड़ा तो राजा सत्यन्धर सोच मे पड़ गये कि अब क्या किया जाए ? जीवन्धर की मॉ गर्भवती थी और जीवन्धर कुमार गर्भ मे थे। वश का सरक्षण करना आवश्यक है, इसलिए पहले जल्दी-जल्दी उनको केकी (मयूर) यन्त्र चालित विमान मे बिठाकर दूर भेज दिया और स्वय युद्ध की तैयारी मे लग गये। अपने ही मन्त्री काष्ठागार से युद्ध करते-करते राजा सत्यन्धर के जीवन का अन्त समय जब निकट आ गया तो वे विचार मग्न हो गये –

'सर्व निराकृत्य विकल्पजाल, ससारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्षमाणो, निलीयसे त्व परमात्मतत्वे॥[८]

पहले राजा लोग बड़े सजग होते थे। पुत्र रत्न की प्राप्ति होते ही घर द्वार छोड़कर तपस्या के लिए वन मे जाकर दीक्षा धारण कर लेते थे। यदि आकस्मिक मृत्यु का अवसर आ जाता तो तत्काल सब छोड़कर आत्म-कल्याण के लिए सङ्कल्पित हो जाते थे। यही राजा सत्यन्धर ने किया। वे रणाङ्गन मे ही दीक्षित होकर सद्गति को प्राप्त हुए। त्याग जीवन का अलङ्कार

है, क्योकि गृहस्थावस्था मे भले ही राग भाव से विभिन्न प्रकार के अलङ्कार धारण किये जाते है लेकिन मुनि आश्रम मे त्याग भाव ही अलङ्कार है।

पहले श्रावक होते हुए भी पण्डित वर्ग मे त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी थी। प० दौलतराम जी के बारे मे कहा जाता है कि वे छोटा सा वस्त्रो की रँगाई का काम करते थे। लेकिन 'छहढाला' का निर्माण किया, जिसे पढ़ने पर स्वत ही मालूम पड़ जाता है कि कैसी भीतरी त्याग की भावना रही होगी। 'कब मिल है वे मुनिराज' जैसी भजन की पक्तियाँ लिखी मिलती है, क्योंकि उस समय उनको मुनिदर्शन का अभाव खटकता होगा। शास्त्र मे जैसे त्याग तपस्या के उदाहरण लिखे है उनको पढ़कर वे गद्गद् हो जाते थे और उसी की ओर अग्रसर होने की भावना रखते थे। तभी तो भजन के माध्यम से उन्होने ऐसे भाव व्यक्त किये।

एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि त्याग की साक्षात् जीवित मूर्ति के समागम के बिना त्याग के मार्ग मे अग्रसर होना सम्भव नही है। जैसे कहा जाता है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रङ्ग बदलता है अर्थात् पकने लगता है, ऐसे ही त्यागी-व्रती को देखकर त्याग के भाव सहज ही जागृत हो जाते है। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च[९]--बन्ध होते समय दो अधिक शक्त्यश वाला, दो हीन शक्त्यश वाले का परिणमन कराने वाला होता है। कोई त्यागी ऐसा अद्भुत् त्याग कर देता है कि जिसे देखकर रागी के मन मे भी त्याग भाव आ जाता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि त्याग स्वाधीन है अर्थात् अपने आधीन है। त्याग की भावना उत्पन्न होना स्वाश्रित है। निमित्त को लेकर उसमे तेजी आ जाती है। इसी अपेक्षा यह बात कही गयी है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि--

कर्मपरवशे सान्ते दु खैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥[१०]

सासारिक सुखो की वाञ्छा व्यर्थ है, क्योकि सासारिक सुख सब कर्माधीन है। कर्म का उदय कैसे कैसे परिवर्तन लायेगा कहा नही जा सकता। एक ही रात मे नदी अपना रास्ता बदल लेती है और सब तहस-नहस हो जाता है। सुन्दर उपवन के स्थान पर रेगिस्तान होने मे देर नही लगती। चले जा रहे है रास्ते मे और अचानक जीप पलट गयी। जीवन का अन्त हो गया, तो जीप क्या पलटी वह तो भीतरी कर्म ही पलट गया। यही तो कर्माधीन होना है। सासारिक सुखो की आकाङ्क्षा दु ख लेकर आती है, और दु ख का बीज छोडकर जाती है। ऐसे सासारिक सुखो मे निकाङ्क्षित सम्यग्दृष्टि आस्था नही रखता। सम्यग्दृष्टि तो अर्थ (सम्पत्ति) मे नहीं परमार्थ मे आस्था रखता है।

जैसे सासारिक मामलो मे सही व्यापारी वही माना जाता है, जो अपने व्यापार मे दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि करता है और अर्थ के माध्यम से अर्थ कमाता है। ऐसे ही परमार्थ के क्षेत्र मे परमार्थ का विकास परमार्थ के माध्यम से होता है अर्थात् अर्थ के त्याग के माध्यम

से होता है। जितना-जितना आप अर्थ के बोझ से मुक्त होंगे, अर्थ का त्याग करते जायेंगे उतना-उतना परमार्थ भाव के द्वारा ऊपर उठते जायेंगे। परमार्थ भाव से दिया गया दान अकेले बन्ध का कारण नहीं है, वह परम्परा से मुक्ति में भी सहायक बनता है। वह यहाँ भी सुखी बनाता है और जहाँ भी जाना हो, वहाँ भी सुख की ओर अग्रसर कराने वाला होता है।

यहाँ प्रसङ्गवश कहना चाहूँगा कि 'दौलत' का अर्थ निकाले तो ऐसा भी निकल सकता है कि जो आते समय व्यक्ति के सामने सीने पर लात से आघात करती है तो अहङ्कारवश व्यक्ति का सीना फूल जाता है। वह अकड़कर चलने लगता है। लेकिन वही दौलत जाते समय मानो अपनी दूसरी लात व्यक्ति की पीठ पर मारकर चली जाती है और व्यक्ति की कमर झुक जाती है। वह मुख ऊपर उठाकर नहीं चल पाता। यही दौलत की सौबत का परिणाम है। ज्ञानी वही है, जो वर्तमान में मिलने वाली विषय भोगों की सामग्री (धन-सम्पदा आदि) के प्रति हेय-बुद्धि रखता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में कहा है कि-

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं ।
कखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥"

ज्ञानी के सदा ही वर्तमान काल के कर्मोदय का भोग, वियोग बुद्धि अर्थात् हेय बुद्धि से होता है और ज्ञानी भावी भोगों की आकाङ्क्षा भी नहीं करता।

दान इत्यादि के प्रति ज्ञानी की हेय बुद्धि नहीं होती। पूजा, अभिषेक के प्रति भी हेय बुद्धि नहीं होती। अपने षट्-आवश्यकों के प्रति भी हेय-बुद्धि नहीं होती, मात्र विषयभोगों के प्रति हेयबुद्धि आ जाती है। दान आदि के माध्यम से जो पुण्य का अर्जन होता है उसके प्रति भी हेयबुद्धि नहीं होती, किन्तु पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाली सांसारिक सामग्री के प्रति उसकी हेय बुद्धि अवश्य होती है। सम्यग्दृष्टि जैसे-जैसे भोगों का त्याग करता जाता है वैसे-वैसे ही उसे भोग सामग्री और अधिक प्राप्त होने लगती है लेकिन वह उसे त्याज्य ही मानता है और ग्रहण नहीं करता।

भगवान अभिनिष्क्रमण करते हैं, राजपाट और राजभवन के समस्त वैभवों का त्याग कर देते हैं और दीक्षा ले लेते हैं। तब राज्य के सभी जन उनकी सेवा के लिए साथ चलने को तत्पर हो जाते हैं। इन्द्र सेवा में आकर खड़ा हो जाता है लेकिन भगवान किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे अपनी आत्मा की खोज में वन की ओर गमन कर देते हैं और भीतर ही भीतर आत्मध्यान में लीन होते जाते हैं। उपसर्ग आने पर भी प्रतिकार करने के लिए बाहर नहीं आते और न ही किसी की अपेक्षा रखते हैं। तब जाकर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, और अभी इतना ही नहीं समवशरण की रचना होने लगती है। तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ समझी जाने वाली दैवीय सम्पदा समवशरण की रचना में लगायी जाती है। लेकिन भगवान ...... भगवान तो उस विशाल समवशरण के एक कण को भी नहीं छूते, वे तो कमलासन पर भी चार अङ्गुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान रहते हैं। यही हमारे वीतराग भगवान की पहचान है।

ससारी प्राणी जिस सम्पदा के पीछे दिन-रात भाग दौड़ कर रहा है वही सम्पदा भगवान के पीछे आकृष्ट हो रही है और उन्हे अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही है। तभी तो केवलज्ञान के उपरान्त भी उनके नीचे, आगे-पीछे सब तरफ समवशरण के रूप मे सम्पदा बिछी हुई है। अन्त मे जब भगवान योग-निग्रह अर्थात् मन-वचन-काय की सूक्ष्म क्रियाओ का भी निरोध करने चल देते है तो समवशरण की वह सम्पदा भी पीछे छूट जाती है। यह त्याग की अन्तिम परम घड़ी है। इसके उपरान्त ही उन्हे मुक्ति का लाभ मिल जाता है।

बन्धुओ! आज तक त्याग के बिना किसी को मुक्ति नही मिली और मिलना भी सम्भव नही है। जब भी मुक्ति मिलेगी, त्यागपूर्वक ही मिलेगी। सोचो, सुमेरु पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटल के बीच बाल मात्र का अन्तर होते हुए भी कोई विद्याधर चाहे कि स्वर्ग के विमानो मे चला जाऊँ तो छलॉग मारकर जा नही सकता। यही बात मुक्ति के विषय मे है कि कोई बिना त्याग के यूँ ही छलॉग लगाकर सिद्ध शिला पर पहुँचना चाहे और सिद्धत्व का अनुभव करना चाहे तो नही कर सकता। त्याग के बिना यह सम्भव ही नही है।

ध्यान रखना, त्याग के द्वारा जो अतिशय-पुण्य का सञ्चय सम्यग्दृष्टि को होता है, वह पुण्य का सञ्चय मोक्षमार्ग मे कभी भी बाधक नही बन सकता। पुण्य के फल मे राग भाव होना बाधक बने तो बन सकता है। क्योकि पुण्य के फल मे हर्ष-विषाद की सम्भावना होती है। पूज्यपाद स्वामी ने पुण्य की परिभाषा कही है कि पुनाति आत्मान पूयतेऽनेन इति वा पुण्यम्" जो आत्मा को पवित्र बना दे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होता है वह 'पुण्य' है। घातिया-कर्मो के क्षय करने के लिए यही सातिशय पुण्य आवश्यक है। तभी केवलज्ञान की प्राप्ति करके आत्मा स्व-पर प्रकाशक होकर पवित्र होती है।

इस तरह का पुण्य चाहने से नही मिलता। पुण्य के फल के प्रति निरीहता आने पर अपने आप मिलता है। जैसे किसी व्यक्ति का पैर फिसल जाए और वह कीचड़ मे गिर जाये तो सारा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाता है, तब उस कीचड़ से मुक्त होने के लिए उसे जल की आवश्यकता महसूस होती है। जल उस कीचड़ को साफ करके स्वय भी शरीर के ऊपर अधिक नही टिकता। जो दो चार बूदे रह भी जाती है वे मोती के समान चमकती रहती है और कुछ देर मे वे भी समाप्त हो जाती है। यही स्थिति पुण्य की है। पाप-पङ्क से मुक्त होने के लिए पुण्य के पवित्र जल की आवश्यकता पड़ती है। जो त्याग के फलस्वरूप स्वत मिलता जाता है।

भगवान की भक्ति पाप के क्षय मे तो निमित्त है ही, साथ ही साथ कर्तव्य-बुद्धि से की जाने पर पुण्य के सञ्चय मे भी कारण बनती है। उसे तात्कालिक उपादेय मानकर करते जाइये तो वह भी मोक्षमार्ग मे साधक है। केवल शुद्धोपयोग से ही सवर होता है या निर्जरा होती है, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिये। शुभोपयोग को भी आचार्यो ने सवर और निर्जरा का कारण कहा है। उसे भी परम्परा से मुक्ति का कारण आचार्यो ने माना है। इसलिए दान और त्यागादि शुभ क्रियाओ के द्वारा केवल पुण्य बन्ध ही होता है, ऐसा एकान्त नही है।

इन शुभ-क्रियाओ द्वारा और शुभ भावो के द्वारा सवरपूर्वक असख्यात गुणी निर्जरा सयमी व्यक्ति को निरन्तर होती है। व्रत के माध्यम से, भक्ति और स्तुति के माध्यम से तथा षडावश्यक

क्रियाओ के माध्यम से सयमी व्यक्ति सवर और निर्जरा दोनो ही करता है, तभी दानादि क्रियाए पर के साथ-साथ स्व का अनुग्रह करने वाली कही गयी है ।

एक उदाहरण याद आ गया । युधिष्ठिर जी पाडवो मे सबसे बड़े थे । दानवीर माने जाते थे । एक बार एक याचक ने आकर उनसे दान की याचना की । वे किसी कार्य मे व्यस्त थे तो कह दिया कि थोड़ी देर बाद आना या कल ले जाना । भीम जी को जब मालूम पडा तो वे आये और बोले भइया ! ये भी कोई बात हुई । क्या आपने मृत्यु को जीत लिया है ? क्या अगले क्षण का आपको भरोसा है कि बचेगे ही ? अभी दे दो । अन्यथा विचार बदलने मे भी देर नही लगती । बन्धुओ ! त्याग का भाव आते-आते भी राग का भाव आ सकता है क्योंकि राग का सस्कार अनादिकाल का है, इसलिये 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली बात होना चाहिये । ताकि त्याग का सस्कार आगे के लिए भी दृढ होता जाये ।

राग के द्वारा ससार के बन्धन का विकास होता है तो वीतराग भावो के द्वारा ससार से मुक्त होने के मार्ग का विकास होता है । जो वीतराग बने है, जिन्होने उत्तम त्यागधर्म को अपनाया है, उनके प्रति हमारा हार्दिक अनुराग बना रहे । उनकी भक्ति, स्तुति और उनका नाम स्मरण होता रहे, यही एकमात्र ससार से बचने का सरलतम उपाय है, प्रशस्त मार्ग है ।

त्यागधर्म –

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १६७
२ सर्वार्थसिद्धि ७/३८/७२६/२८९/७
३ दौलतराम कृत-जिनेन्द्रस्तुति
४ पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका-श्लोक ५/पृ० ११३ (द्वितीय अध्याय)
कान्तात्मजद्रविण मुख्यपदार्थसार्थ–
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्
दान पर परमसात्त्विकभावयुक्तम् ॥
५ कसायपाहुड भाग १/८२/१००-दाण पूजासीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो
६ छहढाला (छठवी ढाल १५)
७ छहढाला (छठवी ढाल १४)
८ अमितगति आचार्य कृत सामायिक-भावना-द्वात्रिंशतिका-१९
९ तत्त्वार्थसूत्र ५/३७
१० रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१२
११ समयसार-२२८
१२ सर्वार्थसिद्धि ६/३/६१४/२४५/१२
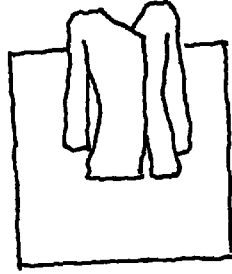
उत्तम-आकिञ्चन्य

□ *होऊण य णिस्संगो,*
णियभाव णिग्गहित्तु सुहदुहद ।।
णिद्ददेण दु वट्टदि,
अणयारो तस्स किंचण्ह ।।

जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहो से रहित होकर और सुख-दु ख के देने वाले कर्मजनित निज भावो को रोककर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है। (७९)

विहाय य सागरवारिवासस वधूमिवेमा वसुधावधू सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ॥'

आदि तीर्थकर भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते है कि जिन्होने सागर तक फैली हुई वसुन्धरा को, अपने समस्त राजवैभव को और यशस्वती और सुनन्दा जैसी वधुओ (पत्नियों) को छोड़ दिया और मुमुक्षु बनकर एकाकी वन मे विचरण करने का सङ्कल्प ले लिया, सन्यासी हो गये, प्रव्रज्या को अङ्गीकार कर लिया, ऐसे आत्मवान् भगवान इक्ष्वाकु-वश के प्रमुख थे । आपका धैर्य सराहनीय था । आप सहिष्णु थे तथा अपने मार्ग से कभी विचलित नही हुए ।

तीर्थङ्कर का यह एक और नियम होता है कि दीक्षा के उपरान्त जब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति नही हो जाती तब तक वे किसी से बोलते नही है । मौन-साधना मे ही उनका काल व्यतीत होता है । आदिनाथ भगवान का काल भी ऐसा ही आत्म-साधना मे एकाकी मौन रहकर बीता । एकाकी होकर मुक्ति के मार्ग पर चलना, यही सही प्रव्रज्या है ।

इसी बीच कुछ दिनो के बाद कहते है कि नमि और विनमि जो उनके पौत्र थे, वे आये और प्रार्थना करने लगे कि हे पितामह ! हमे आपने कुछ नही दिया । हम तो कुछ भी पाने से वञ्चित रह गये । हमे भी कुछ दीजियेगा । हमे भी कुछ कहियेगा । जब बहुत देर तक कोई उत्तर नही मिला तो सोचा कि ये अपने ध्यान मे होगे अत एकदम बार-बार पूछना ठीक नही है और अभी जब ध्यान से उठेगे तो पूछ लेगे । ऐसा सोचकर वे वही बैठ गये और सङ्कल्प कर लिया कि कुछ लेकर ही उठेगे । लेकिन भगवान तो भगवान हैं । वे ध्यान मे लीन रहे, कुछ नही बोले और कोई सङ्केत भी नही किया । समय बीतता गया । वे दोनो पौत्र भी वही बैठे रहे ।

कहते है कि इन्द्र देव का सिहासन हिल गया । वह आया और सारी बात समझकर बोला सुनो कुमार ! आप देर से आये । भगवान तो ध्यानस्थ हो गये है । अब वे बोलेगे भी नही, पर दीक्षा लेने से पहले वे हमसे कह गये है कि तुम दोनो के आने पर कह देना कि भगवान तुम्हे विजयार्ध का राज्य दे गये है । ऐसा इन्द्र ने उन्हे समझा दिया । जैसे आप लोग बोल देते हैं चौके मे आकर कि महाराज ! हम तो इतई के आये । बात जम गयी और दोनो ने सोचा कि भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करना चाहिये और वे उठकर विजयार्ध की श्रेणी मे पहुँच गये । इन्द्र ने सोचा चलो अच्छा हुआ, अन्यथा भगवान की तपस्या मे विघ्न हो जाता । हमने विघ्न नही आने दिया ।

लेकिन भगवान तो इस सबसे बेखबर अपने ध्यान मे लीन थे । एकत्व-भावना चल रही थी । कोई भी चला आवे, मन मे बोलने का भाव नही आया । यहाँ जब किञ्चित् भी मेरा नही है तो किसी से क्या कुछ कहना । यही है उत्तम-आकिञ्चन्य भावना

'आप अकेलो अवतरै मरै अकेलो होय. ।
यूँ कबहूँ इस जीव को साथी सगा न कोय' ॥'

अकेले उत्पन्न हुए और अकेले ही मर जाना है। यदि तरना चाहे तो अकेले ही तरना भी है। अकेले होने की बात और मरने की बात ये दोनो बाते ससारी प्राणी को नही रुचतीं।

एक व्यक्ति ज्योतिषी के पास गया और पूछा कि मेरी उम्र कितनी है बताइये ? ज्योतिषी ने हाथ देखकर कहा कि क्या बताये आपकी उम्र तो इतनी लम्बी है कि आपके सामने देखते-देखते आपके परिवार के सभी सदस्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। सुनकर वह व्यक्ति बड़ा नाराज हुआ कहने लगा कि कैसा बोलते हो ? और बिना पैसे दिये की चला आया। पुन वही दूसरे ज्योतिषी के पास पहुँचा और सारी बात बताकर पूछा कि मेरी उम्र– ठीक-ठीक बताइये, कितनी है ? दूसरा ज्योतिषी समझ गया कि सत्य को यह सीधे सुनना नही चाहता। इसलिए उसने कहा कि भाई ! आपकी उम्र बहुत लम्बी है। आपके घर मे ऐसी लम्बी उम्र और किसी को नही मिली है, वह व्यक्ति सुनते ही बडा प्रसन्न हुआ और उसे पैसे देकर खुशी-खुशी घर लौट आया।

बन्धुओ ! ऐसी ही दशा प्रत्येक ससारी प्राणी की है। वह एकाकी होने से डरता है। वह मरण के नाम से डरता है। लेकिन अनन्तकाल से इस ससार मे अकेला ही आ-जा रहा है। अकेला ही जनम-मरण कर रहा है। आचार्य शुभचन्द्र जी हुए है जो ध्यान के महावेत्ता और ध्याता भी थे। उन्होने अपनी ध्यान की अनुभूतियो को लिखते हुए ज्ञानार्णव मे कहा है कि पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर मे ममत्व-बुद्धि को छोड़कर साधक को ऐसी धारणा बनाना चाहिये कि मै अकेला हूँ, नित्य हूँ, अवस्थित हूँ और अरूपी हूँ। 'नित्य' इसलिए क्योंकि आत्मा कभी मिटने वाली नही है। 'अवस्थित' का अर्थ है अस्तित्व कभी घटेगा-बढ़ेगा नही। एक रूप ही रहेगा और रूप भी वैसा कि अरूपी स्वरूप रहेगा। ऐसी धारणा बनाने वाला तथा आकिञ्चन भाव को भाने वाला ही ध्यान के द्वारा मुक्ति पा सकता है।

मन मे विचार उठ सकता है कि जब पूरा का पूरा परिग्रह छोड़ दिया, उसका त्याग हो गया एव अकेले रह गए, तो क्या सोचना चाहिये तथा क्या धारणा बनाना चाहिये ? तो कहा गया है कि अग्नि-धारणा, वायु-धारणा और जल-धारणा के माध्यम से ध्यान करना चाहिये। अग्नि-धारणा के माध्यम से कर्मो का ईन्धन जल गया है। वायु उसे उड़ा ले गयी है और जल की वृष्टि होने से सारारा का सारा वातावरण स्वच्छ हो गया है। आत्मा विशुद्ध हो गयी है। कुछ भी उस पर शेष नही रह गया है। एक अकेली आतमा का साक्षात् अनुभव हो रहा है।

एगो मे सस्सदो आदा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥[२]

मै एक अकेला शाश्वत आत्मा हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है, शेष जो भी भाव है वे सव वाहरी है तथा सयोग से उत्पन्न हुए है।

एक सेठ जी थे। किसी ने मुझे सुनाया था कि वे बडे अभिमानी थे। उन्होने दस-बारह खण्ड के भवन का निर्माण कराया। एक बार कोई एक साधु जी उनके यहाँ आये। अतिथि की तरह उनका स्वागत हुआ और भोजन के उपरान्त सेठ जी बडे चाव से उन्हे साथ लेकर पूरा का पूरा भवन दिखाने लगे और अन्त मे दरवाजा आया तो सभी बाहर निकल आये। साधु जी के मुख से अचानक निकल गया कि एक दिन सभी दरवाजे के बाहर निकाल दिये जाते हैं, तुम भी निकाल दिये जाओगे। सेठ जी हतप्रभ खडे रह गये। साधु जी चले गये। सेठ जी अकेले खडे-खडे सोचते रहे कि क्या मुझे भी एक दिन बाहर निकल जाना होगा? भइया! स्वर्ण की नगरी लङ्का नही रही, रावण नही रहा, अयोध्या का वैभव नहीं रहा। कृष्ण जी नारायण थे लेकिन उनका भी अवसान हुआ सो वह भी जङ्गल मे। दुनिया मे सैकड़ो आये और चले गये। ऐसे ही सभी को अकेले-अकेले ही यहाँ से चले जाना होता है।

चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त विजयार्ध पर्वत के उस ओर वृषभगिरि के ऊपर अपनी विजय की प्रशस्ति और अपना नाम लिखने जाते है तब वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ता है कि हमसे पहले सैकड़ो चक्रवर्ती हो चुके हैं। पूरे पर्वत पर कोई स्थान खली नहीं मिलता जहाँ अपना नाम लिखा जा सके। यह ससार ऐसा ही है। अनादि काल से यह चल रहा है। 'जीव अरु पुद्गल नाचै यामै कर्म उपाधि है'* इस रहस्य को समझना होगा। इसकी कथा इतनी लम्बी-चौडी है कि तीर्थकर भगवान ही केवलज्ञान से विभूषित होकर इसे जान सकते हैं। इस रहस्य को थोडा बहुत जानकर के अपने आपको अकेला समझने का प्रयास करना चाहिये।

ससार एक ऐसा स्वप्न है जो सत्य सा मालूम पडता है। जैसे कोई व्यक्ति नाटक मे कोई भी वेश धारण करता है तो उसी रूप मे अपने को मानने लगता है और खुश होता है। कभी-कभी वह नाना वेश बदल-बदल कर लोगो के सामने आता है तब अपने वास्तविक रूप को उस क्षण पहचान नही पाता। ऐसे ही ससारी प्राणी ससार मे सारे वेषो से रहित होकर अकेले अपने रूप का अनुभव नही कर पाता। स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने वाला कोई विरला ही अपने इस आकिञ्चन्य भाव का अनुभव कर पाता है।

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्॥

देवागम स्तोत्र मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्त की मीमासा करते हुए अन्त मे अध्यात्म की ओर ले जाते हैं। शान्ति आत्मा के भीतर जाने मे ही है। बाह्य परिधि मे चक्कर लगाते रहने से शान्ति नही मिलती। स्वर्ण की विभिन्न पर्यायो की अपेक्षा जो देखता है वह पर्याय मे हर्ष या विषाद को प्राप्त होता है। एक को स्वर्ण के कुम्भ की आवश्यकता थी और दूसरे को स्वर्ण के मुकुट की आवश्यकता थी। मान लीजिये अभी स्वर्ण, कुम्भ के रूप मे था और

अब सुनार ने उसे मिटाकर मुकुट का रूप धारण करा दिया तो कुम्भ या घड़ा जिसे चाहिये था वह रोने लगा कि मेरा कुम्भ फूट गया। जिसे मुकुट चाहिये था वह हँसने लगा कि मुझे मुकुट मिल गया। किन्तु जिसे स्वर्ण की आवश्यकता थी वह दोनो ही स्थितियो मे न हँसा न रोया, क्योकि उसे जो स्वर्ण चाहिये था वह तो मुकुट हो या कुम्भ हो, दोनो मे विद्यमान था। यही तो स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने का फल है।

हमे विचार करना चाहिये,कि बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है/सो मै नही हूँ/और वह/मेरा भी नही है/ये ऑखे मुझे (आत्मा) को/देख नही सकती/मेरे पास देखने की शक्ति है ' इन ऑखो से केवल बाहरी वातावरण ही देखने मे आता है। जो इन आँखो से देख रहा है वह नही दिख पाता। उसे ये ऑखे देख नही पाती। देख भी नही सकती। तब फिर जो दिखाई पड़ रहा है ऑखो से, वह मै कैसे हो सकता हूँ और वह मेरा कैसे हो सकता है ?

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्त पि ॥[१]

मै अकेला हूँ। शुद्ध हूँ। आतमरूप हूँ। मै ज्ञानवान् और दर्शनवान् हूँ। मै रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप नही हूँ। सदा अरूपी हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। इस प्रकार की भावना जिसके हृदय घर मे हमेशा भरी रहती है, ध्यान रखना उसका ससार का तट बिल्कुल निकट आ चुका है। इसमे कोई सन्देह नही है।

इस भावना को निरन्तर भाते रहने से ही हमे वैराग्य आ सकता है। इस भावना के द्वारा ही हमारे भीतर के कर्म के बन्धन छूट सकते है। ससार मे कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि इन तीनो प्रकार की बुद्धियो के द्वारा ही ससारी प्राणी की बुद्धि समाप्त हो गयी है। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा व्यवहार कर रहा है। अनन्तो वार जन्म-मरण की घटना घट चुकी है और अनन्तो वार जन्म-मरण के समय एकाकी ही इस जीव ने अपनी ससार की यात्रा की है। आज अपने को समझदार मानने वाला भी मझधार मे ही है।

थोड़ा विचार करे तो ज्ञात होगा कि कितनी पर्याये, कितनी वार हमने धारण की और कितनो का सयोग-वियोग हमारे जीवन मे हुआ है। जिसके वियोग मे यहाँ पर हम रोते है वह मरण के उपरान्त एक समय मे ही अन्यत्र कही पहुँचकर जन्म ले लेता है और वही रम जाता है। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा मे राजी वाली वात है। उसके वियोग मे हमारा रोना अज्ञानता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह सव पराये को अपना मानने का तथा पर-पदार्थो मे एकत्व-बुद्धि रखने का ही परिणाम है। पर के साथ एकत्व बुद्धि छोडना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। छोड़ते समय जिसे ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है उसी की ऑख खुल गयी है, ऐसा समझना चाहिये।

दुनिया के सारे सम्बन्धो के बीच भी मै अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिञ्चन्य धर्म का सूचक है। 'सागर' मे एक बार बोली लग रही थी तब एक बोली तेरा सौ एक रूपये मे गयी। हमने तो वही विचार किया कि अच्छा रहस्य खुल गया 'तेरा सो एक' अर्थात् हमारा यदि कुछ है तो वह हमारा यही एकाकी भाव है। इस ससार मे किसी का कोई साथी-सगा नही है।

आप अकेलो अवतरै, मरे अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥[८]

बन्धुओ! समझ लो एव सोच लो। यह जो ऊपर पर्याय दिख रही है, यह वास्तव मे हमारी नही है। हम इसी के लिए निरन्तर अपना मानकर परिश्रम कर रहे है, और दु ख उठा रहे है। विवेक के माध्यम से इस पर्याय को अपने से पृथक् मानकर के यदि इस जीवन को चलाया जाये, जो जीवन आज दु खमय बना है वही आनन्दमय हो जाएगा। जिसकी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है वह फिर पर्याय को अपना आत्म–तत्व नही मानता और न ही पर्याय मे होने वाले सुख–दु ख को भी अपना मानता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसके अभाव मे ही जीव ससार मे कहॉ–कहॉ भटकता रहता है और निरन्तर दु खी होता है।

हमारी इस प्रवृत्ति को देखकर आचार्यो को करुणा आ जाती है। 'कहे सीख गुरु करुणा धारि'[९] वे करुणा करके हमे उपदेश देते है, शिक्षा देते है कि पॉच मिनिट के लिए ही सही लेकिन अपनी ओर, अपने आत्म–तत्त्व की ओर दृष्टि उठाकर तो देखो जो कुछ ससार मे दिखाई दे रहा है वह सब कर्म का फल है। अज्ञान का फल है। आत्मा के स्वभाव का फल तो जिन्होने आत्म–स्वभाव को प्राप्त कर लिया है उसके चरणो मे जा कर ही जाना जा सकता है। बाहर के जगत् मे सिवा दु ख के और कुछ हाथ नही आता। भीतर जगत् मे जाकर देखे कि भीतर कैसा खेल चल रहा है। कर्म किस तरह आत्मा को सुख–दु ख का अनुभव करा रहा है।

यह आत्म–दृष्टि पाना एकदम सम्भव नही है। यह मात्र पढने या सुनने से नही आती। इसे प्राप्त करने के लिए जो रत्नत्रय से युक्त है, जो वीतरागी है, जो तिल–तुष मात्र भी परिग्रह नही रखते, उनके पास जाकर बैठिये। पूछिये भी मत, मात्र पास जाकर बैठिये तो भी अपने आप ज्ञान हो जायेगा कि वास्तव मे सुख तो अन्यत्र कही नही है। सुख तो अपने भीतर एकाकी होने मे है। नियमसार मे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेऊ भणिया दसणमोहस्स खयपहुदी॥[१०]

अर्थात् सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग हेतु तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है लेकिन उसके लिए बहिरङ्ग हेतु तो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे सूत्र–वचन और उन

सूत्रो के जानकार ज्ञाता–पुरुषो का उपदेश श्रवण है । इसके सिवाय और कोई ऐसा उपाय नही है जिसके माध्यम से हम दर्शन् मोहनीय या चारित्र मोहनीय को समाप्त कर सके और अपने आत्म–स्वरूप को प्रकट कर सके ।

रागद्वेष रूपी रसायन के माध्यम से यदि कर्मो का वन्ध होता है, ससार का निर्माण होता है, तो वीतराग भावरूपी रसायन के माध्यम से सारे के सारे कर्मो का विघटन भी सम्भव है । वीतरागी के चरणो मे जाकर हमे अपने रागभाव को विसर्जित करना होगा, पर पदार्थो के प्रति आसक्ति को छोड़ना होगा तभी एकत्व की अनुभूति हो सकेगी ।

अकेले इच्छा करने मात्र से कोई अकेलेपन को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नही कर सकता । इच्छा मात्र से सुख की प्राप्ति नही होती और न ही मृत्यु से डरते रहने से कोई मृत्यु से वच पाता है । आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

विभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्य शिवम् वाञ्छति नास्य लाभ ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वय तप्यत इत्यवादी ॥"

देखो यह ससारी प्राणी कितना अज्ञानी है कि मृत्यु से हमेशा डरता है । लेकिन मृत्यु से डरने मात्र से कभी मृत्यु से बचा नही जा सकता और सुख की इच्छा हमेशा रखता है लेकिन सुख की इच्छा मात्र से भी सुखी नहीं हो सकता । फिर भी यह ससारी प्राणी भय और कामवासना के वशीभूत होकर व्यर्थ ही स्वय को पीड़ा मे डाल देता है ।

असल मे जव तक यह ज्ञान नही होता कि शरीर मेरा नही है तब तक इस के प्रति रागभाव वना रहता है । यही रागभाव हमारी मुक्ति मे बाधक है । इसी के कारण मृत्यु से हम मुक्त नही हो पाते और न ही हमे शिव–सुख की प्राप्ति होती है ।

एक वार यदि यह ससारी प्राणी वीतरागी के चरणो मे जाकर अपने को अकेला मानकर उनकी शरण को स्वीकार कर ले और भीतर यह भाव जागृत हो जाये कि 'अन्यथा शरण नास्ति त्वमेव शरण मम' एकमात्र वीतरागता के सिवाय, आकिञ्चन्य धर्म के सिवाय मेरे लिए और कोई शरण नही है । शरण यदि ससार मे है तो एकमात्र यही है । तव ससार का अभाव होने मे देर नही लगेगी ।

राग सहित जग मे रुल्यो, मिले सरागी देव ।
वीतराग भेंट्यो अबै मेटो राग कुटेव ॥"

अभी तक ससार मे राग सहित रुलता रहा, भटकता रहा और सरागता को ही अपनाता रहा । रागी व्यक्ति राग को ही खोज लेता है और उसी को अपनाता जाता है । उसी मे शरण या सुरक्षा मान लेता है, उसी को अपना सङ्गी–साथी और हितैषी मानकर ससार मे रुलता रहता है । "अगर मन मे ऐसा विचार आ जाये कि ससार मे मै भी सरागता के कारण रुल

मनोज और मनोरमा अर्थात् 'कामदेव' और उसकी सङ्गी–साथी 'रति' दोनो घूमने जा रहे थे। कामदेव अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए रति से कहता है कि मेरा कितना प्रभाव है कि तीन–लोक को मैने अपने वश मे करके रखा है और रति भी उसकी हॉ मिलाती जा रही थी कि अचानक सामने बैठे दिगम्बर–मुनि पर दृष्टि पड़ते ही रति ने कामदेव से पूछ लिया, कि हे नाथ। यह यहॉ कौन बैठा है ? कामदेव की उस ओर दृष्टि पडते ही वह निष्प्रभ हो गया। रति चकित होकर पूछने लगी कि नाथ ! क्या बात हो गई ? आप अभी तक सतेज थे, अब आपका सारा तेज कहॉ चला गया ? मन्दी क्यो आ गयी ? तब कामदेव उदास भाव से बोला कि क्या बताऊँ, हमने बहुत प्रयास किया, सभी प्रकार की नीति अपनायी लेकिन यही एक पुरुष ऐसा देखा जिस पर मेरा वश नही चला। पता नही इसका मन कैसा है ? इसका प्रभुत्व कैसा है इसके ऐसा क्या प्रभाव है कि यह मेरे प्रभाव मे नही आया।

आखिर यह कौन सी शक्ति हैं जो काम वासना को भी अपने वश मे कर लेती है। बडे–बड़े पहलवान कहलाने वाले भी जिस काम वासना के आगे घुटने टेक देते है, वही काम इस व्यक्ति की शक्ति के सामने घुटने टेक रहा है।

अन्तक क्रन्दको नृणा, जन्मज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तक प्राप्य व्यावृत्त कामकारत ॥[1]

अरहनाथ भगवान की स्तुति करते हुए समन्तभद्र आचार्य कहते है कि हे भगवन्! पुनर्जन्म और ज्वर आदि व्याधियो का साथी और हमेशा मनुष्यो को रुलाने वाला मृत्यु का देवता यम भी मृत्यु का नाश करने वाले आपको पाकर अपनी प्रवृत्ति ही भूल गया अर्थात् आपके ऊपर यम का कोई प्रभाव नही पड़ रहा है। आपकी इस वीतराग शक्ति के सामने आकर सभी नतमस्तक हो जाते है और अन्त मे रति के साथ कामदेव भी उन वीतरागी के चरणो मे नतमस्तक हो गया।

ठीक भी है।

चित्र किमत्र यदि तै त्रिदशागनाभि–
र्नीत मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
कि मन्दराद्रिशिखर चलित कदाचित् ॥[2]

आचार्य मानतुग महाराज ने भी वृषभनाथ भगवान की स्तुति करते हुए इस श्लोक मे इस भीतरी आत्म–शक्ति का प्रभाव बताया है। वे कहते है कि हे भगवन् ! जैसे प्रलय काल के पवन से सामान्य पर्वत भले ही हिल जाये लेकिन सुमेरु पर्वत जो पर्वतो का राजा है, शैलेश है, उसका शिखर कभी चलायमान नही हो सकता। अनन्तकाल व्यतीत हो गया लेकिन सुमेरु पर्वत को हिलाया नही जा सका। उसी प्रकार तीन–लोक की सुन्दर से सुन्दर अप्सराये

भी क्यो न आ जाये, आपके मन को विचलित नही कर सकती है । राजभवन मे सिहासन पर बैठे राजा वृषभदेव के सामने जब इन्द्र ने नीलाञ्जना को नृत्य के लिए बुलाया था तब वे भले ही उससे प्रभावित होकर नृत्य देखते रहे हो, लेकिन वे ही अप्सराए पुन यदि अब भगवान वृषभनाथ के सामने आकर नृत्य के द्वारा उन्हे प्रभावित या विचलित करना चाहे, तो असम्भव है । अब तो उनका मन सुमेरु की तरह अडिग हो गया है । वे ब्रह्मचर्य मे लीन हो गये है । इस ब्रह्मचर्य की शक्ति के सामने कामदेव भी नतमस्तक हो जाता है ।

अपनी आत्मा पर विजय पाने वालो की गौरव-गाथा जितनी गायी जाये, उतनी ही कम है । वे महान् आत्माएँ अपनी आत्मशक्ति का प्रदर्शन नही करती, वे तो अपनी शक्ति के माध्यम से अपने आत्मा का दर्शन करती है । एक पक्ति अग्रेजी मे हमने पढ़ी थी कि You Can Live As you Like आप जैसा रहना चाहे रह सकते हैं । रागद्वेष और विषय-भोगमय जीवन बनाकर रहना चाहे तो रह सकते है और रागद्वेष तथा विषय-भोग से मुक्त जीवन जीना चाहे तो भी जी सकते है । हमारे चौबीस तीर्थङ्करो मे पाँच तीर्थङ्कर ऐसे भी हुए है जिन्होने गृहस्थी तक नही बसायी । वे कुमार अवस्था मे ही दीक्षित होकर तपस्या मे लीन हो गये । वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान, ये पाँचो इसी कारण 'बालयति' कहे जाते है । इनके आदर्शो पर हम चलना चाहे तो चल सकते है । ससार मे ससारी प्राणी जिन विषय भोगो मे फँसकर पीड़ित है, दु खित है और चिन्तित भी है, उसी ससार मे इन पॉच-बालयतियो ने विषय भोगो की ओर देखा तक नही और अपने आत्म-कल्याण के लिए निकल गये । यही तो आत्मा की शक्ति हैं । जो इस शक्ति को जागृत करके इसका सदुपयोग कर लेता है, वह ससार से पार हो जाता है ।

सब ससारी प्राणियो का इतिहास पापमय रहा है । आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार सज्ञाए (इच्छाए) प्रत्येक ससारी प्राणी मे विद्यमान है । सोलहवे स्वर्ग से ऊपर के देवो मे जो अप्रवीचार कहा है, उसका अर्थ यह नही है कि वे काम वासना से रहित हो गये हैं । चारो सज्ञाए उनके भी है । विषय भोगो का त्याग करने वाले वीतरागी के लिए जो सुख मिलता है उसका अनन्तवॉ-भाग अप्रवीचारी होने के बाद भी उन देवो को नही मिलता । जब कभी गुरुओ के उपदेश से, जिनवाणी के श्रवण करने से ससारी प्राणी यह भाव जागृत कर ले कि आत्मा का स्वभाव तो विषयातीत है, इन्द्रियातीत है तथा अपने मे रमण करना है, तो फिर उसके मोक्षमार्ग मे आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होने मे देर नही लगती । आज का यह अन्तिम ब्रह्मचर्य धर्म तब उसके जीवन मे आने लगेगा ।

कभी विचार करे तो मालूम पड़ेगा कि जीवन मे निरन्तर कितने उत्थान-पतन होते रहते है । शरीरकृत, क्षेत्र और कालकृत तो फिर भी कम हैं किन्तु भावकृत परिवर्तन तो प्रतिक्षण होते ही रहते है और यह ससारी आत्मा निरन्तर उसी मे रचती-पचती रहती है । हमने सुना था कि छत्तीसगढ़ के कुछ आदिवासी क्षेत्रो मे लोगो को अभी भी चॉवल (भात) अत्यन्त प्रिय

है। वह चावल भी ऐसा नही जैसा आप लोग खाते है। उनका चावल तो ऐसा है कि सुबह पकने रख देते है एक मटकी मे पानी डालकर और फिर जब भूख लगती है या प्यास लग आती है तो उसमे से चावल का पानी (क्या बोलते है आप मॉड) हॉ वही निकालकर पी लेते है और एक दो लोटा पानी और उसी मे डालकर पकने देते है। यही स्थिति ससारी प्राणी की है। प्रति समय मानो एक लोटा पानी वही सड़ा-गला पी लेता है और पुन उसमे दो-एक लोटा पानी और डाल देता है। जैसे पकते-पकते वह चावल का पानी पौष्टिक और मादक हो जाता है, ऐसे ही ससारी प्राणी का मोह और पुष्ट होता जाता है तथा अधिक मोहित करने वाला हो जाता है।

यह निरन्तरता अरहट (रहट) या घटीयन्त्र के समान बनी रहती है। एक मटकी खाली नही हो पाती और दूसरी भरने लगती है। क्रम नही टूटता। शृखला बनी रहती है। बन्धुओ! इस ससार की नि सारता के बारे मे और अपने वास्तविक स्वभाव के बारे मे आपको विचार अवश्य करना चाहिये।

दस दिन से धर्म का विश्लेषण चल रहा है। धर्म के विभिन्न नाम रखकर आचार्यो ने हमारे स्वभाव से हमारा परिचय कराने का प्रयास किया है। पहले दिन हमने 'धम्मो वत्थु सहावो' की बात कही थी। उसी की प्राप्ति के लिए यह सब प्रयास है। दस दिन तक आपने मनोयोग से सुना है। कल हो सकता है आपके जाने का समय आ जाये। आप चले जायेगे लेकिन जहॉ-कही भी जाये इस बात को अवश्य स्मरण करते रहिये कि यह आना-जाना कब तक लगा रहेगा? वस्तु का स्वभाव परिणमनशील अवश्य है, पर ससार मे आना-जाना और भटकना स्वभाव नही है।

एक उदाहरण याद आ गया। 'कबीरदास' अपने पुत्र 'कमाल' के साथ चले जा रहे थे। कबीरदास आध्यात्म के भी रसिक थे। सन्त माने जाते थे। चलते-चलते अपने बेटे से उन्होने कहा कि बेटे! ससार की दशा तुमसे क्या कहे, उधर देखो जैसे चलती चक्की मे दो पाटो के बीच मे धान्य पिस रहे है, कोई भी धान्य साबुत नही बच पा रहा है, ऐसी ही दशा ससारी प्राणी की भी है। ससार मे कुछ भी सार नही है। कहते है कि बेटा सुनकर मुस्करा दिया और बोला पिताजी! यह तो है ही लेकिन इस चलती चक्की मे भी कुछ धान्य ऐसे है जो दो पाटो के बीच मे पिसने से बच जाते है। जरा ध्यान से सुनना, धान्य की बात है और ध्यान की भी बात है। (हॅसी) जो धान्य चक्की मे दो पाटो के बीच मे जाने से पहले ध्यान रखता है कि अपने को कहॉ जाना है? अगर पिसने से बचना है तो एक ही उपाय है कि कील के सहारे टिक जाए। तब फिर चक्की सुबह से शाम तक भी क्यो न चलती रहे, वे धान्य कील के सहारे सुरक्षित रहे आते है।

'धम्म सरण पव्वज्जामि'—ससार मे धर्म की शरण ऐसी ही है, जिसके सहारे ससार से सुरक्षित रहा जा सकता है। धर्म रूपी कील की शरण मे ससारी प्राणी रूपी धान्य आ जावे तो वह कभी ससार मे पिस नही सकता। कबीरदास सुनकर गद्‌गद् हो गये कि सचमुच कमाल ने कमाल की बात कही है। (हॅसी)

बन्धुओ ! ससार से डरने की आवश्यकता नही है और कर्मो के उदय से भी डरने की आवश्यकता नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र जी मे एक सूत्र आता है। जगत्‌कायस्वभावौ वा सवेग-वैराग्यार्थम् ।[१] जगत् के स्वभाव को जानना 'सवेग' का कारण है और शरीर के स्वभाव को पहचानना 'वैराग्य' मे कारण है। जो निरन्तर सवेग और वैराग्य मे तत्पर रहने वाली आत्माऍ हैं, उनको कर्मो के उदय से डरने की आवश्यकता नही है। ससार का गर्त कितना भी गहरा क्यो न हो, सवेगवान् और वैराग्यवान् जीव कभी उसमे गिर नही सकता। यह बिल्कुल लिखकर रखिये कि जब कभी भी ससार से मुक्ति मिलेगी तो उसी सवेग और वैराग्य से ही मिलेगी।

मै आज यही कहना चाह रहा हूँ कि पॉचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य धर्म' है। व्यवहार रूप से तो यह है कि स्त्री-पुरुष परस्पर राग जन्य प्रणय सम्बन्धो से विरक्त रहे, परन्तु वास्तव मे तो पदार्थ-मात्र के प्रति विरक्ति का भाव आना चाहिये। पदार्थ के साथ, सम्बन्ध अर्थात् पर के साथ सम्बन्ध होना ही 'ससार' है। जो अभी 'पर' मे सतुष्ट है, इसका अर्थ है कि वह अपने आप मे सन्तुष्ट नही है। वह अपने आत्म-स्वभाव मे निष्ठ नही होना चाहता। तभी तो पर-पदार्थ की ओर आकृष्ट है। ज्ञानी तो वह है जो अपने आप मे है, स्वस्थ है। अपनी आत्मा मे ही लीन है। उसे स्वर्ग के सुखो की चाह नही है और न ही ससार की किसी भी वस्तु के प्रति लगाव है। वह तो ब्रह्म मे अर्थात् आत्मा मे ही सन्तुष्ट है।

युक्त्यनुशासन मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने एक कारिका लिखी है, वह मुझे अच्छी लगती है--

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ, नयप्रमाणप्रकृताजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलै· प्रवादै र्जिन त्वदीय मतमद्वितीयम् ॥[२]

हे वीर भगवन् ! आपका मत-दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिए हुए है। नयो और प्रमाण के द्वारा सम्यक् वस्तु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और दूसरे सभी प्रवादो से अबाध है यानी बाधा रहित है, इसलिए अद्वितीय है। 'दया' अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव, अपने दस-प्राणो·की रक्षा करना भी अपने ऊपर दया है। प्राणो की रक्षा तो महाव्रतो को धारण करने से ही होगी। इन्द्रिय-सयम का पालन करने से होगी।

'दम' का अर्थ है इन्द्रियो को अपने वश मे करना। इच्छओ का शमन करना। जिसकी दया मे निष्ठा होगी वही दम को प्राप्त कर सकेगा। इन्द्रियो के ऊपर विजय प्राप्त किये बिना दया सफलीभूत नही होती। त्याग क्या चीज है ? तो कहते है कि विषय-कषायो को छोड़ने का नाम 'त्याग' है। त्याग के उपरान्त ही समाधि की प्राप्ति होती है। 'समाधि' तो उस दशा का नाम है जब हम आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होते है। मानसिक पीड़ा या वेदना का नाम 'आधि' है और शरीरकृत वेदना को 'व्याधि' कहा गया है। 'उपाधि' एक प्रकार

का बौद्धिक आयाम है, जिसमे स्वय को लोगो के बीच बडा बताने का भाव होता है। मेरा नाम हो इस बात की चिन्ता ही 'उपाधि' है। 'समाधि' इन तीनो से रहित अवस्था का नाम है।

समाधि का अर्थ ही यह है कि सभी प्रकार से समत्व को प्राप्त होना। एक लौकिक शब्द आता है समधी इससे आप सभी परिचित हैं। (हँसी) पर इसके अर्थ से बहुत कम लोग परिचित होगे। जिसकी 'धी' अर्थात् बुद्धि, सम अर्थात् शान्त हो गयी है वह 'समधी' है। अभी तो लौकिक रूप से समधी कहलाने वाले का मन जाने कहाँ कहाँ जाता है? एक सा शान्त कही ठहरता ही नहीं है। जब सभी बाहरी सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाए और आत्मा अपने मे लीन हो जाए वह दशा 'समाधि' की है।

सुनते है जब हार्ट-अटैक वगैरह कोई हृदय सम्बन्धी रोग हो जाता है तो डॉक्टर लोग कह देते हैं कि 'कम्पलीट बेड रेस्ट' यानी पूरी तरह बिस्तर पर आराम करना होगा। आना-जाना तो क्या, यहाँ तक कि अधिक सोचना और बोलना भी बन्द कर दिया जाता है। समय पर मात्र औषधि और पथ्य दिया जाता है, तब जाकर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही तो समाधि मे आवश्यक है। सन्तुलन आना चाहिये। शान्त भाव आना चाहिये। तभी स्वास्थ्य मिलेगा। जीवन में वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति भी तभी होगी।

मन-वचन-काय की चेष्टा से जब परिश्रम अधिक हो जाता है, तो विश्राम आवश्यक हो जाता है। यह तो लौकिक जीवन मे भी आप करते है। ऐसे ही ससार से विश्राम की दशा का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। आपे मे रहना अर्थात् स्वभाव में रहना। जैसे पिताजी से बात करनी हो तो बेटा डरता है और देख लेता है कि अभी तो पिताजी का मन बेचैन है, शान्त नहीं है। तो वह उनके पास भी नहीं जाता। यदि कोई कहे भी कि चले जाओ, पूछ जाओ तो वह कह देता है कि अभी नही बाद मे पूछ लूँगा। अभी पिताजी आपे मे नही हैं अर्थात् अपने शान्त स्वभाव मे नही हैं। कही-कहीं पर ब्रह्मचर्य के लिए 'शील' शब्द भी आता है शील का अर्थ भी स्वभाव है।

लौकिक व्यवहार मे कुशील शब्द स्त्री-पुरुष के बीच अनैतिक या विकारी सम्बन्धों को सूचित करने के लिए आता है। लेकिन परमार्थ की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसील।
किह तं होदि सुसीलं जं ससारं पवेसेदि॥[१]

अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है, ऐसा सभी जानते हैं, लेकिन परमार्थ की अपेक्षा देखा जाए तो सुशील तो वह है जो ससार से पार हो चुका है। कुशील का अर्थ है जो अपने शील/स्वभाव से दूर है। जैसे म्यान में तलवार तभी रखी जायेगी जब वह एकदम सीधी हो। थोडा भी टेढ़ापन हो तो रखना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव

मे विचरण करे तो ही सुशील है। कर्मो के बन्धन के रहने पर वह सुशील नही मानी जायेगी।

अपने इस सुशील को सुरक्षित रखना चाहो तो विकार के प्रति राग मत रखो। अपने से जो भी पृथक् है उसके ससर्ग से दूर रहो क्योकि कुशील के साथ ससर्ग और राग करने से अपने स्वाधीन सुख का विनाश होता है। बहुत दिनो पहले हिन्दी मे एक छन्द लिखा था

क्या हो गया समझ मे मुझको न आता, क्यो बार-बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता, पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता॥[६]

मन को अच्छी से अच्छी चीज भी दो लेकिन बुरी चीजो की ओर जाने की उसकी आदत है वह उसे नही छोड़ता। ऐसे इस मन को काबू मे रखने का आसान तरीका यही है कि पहले उसके स्वभाव को समझा जाए। मन का तो ऐसा है कि जैसे सितार के तार जरा ढीले हो जाएँ तो सङ्गीत बिगड़ जाता है और अगर जोर से खीच दिये जाए, कस दिये जाये तो टूट जाते है। उन्हे तो ठीक से सन्तुलित कर दिये जाने पर ही अच्छा सङ्गीत सुनायी देता है। ऐसा ही मन को सन्तुलित करके रखा जाए तो उस पर काबू पाना आसान है।

मन तो ज्ञान की एक परिणति है। उसे सँभालना अनिवार्य है। जैसे ही पञ्चेन्द्रिय की विषय सामग्री सामने आती है या स्मृति मे आती है, वैसे ही तुरन्त मन उस ओर दौड़ जाता है। वस्तुत देखा जाए तो ज्ञान का यह परिणमन इतना अभ्यस्त हो गया है और विश्वस्त हो गया है कि वह 'इसी सामग्री के माध्यम से सुख मिलेगा' यह मान बैठा है और सस्कारवश उसी ओर ढलक जाता है। बन्धुओ! पञ्चेन्द्रिय के विषयो मे सुख नहीं है। अगर सुख होता तो जो सुख एक लड्डू खाने मे आता है उतना या उससे अधिक दूसरे मे भी आना चाहिये और तृप्ति हो जानी चाहिये। लेकिन अभी तक किसी को भी तृप्ति नही हुई। यह बात समझ मे आ जाये तो मन को जीतना आसान हो जायेगा।

एक विद्यार्थी की कथा सुनाकर आपको जागृत करना चाहता हूँ। एक गुरुकुल मे बहुत सारे विद्यार्थी अपने गुरु के पास वर्षो से विद्याध्ययन कर रहे थे। साधना भी चल रही थी। एक बार गुरुजी के मन मे आया कि परीक्षा भी लेनी चाहिये, प्रगति कहाँ तक हुई है? परीक्षा ली गयी। कई प्रकार की साधना विद्यार्थियो को करायी गयी, पर एक विशेष साधना मे सारे विद्यार्थी एक के बाद एक फेल होते गये। गुरुजी को लगा कि शायद अब कोई परीक्षा मे पास नही हो पायेगा। सिर्फ एक विद्यार्थी और शेष रह गया। उसकी परीक्षा अभी ली जाना थी। उसे बुलाया गया। परीक्षा यह थी कि मुख मे एक चम्मच बूरा (शक्कर) रखना है, और परीक्षा हो जायेगी। विद्यार्थी ने आज्ञा का पालन किया और गुरुजी के कहने पर मुख खोल दिया और उसमे एक चम्मच बूरा डाल दिया गया। गुरुजी एकटक होकर उसकी मुख मुद्रा देखते रहे। उस विद्यार्थी के चेहरे पर शान्ति छायी थी और मुख मे बूरा ज्यो का त्यो रखा था।

विद्यार्थी ने उसे खाने की चेष्टा भी नही की क्योकि आज्ञा तो मात्र बूरे को मुख मे रखने की थी, वह तो हो गया, रख लिया। स्वाद लेने या खाने का भाव ही नही आया। यह देखकर गुरूजी का मुख खिल गया। वे बोले तुम परीक्षा मे पास हो गये। जितेन्द्रिय होना ही ब्रह्मचर्य ही सही पहचान है। यही सच्ची साधना और अध्ययन का फल है। बड़ी-बड़ी पोथी पढ़ने वाले भी उसमे हार जाते है। आज अधिकाश लोग इसी मे लगे हैं। एक-एक भाषा के कई कई कोष तैयार हो रहे है। शोधग्रन्थ लिखे जा रहे है लेकिन इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने की ओर किसी का ध्यान नही है। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही लोग है।

आज का युग भाषा-विज्ञान मे उलझ रहा है और भीतर के तत्त्व को पकड़ ही नही पा रहा है। जो ज्ञान, साधना के माध्यम से जीवन मे आता है वह भाषा के माध्यम से कैसे आ सकता है ? साहित्य की सही परिभाषा तो यही है कि जो हित से सहित हो, जो हित से युक्त हो वही 'साहित्य' है। जिसके अवलोकन से आत्मा के हित का सम्पादन हो सके, वही 'साहित्य' है। ऐसा साहित्य ही उपादेय है जो हमे साधना की ओर अग्रसर करे। ज्ञानी भी वही है जो खाते हुए भी नही खाता, जो पीते हुए भी नही पीता, देखते हुए भी नही देखता। जैसे जब, जिस चीज की ओर हमारा उपयोग नहीं होता तब वह करते हुए भी हम उसमे नही रचते-पचते। यही स्थिति ज्ञानी की है। वह पाँचो पापो का पूर्णरूप से त्याग करके महाव्रतो को धारण करता है। ससार के कार्य वह अनिच्छापूर्वक करता है। पाँचो इन्द्रियो के विषयो से मन को हटाकर अपने आत्म-ध्यान से लगना ही ज्ञानीपने का लक्षण है।

बन्धुओ! छोटी-छोटी बात का सङ्कल्प लेकर भी हम अपने जीवन मे साधना कर सकते है और आत्मा को पवित्र बना सकते है। आत्मा की पवित्रता ही 'ब्रह्मचर्य' है। आप आज दशलक्षण धर्म का अन्तिम दिन मत समझिये। दशलक्षण धर्म तो तभी सम्पन्न हुए माने जायेगे जब हम जितेन्द्रिय होकर शैलेषी दशा को प्राप्त कर लेगे। मेरु के समान अपने शील-स्वभाव मे निश्छल और निश्चल होगे। तभी लोक के अग्र भाग पर अनन्त काल के लिए आत्मा मे रमण करेगे। आत्मा मे रमना ही सच्चा 'ब्रह्मचर्य' है जिसके उपरान्त किसी भी प्रकार की विकृति या विकारी भावो का प्रादुर्भाव होना सम्भव नही है।

निज माहि लोक अलोक गुण परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहिहै अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥
धनि धन्य है जे जीव नरभव पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया॥[९]

कवि ने सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए 'छहढाला' के अन्त मे कहा है कि वे धन्य है जिन्होने मनुष्य जन्म पाकर ऐसा कार्य किया कि पुन पुन अव किसी भी कार्य को करने की आवश्यकता नही रही। ससार के परिभ्रमण से मुक्त होकर उन्होने उत्तम-सुख को अर्थात् मोक्ष-सुख को पा लिया। मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर लिया। अथवा यूँ कहिये कि मोक्ष लक्ष्मी ने स्वय आकर उनके गले मे मुक्ति रूपी माला पहना दी। हमेशा से यही होता आया है कि भोक्ता का वरण भोग्या द्वारा किया जाता रहा है।

'जयोदय महाकाव्य' मे जय कुमार और सुलोचना स्वयवर का मार्मिक चित्रण आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने किया है। यह स्वयवर की परम्परा आदिब्रह्मा आदिनाथ के समय की है। यहाँ भी यही बात परिलक्षित होती है कि स्त्री ने पुरुष का वरण किया।

आज ब्रह्मचर्य के दिन मै यही कहना चाह रहा हूँ कि वस्तुत भोग्य पदार्थ की ओर झुका हुआ पुरुष वासना का दास बनकर ससार बढ़ाता है और भोग्य पदार्थ जब स्वय उसकी ओर देखने लगे अर्थात् उसका वरण करने को उत्सुक हो जाएँ तो वह पुरुष तीन-लोक का नाथ बन जाता है। आज पुरुष की दृष्टि भोग्य पदार्थो की ओर जा रही है। यही विकृति है, विकार है। पदार्थो की ओर होने वाली दौड़ ही व्यक्ति को कङ्काल बनाती है। जो अपने मे है, स्वस्थ है, उसके पास ही मौलिक सम्पदा आज भी है।

जिसकी नासिका को देखकर निशिगन्धा भी लज्जा को प्राप्त हो रही है, जिसके नयन नीलकमल के समान सुन्दर है, जिसकी भृकुटियाँ देखकर इन्द्रधनुष भी अपने धन को खोता हुआ सा लग रहा है, जिसके विशाल भाल की शोभा वृहस्पति की शोभा को फीका कर रही है, जिनके केशो का घुघरालापन देखकर माया भी चकित है, जिसके अधर पल्लवो को देखकर मूँगा भी गूँगा सा होकर बैठ गया है, जिसके चरणो को देखकर सकल चराचर झुकने को तत्पर हो गये हैं, जिसके पद-नख की आभा के सामने चन्द्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ रही है, जिसके सुन्दर रूप को देखकर अप्सराये भी मोहित हो जाती है और जिसके कर पल्लव ससार को अभयदान देने की सामर्थ्य वाले है, ऐसे अद्भुत् रूप सौन्दर्य के लिए एक पुरुष श्मशान मे कार्योत्सर्ग मे लीन है।

उसका एकमात्र ध्येय मुक्ति-लक्ष्मी है। शेष सारा ससार इन क्षणो मे उसे हेय है। पर उसके रूप की ख्याति सुनकर मुग्ध हुई वहाँ के राजा की रानी का चित्त महल मे भी विकल है। चतुर्दशी का दिन था। रात्रि आधी बीत गयी थी। श्मशान मे निर्भय होकर तपस्या मे लीन वह पुरुष अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बना रहा है कि अचानक रानी की परिचारिका आकर कहती है कि हे सुन्दर पुरुष! मेरे साथ चलो। अभी यह तप करने का समय नही है। यह तो भोग-विलास का समय है। अपने सुकुमार शरीर को इस तरह कष्ट मत दो। उठो और जल्दी करो, रानी तुम्हे याद कर रही है। तुम्हे क्या इस बात की तनिक भी खबर नही है? वास्तव मे वह पुरुष कान होते हुए भी जैसे सुनायी न पड़ा हो, ऐसा अपने मे लीन अडिग है। ठीक भी है। परमार्थ के क्षेत्र मे कान खुले रखना चाहिये, लेकिन विषय-भोग के क्षेत्र मे तो कान बहरे ही होना चाहिये। परमार्थ के क्षेत्र मे आँखे खुली रहनी चाहिये और विषय-वासना के क्षेत्र मे अन्धा होकर रहना चाहिये। परमार्थ के क्षेत्र मे कर्मो पर विजय पाने के लिए बाहुओ मे शक्ति और प्रताप होना चाहिये, लेकिन दूसरे के ऊपर प्रहार करने के लिए बलहीन होना चाहिये। ऐसी ही अवस्था उस समय उस पुरुष की थी। जब दासी ने देखा कि यह तो अपने मे अडिग हे, तो उसने उसे पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उठवाकर महलो मे ले जाने का प्रबन्ध कर लिया और वह पुरुष रानी के महल मे पहुँचा दिया गया।

वहाँ रानी सारे उपाय करके थक गया पर वह पुरुष ध्यान से विचलित नहीं हुआ। एक तरफ वासना थी तो दूसरी ओर उपासना थी। एक तरफ निश्चल पुरुष था तो दूसरी ओर चञ्चल प्रकृति थी। जीत उसी की होती है जो अपनी इन्द्रियों और मन को जीतने में लगा होता है, जो अपने मे लीन है, जो उपासना मे लगा है अर्थात् अपने समीप आने में लगा है। ठीक भी है अपने भीतर पहुँचने के उपरान्त तो अपना ही राज्य है, अपना ही देश है, अपना ही वेश है, अपना ही आदेश है और अपने ही सन्देश भी प्रचारित हो रहे हैं। (हँसी) वहाँ किसी बाहरी सत्ता का प्रवेश सम्भव कैसे हो सकता है ?

उपासना के सामने वासना को घुटने टेकने ही पड़ेगे। रानी ने घुटने टेक दिये फिर भी पुरुष ने स्वीकार नहीं किया। जहाँ श्रीकार हो वहाँ स्वीकार या नकार की बात कैसे सम्भव है ? 'श्री' का अर्थ है अन्तरङ्ग लक्ष्मी अर्थात् अपना ही आत्म-वैभव। जो अपने आत्म वैभव को पाने मे लगा है वह बाह्य लक्ष्मी की चाह क्यों करेगा ? अपने को हारता देखकर वासना बौखला गयी। वासना की मूर्ति बनी रानी ने अपने वस्त्र फाड लिये। अपने हाथों अपने ही शरीर को नोंच लिया और शोर मचाने लगी। राजा को खबर पहुँचायी गयी। राजा सुनकर क्रोधित हो गया। तब रानी और चीख-चीख कर रोने लगी। सभी को विश्वास हो गया कि यह सारी करामात इस पुरुष की है। यह ध्यान मे लीन होने का ढोंग कर रहा है। यह सब मायाचारी है।

बन्धुओ ! यह है दुनिया की दृष्टि। जो मायाचारी कर रहा है, वह सच्चा साबित हो रहा है और सत्य को झूठा बनाया जा रहा है, लेकिन अन्त में जीत सत्य की ही होती है। जब प्राणदण्ड के लिए उस पुरुष को शूली पर चढ़ाया जाता है तो देवता आकर शूली के स्थान पर फूलों की माला बना देते हैं। तब रहस्य खुलता है कि दोष इसका नहीं है, दोषी तो रानी है। यह पुरुष कोई और नहीं अपने ही नगर का महान् चारित्रवान् नागरिक 'सेठ सुदर्शन' है। गृहस्थ होते हुए भी आस्था और आचरण मे दृढ़ है। यही तो ब्रह्मचर्य धर्म के पालन मे सच्ची निष्ठा है। कि मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' यही वास्तव मे वैराग्य है कि गृहस्थ भी परस्त्री को अपनी माता के समान मानता है और दूसरे के द्वारा सञ्चित धन सम्पत्ति को कङ्कर-पत्थर की तरह अपने लिए हेय समझता है।

महाराज जी (आचार्य ज्ञान सागर जी) कहा करते थे कि गृहस्थ को व्रत अवश्य लेना चाहिये। व्रत कोई भी छोटा नहीं होता। आज सुदर्शन सेठ का परस्त्री के त्याग का व्रत भी महाव्रत के समान हो गया। रानी और जय-जयकार होने लगी। सुदर्शन सेठ सोच मे डूबे हैं कि देखो कैसा वैचित्र्य है। मैं जिस शरीर से मुक्त होना चाह रहा हूँ संसार के लोग उसी शरीर को चाह रहे हैं। उसके क्षणिक सौन्दर्य से प्रभावित हो रहे हैं और अपने शाश्वत आत्म सौन्दर्य को भूल रहे हैं।

बन्धुओं ! विचार करो कि एक अणुव्रती गृहस्थ श्रावक की दृढ़ता कितनी है। उसकी आस्था कितनी मजबूत है। उसका आचरण कैसा निर्मल है। पापो का एक देश त्याग करने

वाला भी ससार से पार होने की क्षमता और साहस रखता है। जिसने एक बार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि डाल दी, उसकी दृष्टि फिर विकार की ओर आकृष्ट नही होती।

एक घटना याद आ गयी। एक युवक विरक्त हो गया और घर से जङ्गल की ओर चल पड़ा। पिता उसके पीछे-पीछे चले जा रहे है कि अगर यह मान गया तो वापिस घर ले आयेगे। रास्ते मे एक सरोवर के किनारे कन्याए स्नान कर रही थीं। युवक थोड़ा आगे था। अत वह पहले निकल गया। तब वे स्त्रियाँ ज्यो की त्यो स्नान करती रही और जब पीछे उसके पिता को आते देखा तो सभी अपने वस्त्र सँभालने लगी। पिता चकित होकर रुक गया और उसने पूछा कि बात क्या है? अभी-अभी मेरा जवान बेटा यहाँ से निकला था तब तुम सब पूर्ववत् स्नान करती रही, लेकिन मैं इतना वृद्ध हूँ फिर मुझे देखकर क्यो लज्जावश अपने वस्त्र सँभालने लगी। वे कन्याएँ समझदार थी, बोली बाबा। यह जवान था और आप वृद्ध हैं, यह हम नही जानते। हम तो दृष्टि की बात जानते है। वह अपने मे खोया था, उसकी दृष्टि मे पुरुष या स्त्री का भेद ही नही था। वह तो सब कुछ देखते हुए भी मानो कुछ नही देख रहा था। लेकिन आपकी दृष्टि मे अभी ऐसी वीतरागता नही आयी। आपको तो अभी भेद दिखायी दे रहा है।

कही एक कविता पढ़ी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे बहुत अच्छी लगी। पूरी तो ध्यान नही है, प्रसङ्गवश सुनाता हूँ 'अभी तुमने/आग के रङ्ग के/कपड़े पहने है/योग की आग मे/तुम्हारा काम अभी/पूरा जला नही है/अभी तुम्हे/स्त्री और पुरुष के बीच/फर्क नजर आता है/स्त्री के पीछे भागना/और स्त्री से दूर भागना/बात एक ही है/जब तक ये यात्रा जारी है/समझो अभी/सन्यास की यात्रा शुरू नही हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने नियमसार मे कहा है कि–

दट्ठूण इच्छिरूव वाछाभाव णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवद॥[1]

स्त्रियो के रूप को देखकर उनके प्रति वाञ्छा भाव की निवृत्ति होना अथवा मैथुन-सज्ञा रहित जो परिणाम है, वह चौथा ब्रह्मचर्य व्रत है। अर्थात् परिणामो की उज्ज्वलता ब्रह्मचर्य के लिए बहुत आवश्यक है।

देखना भी दो प्रकार से हो सकता है। एक देखना तो सहज भाव से होता है, वीतराग भाव से होता है तो दूसरा विकार भाव से या राग-भाव से देखना होता है। वीतरागी के परिणामो मे जो निर्मलता आती है, उस पर फिर किसी विकार का प्रभाव नही पडता। जो विकार से बचना चाहता है उसका कर्तव्य सर्वप्रथम यही है कि वीतरागता की ओर वह दृष्टि-पात करे। स्वभाव की ओर देखे, केवल सन्यास-व्रत धारण करना या स्वाध्याय करना ही पर्याप्त नही है। अपने उपयोग की सँभाल प्रतिक्षण करते रहना भी आवश्यक है। अपने उपयोग

समग्र/४/३९८

की परीक्षा हमेशा करते रहना चाहिये कि उसमे कितनी निर्मलता और दृढ़ता आयी है। उपयोग की निर्मलता और दृढ़ता के सामने तीन-लोक की सम्पदा भी फीकी लगने लगती है। उपयोग को विकारो से बचाकर, राग से बचाकर वीतरागता मे लगाना चाहिये, यही ब्रह्मचर्य धर्म है।

ब्रहामचर्य धर्म–

१ स्वयम्भूस्तोत्र–९३

२. भक्तामर स्तोत्र–१५

३ तत्त्वार्थसूत्र–७/१२

४ युक्त्यनुशासन–६

५ समयसार–१५२

६ निजानुभव-शतक–४९ (आचार्य विद्यासागर कृत)

७ छहढाला (छठवीं ढाल १३)

८ मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित ॥

९. नियमसार–५९

पारिभाषिक-शब्द-कोष

(आचार्य विद्यासागर जी महाराज के प्रवचनो मे, आये विशिष्ट शब्दो का परिभाषिक अर्थ)

अन्तरात्मा--आत्मा और शरीर के बीच भेद रेखा जानने वाला भेद विज्ञानी जीव ।

अन्तर्मुहूर्त--आवली (असख्यात समय) से अधिक और मुहूर्त (४८ मिनिट) से कम काल का सूचक ।

अकाम निर्जरा--बेमन से किये गये विषय सुख के परित्याग और मजबूरीवश भोगोपभोग का निरोध हो जाने पर उसे शान्ति से सह लेने से होने वाली कर्म निर्जरा ।

अणुव्रत--अहिसा, सत्य, अचौर्य, अकाम (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह, इन पॉच व्रतो का आशिक पालन ।

अधर्म--एक द्रव्य जो जीव और पुद्गल को ठहरने मे सहायक है। यदि जीव और पुद्गल रुकना चाहे तो यह द्रव्य एक माध्यम की तरह मौजूद रहता है ।

अर्धचक्री--तीन खण्डो का अधिपति । नारायण या प्रतिनारायण । ज्ञातव्य है कि भरत क्षेत्र के समूचे छह खण्डो के अधिपति को चक्रवर्ती कहते है ।

अनन्तानुबंधी--अनन्त ससार के कारण-भूत मिथ्यात्व को बॉधने वाली क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय ।

अप्रत्याख्यान (अप्रत्याख्यानावरण)--देश सयम की प्रतिपक्षी कषाय । जिसके उदय से आशिक सयम को यह जीव प्राप्त करने मे असमर्थ होता है ।

अभिषेक--परम पद मे स्वय को अभिषिक्त करने की पवित्र भावना से अर्हन्त आदि की प्रतिमा को अभिषिक्त करने की प्रक्रिया । (जल, दुग्ध, दधि, चन्दन, केशर आदि सुगन्धित औषधियो से कराया गया स्नान) ।

अभेद रत्नत्रय--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा समाहित-विकल्प-जाल से मुक्त, अपने चैतन्य, आनन्दमय स्वरूप मे विश्रान्त आत्मा की दशा ।

असंख्यात-गुणी-निर्जरा-- निर्जरा की प्रक्रिया मे उदयावली मे निर्जरा के लिए दिये जाने वाले द्रव्य को उदयावली मे देने से पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए असख्यात गुणे क्रम से सयोजित करके निर्जरित करना ।

असंज्ञी--मन-रहित जीव, मन के अभाव मे शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने व विचार तर्क आदि करने मे असमर्थ जीव ।

आकाश--सभी द्रव्यो को ठहरने के लिए अवकाश देने वाला द्रव्य, जो अखण्ड और शाश्वत है ।

आचार्य—साधुओ को दीक्षा-शिक्षा देने वाले, ३६ गुणो से विशिष्ट, साधुसघ के अनुशास्ता ।

आप्त—समस्त पदार्थों के ज्ञाता, परम हितोपदेशी, निर्दोष, अर्हत् परमात्मा ।

आत्मा—अनन्तगुणो से युक्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली चैतन्य शक्ति ।

आदान-निक्षेपण-समिति— ज्ञान, सयम और शुद्धि के साधक उपकरणो को देख-भालकर सजग, शान्त भाव से उठाना, रखना ।

आदिनाथ—जैनधर्म के वर्तमानकालीन प्रथम तीर्थङ्कर, जो वेदो मे आदिब्रह्मा है । जन्म-अयोध्या, चैत्र कृ० ९, निर्वाण-कैलास पर्वत, माघ कृ० १४, आयु ८४ लाख पूर्व, अन्तिम कुलकर (मनु) नाभिराय के पुत्र । प्रथम चक्रवर्ती भरत के पूज्य पिता । प्रजा को कृषि आदि कर्म सिखाने वाले प्रजापति ।

आरम्भ—प्राणियो को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति/प्रक्रिया ।

आराधना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चारो का यथायोग्य रीति से दृढ़तापूर्वक धारण करना और जीवन भर पालन करना ।

आवश्यक—साधु और श्रावक को आत्मानुशासित वनाने के लिए नित्य किया जाने वाला कार्य/कर्त्तव्य । साधु के लिए—सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग। श्रावक के लिए—देव पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र का अध्ययन, सयम, तप एव दान ।

इन्द्रियाँ—शरीरधारी जीव को जानने के साधन-चिन्ह, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ।

ईर्या-समिति— मुनियो के द्वारा सूर्य के प्रकाश मे आवागमन के योग्य (जीवाणु-रहित) मार्ग मे सजग-शान्त भाव से चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करना ।

उत्तम संहनन—श्रेष्ठ मुक्ति के योग्य शरीरगत ध्यान साधना मे निमित्तभूत अस्थियो का वन्धन विशेष । प्रथम सहनन-वज्रवृषभनाराच सहनन ।

उपयोग—चेतना का अनुगामी ज्ञान-दर्शनात्मक आत्मा का परिणाम ।

उपशम—जैसे फिटकरी डालने से मैले पानी का मैल नीचे वैठ जाता है और जल कुछ देर के लिए निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार परिणामो की विशुद्धि से कर्मो की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है ।

उपसर्ग—साधु/सयमीजनो पर देवो, मनुष्यो, पशुओ या प्रकृति द्वारा अनायास आने वाली शारीरिक मानसिक वाधा/कष्ट विपत्ति ।

उपाध्याय—रत्नत्रय से युक्त, निर्ग्रन्थ, २५ विशिष्ट गुणो के धारक, जिनोपदेशित तत्त्वों के उपदेशक और मुनियो के अध्येता ।

उपादान—जो द्रव्य तीनो कालो मे अपने रूप को कथञ्चित् छोड़ता हुआ या कथञ्चित् नही छोड़ता हुआ पूर्वरूप से या अपूर्व रूप से परिणमन करता है, वह उपादान कारण है।

उपादेय—ग्रहण करने योग्य।

एकत्व-भावना— बार-बार ऐसा चिन्तन करना कि जन्म, जरा और मरण के महादु ख का अनुभव करने के लिये अकेला मैं ही हूँ। मेरा कोई साथी इन दु खो से मुझे बचा नही पाता। कोई साथी श्मशान से आगे नही जाता। अपने द्वारा किये गये कर्मो का फल भोगने वाला मै अकेला हूँ। धर्म ही एकमात्र साथी है।

एकान्त—अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म/पक्ष का सर्वथा अवधारण करके शेष धर्मो को नही मानाना मिथ्या एकान्त है। जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा पिता ही मानना। वस्तु के अनेक धर्मो को जानते हुए मुख्य रूप से किसी अपेक्षावश एक धर्म को ग्रहण करना सम्यक् एकान्त है। जैसे–किसी व्यक्ति को पुत्र की अपेक्षा पिता मानना।

एषणा—सजग/शान्त भाव से निर्दोष और प्रासुक आहार ग्रहण करना।

कर्म-चेतना— ऐसा अनुभव करना कि मै इसे करता हूँ, पर पदार्थो मे कर्तृत्त्व बोध सहित अशुद्ध चेतना।

कर्मफल-चेतना— ऐसा अनुभव करना कि मैं उसे भोगता हूँ, अव्यक्त सुख-दु खानुभव रूप अशुद्ध चेतना।

कर्म—जो जीव को परतन्त्र करे। जैन-दर्शन मे जीव मे होने वाले रागद्वेष, क्रोधादि भाव-भाव कर्म कहे गये हे और इन रागादि भावो के द्वारा आत्मा के साथ सश्लिष्ट होने वाले पुद्गल कर्मो को द्रव्य कर्म माना गया है।

कल्पकाल—२० करोड़ × करोड़ सागर प्रमाण काल, एक अवसर्पिणी–और उत्सर्पिणी से मिलकर बनने वाली अवधि।

कषाय—आत्मा के स्वाभाविक रूप का विघात करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणाम।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—आचार्य कुमार कार्तिकेय द्वारा रचित वैराग्य भावनाओं/अनुप्रेक्षाओ का प्रतिपादक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ।

काल—एक निष्क्रिय सूक्ष्म द्रव्य जिसके माध्यम से सभी द्रव्य परिवर्तन करते हैं। जो लोक के समस्त प्रदेशो पर कालाणु के रूप मे उपस्थित हैं। वह निश्चय काल है। घड़ी, घण्टा, दिन-रात, ऋतु, वर्ष आदि रूप व्यवहार काल है। काल की न्यूनतम इकाई समय है।

कुन्दकुन्द—ईसा की पहली शती मे हुए दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रधान/श्रेष्ठ आचार्य। वे अध्यात्मवेत्ता और परम तपस्वी थे। तप के प्रभाव से उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त

हुई थी। वे ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड, मूलाचार आदि ८४ प्राभृतो के प्रणेता थे।

केवलज्ञान—एक निर्विकल्प अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान, जिसमे समस्त पदार्थ युगपत् दर्पण के समान झलकते है।

कुलकर (मनु)—आर्य पुरुषो को एक कुल की भाँति इकट्ठे रहने का उपदेश देने वाले महापुरुष। (सख्या-१४) अन्तिम कुलकर/मनु नाभिराय, जिनके पुत्र वृषभनाथ, प्रथम तीर्थङ्कर और प्रथम प्रजापति हुए। वृषभनाथ के पुत्र भरत के नाम से देश भारतवर्ष कहलाया।

गाथा—जैन-दर्शन मे धर्म के प्ररूपण के लिए प्राकृत भाषा मे निवद्ध चार चरणो से युक्त काव्य।

गुणस्थान—मोह और योग अर्थात् मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरङ्ग भावो मे होने वाले उतार-चढ़ाव की दशाएँ। सिद्ध परमात्मा गुणस्थानातीत है। अर्हन्त परमात्मा १३वे और १४वे गुणस्थान वाले है।

चक्रवर्ती—छह खण्डरूप भरत आदि क्षेत्र का स्वामी, वत्तीस हजार राजाओ का तेजस्वी अधिपति, चौदह रत्न और नौ निधियो से युक्त, दिग्विजयी चक्र का स्वामी।

चतुर्थकाल—जैनागम मे काल परिवर्तन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप मे स्वीकृत है। उत्सर्पिणी काल मे जीवो के ऊचाई, आयु और शक्ति आदि बढ़ते हैं तथा अवसर्पिणी मे क्रमश घटते जाते है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के अर्तगत विभाजित प्रथम, द्वितीय आदि छह काल होते हैं। चतुर्थकाल मे चौवीस तीर्थङ्कर आदि शलाकापुरुष होते हैं। इसका दूसरा नाम दुखमा-सुखमा काल भी है।

चारण- ऋद्धि—चरण अर्थात् चारित्र, सयम या पाप निरोध मे निपुण महामुनि को भूमि के समाज जल, फल, पुष्प, वीज, आकाश आदि पर जीव हिसा के विना विचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त होना।

चारित्र-मोहनीय— चारित्र को आच्छादित करने वाली कर्म प्रकृति।

चेतना—जिस शक्ति के कारण आत्म ज्ञाता-दृष्टा या कर्ता-भोक्ता होता है। जीव का स्वभाव ही चेतना है।

छद्मस्थ—घातिकर्म समूह से युक्त ससार मे स्थित जीव।

छहढाला—प० दौलतराम कृत एक तात्त्विक सरल सुबोध हिन्दी रचना।

जिनवाणी—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये दिव्य-ध्वनि-रूप वचन और उन वचनो के आधार पर वीतराग निर्ग्रन्थ श्रमण/आचार्य भगवन्तो द्वारा निर्मित शास्त्र ग्रन्थ।

जिनसेन—वीरसेन स्वामी के शिष्य। आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय एवं वर्धमान पुराण के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य।

जीव—जो जानता है, देखता है और चेतना का धनी है, ऐसा जीवनगुण से युक्त तत्व। जैनदर्शन में जीव, प्राणी, पुरुष, आत्मा ये सभी एकार्थवाची (सिनॉनिमृम्) हैं।

तत्त्व—जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है। जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उसी रूप में होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है।

तीर्थङ्कर—ससार सागर को स्वय पार करने वाले तथा दूसरे जीवो को पार कराने वाले महापुरुष, जिनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण इन पाँच अवसरो पर महान् उत्सव (कल्याणक) होते हैं। जो समवशरण सभा मे जगत् के कल्याण का उपदेश देते हैं और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

तैजस- ऋद्धि—विशिष्ट तपश्चरण के प्रभाव के संयम के धारी महामुनि के लिए जीवों के अनुग्रह या विनाश मे समर्थ दीप्तिमान शरीर का उत्पन्न होना।

दर्शन-मोहनीय— जिसके उदय से आप्त, आगम और साधु के प्रति श्रद्धा भाव नहीं हो पाता अथवा तत्त्व के वास्तविक स्वरूप के प्रति रुचि जागृत नहीं हो पाती।

दिव्य-ध्वनि— केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त/तीर्थङ्कर भगवान के सर्वाङ्ग/श्रीमुख से सहज निखरने वाली ओंकार ध्वनि। जो सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय रूप सत्य धर्म को प्ररूपित करती है।

दीक्षा (प्रव्रज्या)—ससार से विरक्त होकर, गुरु की शरण मे जाकर, समस्त परिग्रह का त्यागकर, यथाजात रूप प्राप्त कर, समता भाव से जीवन बिताने के लिए सङ्कल्पित होना।

देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)—तत्त्वार्थ सूत्र के मङ्गलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित ११५ संस्कृत श्लोकबद्ध न्यायग्रन्थ।

देश-संयम (संयमासंयम)— सयम का अंशत पालन करना। अर्थात् हिंसादि पाँच-पापों का स्थूल रूप से त्याग करना।

द्वीपायन मुनि—रोहिणी के भाई, बलदेव के मामा। भगवान नेमिनाथ से यह सुनकर कि द्वारिका उनके द्वारा जलेगी तो वे विरक्त होकर मुनि हो गये। कठिन तपश्चरण द्वारा तैजस ऋद्धि प्राप्त हो गयी। भ्रान्तिवश बारह वर्ष से कुछ पहले ही द्वारिका देखने आये। नगर के बाहर मदिरा पीने से उन्मत्त हुए यादवों द्वारा कहे गये अपशब्द, भर्त्सना और पत्थरों की मार से क्रोधवश तैजस समुद्घात द्वारा द्वारिका भस्म करने में निमित्त बने। भावीकाल के चौबीस तीर्थङ्करो में स्वयम्भू नाम के १९वे तीर्थङ्कर होंगे।

द्वेष—अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति होना, किसी भी पदार्थ को बुरा मानना यह द्वेष है।

धर्म द्रव्य— जीव और पुद्‌गल को चलने मे सहायक एक निष्क्रिय शाश्वत माध्यम, जो ईथर की तरह पूरे आकाश मे व्याप्त है ।

निःकांक्षित अङ्ग—सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो मे से एक अङ्ग, क्षणिक/सासारिक प्रलोभन से दूर रहने का भाव होना ।

निगोद—जो अनन्त जीवो को एक ही निवास दे वह निगोद है । निगोदिया जीव वे है जो स्वय अनन्तानन्त जीवो की कालोनी/उपनिवेश होते है । जहाँ एक के मरण से सभी का मरण हो जाता है । ये सर्वत्र लोक मे रहते है ।

निमित्त—प्रत्यय/कारण, कार्य की उत्पत्ति मे साधकतम ।

नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द कृत अध्यात्म विपयक १८७ प्राकृत गाथाओ मे निवद्ध शुद्धात्मस्वरूप का प्रदर्शक ग्रन्थ ।

निर्जरा—कर्मो के आत्मा से आशिक पृथक्करण की प्रक्रिया अपने समय पर स्वय कर्मो का उदय मे आना और झड़ जाना सविपाक निर्जरा है । जैसे फल का पककर आपोआप वृक्ष से टूटकर गिर जाना । तपस्या के द्वारा समय से पहले ही कर्मो का झड जाना अविपाक निर्जरा है । जैसे माली के द्वारा आम तोड़कर पाल मे पकाना ।

निर्विकल्प-समाधि— समस्त शुभ-अशुभ विकल्पो से मुक्त, आत्म-ध्यान मे लीन, वीतराग अवस्था ।

नेमिनाथ—जैनो के वाइसवे तीर्थङ्कर, श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे । पिता समुद्रविजय और माँ शिव देवी, जन्म श्रावण शुक्ला ६, द्वारावती, निर्वाण आषाढ़ कृष्णा ८, ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार) ।

नो कर्म—शरीर एव अन्य वाह्य पुद्‌गल द्रव्य, कर्म के उदय से होने वाला औदारिक शरीर आदि पुद्‌गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दु ख के वेदन मे सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है ।

पञ्चमगति—मोक्ष/सिद्ध दशा । चार गतियो रूप ससार परिभ्रमण से पार ।

पद्‌मनन्दी पञ्चविंशति—आचार्य पद्‌मनन्दी द्वारा सस्कृत छन्दो मे रचित मुख्यत गृहस्थ धर्म का प्ररूपक ग्रन्थ ।

परम औदारिक शरीर—निर्दोष, शुद्ध स्फटिक के समान सात धातुओ के विकार से रहित तेज मूर्तिमय केवली भगवान का शरीर ।

परमात्मा—कर्मकलङ्क से मुक्त आत्मा/परम पद अर्थात् अर्हन्त रूप मे स्थित आत्मा ।

परमार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुपार्थो मे परम उत्कृष्ट मोक्ष पुरुपार्थ है । मोक्ष पुरुषार्थ ही जिसका प्रयोजन है वह परमार्थ है ।

परमेष्ठी—जो परमपद (मोक्ष) मे स्थित हैं या परमपद के प्रति निष्ठावान होकर उसे प्राप्त करने के मार्ग मे स्थित है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँचो परमेष्ठी है।

परिग्रह—मूर्च्छाभाव, पर पदार्थो के प्रति स्वामित्व की आकाक्षा। यह मेरा है, मै इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का ममत्व भाव।

परीषह-जय— सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि बाधाए आने पर भी अपने आत्म-चिन्तन मे अविचल रहकर कर्म-निर्जरा के लिए उन्हे शान्त भाव से सहन करना।

पर्याय—द्रव्य मे प्रतिक्षण होने वाला स्वभाव/विभाव रूप परिणमन/परिवर्तन।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो। दानादि क्रियाओ द्वारा अर्जित किया जाने वाला शुभ-कर्म।

पुद्गल—पूरण-गलन स्वभाव वाला मूर्तिक जड़ पदार्थ (matter) जिसका अन्तिम घटक/अविभागी कण परमाणु है।

पूजा—अर्हन्नादि का नाम उच्चारित करके विशुद्ध प्रदेश मे पवित्र भावो से जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्यो का क्षेपण करना, अपने अहकार का विसर्जन करना, या भगवान के गुणो का चिन्तन करना।

पूज्यपाद—आप नन्दिसघ की पट्टावलि के अनुसार यशोनन्दि के शिष्य थे। असली नाम देवनन्दि था। चूँकि आपके पाद-प्रक्षालन के जल से स्पर्श से लोहा, स्वर्ण बन जाता था और पाँवो मे गगनगामी लेप के प्रभाव से विदेह क्षेत्र जाने की सामर्थ्य रखते थे, अत आपका नाम 'पूज्यपाद' पड़ा। प्रखर-प्रज्ञा के प्रभाव से देवो के द्वारा पूजित चरण होने से भी पूज्यपाद कहलाते थे आप लक्षण बनाने मे निष्णात, जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि सस्कृत ग्रन्थो के रचयिता महान दिगम्बर जेनाचार्य थे।

प्रतिष्ठापन-समिति— एकान्त (निर्जन), ग्राम से दूर, छिद्ररहित, निर्विरोध और विशाल, ऐसे अचित्त, जीवाणु रहित स्थान मे अपने शरीर के मलमूत्र आदि का सजग/शान्त भाव से विसर्जन करना।

प्रत्याख्यान (प्रत्याख्यानावरण)—सकल सयम की प्रतिपक्षी कषाय जिसके उदय मे यह जीव सयम/परिपूर्ण विरति को प्राप्त करने मे समर्थ नही हो पाता।

प्रभावना—ज्ञान-सूर्य की प्रभा से, महा उपवास आदि सम्यक् तपो से और भव्यजन रूपी कमलो को विकसित करने वाले सूर्य की प्रभा के समान जिन-पूजा के द्वारा सच्चे धर्म का प्रकाश करना। या रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना।

प्रमाण—स्व-पर-प्रकाशक सम्यग्ज्ञान, जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है। वही प्रमाण है।

प्राण—जीव की चेतना-शक्ति जिसके द्वारा वह जीता है।

बहिरात्मा—मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि से मलिन आत्मा की अवस्था, इस दशा मे जीव, आत्मा और देह की वीच कोई भेद रेखा नही मानता। वह देह को ही आत्मा मानता रहता है।

बारह भावना (अनुप्रेक्षा)—वैराग्य-वृद्धि के लिए वार-वार चिन्तवन की जाने वाली भावनाएं।

बाहुबली—आदिब्रह्मा तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती भरत के छोटे भाई। पोदनपुर के राजा। अपने ही भाई चक्रवर्ती भरत को युद्ध मे परास्त करके विरक्त हो गये। दिगम्वरी दीक्षा ग्रहण करके एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया और कैवल्य को प्राप्त करके, तीर्थङ्कर ऋषभदेव से पहले मोक्षगामी हुए।

बोधपहुड—आचार्य कुन्दकुन्द कृत ६२ प्राकृत गाथाओ मे निवद्ध ग्रन्थ। अष्ट पाहुड मे से एक पाहुड।

भाषा-समिति— सजग और शान्त भाव से हित, मित और प्रिय वचन वोलना।

भोगोपभोग—एक गुणव्रत, जो अणुव्रत के गुणो मे वृद्धि करता है। इसमे भोग और उपभोग की सामग्री का परिमाण (लिमिटेशन) करना होता है। जो पदार्थ एक वार उपयोग किये जाने के उपरान्त पुन उपयोग के योग्य नही होते, वे भोग पदार्थ कहे जाते है। जैसे—भोजन आदि। जो पुन पुन उपयोग मे आते रहते है वे उपभोग पदार्थ कहे जाते है। जैसे वस्त्र आभूषण आदि।

महापुराण—आचार्य जिनसेन कृत कलापूर्ण सस्कृत काव्य। जिसमे भगवान ऋषभदेव तथा भरत-वाहुवली आदि का चरित्र वर्णित है।

महाव्रत—जीवन भर पॉच पापो से विरक्त रहने का सकल्प, महान तीर्थङ्करो के द्वारा इनका पालन किया गया, महान् मोक्ष प्राप्ति मे कारणभूत और स्वय ही त्याग रूप होने से महान् (पूज्य) है, इसलिये इन्हे महाव्रत कहा गया।

माध्यस्थ भाव—रागद्वेषपूर्वक पक्षपात से रहित भाव, एक गहरी तटस्थता।

मानतुङ्ग—काशीवासी धनदेव ब्राह्मण के पुत्र। पहले श्वेताम्वर साधु रहे फिर वाद मे दिगम्वर दीक्षा लेकर भक्ति-विभोर भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए भक्तामर स्तोत्र की रचना की।

मुमुक्षु—परिग्रह-त्याग, मोक्ष की इच्छा करने वाला, ससार से विरक्त, जिनदीक्षा धारणकरने वाला, भव्यात्मा।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।

मोह—जो मदिरा के नशे की तरह प्राणी को वस्तु की वास्तविकता का बोध न होने दे, वह मोह है।

युक्त्यनुशासन—आचार्य समन्तभद्र-स्वामी-कृत न्याय और युक्तिपूर्वक जिनशासन की स्थापना करने वाला सस्कृत छन्दो (६५ श्लोक) मे निवद्ध ग्रन्थ।

योग—मन, वाणी और शरीर के निमित्त से होने वाला आत्म-प्रदेशो का हलन-चलन जो कर्मो के आगमन मे कारण वनता है।

रत्नत्रय—सम्यग्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही तीनो गुण रत्नत्रय कहलाते है।

राग—इष्ट विपय भोगो के प्रति आसक्ति होना। किसी पदार्थ के वावत यह अच्छा है, ऐसा भाव होना राग है।

लोक—छह द्रव्यो से व्याप्त आकाश लोक है जहाँ पुण्य-पाप का फल और सुख-दु ख दिखायी देते है।

वीतरागी—ज्ञाता-दृष्टा भाववाले, रागद्वेष से रहित साम्य अवस्था वाले साधु का विशेषण।

विजयार्ध पर्वत—चक्रवर्ती के विजय की आधी सीमा निर्धारित करने वाला पर्वत, जो प्रत्येक कर्मभूमि मे एक होता है।

वृषभगिरि—भरतक्षेत्र आदि के छह खण्डो मे उत्तर भरत क्षेत्र के तीन म्लेच्छ खडो मे से मध्यखण्ड के मध्य भाग मे स्थित चक्रवर्ती के मान को खण्डित करने वाला विभिन्न चक्रवर्तियो के नामो से व्याप्त पर्वत।

शान्तिनाथ—जैनो के १६ वे तीर्थङ्कर, जो चक्रवर्ती एव कामदेव भी थे, जन्म-हस्तिनागपुर, ज्येष्ठ कृष्णा १४, निर्वाण-सम्मेट शिखर, ज्येष्ठ कृष्णा १४। आयु—एक लाख वर्ष।

शुभचन्द्र—दिगम्बर जैन आचार्य। राजा मुञ्ज और भर्तृहरि के भाई। जैन ध्यान-योग पर विस्तृत विवेचन करने वाले ज्ञानार्णव ग्रन्थ के रचयिता।

शुभोपयोग—सराग चारित्र या अपहृत सयम, धर्मानुराग से युक्त चेतना, उपयोग की शुभ परिणति, जो अर्हन्तो को जानता है, सिद्धो और साधुओ के प्रति श्रद्धा भाव रखता है और जीवो के प्रति अनुकम्पा से युक्त है, वह शुभोपयोगी है।

शुद्धोपयोग—वीतराग चारित्र या परम उपेक्षा सयम, उपयोग की निरुपराग दशा, पदार्थो और सूत्रो को भलीभाँति जानने वाला। सयम और तप से युक्त वीतरागी, सुख-दु ख मे साम्य भाव रखने वाला श्रमण शुद्धोपयोगी है।

श्रमण—ससार से विरक्त होकर विवेक पूर्वक दिगम्बर यथाजात रूप धारण करने वाले अपरिग्रही, विषय भोगो से मुक्तज्ञान-ध्यान मे लीन मुनि ।

श्रावक—सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति श्रद्धा युक्त होकर धर्म-श्रवण करने वाला, विवेकवान और दान, पूजा, शील व उपवास रूप क्रिया मे निष्णात पञ्चम गुणस्थानवर्ती आत्मा ।

श्रुतकेवली—आगमज्ञ, आत्मज्ञ, सर्व श्रुतज्ञान के धारण करने वाले या आचार्य वस्तु मात्र या अष्ट प्रवचन मातृका रूप द्रव्य श्रुत से युक्त होकर अपनी शुद्धात्मा को जानने/अनुभवन करने वाले महामुनि ।

संज्वलन—यथाख्यात चारित्र को घात करने वाली कषाय । जिसके उदय मे सकल सयम बना रहता है ।

संवर—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र के माध्यम से जिसने कषाय और मन-वचन-काय की क्रिया को रोक लिया है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्मो का आगमन रुक जाना ही सवर है ।

संवेग—धर्म मे निरन्तर हर्ष और सात्विक भाव होना तथा ससार को दु खमय जानकर निरन्तर वचने का भाव बनाये रखना ।

सकल-संयम— समस्त पापो से विरक्त महाव्रतो से युक्त मुनियो का आचरण ।

सत्—स्वत सिद्ध अस्तित्व का वाचक, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है ।

सत्पात्र—मोक्ष के कारणभूत गुणो से सयुक्त आत्मा । दान आदि देने योग्य मोक्षमार्गी भव्य जीव ।

सप्तधातुएं—शरीर मे क्रम-क्रम से वनने वाले शरीर के पोषक तत्त्व रस, रक्त, मास, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र । इनकी उपधातुएँ वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म और उदराग्नि ।

समता (साम्य)—जीवन-मरण, सयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, सभी प्रसगो मे सम-भाव रखना/सतुलित रहना । सभी जीवो के प्रति सद्भाव-समभाव रखना ।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के मर्मज्ञ, तार्किक और वाग्मी दिगम्बर जैनाचार्य, उरगपुर के नागवशी चोल नरेश कीलिक वर्मन के कनिष्ट पुत्र, क्षत्रिय कुलोत्पन्न । आगामी तीर्थङ्कर होने के प्रमाण मिलते हैं ।

समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द-कृत महान् आध्यात्मिक-कृति । प्राकृत-गाथा सूत्रो मे निवद्ध जैन-अध्यात्म के रहस्यो को उद्घाटित करने वाली अद्भुत कृति ।

समवशरण—सभी जीवो को समान रूप से शरण देने वाली तीर्थङ्कर भगवन्तो की धर्म-सभा। जहाँ सभी प्राणी समान रूप से बैठकर दिव्य-ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते है, श्रवण करते हैं।

समिति—आवश्यक क्रियाओ को यत्नपूर्वक जीवो की रक्षा करते हुए, सम्यक् प्रकार से, सजग/शान्त भाव से करना।

सम्यक् चारित्र—समीचीन आचरण, व्रत, समिति आदि का पालन करना व्यवहार चारित्र है और आत्म स्वरूप मे स्थिति रूप समताभाव निश्चय चारित्र है।

सम्यग्ज्ञान—परमात्म-तत्त्व का बोध, जिस प्रकार से जीवादि तत्त्व/पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन—समीचीन श्रद्धा, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित सात तत्त्वो के प्रति रुचि या परमात्म तत्त्व के प्रति रुचि/आस्था या सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति समीचीन श्रद्धा/रुचि।

सर्वज्ञ—केवल ज्ञान से युक्त, समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायो को जानने वाले, जीवन्मुक्त, परम योगी।

सर्वार्थसिद्धि—दिगम्बर जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद स्वामी विरचित सस्कृत ग्रन्थ, जिसमे तत्त्वार्थ सूत्र की विशद विवेचना की गयी है।

सर्वार्थसिद्धि—देवो मे सर्वश्रेष्ठ अनुत्तर विमानो मे से एक विमान। जहाँ उत्पन्न होने वाले देव आगामी मनुष्य भव मे आत्मसाधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

साधु—मोक्ष प्राप्ति मे सहयोगी विशिष्ट गुणो से युक्त, आत्म-साधना मे निमग्न, प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखने वाले, विषय-वासना से मुक्त, निरारम्भ, अपरिग्रही, निर्ग्रंथ, यथाजात रूपधारी, ज्ञान-ध्यान मे लीन योगी/महात्मा।

सुमेरु पर्वत—मध्यलोक मे स्थित सर्वाधिक ऊँचे शाश्वत पर्वत। सुमेरु पर्वत सख्या मे पाँच है। प्रत्येक पर्वत पर १६ जैन मन्दिर है।

सामायिक—समता भाव, एक निश्चित समय के लिए रागद्वेष और पाप-भाव से मुक्त होकर आत्म-ध्यान या परमात्मा के स्मरण मे लीन रहना सामायिक है।

सिद्ध—आत्मा की समस्त कर्मो से रहित और ज्ञान, दर्शन और अनन्त गुणो से युक्त परम विशुद्ध दशा।

सिद्धशिला—सिद्धभूमि, अष्टम-पृथ्वी, ईषत् प्राग्भार-पृथ्वी, सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से १२ योजन ऊपर स्थित निष्कम्प/अचल शाश्वत स्थली जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं। यह लोक का सीमान्त प्रदेश है।

स्वभाव–प्रत्येक वस्तु का अपना निजी आतरिक भाव । या कहे कि अपने असाधारण धर्म (गुण) के साथ होना ही वस्तु का स्वभाव है । प्रकृति, धर्म, गुण, शील, स्वभाव ये पर्यायवाची (सिनॉनिम्स) हैं ।

सौधर्म स्वर्ग–सोलह स्वर्गो मे प्रथम स्वर्ग, जहॉ देवो की सभा का नाम सुधर्मा-सभा और इन्द्र का नाम सौधर्म-इन्द्र है ।

स्वयम्भूस्तोत्र–आचार्य समन्तभद्र कृत सस्कृत छन्दवद्ध ग्रन्थ, जिसमे चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति जैन न्याय/दर्शन और अनेकान्त की स्थापना करते हुए की गयी है ।

स्वर्ग–ऊर्ध्वलोक मे स्थित वैमानिक देवो के कल्प और कल्पातीत विमान । सोलह स्वर्ग रूप कल्प विमान हैं । इनके उपरान्त नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पॉच अनुत्तर ये सभी कल्पातीत विमान हैं ।

स्वाध्याय- सत्-शास्त्र का वाचन, चिन्तन, मनन, स्मरण और प्रवचन ही स्वाध्याय है । आलस्य का त्याग करके अपनी आत्मा का हित करने वाले ज्ञान/अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं ।

ज्ञान चेतना–निर्विकल्प ज्ञानानुभूति रूप चेतना की शुद्ध अवस्था, जो सिद्ध जीवो मे पायी जाती है ।

ज्ञानार्णव–आचार्य शुभचन्द्र द्वारा सस्कृत श्लोकों मे रचित एक ध्यान विषयक ग्रन्थ ।

ज्ञानसागर–आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के प्रथम मुनि शिष्य और आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के दीक्षा-शिक्षा-गुरू ।

क्षय–कर्मो का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना क्षय कहलाता है ।

□□□

पावन प्रवचन

□ पावन प्रवचन

पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठकर मोक्षसुख को पा जाता है। धर्म इसी आत्म-उत्थान का विज्ञान है।

☐ धर्म : आत्मउत्थान का विज्ञान

विश्व मे अनेक धर्म प्रचलित है। इस सभी धर्मो मे एक धर्म वह भी है जो प्राणीमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है। उस धर्म का नाम है– "जैनधर्म।"

जैन धर्म प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखने वाला धर्म है। आज इस धर्म की उपासना करने वाले और इसके अनुरूप अपना जीवन बनाने वाले साधक बहुत विरले है। धर्म के प्रचारक और प्रसारक बहुत है। जो अपनी सारी शक्ति प्रचार-प्रसार मे लगा देते हैं। स्वय को पतित से पावन बनाने का प्रयास नहीं करते। हमारा प्रथम कर्तव्य यही है कि हम स्वय पाप से ऊपर उठे, स्वय पतित से पावन होने का प्रयास करे।

इस कलियुग मे पुण्यात्माओ का सान्निध्य दुर्लभ है। तीर्थकर जैसे महापुरुषों का साक्षात् उपदेश सुन पाना दुर्लभ है। अब वे यहॉ हमें उपदेश देने नहीं आयेगे। उनका दर्शन और समागम अब यहॉ होना असभव है। इसके उपरान्त भी अभी धर्म टिका हुआ है। पचम काल के अत तक रहेगा। बीच-बीच मे उत्थान-पतन होते रहेगे। पतित से पावन बनाने वाले इस धर्म के उपासक सख्या मे भले ही अल्प हों लेकिन गुणो की उपासना होती रहेगी। यही इस धर्म की उपलब्धि है।

कोई व्यक्ति पतित से पावन कैसे बने। यह बात विचारणीय है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको प्रारभ से ही पावन मानता है उसे पावन वनने की कोई गुजाइश ही नहीं है। पावन से पावन वनने का प्रयास भी कौन करेगा? पेट भरने का प्रयास वही करता है जो भूखा है। जो तृप्त है, जिसका पेट भर गया है उसे प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? तो पहले हमें जानना होगा कि हम पतित है, और पतित होने का कारण हमारे स्वय के बुरे कर्म हैं। ससार मे भटकाने वाले भी यही कर्म हैं।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर वृषभदेव से लेकर अतिम तीर्थकर महावीर तक सभी ने इन कर्मो से विमुख होकर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाया है। हमे भी इन

कर्मों से वचने का उपदेश दिया हैं।

उन्होंने कहा कि "पापी से नहीं वल्कि पाप से वचो। यही उच्च वनने का रास्ता है। यदि पापी से घृणा करोगे तो वह कभी पुण्यात्मा नहीं वन सकेगा और घृणा करने वाला स्वय भी पतित हो जाएगा।" इसलिए ससार की अनादिकालीन परम्परा के मूल कारण-भूत कर्म को नष्ट करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। जव तक वीज वना रहेगा, वृक्ष की उत्पत्ति भी होती रहेगी। धर्म के माध्यम से कर्मरूपी वीज को जला दिया जाए तो ससार-वृक्ष की उत्पत्ति सभव नहीं है।

अव आप कहेगे कि कर्म-वीज को जलाने के लिए क्या करें? इसकी साधना कैसे करें? तो वधुओ ! रत्नत्रय के माध्यम से यह कार्य सभव है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आचरण के माध्यम से हम अपनी आत्मा के अनादिकालीन कर्म सस्कारो को समाप्त कर सकते है। रत्नत्रय के पवित्र सस्कारो के द्वारा पाप के सस्कारो से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध वन सकती है। पवित्र सस्कारो के द्वारा ही पतित से पावन वना जा सकता है। जो व्यक्ति पापो से अपनी आत्मा को छुडाकर केवल विशुद्ध भावो के द्वारा अपनी आत्मा को सस्कारित करता है वही ससार से ऊपर उठ पाता है। यह मात्र कल्पना नहीं है। यह सत्य है। यही सच्चा विज्ञान है।

जैसे मिट्टी ऊपर उठना चाहती है। अपना उद्धार करना चाहती है तो एक दिन धरती माँ से पूछती है कि माँ मुझे लोग पद्दलित करते हैं। मुझे खोदते, रौंदते और तरह-तरह की यातनाए देते है। क्या मेरे जीवन मे कभी ऐसा अवसर आएगा कि मै भी सभी की प्रेम-भाजन वनूगी। क्या ऐसा विकास मेरा भी सभव है? तव धरती माँ समझाती है कि हा, सभव है लेकिन इसमे वड़ी साधना और सहनशीलता की आवश्यकता है।

त्याग, तपस्या और विश्वास की आवश्यकता है। जो प्रक्रिया वतायी जायेगी उस प्रक्रिया को अपनाना होगा। तव एक समय ऐसा आयेगा जव सभी तुझे प्यार से सभालकर ऊपर रखेंगे।

यदि पतित से पावन वनने का विचार तेरे मन मे आया है, तो जव भी कोई कुम्हार यहाँ पर आये, उसके हाथो मे अपने को समर्पित कर देना। रोना चिल्लाना नहीं। उसके प्रति द्वेषभाव भी मत करना। वह जो प्रक्रिया वताये उसे ग्रहण करना। वह जैसा करे, करने देना। कुछ भी प्रतिक्रिया मत करना। यही पतित से पावन वनने का सूत्रपात होगा।

अच्छी वात है। मिट्टी प्रतीक्षा करती है। एक दिन कुम्हार आता है और फावड़े से मिट्टी को खोदने लगता है। अव मिट्टी क्या कहे? सव सहन करती है। उसे माँ

की वाणी पर विश्वास है। वह अपने भविष्य को विकसित देखना चाहती है। इसलिए अपने को कुम्हार के हाथो मे सौप देती है। फिर कुम्हार उसे ले जाकर पानी डाल-डालकर रौदता है और लौंदा बनाकर चाक पर चढ़ा देता है। मिट्टी घबराती है। सोचती है अब क्या करूं? ऐसा कब तक सहन करू? चाक पर घूमते-घूमते चक्कर आने लगा पर उसे माँ की बात ध्यान मे आ जाती है कि विकास के रास्ते मे सब सहन करना ही श्रेयस्कर है। वह सब सहन करेगी उसे माँ पर विश्वास है। जो सतान अपनी माँ के बताये हुए सत्यमार्ग पर विश्वास नहीं रखती उसका विकास अभी और आगे कभी भी संभव नहीं है।

आप लोगो ने शिखर जी की वंदना की होगी। एक-एक कदम ऊचाई पर चढ़ना होता है। जितनी ऊचाई बढ़ती जाती है, पैर उतने ही लड़खड़ाने लगते हैं। पसीना आ जाता है। कमजोर व्यक्ति हो तो सीने में दर्द होने लगता है। लेकिन ध्यान रखो उन्नति का रास्ता यही है। परिश्रम के बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

जो एक-एक कदम उठाता हुआ आगे रखता चलता है विकास की ओर, वही सफल होता है। लक्ष्यवान् साधक सभी बाधाओ को पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

मिट्टी विकास की ओर अग्रसर है। सब कुछ समता भाव से सहन कर रही है। तब एक दिन वह कुभकार के योग और उपयोग के माध्यम से कुभ का रूप धारण कर लेती है। सोचती है कि यह तो एक नयापन मेरे अदर आ गया है। ऐसा प्रयोग तो कभी नहीं हुआ था। अब यह सारे कष्टो को भूल गयी। सारी यातनाए विस्मृत हो गयीं। चाक के ऊपर घड़े के रूप मे मिट्टी बैठी है।

फिर उसे वहाँ से भी उठाकर कुभकार धूप मे रख देता है। मानो उष्ण परिषह प्रारभ हो गया। घड़ा धीरे-धीरे थोड़ा सूखने लगा। एक दिन जब कुभकार ने उसे हाथ मे लेकर पानी सींचकर चोट मारना प्रारभ किया, तब कुभ सोचने लगा कि अरे। यह एक नयी मुसीबत और आ गयी। अब पिटाई हो रही है। पर धरती मां ने पहले ही समझा दिया था कि यह पिटाई नहीं है यह तो अदर सोई हुई शक्तियो को उद्घाटित किया जा रहा है।

अभी तो यह प्रीवियस है। पूर्वार्द्ध है। अभी कुभ कच्चा है। फाइनल एक्जामिनेशन भी होगा। अवे मे तपना होगा। अतिम अग्नि परीक्षा होगी। जैसे ही कुभ को अवे की अग्नि मे रखा जाता है। वह सोचता है कि यह तो हमारा विकास नहीं, लगता है विनाश हो रहा है। यह कौन सी पद्धति है। इतना अवश्य है कि मा की बात अहितकारी नहीं हो सकती। विकास की ओर जाने के लिए जलना भी होगा।

यह सोचकर कुभ कोई प्रतिक्रिया नहीं करता और अग्नि में उत्तीर्ण होकर आ जाता है।

उसे बाहर निकालकर कुभकार धीरे से बजाकर देखता है। सब ठीक है। अब कुभ मे जलधारण करने की शक्ति आ चुकी है। अब कोई क्रिया शेष नहीं रही। इसी जल धारण की क्षमता पाने के लिए मिट्टी से कुभ का निर्माण हुआ है। फिर ज्येष्ठ के महीने मे बड़े-बड़े सेठ साहूकार भी सोने-चादी के बर्तन नहीं चाहते। उस समय तो शाति और शीतलता देने वाला मिट्टी का घड़ा ही अच्छा लगता है। सभी उसे फूल के समान हाथ मे लिए रहना पसद करते हैं। कोई उसे नीचे रखना नहीं चाहता। ऊँचे स्टूल आदि पर रखते हैं, प्यार के साथ, सभाल करके। अब पटक नहीं सकते। अपना अहकार गलाकर, मान-अपमान सहन कर यह मिट्टी का विकास सभव हुआ है। पतित से पावन ऐसे ही बना जाता है।

प्रत्येक आत्मा इसी प्रकार सस्कारों के माध्यम से अपना उत्थान कर सकती है। सभी सस्कार जन्म से नहीं आते। सस्कार पूर्व कर्मो पर आधारित नहीं है। वह तो धर्म पर आधारित हैं। सस्कारित होने वाली आत्मा तो चेतना है। चेतन के माध्यम से ही चेतन पर सस्कार डाले जाते है। जो अनतकालीन ससार के सस्कारों को छिन्न-भिन्न कर देते है। ऐसे उत्थान की ओर, ससार से मोक्ष की ओर ले जाने वाले सस्कार ही वास्तविक सस्कार हैं।

मिट्टी अपनी घड़े बनने की निजी क्षमता को नहीं पहचान पाने के कारण अनादिकाल से पद्दलित होती पड़ी थी। कुभकार के माध्यम से अपनी क्षमता को पहचानकर, अपने को सस्कारो के द्वारा सस्कारित करके, उसे प्रकट कर लेती है। वृषभनाथ जैसे, पार्श्वनाथ जैसे, बाहुबली जैसे और भगवान महावीर जैसे अनत जो सिद्ध हुए है, वे भी अपनी क्षमता को पहिचान कर रत्नत्रय के सस्कारो से सस्कारित होकर सिद्ध हुए हैं। पहले से ही सिद्ध भगवान नहीं थे।

सिद्ध होने की क्षमता मिट्टी में कुभ के समान अव्यक्त शक्ति के रूप मे हर प्राणी में हुआ करती है। जिसे सुसंस्कारो के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। सिद्धत्व की प्राप्ति तभी सभव होती है। यही जैनधर्म का मूलभूत सिद्धात है। प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा बन सकता है। बहुत कम आत्माए सस्कारों की महत्ता को जान पाती हैं। उसमे भी बहुत कम आत्माएं सस्कारो के माध्यम से जीवन को सफलता की ओर ले जाती है। आज बाते करने वाले बहुत सारे लोग मिल जाते हैं, पर ध्यान रखना आत्म-स्वरूप की पहचान जब तक नहीं होती तब तक मात्र बातें कर लेने से निर्वाण नहीं होता।

कर्म से संस्कारित यह आत्म-तत्व कैसे कर्म से मुक्त हो, कैसे इसका विकास हो, कैसे संस्कार डाले जायें? इन सब बातों के लिए आत्मपुरुषार्थ अपेक्षित है। शरीर से पृथक् आत्म-तत्व है। उस आत्म-तत्व का विकास करना हमारा लक्ष्य है तो सबसे पहले शरीर को अपने से पृथक् जानना होगा। उसे साधन मानकर उसका उपयोग करना होगा। शरीर साध्य नहीं है। वह तो साधन है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने इस बात को बहुत अल्प शब्दों में कहा है कि—

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति, र्मतानिर्विचिकित्सता।।

अर्थात् स्वभाव से तो यह शरीर अपवित्र है, गंदा है लेकिन जब कभी शरीराश्रित आत्मा में रत्नत्रय का आरोपण होता है तो रत्नत्रय के द्वारा पवित्र शरीर में पूज्यपन आ जाता है। ग्लानि नहीं होती बल्कि गुणों के प्रति प्रीतिभाव होता है। यही समीचीन दृष्टि है।

जो इंद्रियों का दास बना हुआ है। विषय सामग्री की प्राप्ति में ही जीवन व्यतीत कर रहा है। शरीर को ही आत्म-तत्व मानकर उसकी सेवा में उलझा है। उसे अभी अपना वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए। आत्म तत्व की ओर दृष्टिपात करके सोई हुई शक्ति को उद्घाटित करना चाहिए। जो व्यक्ति आत्मा का विकास करना चाहता है उसे शरीरगत पर्यायों में नहीं उलझना चाहिए। शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि रूप रहेगा। विकास आत्मा का करना है, इसलिए संस्कार शरीर का नहीं अपितु आत्मा का संस्कार करना है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी का संस्कार नहीं किया जाता। मिट्टी के ऊपर जल और अग्नि के संस्कार कुंभकार द्वारा डाले जाते हैं। विकास का मार्ग यही है।

महापुराण में एक प्रसंग आता है। कर्मभूमि के प्रारंभ में आदिब्रह्मा वृषभनाथ भगवान ने अपने राज्यकाल में तीन वर्णों की स्थापना की इसके बाद उन्हीं के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने एक चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना और की। उनका आधार संस्कार था। जन्म से कोई सर्वथा उच्च नहीं होता। उच्चता कर्म से आती है। मात्र जनेऊ पहनने से कोई उच्च नहीं होता किन्तु जिनवाणी की आज्ञा पालन करने वाला रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को संस्कारित करके उच्चता को प्राप्त करता है।

भरत चक्रवर्ती ने चौथा वर्ण बनाने से पहले परीक्षा ली। तीनों वर्णों को दरबार में बुलाया। चक्रवर्ती की आज्ञा थी, इसलिए सभी व्यक्ति भागकर आये। जीवरक्षा का थोड़ा भी विचार नहीं किया। पर कुछ व्यक्ति सीधे रास्ते से न आकर घूमकर आये और थोड़ा विलम्ब भी हुआ। चक्रवर्ती ने पूछा कि ऐसा क्या कारण है कि आप

सीधे मार्ग से न आकर घूमकर आये। तव वताया गया कि पर्व के दिन हैं। सीधे रास्ते पर नये-नये कोमल अकुर उग आये है। पेर रखने के लिए जगह नहीं है। भगवान की वाणी मे यह वात आयी है कि वनस्पति कायिक जीव अनत है। यदि हम उस सीधे रास्ते से आते तो उन जीवो का विघात होता।

जीव हमे भले ही दिखाई न देते हो लेकिन जिनेन्द्र भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती।

सूक्ष्म जिनोदितं तत्व, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिना।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया तत्व सूक्ष्म है उसे किसी हेतु या तर्क के द्वारा वाधित नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियो के द्वारा अग्राह्य होने पर भी भगवान की आज्ञा से मानने योग्य है। इसलिए भले ही थोडा विलम्ब हो गया, अधिक चलना पडा लेकिन जीवरक्षा के लिए लम्बे रास्ते मे चलकर हम आये है।

भरत चक्रवर्ती ने कहा- वहुत अच्छा परीक्षा हो गयी। तुम लोग पाप से विरत हो। व्रती हो। जीवदया रखते हो। त्रस जीवो के साथ-साथ स्थावर जीवो की भी रक्षा का भाव रखने वाला व्रती होता है। इसलिए उनका एक अलग ब्राह्मण-वर्ण वना दिया। महापुराण मे जिनसेनाचार्य महाराज ने उल्लेख किया है कि समाज की व्यवस्था के लिए, उसके उत्थान के लिए ही सभी वर्ण वनाये गये है लेकिन अव सव कथन मात्र रह गया है। दया का पालन नहीं होता, सयम भी नहीं रहा। मात्र विषयकषायो के वहाव मे सभी वहते जा रहे है। इसे ही विकास मान रहे है।

वधुओ! ग्रथो के प्रकाशन या प्रचार-प्रसार अकेले से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जिनवाणी के अनुरूप आचरण भी करना होगा। ग्रथ तो हमे निर्ग्रथ होने के लिए प्रेरित करते है। वीतरागता की उपासना करने वाला, रत्नत्रय की आराधना करने वाला ही सस्कारवान् है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के निर्जरा अधिकार मे आत्मा को शुद्ध वनाने के लिए तीन गाथाओं मे वहुत सुदर ढग से उल्लेख किया है। प्रक्रिया वतायी है। आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेष रूपी कर्म कालिमा को दूर करने के लिए यदि कोई रसायन है, कोई औषधि है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही है। इस औषधि से भावित करके आत्मा को तप रूपी अग्नि मे तपाया, सस्कारित किया जाता है। तव आत्मा परमात्मा वनती है। जिसे भी परमात्मा बनना है उसे एक न एक दिन इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा।

अपनी पुत्रवधू से सासुजी ने कहा कि वेटा दही जमाना है। शाम होने से पहले

एक भगौनी को साफ-सुथरा करके माजकर के उसमे दूध को जामन डालकर रख देना। सुबह-सुबह घी तैयार करना है। पुत्रवधु ने हा कह दिया। सुबह उठकर जब सासु ने देखा दग रह गयी। दूध जमा नहीं था, फट गया था। बात क्या हुई? दूध कैसे फट गया? बहू से पूछा कि क्या किया था? बर्तन ठीक से माजा था कि नहीं? बहू ने कहा— मा ठीक से माजा था, देखो चमक रहा है। बर्तन ऊपर से चमक रहा था लेकिन भीतर ज्यो का त्यो था। अदर से नहीं माजा गया, यही चूक रह गयी।

बंधुओ ! सस्कार डालना आवश्यक है। माजना आवश्यक है, लेकिन संस्कार मात्र ऊपर-ऊपर से न डाले जाये। अन्यथा दूध भी चला गया, दही भी नहीं मिला, घी भी नहीं बन पाया। भीतरी सस्कार आवश्यक है। जिनवाणी के माध्यम से पढ़कर, समझकर अपनी आत्मा को जो बाहर भीतर सब तरह से रत्नत्रय के द्वारा सस्कारित करता है, माजता है, वही अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। बाह्य शरीर को माजने वाला कभी भी आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

अत मे इतना ही कहना चाहूँगा कि जिनवाणी माँ ही ऐसी माँ है जो अपने बेटे को हमेशा जगाती रहती है। मोहरूपी निद्रा मे सोया हुआ यह जीव जिनवाणी माँ पर विश्वास करे तो आत्म-विकास कर सकता है।

सच्चे देवगुरु शास्त्र की उपासना, धर्म की उपासना का एक मात्र लक्ष्य आत्म-कल्याण होना चाहिए। आत्म-उत्थान होना चाहिए।

वही अधिष्ठान है
सुख का मृदु नवनीत
जिसका पुनः मथन नहीं है
वही विज्ञान है
ज्ञान है निजरीत
जिसका पुन कथन नहीं है
और वही उत्थान है
प्रिय सगीत
जिसका पुन. पतन नहीं है।

□□

भगवान वर्धमान महावीर अपने नाम के अनुरूप वर्धमान थे। वे अपनी आत्मा मे निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान-चारित्र के धारी थे। पीछे मुडकर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। अपने विकारो पर विजय पाने वाले अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने वाले वे सही मायने में महावीर थे।

❑ अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर

कौन कहाँ से आया है। कहाँ जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन आया है तो उसे जाना होगा, यह निश्चित है। यह सत्य है। पर हम आने की बात से हर्षित होते है और आने को महोत्सव के रूप मे मानते हैं। प्रेम के साथ अपनाते हैं। जाने की बात हमे रुचिकर नहीं लगती और जाने की बात हमे उदास कर देती है। यही हमारी ना-समझी है। इस बात को हमे समझ लेना चाहिए कि आने-जाने का प्रवाह निरन्तर है। महावीर भगवान इस प्रवाह के बीच तटस्थ ही नहीं बल्कि आत्मस्थ/स्वस्थ रहे। तभी वे वास्तव मे महावीर बने।

महावीर बनने के लिए इस प्रवाह की वास्तविकता का बोध होना अनिवार्य है। दिन औ रात का क्रम अबाध है। उषा के बाद निशा और निशा के बाद उषा आयेगी। जो यह जान लेता है वह दोनो के बीच सहजता से जीता है। भगवान महावीर का जीवन ऐसा ही सहजता का जीवन है। वे स्वयबुद्ध थे, विचारक थे, चिन्तक थे। जीवन के हर पहलू के प्रति सजग चिन्तन उनका था। जो हो चुका, जो हो रहा है और जो होगा सभी के प्रति सहज भाव रखना यही वस्तु के परिणमन का सही आकलन है।

जो स्वागत के साथ विदाई की बात जानता है। वह न स्वागत गान से हर्षित/प्रभावित होता है और न ही मृत्यु-गीत से उदास/दुखित होता है।

जीवन क्या चीज है? जीवन तो ऐसा है कि जैसे किसी के हाथ मे कुछ देर काच का सामान रहा फिर क्षणभर मे गिरकर टूट गया। जन्म हुआ और मरण का समय आ गया। साठ-सत्तर बरस पल भर मे बीत जाते है। जो यह जानता है वह समय का सदुपयोग कर लेता है। यही बुद्धिमानी है। यही सन्मति है।

कहीं एक घटना पढने मे आयी थी। एक लाड़ली प्यारी लड़की थी, अपने माता-पिता की। एक ही थी इसलिए माता-पिता ने बड़े सोच समझकर योग्य वर की तलाश की। बहुत परिश्रम के बाद वर मिला। विवाह का शुभ-मुहूर्त आ गया। मगल बेला की सारी तैयारी आनन्द-दायक लग रही थी। लेकिन सात फेरे पूरे भी

नहीं हुये और सातवा अतिम फेरा प्रारम हुआ कि वर के प्राण देह से निकल गये। सब ओर हाहाकार मच गया। पर अब क्या हो सकता था?

"राजा-राणा छत्रपति हाथिन के असवार, मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।'' जिसकी जब बारी आ जाये उसे जाना होगा। इस बात का बोध होने परही जीवन में समीचीनता आती है। सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ते है। भगवान महावीर ने स्वय सन्मार्ग पाया, वे स्वय सन्मति थे और हमे भी वही सन्मार्ग दिखाया, सन्मति दी।

विवाह की मगल वेला में भी जाने का समय आ गया। जाने की वेला आ गयी। जाने वाला चला गया। कौन कहाँ तक साथ निभायेगा, कौन कहाँ तक साथ देगा, यह कहा नहीं जा सकता पर इतना अवश्य है कि सिवाय धर्म के कोई और अत तक साथ नहीं देता। कोई भी द्रव्य कोई भी पदार्थ या कोई भी घडी यहाँ टिक नहीं सकती। बहाव है जो निरतर बहता रहता है। परिणमन प्रतिक्षण है।

कोई भी वस्तु यदि रुक जाये परिवर्तित न हो तो वह वस्तु नहीं मानी जायेगी। वस्तु तो वही है जो प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हुये भी अपने स्वरूप में स्थित है। भगवान महावीर की यात्रा भी अरुक थी, वह ससार मे रुके नहीं, सतत् वढते ही गये। जो इस प्रवाहमान जगत् मे निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर वढ रहा है। वृद्धिगत हो रहा है वही वर्धमान है। उसका प्रतिक्षण नित-नवीन वर्तमान है।

महावीर भगवान अपने नाम के अनुरूप ऐसे ही वर्धमान थे। वे अपनी आत्मा मे निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान चारित्र के धारी थे। पीछे मुडकर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। उन्हें अपने खो जाने का भय नहीं था। जो शाश्वत है, जो कभी खो नहीं सकता, महावीर भगवान उसी के खोजी थे। उसी मे खोने को राजी थे। उनका उपदेश भी यही था कि जो नश्वर है, मिटने वाला है उसे पकड़ने का प्रयास या उसे स्थिर बनाने का प्रयास व्यर्थ है। वास्तविक सुख तो अपनी अविनश्वर आत्मा को प्राप्त करने में है।

यहाँ ससार मे जो सुख है उसके पीछे दुःख भी है। संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है। जो सुख-दु ख के पार है, जो सयोग-वियोग के पार है, उसका विचार आवश्यक है। उसका जन्म भी नहीं है, उसका मरण भी नहीं है मानो एक आवरण है जो इधर का उधर हट जाता है और वह जो मृत्युंजयी है वह हमेशा बना ही रहता है।

युद्ध से पूर्व अर्जुन को श्रीकृष्ण ने यही तो समझाया था कि जो कर्मयोगी है वह जन्म मरण का विचार नहीं करता, वह तो जीवन मरण के बीच जो शाश्वत आत्मतत्व है उसका विचार करता है और कर्त्तव्य मे तत्पर रहता है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, ध्रुवो जन्म मृतस्य च, तस्मातपरिहार्योऽर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि।'' अर्थात् जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यभावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है। इसलिये हे अर्जुन, सोच मे मत पडो। अपने धर्म का (कर्त्तव्य का) पालन करना ही इस समय श्रेयस्कर है। जन्म मरण तो होते ही रहते है। हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर के मरण के साथ अपना (आत्मा का) मरण मान लेते है। क्योंकि अपनी वास्तविक आत्म सत्ता का हमे भान ही नहीं है। जन्म-जयन्ती मनाना तभी सार्थक होगा जब हम अपनी शाश्वत सत्ता को ध्यान मे रखकर अपना कर्त्तव्य करेगें और उसी की सभाल में अपना जीवन लगायेगे।

भगवान महावीर स्वामी का कहना था कि यदि वस्तु को आप देखना चाहते हो या जीवन को परखना चाहते हो या कोई रहस्य उद्घाटित करना चाहते हो तो वस्तु के किसी एक पहलू को पकडकर उसी पर अड़ करके मत वैठो। मात्र जन्म ही सत्य नहीं है और न मरण ही सत्य है। सत्य तो वह भी है जो जन्म मरण दोनो से परे हैं।

जो व्यक्ति मरण से डरता है वह कभी ठीक से जी नहीं सकता। लेकिन जो मरण के प्रति निश्चित है, मरण के अनिवार्य सत्य को जानता है, उसके लिए मरण भी प्रकाश वन जाता है। वह साधना के वल पर मृत्यु पर विजय पा लेता है। संसार मे हमारे हाथ जो भी आता है वह एक न एक दिन चला जाता है, यदि जीवन के इस पहलू को, इस रहस्य को हम जान ले और आने-जाने रूप दोनों स्थितियो को समान भाव से देखे तो जीवन में समता भाव (साम्यभाव) आये विना नहीं रहेगा। जो मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

जीवन के आदि और अत दोनो की एक साथ अनुभूति हमारे पथ को प्रकाशित कर सकती है। हम शान्त भाव से विचार करे और हर पहलु को समझने का प्रयास करे तो जीवन का हर रहस्य आपोआप उद्घाटित होता चला जाता है। अनेकान्त से युक्त दृष्टि ही हमे चिन्तामुक्त और सहिष्णु बनाने मे सक्षम है। ससार मे जो विचार वैषम्य है वह अपने एकान्त पक्ष को पुष्ट करने के आग्रह की वजह से हैं। अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो। दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान महावीर की दिव्य-देशना से सर्वथा असवद्ध

था। यह वात जुदी है कि परस्पर सापेक्षता का ज्ञान न होने से दुराग्रह के कारण मतो मे, मान्यताओ मे मिथ्यापना आ जाता है।

मैं वार-वार कहा करता हूँ कि हम दूसरे की वात सुनें और उसका आशय समझे। आज बुद्धि का विकास तो है लेकिन समता का अभाव है। भगवान महावीर ने हमे अनेकान्त दृष्टि देकर वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराया है। साथ ही साथ हमारे भीतर वैचारिक सहिष्णुता और प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव का वीजारोपण भी किया है।

हमे आज आत्मा के रहस्य को समझने के लिए अनेकान्त, अहिंसा और सत्य की दृष्टि की आवश्यकता है। वह भी वास्तविक (रीयल) होनी चाहिये। वनावटी नहीं। यदि एक वार यह ज्योति (ऑख) मिल जाये तो मालूम पडेगा कि हम व्यर्थ चिता मे डूबे है। हर्ष विषाद और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना व्यर्थ है। आत्मा अपने स्वरूप मे शाश्वत है।

भगवान महावीर अपनी ओर, अपने स्वभाव की ओर देखने वाले थे। वे ससार के बहाव मे बहने वाले नहीं थे। हम इस ससार के वहाव में निरन्तर वहते चले जा रहे है और वहाव के स्वभाव को भी नहीं जान पाते है। जो वहाव के वीच आत्मस्थ होकर रहता है वही वहाव को जान पाता है। आत्मस्थ होना यानी अपनी ओर देखना। जो आत्मगुण अपने भीतर है उन्हे भीतर उतरकर देखना। अपने आपको देखना, अपने आपको जानना और अपने में लीन होना- यही आत्मोपलब्धि का मार्ग है।

मै कौन हूँ? यह भाव भीतर गहराता जाये। ऐसी ध्वनि प्रतिध्वनि भीतर ही भीतर गहराती जाये, प्रतिध्वनित होती चली जाये कि वाहर के कान कुछ न सुनें। हमारे सामने अपना आत्म-स्वरूप मात्र रहे। तो उसी में भगवान महावीर प्रतिविवित हो सकते है। उसी में राम अवतरित हो सकते है। उसी मे महापुरुष जन्म ले सकते है। यही तो महावीर भगवान का उपदेश है कि प्रत्येक आत्मा मे महावीरत्व छिपा हुआ है।

आत्मा अनत है। चेतना की धारा अक्षुण्ण है। आवश्यकता उसमें डुवकी लगाने की है। दर्पण मे जैसे कोई देखे तो दर्पण कभी नहीं कहता कि मेरा दर्शन करो, वह तो कहता रहता है कि अपने को देखो। मुझमें भले ही देखो, पर अपने को देखो। अपने दर्पण स्वयं वनो। दर्पण वने विना और दर्पण के विना स्वयं को देखना संभव नहीं है।

"गुणवश प्रभु तुम हम सम
पर पृथक् हम भिन्नतम

दर्पण में कब दर्पण
करता निजपन अर्पण।''

गुणो की अपेक्षा देखा जाये तो भगवान और हममें समानता है। लेकिन सत्ता दोनो की पृथक्-पृथक् है। दो दर्पण हैं समान है लेकिन एक दर्पण दूसरे में अपनी निजता नहीं डालता। मात्र एक दूसरे की निजता को प्रतिबिबित कर देता है। भगवान महावीर मे हम अपने को देख सके यही हमारी बड़ी से बड़ी सार्थकता होगी।

नदी, पहाड की चोटी से निकलती है। चलते-चलते बहुत से कदराओ, मरुभूमियो, चट्टानो और गर्तो को पार करती है और अन्त मे महासागर मे विलीन हो जाती है। हमारी जीवन यात्रा भी ऐसी ही हो। अनत की ओर हो ताकि बार-बार यात्रा न करना पड़े। ससार का परिभ्रमण रूप यह जन्म मरण छूट जाये। महावीर स्वामी ने आज की तिथि मे जन्म लेकर, जन्म से मृत्यु की ओर यात्रा प्रारभ की, जो अन्त मे मृत्युजयी बनकर अनत मे विलीन हो गई।

आत्मा को निरन्तर शरीर धारण करना पड रहा है। यही एक मात्र दुख है। शरीर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना ही सच्चा सुख है। अभी तो जिस प्रकार अग्नि लौह पिण्ड के सम्पर्क मे आने से लोहे के साथ पिट जाती है, उसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा घटी/मिटी तो नहीं है लेकिन पिटी अवश्य है। विभाव रूप से परिणमन करना ही पिटना है। अपने आत्म स्वरूप से च्युत होना ही पिटना है। जन्म मरण के चक्कर मे पड़े रहना ही पिटना है। हम इस रहस्य को समझें और जन्म मरण के बीच तटस्थ होकर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करे। अनत सुख को प्राप्त करने का प्रयास करें।

भगवान महावीर का तो यह जन्म अतिम था। उनकी मृत्यु भी अतिम थी। वे स्वय भी अतिम तीर्थकर थे। इसके पूर्व और भी तेईस तीर्थकर हुए। सभी ने अपने आत्म बल के द्वारा अपना कल्याण किया और हमारे लिए कल्याण का मार्ग बताया। लेकिन हम इस जन्म के चक्र से स्वय को निकाल नहीं पाये। हमारा जीवन धर्मामृत की वर्षा होने के उपरान्त भी अमृतमय नहीं हुआ। जरा देर के लिए बाहर से भले ही अमृत से भीगा हो लेकिन भीतर तक भीग नहीं पाया।

भीतर तक भीगने के लिए अन्तर्मन की निर्मलता चाहिये। श्रद्धा भक्ति ही अन्तर्मन को निर्मल बनाती है। भगवान महावीर की जयन्ती मनाकर अपने अतर्मन को निर्मल बनाने का प्रयास करे। पॉच पापो से मुक्त होकर, कषाय भावो को छोडकर आत्मस्थ होने का प्रयास करे।

शरीर की बदली हुई नश्वर पर्यायो मे न उलझें। शरीर का बदलना तो ऐसा

है कि जैसे पुराना वस्त्र जब जीर्ण-शीर्ण होकर फटने लग जाता है तब उसे उतारकर दूसरा वस्त्र धारण कर लिया जाता है ऐसे ही जब तक यह आत्मा ससार से मुक्त नहीं होती तब तक नई-नई पर्याय अर्थात् शरीर को धारण करती रहती है। यही शरीर का बधन दुखदायी है। इस बधन से मुक्त होना ही सुखकर है। यही आदर्श है। यही श्रेयस्कर है। यही प्राप्तव्य है।

इसी भावना के साथ अत मे इतना ही कहूँगा कि--

नीर निधि से धीर हो, वीर बने गम्भीर
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर।
अधीर हूँ मुझ धीर दो, सहन करू सब पीर
चीर-चीरकर चिर लखू, अदर की तस्वीर।।

□□

हनुमान जी, अजना और पवनजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न था, इसलिए उन्हे कहीं-कहीं लोग बजरगबली भी कहते है। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न और सुदर शरीर को धारण करने वाले मोक्षगामी परम पुरुष थे।

परम पुरुष भगवान हनुमान

सुगंध की आवश्यकता होने पर हम फूल या अन्य किसी सुगंधित पदार्थ की गवेषणा करते हैं। प्रकाश की आवश्यकता होने पर सूर्य की, दीपक की प्रतीक्षा करते हैं। शीतलता की आवश्यकता होने पर सघन छायादार वृक्ष या शीतल गंगाजल चाहते हैं। वास्तव में पदार्थ की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी उस पदार्थ में विद्यमान शक्ति/गुणधर्म की है। यह ठीक है कि पदार्थ के बिना गुणधर्म नहीं होते। जैसे फूल आदि के बिना सुगंध नहीं रह सकती, सूर्य या दीपक के बिना प्रकाश दुर्लभ है।

लेकिन जब हमारा ध्यान प्रकाश सुगंध या शीतलता आदि गुणधर्म की ओर न होकर मात्र पदार्थ की ओर जाता है तब हम चूक जाते हैं। आत्म-शक्ति की ओर न देखकर मात्र शरीर की ओर देखते रहने का परिणाम यह हुआ है कि जीव संसार में ही भटक रहे हैं। ऐसे समय में समय-समय पर महान् आत्माएं आकर स्वयं अपने आत्म कल्याण के माध्यम से हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करती हैं और शक्ति की उपासना, गुणों की आराधना का संदेश देती हैं।

"हिंसाया दुर्व्यक्ति तिरस्कार करोति इति हिन्दु।"

अर्थात् जो हिंसा से दूर [illegible] वही हिन्दु है। हिन्दु, यदि कोई [illegible] तो उस व्यक्ति को ऊपर उठाने वाला शक्ति/गुणधर्म अहिंसा है। अहिंसा से हिन्दू [illegible] हैं। हम व्यक्ति का सम्मान नहीं करते बल्कि उस व्यक्ति के अन्दर विद्यमान व्यक्तित्व का आदर करते हैं।

व्यक्तित्व के अभाव में व्यक्ति की पूजा नहीं होती। [illegible] भारतीय संस्कृति [illegible] व्यक्तित्व के मूल्यांकन [illegible] [illegible]

[illegible]

और निर्दोष पवित्र अहिंसा धर्म को पहचान पाना इन प्राप्त हुई आखों से सभव नहीं है। जिस दिन धर्म की सही सही पहचान हमे हो जायेगी उसी दिन भक्त और भगवान के वीच की दूसरी समाप्त हो जायेगी। असीम ससार भी स्वल्प रह जायेगा और अदर की कलुषता समाप्त होने लगेगी।

सुख शाति के रसास्वादन का प्रथम कदम है अपने से भिन्न अन्य पदार्थो स चित्त को हटाकर निज निरावरित आत्मा की ओर आना यदि हमें सुख शान्ति चाहिये है यदि हम विश्व मे शान्ति लाना चाहते है तो प्राप्तव्य वस्तु के गुणधर्म की ओर दृष्टिपात करे।

भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में यही बडा अंतर है कि भारतीय सस्कृति वस्तु के बाह्य आवरण को हटाकर आतरिक गुणधर्म की ओर जाने की शिक्षा देती है। पाश्चात्य संस्कृति के विचार मात्र आवरण तक ही सीमित रह जाते हैं। भारतीय सस्कृति मे सम्यक् ज्ञान का महत्त्व ज्ञेय पदार्थो की अपेक्षा अधिक है। दर्शन का महत्त्व अधिक है दृश्य का नहीं। भोग्य पदार्थ का महत्त्व (मूल्य) कभी भोक्ता से अधिक नहीं हो सकता। होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि भोक्ता (आत्मा) ज्ञानी है। सवेदक है। चैतन्य है और शेष सभी पदार्थ जड़ है, अचेतन है। सुख बाह्य पदार्थो मे नहीं अपनी आत्मा मे है। वास्तविक धर्म भी वहीं है जो हमे आत्म तत्व की ओर आना सिखाता है। निष्कलंक और आवरण से मुक्त करता है।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपके नगर मे हजारों घर होंगे, क्या आपने कोई ऐसा घर या महाप्रासाद देखा है जिसमे एक भी दरवाजा या खिडकी न हो। वह घास-फूस की झोपड़ी ही क्यों न हो पर उसमें एक दरवाजा अवश्य होगा जिस प्रकार समग्र विश्व मे बिना खिड़की या दरवाजे के कोई मकान संभव नहीं उसी प्रकार सारे ससार मे बिना गुण के कोई मनुष्य नहीं है। वस, गुणो को देखने की आवश्यकता है।

गुणों की गवेषणा करने वाली दृष्टि अपने आप गुणों को प्राप्त कर लेती है। जो गुणो की खोज करता है वह गुणी को भी प्राप्त कर लेता है। गुण और गुणी का संबंध अभिन्न है। धर्म और धर्मात्मा का संवध भी अभिन्न है। धर्म के अभावमें धर्मात्मा और धर्मात्मा के अभाव मे धर्म कहीं मिलने वाला नहीं है।

यही कारण है कि गुणग्राही व्यक्ति दूसरे के सुख को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करता तथा स्वयं भी सुख और शाति का अनुभव करता है। जो दूसरे के अवगुण देखता है और दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्या करता है, वह कभी तृप्ति, सुख और शाति का अनुभव नहीं कर सकता।

भोग की ओर दौड़ लगाने वाला यह युग धर्म का नाम तो लेता है किन्तु धर्म की भावना नहीं रखता। पदार्थ को देखकर मात्र भोगवृत्ति का होना ही व्यक्ति को गुणों से विमुख करता है। भोक्ता जो चैतन्यमूर्ति है, सवेदनशील आत्मा है वह दिखाई नहीं पड़ता। यही अशाति और दुख का कारण है। यदि हमने सुख शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया है, तो हमारा कर्तव्य है कि जिन्होने सुख-शाति प्राप्त की है उनकी शरण मे जाये और उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर गुणग्राही बनकर अपने आत्म-गुणों को प्राप्त करने का प्रयास करे।

जो आत्मनिर्भर होकर निष्कलक परम अवस्था को प्राप्त हुये है जो किसी का किसी भी रूप मे लाभ अथवा हानि नहीं करते। जो अपने आप मे स्थित है– ऐसे प्रभु की गवेषणा करनी चाहिये। तभी हमे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होगा। तभी हम अपने अदर स्थित उस आत्मतत्व को जो अनादिकाल से अनुभव में नहीं आया, अनुभूत कर सकेंगे।

रामनवमी यहाँ कुछ दिन पहले मनाई जा चुकी है। उसके उपरान्त भगवान महावीर के पावन आदर्शो की स्मृति स्वरूप महावीर जयन्ती का आयोजन किया जा चुका है। उसी श्रृखला में आज हनुमान जयन्ती है। उनका व्यक्तित्व अनोखा था। वे अजना और पवनजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ और शक्ति सम्पन्न था, इसलिए उन्हें कहीं-कहीं लोग बजरगबली भी कहते हैं। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न, सुदर शरीर को धारण करने वाले परम पुरुष थे।

आज विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव है। बुद्ध की उपासना करने वाले बौद्ध हैं। जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन है, पर ध्यान रखना धर्म सम्प्रदायातीत है। मैं जैन हूँ, मै हिन्दु हूँ, मैं सिक्ख हूँ या ईसाई हूँ या मैं मुस्लिम हूँ, इस प्रकार की मान्यता हमारे समाज रूपी महासागर के विशाल अस्तित्व को समाप्त करने वाली है। इस तरह टुकडों-टुकडो में बटकर, एक एक बूद होकर अपने अस्तित्व को खोने मे ज्यादा समय नहीं लगेगा। बूद को सुखाने के लिए थोडी सी सूर्य की तपन पर्याप्त होती है। हमारा कर्तव्य है कि हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे, धर्म को जीवन मे लाये और एक साथ रहकर परस्पर एक दूसरे के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, समूचे अस्तित्व के प्रति सद्भाव रखे।

रामचद्रजी को बनवास हुआ। सीताजी का हरण हो गया। तब राम, सीता के वियोग में विचलित हो उठे। कभी नदी के पास जाकर पूछते कि हे नदी, मेरी सीता कहाँ गई है, तुम्हे मालूम होगा, तुम तो बहुत दूर से बहती आ रही हो, मेरी सीता जरूर तुम्हारे किनारे आयी होगी, पानी पिया होगा, सध्या वदना की होगी, तुम्हारे तट पर बैठकर अर्हन्त भगवान का ध्यान किया होगा, मेरी स्मृति में रोती होगी।

कभी वृक्ष के समीप जाकर पूछते कि हे वृक्ष, तुम्हीं बताओ मेरी सीता यहॉं से गुजरते समय तुम्हारी छाया मे बैठी होगी, रसदार फल खाये होगे, फिर किस ओर चली गई।

कहते है कि रामचद्र जी ककर-ककर से पूछते रहे, पर सीता का कहीं पता नहीं लगा। इसी बीच एक दिन जब सुग्रीव जो अपनी पत्नि के हरण हो जाने से दु खी थे, शरण मे आकर रोने लगे तो रामचद्र जी ने उन्हे सात्वना दी और कहा कि सीता की खोज बाद मे करूँगा, पहले तुम्हारा दु ख दूर करूँगा। तुम्हारा दु ख दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शरणागत दीन-दु खी असहाय प्राणी की आवश्यकताओ की पूर्ति करना उसे सकटो से बचाकर उसका पथ प्रशस्त करना यही क्षत्रिय पुरुषो का काम है। यही श्रेष्ठ धर्म है।

कुछ समय मे ही राम की मदद से सुग्रीव को अपनी खोयी हुई पत्नी सुतारा मिल गई और सुग्रीव भी अपनी सेना के साथ सीताजी की खोज के लिए तत्पर हो गया। परस्पर उपकार का यही सुफल होता है।

उपकार का प्रबल भाव रखने वाले एक विशेष व्यक्तित्व का आज जन्म हुआ थ। न्याय का पक्ष लेने वाले वे रामभक्त हनुमान थे। न्यायप्रिय व्यक्ति अन्याय का कभी पक्ष नहीं लेता, चाहे अन्याय का पक्ष कितना भी प्रबल क्यो न हो। न्याय तो वही है जो सत्-पथ पर ले जाये। सच्चाई के मार्ग पर ले जाये। हनुमान सत्पथ पर चलने वाले महापुरुष थे। जैसे ही उन्हे ज्ञात हुआ कि रामचद्र जी का मार्ग न्याय का मार्ग है, तो वे रावण से निकट सबध होते हुये भी उनका साथ न देकर राम के साथ हो गये।

सीताजी की खोज मे वे लंका पहुँचे। तथा विभीषण के साथ वहॉं अशोक वाटिका मे पहुँच गये जहॉं ग्यारह दिन से उपवास किये, राम के विछोह मे दु खी सीताजी बैठी थी। उनका सकल्प था कि जब तक स्वामी राम की खबर नहीं मिलेगी तब तक आहार ग्रहण नहीं करूँगी। आज इस तरह के आदर्श को प्रस्तुत करने वाले विरले होते है।

हनुमान जी ने जाकर वदना की और कहा कि मै रामचद्र जी के पास से आया हूँ। आपका विश्वास और दृढ़ता देखकर अचरज मे पड़ रहा हूँ। आपका विश्वास सच्चा है। अब आप निश्चिन्त हो जाइये, श्रीराम कुशल है। सारा वृतात सुनकर और रामचद्र ही के द्वारा भेजी गई मुद्रिका देखकर सीता जी आश्वस्त और प्रसन्न हुई।

इस तरह न्याय का समर्थन करने वाले हनुमान को सफलता मिली। विभीषण ने भी अपने बडे भाई रावण का साथ छोड़ दिया। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना-अपना पुण्य-पाप है। इसी के आश्रय से सारा संसार गतिमान है। चल रहा है

तेजोबिदु उपनिषद् मे यह बात पढ़ने मे आई कि—

"रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्म सृष्टेष्ट तु कारण,
सहारे रुद्रको सर्व एव मिथ्येपि निश्चनो।''

अर्थात् विश्व की सृष्टि करने वाला कोई ब्रह्मा, सरक्षण करने वाला कोई विष्णु या सहारक रुद्र (शकर) मानना मिथ्या धारणा है। भीतर बैठी हुई आत्मा ही अपने अच्छे बुरे भावों की कर्ता है। आत्मा ही अपने भावो का यथासभव सरक्षण करने वाली है और वही अन्त मे अपने भावों को मिटाने वाली है। अत प्रत्येक आत्मा स्वय ब्रह्मा है और स्वय ही विष्णु और शकर है।

इन तरह इस उपनिषद् मे वड़ी आन्तरिक घटना का उल्लेख है। दूसरे पर कर्तृत्व का आरोप लगाना मिथ्या है। अपने स्वतत्र अस्तित्व को समझने के लिए ये वाक्य अमृत जैसे हैं। ससारी प्राणी अपने जीवन की वागडोर दूसरे के हाथो मे सौंपकर स्वय निश्चित होना चाहता है किन्तु अपनी आतरिक शक्ति को (जो मौलिक है) जानने की कोशिश नहीं करता।

आणविक शक्ति के आविष्कारक अल्वर्ट आइस्टीन महान् वैज्ञानिक माने गये है। उन्होंने लिखा है कि मैने अणु की शक्ति की खोज विश्व शानि के लिए मानव के कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यो के सपादन के लिए की है। मेरी दृष्टि विनाश की नहीं है। इतना अवश्य है कि जिस दिन मानव का दिल और दिमाग खराव हो जाएगा उसी दिन इस शक्ति के द्वारा प्रलय हो जाएगा।

जव तक हमारे भीतर का ज्ञान सही-सही देवता की उपासना करता रहेगा। जब तक मन निर्मल रहेगा और भौतिक बाह्य निधि भले ही मिट जाये लेकिन हमारी भीतरी निधि को मिटाना सभव नहीं होगा। वह अक्षुण्य बनी रहेगी। विनाश की शक्तियो के वीच भी अहिंसा की यह आत्मिक शक्ति अपराजेय रहेगी। रावण के अहकार और हिंसात्मक आचार-विचार पर विजय पाने वाले हनुमान जैसे अहिंसा धर्म के उपासक चरित्रवान् और न्यायप्रिय महापुरुष आज भी पूज्य है।

रावण को हराकर धर्मज्ञ विभीषण को लका का राज्य सौंपकर जब राम अयोध्या लौट आये और सुख शानि के साथ जीवन व्यतीत करने लगे तव एक दिन अपवाद की बात सुनकर सीता जी को वन मे छोड आने का उन्होने आदेश दे दिया। हनुमान जी ने विरोध किया पर राम अपने निर्णय पर अडिग रहे। कहा कि इसी में सभी का हित निहित है। यही दूरदर्शिता और मर्यादा है। अन्यथा राजा के न्याय के प्रति लोगो का विश्वास उठ जायेगा।

आज का न्याय केवल अर्थ (धनसम्पदा) और स्वार्थ पर निर्धारित हो गया है। परमार्थ का ध्यान नहीं। सच्चा अर्थपुरुषार्थ तो वह है जिसमें धनसम्पदा का संचय आत्मा के लिए किया जाता है तो जीवन के विकास मे सहायक होता है।

राम की आज्ञा से सीता जी को तीर्थ यात्रा के वहाने ले जाकर वन मे छोड़ते समय कृतान्तवक्र दु खी होकर रोने लगे और कहा कि हे मातेश्वरी, राजा की आज्ञा से मुझे सेवक के नाते यह कार्य करना पड़ा लेकिन प्रभु के चरणो में अव यही प्रार्थना करता हूँ कि आगामी जीवन में कभी किसी की नौकरी न करना पड़े। आपके प्रति

जो भी हुआ वह ठीक नहीं हुआ।

इतना सुनते ही सीता जी ने कहा कि कृतान्तवक्र तुम दु:खी मत होओ और रामचन्द्र जी के प्रति एंसा विचार मत लाओ, वे मेरे स्वामी है उनकी आज्ञा शिरोधार्य है। जो भी हुआ वह मेरे पूर्व कर्मो के परिणाम स्वरूप हुआ है। इसमें किसी का कोई दोप नहीं है। तुम अपने राजा राम से जाकर इतना ही कहना कि सीता को छोड़ दिया सो कोई बात नहीं लेकिन कभी धर्म का पक्ष न्याय का पक्ष, नहीं छोड़ना।

वधुओ ! महान् आत्माये अपने ऊपर आने वाली प्रत्येक विपत्ति को सहर्ष स्वीकार करती हैं और धर्म के मार्ग पर आरूढ रहकर दूसरो के लिए धर्म का मार्ग प्रदर्शित करती हैं।

सीता को वन मे अकेली छोडकर कृतान्तवक्र चला गया। इसी बीच पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजघ अपनी सेना के साथ उस वन से निकले और सीता जी का हाल जानकर उन्हे अपनी धर्म बहिन मानकर पुण्डरीकपुर ले आये। वहीं सीता के दो परमवीर पुत्र उत्पन्न हुये। एक दिन जब नारद सीता का हाल जानने वहाँ पहुचे तो दोनो पुत्रो लव और कुश ने उनका सम्मान किया। जिससे सतुष्ट होकर नारद ने कहा कि तुम्हारा वैभव और बल राम और लक्ष्मण की तरह हो।

तब दोनो पुत्रो लव-कुश ने पूछा कि ये राम-लक्ष्मण कौन है? तो नारद ने सारा वृतान्त सुना दिया। दोनो कुमारो ने सारी बात सुनकर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने का विचार बना लिया और कहा कि हम अपनी माता के साथ किये गये इस व्यवहार का बदला लेगे। सीता सोचने लगी कि अब क्या होगा? उन्होने पुत्रों को समझाया कि श्रीराम के साथ विरोध करना उचित नहीं है। वे तुम्हारे पिता है, तुम बड़ी विनय के साथ जाकर नमस्कार करके पिता के दर्शन करो। यही ठीक रहेगा। पर लव-कुश नहीं माने। माँ से कह दिया कि आप चिंतित मत होओ हम आपके पुत्र है। वीरो का मिलन युद्ध स्थल में ही होता है। हम वन में आपको अकेला छोडने वाले अपने पिता से युद्ध मे ही मिलेगे, और माँ को प्रणाम करके अयोध्या की ओर चल पड़े।

जब कर्त्तव्य और न्याय मे निपुण हनुमान को लव-कुश की वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो वे राम-लक्ष्मण की सेना को छोडकर लव-कुश की सेना मे आ गये, और कहा कि यही न्याय का पक्ष है। बड़ी विचित्र स्थिति बन गई जो हनुमान पहले राम के साथ थे, आज वे ही श्रीराम के विपक्ष मे युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। क्षत्रिय का धर्म यही है कि न्याय के पक्ष में धर्मयुद्ध करना और अन्याय का समर्थन नहीं करना।

युद्ध प्रारभ हुआ और देखते-देखते राम-लक्ष्मण का पक्ष कमजोर पड़ने लगा। अत मे जब लक्ष्मण ने चक्ररत्न चलाया तो वह भी लव-कुश के पास पहुँचकर कातिहीन हो गया। तब शीघ्र ही नारद ने जाकर लक्ष्मण जी को लव-कुश का परिचय दिया

और सीता के दु खो का वृत्तान्त कह दिया।

तब स्नेह में आकुल होकर राम लक्ष्मण पुत्रों के समीप चल पड़े। दोनों पुत्रों ने भी रथ से उतरकर हाथ जोडकर पिता को प्रणाम किया। सभी परस्पर मिले। हनुमान ने गद्‌गद होकर श्रीराम को प्रणाम किया और दोनों पुत्रों को गले लगा लिया। सभी समझ गये कि हनुमान ने क्यों राम का पक्ष छोड़ दिया था। ऐसे न्याय का पक्ष लेने वाले हनुमान धन्य है। जो व्यक्ति न्याय का पक्ष लेता है, उसके पक्ष में सारा विश्व हो जाता है।

सभी के परस्पर मिलन से सभी प्रसन्न थे। हनुमान, सुग्रीव आदि ने राम से सीता जी को वापिस अयोध्या ले चलने की बात कही तब श्रीराम ने कहा कि यद्यपि सीता निर्दोष है लेकिन सभी के सामने उनकी निर्दोषता प्रकट होनी चाहिये। सीता सहर्ष तैयार हो गई। सभी प्रियजन शोकाकुल हो गये। अग्नि-परीक्षा के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित की जाने लगी।

जिनका मन अत्यन्त दृढ़ है, ऐसी सीता ने कायोत्सर्ग किया और अग्नि में प्रवेश करने से पहले कहने लगी कि हे अग्नि ! यदि राम को छोडकर किसी अन्य पुरुष को स्वप्न में भी मन-वचन-काय से मैंने चाहा हो तो दूर रहकर भी तू मुझे भस्मसात कर दे और यदि सदाचार में स्थित मैं सती होऊ तो तू मुझे जला नहीं पायेगी। इतना कहकर जैसे ही सीता ने अग्नि में प्रवेश किया, उसी क्षण अग्नि, जल में परिवर्तित होने लगी। सब ओर जल फैलने लगा और जल के बीच सीता सिंहासन पर बैठी दिखाई पडी। देवों ने आकर पुष्पवृष्टि प्रारम्भ कर दी। सभी लोग गद्‌गद कंठ से जय-जयकार करने लगे। सभी नतमस्तक हो गए।

श्रीराम हर्षित होकर कहने लगे कि 'परीक्षा में पास हो गई। सभी का मन का मैल निकल गया। सीता जी अब घर लौट चलो।' तब सीता ने शान्तभाव से कहा 'कि अब भवन कहाँ अब तो वन में रहना ठीक है। मैं अग्नि परीक्षा में पास हो गई, इसमें शील धर्म की लाज बच गई। अग्नि में तपकर मेरे शीलव्रत में निखार आया है। अब तो जीवन पर्यन्त पचमहाव्रत रूप शील को ग्रहण करूंगी।'' इस तरह सब से विरक्त होकर वे वन में जाकर आर्यिका के व्रतों को अंगीकार कर लेती है। केशलुच करके मात्र एक साड़ी अपने पास रखती है और समस्त आरंभ परिग्रह से मुक्त होकर अर्हन्त प्रभु के ध्यान में लीन होकर विचार करती है कि—

"पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध मध्ये यथाघृतम्।
तिलमध्ये यथा तैल, देह मध्ये तथा शिव।
काष्ठ मध्ये यथा वह्नि शक्ति रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पंडित।।

अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में सोना विद्यमान है, दूध में घी विद्यमान है तिल में तेल और लकडी में अग्नि शक्ति रूप से विद्यमान है, उसी प्रकार शक्ति रूप से

इस देह में शिव (आत्मा) विद्यमान है। जो ऐसा जानता है वही विद्वान है, ज्ञानी है।

इस प्रकार ध्यान में लीन सीता की वंदना करके गद्गद कंठ से श्रीराम कहने लगे कि हे आर्यिका माता मेरा जीवन धन्य हो गया। आपने यह अंतिम परीक्षा देकर हमें शिक्षा दे दी कि आत्मा पृथक है और देह पृथक है। आपका जीवन कृतार्थ हो गया।

यह सब देखकर कुछ समय के उपरान्त हनुमान जी भी संसार से विरक्त हो गये। कह दिया कि अभी तक न्याय का पक्ष लिया अब आगे आगम का पक्ष, आत्मा का पक्ष लूंगा और वन में जाकर परम दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर ली।

उन्होंने जीवन भर सत्य का साथ दिया और अंत में सत्य को प्राप्त करने के लिए मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हो गये। मुक्ति को पा गये। वे चरम शरीरी सर्वांग सुन्दर देह को धारण करने वाले थे। उनके सौंदर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सरायें भी मुग्ध हो जाती थीं। सभी उन्हें चाहते थे लेकिन वे अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना चाहते थे, यही उनकी विशेषता थी।

जहाँ तक मुझे स्मृति है हनुमान जी का तीर्थक्षेत्र मांगी-तुंगी माना जाता है, जो कि महाराष्ट्र प्रान्त में है। वहाँ पर एक ऐसी ध्यान मग्न प्रतिमा है जिसका मुख दीवाल की तरफ है, जो इस बात का प्रतीक है कि अप्रतिम सौन्दर्य के धनी होकर भी हनुमान जी विश्व से विमुख रहे। अपनी ओर देखने में, आत्मज्ञ बनने में लगे रहे। उन्होंने समस्त बाह्य पदार्थों से हटकर अपने अजर अमर आत्मतत्त्व की ओर दृष्टिपात किया।

आज इस जयन्ती समारोह के आयोजक विश्व हिन्दू परिषद् वालों को और उपस्थित सभी लोगों को संकल्प कर लेना चाहिये कि हम श्रीराम के अनुरूप, महावीर स्वामी के अनुरूप और मुक्तिगामी हनुमान के अनुरूप अपने जीवन को बनायेंगे। अहिंसा धर्म का पालन करते हुए हिंसा से दूर रहकर सत्य की उपासना करेंगे। जैन पुराणों के आधार पर मैंने आपके समक्ष यह राम और हनुमान की कथा रखी। इतने उज्ज्वल चरित्र हनुमान का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनका अनुकरण करते हुए उचित मार्ग पर चलें और सिद्धत्व को प्राप्त करें।

□□

आचार्य श्री
प्रवचन-प्रमेय

१

यह पचकल्याणक महोत्सव का अवसर आप लोगो को उपलब्ध हुआ है। जनता ने आग्रह किया था, प्रार्थना की कि आप भी यहाँ पर आये- पधारें। हमने कहा—देखो ! जैसा अभी पण्डित जी ने कहा— महाराज जी कुछ कहते नहीं। मैं तो वह कहता हूँ जो आत्मा की बात होती है। आत्मा का स्वभाव देखना जानना है। इसलिए क्या होता है? आपको भी देखना है। लेकिन आप कुछ होने से पहले ही देख लेना चाहते है, जो सम्भव नहीं है।

वस्तु का परिणमन जिस समय, जिस रूप मे होता है। उसी को देखा जा सकता है। और उसी का अनुभव किया जा सकता है। रागी, द्वेषी, कषायी, व्यसनी व्यक्ति परिणमन तो कर रहा है किन्तु वह जानना-देखना छोडकर भविष्य की लालसा मे पड जाता है। ससार की यही रीति है। यही रीति आप लोगो को पसद आती है इसलिए ससार मे है। जिस दिन वस्तु का वर्तमान परिणमन हमारा ध्येय बन जाये, पेय बन जाये,ज्ञेय बन जाए, उस दिन ससार मे हमारे लिए कोई भी वस्तु अभीष्ट नहीं रह जायेगी। हमने यही कहा, अभी भी यही कहूँगा और आगे के लिए क्या कह सकता हूँ— पता नहीं? जब कभी पूछा जाए यही कहता हूँ नहीं भी पूछे। तो भी मै यही कहना चाहता हूँ कि देखना-जानना अपना स्वभाव है तो उसे हम भूले ना।

मगलाचरण मे आचार्य कुन्दकुन्द देव को नमोऽस्तु किया गया और प्रार्थना की कि हे भगवन! जिस प्रकार आपका जीवन निष्पन्न-सपन्न हुआ, उसी प्रकार हमारा भी जीवन सम्पन्न हो। हमारा भी जीवन प्रतिपन्न हो। हम अभ्युत्पन्न-मति वाले हों। हमारे पास मति तो है, लेकिन वह मति चौरासी लाख योनियो में भटकने-भटकाने वाली है। उसको हम भूल जाये और आप जैसे बन जायं, बस और कोई इच्छा नहीं।

मोक्षमार्ग इतना बड़ा नहीं है, जितना हमने समझ रक्खा है। हम सोचते है कि अनन्तकाल से परिचय मे आने पर भी वह अधूरा-सा ही लगता है, कभी भी पूरा

नहीं, अत मोक्षमार्ग बहुत वडा है। लेकिन मोक्षमार्ग वहुत अल्प-स्वल्प है। कल्पकाल से आ रहे दु:ख को शान्ति मे परिवर्तित कराने की क्षमता इसमे है। मोक्षमार्ग वहुत प्रयास करने पर प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं है। यह तो वहुत शान्ति का मार्ग है। जैसे– एक भवन निर्माण कराना था। देश-विदेशों से इन्जीनियरो को वुलवाया गया। उन्होने नक्शा आदि तैयार कर दस साल तक परिश्रम किया और दस-वीस लाख रुपये खर्च कर, उसे तैयार भी कर दिया। लेकिन वह पसंद नहीं आया। अव तो यही समझ मे आता है कि जिस प्रकार तैयार होने में दस साल और लाखों रुपये लगे हैं, वैसे ही इसे साफ करने मे और लगेगे। इन्जीनियरों से पूछा गया– हमें यह पसन्द नहीं है। इसके निर्माण में तो दस साल लग गये तो क्या इसको गिराने में भी इतना ही समय लगेगा? उन्होने कहा– नहीं ! निर्माण के लिए वहुत समय लगता है, नाश के लिए नहीं। इसी प्रकार "कर्मक्षय के लिए इतने प्रयास जजाल और उलझनो की कोई आवश्यकता नहीं।" आपने जीवन मे वहुत कुछ कमाया है, जमाया है, अर्जित किया है व उसको बाध-वूधकर रखा है, लेकिन अव उसे छोड़ने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता नहीं। इतना ही आवश्यक है कि अपनी खुली आखों को इन पदार्थो की तरफ से मोड ले। "दृष्टि नाशा पै धरे" वन्द भी नहीं करना है। मात्र अपनी आखो के बीच मे एक "ऐंगिल" वन जाए– कोण वन जाए तो हमारा दृष्टिकोण भीतर की ओर आ जाएगा, यही पर्याप्त है। वहीं के वहीं परिवर्तन हो जाएगा। सब वस्तुए वहीं धरी रहेंगी। सागर, सागर मे है जयपुर जयपुर मे है ! जयपुर वाले यहाँ पर तभी तक है जव तक कि उनका दृष्टिकोण उधर है– सम्वन्ध जोड़ रखा है। लेकिन न जयपुर आपका है ना हमारा। न सागर आपका है, ना किसी अन्य का। सागर, सागर में है। भवसागर, भवसागर मे है। हम तो उसे तैर रहे हैं। **बस ! आप सागर में रहते हैं और हम सागर पर रहते हैं, इतना ही अन्तर है।**

वन्धुओ ! सागर पर रहने वाला, भवसागर में रहने वाला नहीं होता। यह ससारी प्राणी नहीं हुआ करता। वह तो मुमुक्षु हुआ करता है। चाहने वाले मोही का नाम मुमुक्षु नहीं हुआ करता। "मोक्तुमिच्छु मुमुक्षु" मुमुक्षु, शब्द की व्युत्पत्ति ही कहती है कि वह जोड़ता नहीं, छोड़ने की इच्छा करता है। लेकिन संसारी प्राणी जोड़ने की इच्छा करता है। भैया ! आप क्या चाहते हैं, जोड़ना या छोड़ना? जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए मैं कहता हूँ– भैया ! मुमुक्षु की कोटि में नहीं आ सकते। पण्डित जी अभी बोल रहे थे कि क्या छोड़े? जो जोडा है, उसे ही छोड़ना है। जिसके साथ हमारी लगन है, प्यार है। जिसको हमने अपनी तरफ से इंगित किया, प्रयास के साथ अर्जित

किया, उसे ही छोडना है। लेकिन लगता है यदि भगवान् भी कह दे तो छोडना आप लोगो को सभव नही हो सकेगा। भगवान् कह भी तो रहे है—"कि तुम्हे वही छोडना है, जो जोडा है। मैंने जो जोडा है, वह नहीं। पूर्वावस्था से मैंने भी जो जोडा था उसे छोड दिया। लेकिन अब जो यह जुड़ गया है वह अब जीवन का अग/हिस्सा बन गया है। जीवन का स्वभाव धर्म है। धर्म को कभी नहीं छोडना है। फिर क्या छोडना है? छोडना वही है, जो आपने जोडा है। मुझे यह नहीं पता कि आपने क्या-क्या जोड रखा है। भगवान् का कहना तो इतना ही है कि, जो जोड़ रखा है, जोडते जा रहे हो और जो जोडने का सकल्प ले लिया है— भविष्य का, जीवन जीने के लिये जो तैयारी करने का प्रयास चल रहा है, बस ! उसको ही छोडना है। फिर सारा का सारा भविष्य ही अन्धकारमय नहीं हो जाएगा? अन्धकार नहीं होगा। यह जो "आर्टीफिशियल लाइट" है उससे ऑखो पर चमक आ रही है। इसको फेंक दीजिए।

वर्तमान मे जितना भी प्रकाश है, वह ऑखो को खराब करता है। अत इस प्रकाश को छोड दीजिए। **यह प्रकाश, प्रकाश नहीं है। प्रकाश तो वह है, जिसमें कोई भी वस्तु अन्धकारमय नहीं रहे। कोई भी पदार्थ ज्ञातव्य नहीं रहे।** वह प्रकाश लाइये। वाहर से "स्टोर" किया गया प्रकाश हमारे काम का नहीं। वह अन्धकार के सामने शोर करता है और उसे भगा देता है। लेकिन भगाने वाला प्रकाश, प्रकाश नहीं हो सकता। "प्रकाश तो अपने-आप में सबको लीन कर लेता है, चाहे वह अन्धकार ही क्यो न हो।" समन्तभद्र स्वामी ने स्वयभूस्तोत्र मे कहा— **दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।**

दीपक का प्रकाश तम को कभी भगाता नहीं, किन्तु तम को ही प्रकाशमय बना देता है। वस्तु का एक स्वभाव-गुण, प्रकाशमय होना भी है तो दूसरा विभाव अन्धकारमय होना। हमारा ज्ञान एक ही है, वही ज्ञान, अज्ञान हुआ है, अब उसे ही ज्ञान की ओर "डायवर्ड" करना है। और कोई क्रिया नहीं, वहीं के वहीं सब कुछ हो जाएगा। कहीं भागना नहीं, कहीं जाना नहीं। किन्तु जो जोडने का भाव है, जिसके साथ जुडन चल रहा है, उसको जानना है, पहचानना है। यह कोई उलझन की बात नहीं। बहुत सीधी-सादी बात है। **मुमुक्षु के जुड नहीं रहा, जोड़ नहीं रहा, उसे छोडने की इच्छा कर रहा है। छोड़ने की इच्छा, इच्छा नहीं है। वह छोड़ेगा, और ऐसे छोड़ेगा कि बस यूं आँख फेर लेगा। अरे ! आँख क्या फेरेगा, उसमें भी तो गरदन को व्यायाम करने की आवश्यकता है लेकिन वह तो वहीं के वहीं, वैसा का वैसे ही स्वस्थ हो जाएगा।** अब आप भले ही पूछने लग जाए कि— क्या बात हो गयी, ऐसो

कौन-सी उपेक्षा आ गई। उसके लिये तो अब उपेक्षा नहीं, मात्र किसी से भी अपेक्षा नहीं है, इतना ही है। दुनिया की दृष्टि मे वह नटखट-सा लगने लगता है। जब हमारा पेट भरा हो तब किसी की आवश्यकता नहीं– अपेक्षा नहीं। आप मेहमान के यहाँ गये है। आपके सामने वहुत से व्यजनो से शोभित थाली परोस दी गई और पूछा जाता है कि आपको क्या दें? क्या चाहिए? बस ! इतना ही चाहिये कि अब अधिक मत पूछिये। क्योंकि हमारा पेट भरा है। आपने जो अनेक प्रकार के व्यजन बना रखे हैं, इन्हें इसमे डाले, ऐसा नहीं हो सकता। भरपेट होने पर कोई इच्छा नहीं। इच्छा बताने की आवश्यकता ही नहीं। जहाँ पर अपेक्षा है, वहाँ पूछताछ होती है। जहाँ पर अपेक्षा नहीं वहाँ उपेक्षा हो गई। इन शब्दो की व्युत्पत्ति यू कहना चाहूगा–

"अपगतं ईक्षणं यस्य सा इति अपेक्षा"

अर्थात् जिसके जानने-देखने की समीचीन दृष्टि ही समाप्तप्राय है– हो चुकी है उसका नाम अपेक्षा है। और (**"ईक्षणस्य समीपं इति उपेक्षा"**) अर्थात् विल्कुल निकट से देख रहा है। बहुत निकट आ चुका है इसलिए दूसरे पदार्थो की अपेक्षा नहीं, उसी का नाम उपेक्षा है। समन्तभद्राचार्य ने स्वयभूस्तोत्र मे अरहनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है–

"दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः"

सम्यग्दर्शन-देखना, सम्पत्-आत्मा की सम्पदा ज्ञानधन। समन्तभद्राचार्य ने रत्नत्रय की विभिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न शब्दों से बात कही है, सम्पद्-वीतराग विज्ञान। ज्ञान नहीं, किन्तु वीतरागविज्ञान। चारित्र के लिए भी उन्होने ऐसा शब्द चुना जिसे दुनिया "उपेक्षा" की दृष्टि से देखती है, रागद्वेष की दृष्टि से देखती है। चारित्र के लिये "उपेक्षा" भी बोलते हैं। जिसके पास आना किसी को इष्ट नहीं। दूर जाना तो बहुत इष्ट-सरल है। समझने के लिए- कोई व्यक्ति निर्धन था, अब उसे कुछ धन मिल गया तो उसमे गति आ गई। पहले गति तो थी लेकिन पैरो मे थी। पैरो से पैदल चलता था। अब भी पैरो मे गति है, लेकिन अब पैडल चला रहा है। साइकिल पर बैठ गया है। गति हो गई, प्रगति हो गई, किन्तु अभी रास्ते पर चल रहा है। जब विशेष रूप से धन कमाता है तो मोटरसाइकिल ले आता है। पहले "वाइसिकल" थी अब "मोटरसाइकिल" आ गई। यदि और धन आ जाता है तो उसमे गति और तेज हो जाती है। गति तो तेज होती है पर आत्मा को छोडकर, केन्द्र को छोडकर, वाहर की ओर होती है। आत्मा को वहिरात्मा बना देता है धन। जिससे भागने लगता है तेज चलने से "एक्सीडेन्ट" हो सकता है। धन की वृद्धि से वह अब मोटरसाइकिल से कार पर आ जाता है। इससे आगे कार से

भी उठने लगता है। कार भी बेकार लगने लगती है तो प्लेन की बात आ जाती है। जैसे-जैसे धन बढता गया, वैसे वैसे विकास तो होता गया, लेकिन धर्म को नहीं समझ पाया, जो इसकी निजी सम्पदा है। इस प्रकार धन के विकास मे ससारी प्राणी अपनी सम्पदा-ज्ञान का दुरुपयोग भी करता जा रहा है।

कल्पना करिये, जो पेदल यात्रा करता है, यदि वह गिर जाता है तो क्या होता है? थोड़ी-बहुत चोट लग जाती है। फिर उठ जाएगा और चलने लग जायेगा। यदि साइकिल मे गिर जाए तो? थोडी ज्यादा चोट लग सकती है। यदि मोटर साइकिल से गिरे तो? उसे उठाकर अस्पताल लाना होगा। यदि कार से दुर्घटना हो जाए तो? गंभीर समस्या हो जाती है और यदि प्लेन से यात्रा करते हुये "एक्सीडेन्ट" हो जाता है तो? वह तो देवलोक ही चला जाता है। दिवगत हो जाता है। उसके मृत शरीर का दाह सस्कार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं पडती।

बन्धुओ! धन असुरक्षित करता है और धर्म सुरक्षित। समन्तभद्रस्वामी ने कहा— भगवान कामवासना को आपने कौन-से शस्त्रो के द्वारा जीता? कामदेव को आपने अण्डर मे कैसे रखा? दृष्टि-सम्यग्दर्शन सम्पद-सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा-सम्यक्चारित्र वीतरागविज्ञान इन तीनो शस्त्रो के द्वारा ही आपने उस वासना को, जो उपयोग मे ही लीन-एकमेक हो रही थी जीत लिया। अपने अण्डर मे कर सयमित बना लिया, नियमित बना लिया। यह रास्ता बहुत सरल है। इसको समझने की ही देर है कि वह सारा का सारा काम समाप्त हो जाएगा जो अनन्तकाल से चला आ रहा है।

ऐसी ही भावनाओं को लेकर कोई भव्य -**कश्चिद्भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनेककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म।**

प्रत्यासन्न भव्य, प्रज्ञावान्-बुद्धिमान्-ज्ञानवान् है। इन उपाधियो के साथ एक उपाधि है, "स्वहितमुपलिप्सु" यह मुमुक्षु का सबसे पैनी दृष्टिवाला लक्षण है। मुमुक्षु वही है, जैसा पहले कहा था— "मोक्तुमिच्छु मुमुक्षु।" "भोक्तुमिच्छु बुभुक्षु" हो जाता है। बुभुक्षु की चाह असमाप्त है और मुमुक्षु अपनी चाह को ही मेटना चाहता है। बुभुक्षु की दृष्टि, धन के विकास मे नहीं। जैसे-जैसे धन का विकास चाहेगा वैसे-वैसे वह मुमुक्षु बनता चला जायेगा। भोग के पथ पर ससारी प्राणी अनन्तकाल से चलता आया है। यह ऐसा पथ है "**कापथे पथि दुःखानाम्**" जिस पर "राउन्ड" लगाते हुये भी लगता है कि मैं बिल्कुल नये पथ पर चल रहा हूँ। वह पथ, जनपथ

की ओर ले जाता है, जिनपथ की ओर नहीं। जनपथ, जिन पथ पर वासना से युक्त लोग चलते रहते हैं। जिनपथ से विपरीत दिशा की ओर ले जाता है। जनपथ, जिनपथ कदापि नहीं बन सकता।

आज की यह आयोजना, जिनपथ पर चलने के लिए ही है। राग के समर्थन के लिए नहीं, वीतरागता एवं वीतरागी के समर्थन के लिए है। हमें धन का समर्थन–परिवर्तन नहीं करना किन्तु उनका परिवर्जन/विसर्जन करने का काम, इस अवसर पर करना है। धन के द्वारा नशा, वासना का दुगुना रंग चढ़ जाता है, जिससे लगता है कि हम बहुत सुख का अनुभव कर रहे हैं। लेकिन ध्यान रखिये! जैसे-जैसे धन बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे धर्म ओझल होता जायेगा एवं उसका पथ भी। पथ पर चलने के लिए बोझिलपना भी आता जाता है। जहाँ से उपासना प्रारम्भ होती है वहाँ, बढ़ने के लिए इन पदों में शक्ति क्यों नहीं आ रही, कहाँ जा रही है? जबकि वासना की ओर बढ़ने के लिए स्वप्रेरित है। आत्मा को/जीव को उस ओर बढ़ने के लिए धन का विसर्जन आवश्यक होता है। इस प्रकार सारी इच्छाओं को विसर्जित कर अपने हित को चाहने वाला यह भव्य कहा जा रहा है "क्वचिदाश्रमगं मुनिपरिषण्मध्ये" एकान्त स्थल में जहाँ मुनि-महाराजों की मण्डली के बीचों बीच बैठे हैं आचार्य महाराज! वह रागी नहीं, वासनाग्रस्त नहीं, मोही नहीं, परम वीतरागी हैं। युक्ति और आगम में कुशल हैं। कुछ बोलते नहीं वह तो अपनी मुद्रा के द्वारा, वीतरागछवि के द्वारा - नग्नकाया के द्वारा मोक्षमार्ग का, बिना मुख खोले उपदेश दे रहे हैं। जैसा कि पण्डितजी ने कहा था "चलते फिरते सिद्धों से गुरु" ऐसे सन्त जो अरहन्त के उपासक हैं, धनपति के नहीं। धन की चाह नहीं। जो चाह की दाह में झुलसता हुआ अपना आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्व को बाहर निकाल कर, धर्मरूपी रसामृत में उसे डुबोना चाह रहे हैं, ताकि अनन्तकाल की दाह, झुलसन, उत्पीड़न और जलन शान्तिरूप परिवर्तित हो जाय।

इसी प्रकार शान्ति की तलाश में निकला, वह भव्य सोचता है कि– वर्तमान में जो चीजें अच्छी लग रही हैं। वे चीजें जहाँ तक अच्छी लगती चली जायेंगी, वहीं तक उनके सम्पादन में लगा रहूँगा। और यह सब जनपथ का ही माहौल है। इससे मेरा उद्धार होने वाला नहीं। वह इस पथ से हटकर अपने हृदय में एक अद्भुत किरण की अनुभूति चाहता है। अतः जनपथ को छोड़कर जिनपथ की ओर आया है। वह ऐसे मुनिमहाराज आचार्य महाराज को देखकर कहता है– आज मैं कृतकृत्य हो गया। मुझे आज समझ में आ गया। मैंने जो अन्यत्र देखा वह यहाँ पर देखने को नहीं मिला और जो यहाँ पर देखा वह अन्यत्र देखने के लिए नहीं मिला। सुख की मुद्रा देखने का

अवसर आज मिला। सुख की मुद्रा यही है। अन्यत्र तो मात्र उसका अभिनय है।

नग्नकाया मे रहने वाली, आत्मा के अग-अग से वीतरागता फूट रही है। यही एक मात्र आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन है। यही हितकारी मुद्रा है। हितैषी है। हितैषी का मतलब लोक हितैषी या स्वहितैषी? किसका हित? क्या ससार का हित करने की आप सोच रहे हैं। तो ससार का हित करने के लिए स्वय अपने आपका हित करना आवश्यक है। **जो व्यक्ति हित के पथ पर नहीं चलता वह दूसरों का हित नहीं कर सकता। मात्र हित की बात कर सकता है, लेकिन हित से मुलाकात नहीं कर सकता। हित की बात करना अलग है और हित से मुलाकात अलग। मुलाकात में उसका साक्षात्कार है, बात में नहीं।** ऐसे हितकारी आत्मतत्त्व को दिखा नहीं सकते क्योंकि वह देखने मे आता भी नहीं। पण्डित जी अभी-अभी कह रहे थे कि– जीवतत्त्व को पहचानना आवश्यक है। ठीक है ! लेकिन उसके साथ यह भी कह गये कि– अध्यात्म ग्रन्थ आत्मतत्त्व का साक्षात् स्पर्श करा देते है। बात प्रासगिक है, इसलिये मैं उठाना आवश्यक समझता हूँ, ताकि चार-पाच दिनो तक उस पर विचार-विमर्श हो जाए।

सन्तो ने, धर्मात्माओ ने, लेखको ने और विद्वानो ने जिनवाणी को मा की कोटि मे रखा। उन्होने कहा–

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।

उस श्रुतसागर को मेरा नमस्कार हो, जिस श्रुतसागर का उद्भव सर्वप्रथम वीरप्रभु जिन्होने अर्हन्त पद प्राप्त किया उसके उपरान्त-उसका विश्लेषण किया, से हुआ है। वीर प्रभु ने हमे साक्षात् शाब्दिक वाणी नहीं दी, क्योंकि शब्दो का एक जाल होता है, सीमा होती है, शक्ति होती है और अपनी सामर्थ्य भी। जबकि वस्तु तत्त्व-विश्लेषण अनन्त होता है। शब्दों में अनन्त को बाध सकने की सामर्थ्य नहीं। इसलिए वस्तुतत्त्व उन शब्दो की पकड मे आने वाला नहीं। अत भगवान् ने (वीरप्रभु ने) जो बखान किया वह अर्थश्रुत है अर्थश्रुत को ही विश्व के सामने रखा। अब आप समझ लीजिये अर्थश्रुत अलग है और शब्दश्रुत अलग। दोनो मे बहुत अन्तर है। शब्दश्रुत वह वस्तु है जो हम लोगो तक "डायरेक्ट लाइन" से मिलती है, सीधे अर्थ बोध कराता है। जबकि अर्थश्रुत– "इनडायरेक्ट लाइन" माध्यम बनाकर अर्थबोध कराता है। जैसे विद्युत लाइन दो प्रकार की होती है, एक पावर वाली और एक घर की। पावर वाली लाइन "डायरेक्ट" होती है और घर वाली "इनडायरेक्ट" मिलती है। वह स्टोररूम से शाखा-उपशाखाओं मे विभक्त होकर घर तक दी जाती है, तभी वह जीरो वाट से सौ वाट तक के लिए पर्याप्त होती है। इसी प्रकार भगवान् ने जो अर्थश्रुत दिया

वह अनन्तात्मक है, वह साक्षात् रूप मे हमारे काम का नहीं। उसको सुनकर ही गणधर परमेष्ठी ने भी उनका अनन्तवा भाग समझा पाया। अर्थात् भगवान् ने जो कहा वह अनन्त और जो गणधर परमेष्ठी के पल्ले पड़ा वह उसका भी अनन्तवा भाग। छद्मस्थ के पास ऐसी कोई भी शक्ति नहीं, जो अनन्त को झेल सके। गणधर परमेष्ठी हमारे पूज्यनीय, हमसे बड़े है लेकिन वह भी छद्मस्थ ही है। इसलिए अनन्त को झेलने की क्षमता उनके पास भी नहीं। इसके बाद, उन्होने जितना झेला, उसे पूरा का पूरा द्वादशाग के रूप मे नहीं दे सके। कोई भी "माइण्ड" ऐसा नहीं है जो जितना विचार करे और उतने को-पूरे को ही शब्द का रूप दे सके। शब्द मे उतना आ नहीं सकता। क्योकि विचार, जानना वह तो बहुत प्रवाह के साथ होता है, लेकिन शब्द उसको बाधता है, जो आसान नहीं।

जिस प्रकार नदी प्रवाहक बहुत होती है, परन्तु बीच बीच मे ४० ५० मील पर बाध बाधकर काम लेते है, उसी प्रकार अनन्तप्रवाहरूप श्रुत को एक मात्र बाध के रूप मे सग्रह किया, जिसका ही नाम जिनवाणी है। गणधर परमेष्ठी ने उन तत्त्वो को जो कि सासरिक उलझनों मे काम आने की गुजाइश रखते है, समीचीन रूप से पिरोया है। अनन्ततत्त्वो को कभी गूथा नहीं जा सकता। उनको मात्र जाना जा सकता है। गणधर परमेष्ठी ने अनन्त को अभी नहीं जाना, कैवल्य के उपरान्त जानेगे, यह बात अलग है।

भगवान् ने जो जाना वह अनन्त, जो कहा वह अनन्तवा हिस्सा। इसके बाद गणधर प्रभु ने जो समझा-झेला वह उसका भी अनन्तवा हिस्सा तथा जिसको शब्द का रूप दिया, वह उसका भी अनन्तवा हिस्सा। इसके उपरान्त, जो द्वादशाग के रूप मे कहा गया वह भी उसका अनन्तवा हिस्सा, जिसको ग्यारह अग और चौदह पूर्वो के नामो से जाना जाता है। इसके बाद–

"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्"

इसके अनुसार क्षीण होता गया। जैसा हम लोगो का पुण्य उसी के अनुरूप यहाँ आ करके खड़ा हुआ है। आज एक अश का भी ज्ञान नहीं है। जिन कुन्दकुन्द भगवान् को हम मगलाचरण मे याद करते है, उनको भी एक अग का ज्ञान नहीं था। ऐसा जिनवाणी ही उचरती है। जितना था, उतना तो था, लेकिन इतना नहीं था जितना कि हम समझ लेते हैं। उनको अनन्त ज्ञान नहीं था। एक अग का भी ज्ञान नहीं था, क्योकि अग का पूर्ण ज्ञान होना अलग है और उसके कुछ-कुछ अशो का ज्ञान होना अलग। इसी कालक्रम मे जिनवाणी की यह स्थिति आ गई कि उसे चार अनुयोगो के रूप मे बाटा गया। चार अनुयोगों की जो परिभाषा वर्तमान मे

हम लोग समझते हैं वह प्राय सम्यक् नहीं है। हमें जिनवाणी मा की सेवा करना है तो उसके स्वरूप को भी समझना होगा। तभी नियम से उसका फल मिलेगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। मा हमे मीठा-मीठा दूध पिलाती है, नीचे का, जिसमे कि मिश्री अधिक होती हैं क्योकि उसे ही खिलाने-पिलाने का ज्ञान होता हैं। इसके साथ-साथ अच्छी-अच्छी बातें समझाने वाली मां ही होती है।

जिनवाणी - प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भागो मे बाटी गई। लकिन प्रथमानुयोग क्या है? करणानुयाग क्या है? चरणानुयोग क्या है? द्रव्यानुयोग क्या है? यह जानना वहुत ही आवश्यक है। इसके समझे बिना जिनवाणी को सही-सही जाने बिना भटक जायेगे। जिनवाणी ऐसे-ऐसे "प्वाइन्ट" दे देती है जिसस हमारा कल्याण बहुत जल्दी हा सकता है/हो जाता है। वह हम "शार्टकट" भी वता देती है। हमारा जीवन बहुत कम/छोटा है, उसमे भी काल का सदुपयोग हो तभी जिनवाणी का सही-सही ज्ञान एव जिनवाणी क सहारे से चारो अनुयोगो का सही-सही ज्ञान हो सकता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी हुए हैं जो पहले भगवान् की प्रार्थना ना कर परीक्षा लेते थे और बाद मे ऐसे "सरेण्डर" हो जाते थे कि उन जैसे शायद ही कोई अन्य मिले। इतनी योग्यता थी उनमे। उन्होंने कहा—

> प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
> वोधिसमाधिनिधानं वोधति वोधः समीचीनः।।

भगवान् आपका प्रथमानुयोग वोधि और समाधि को देने वाला है। बोधि - रत्नत्रय की प्राप्ति। समाधि - अन्तिम समय सल्लेखना के साथ समता के परिणाम अर्थात् रत्नत्रय को देने और उसमे सफलता प्राप्त कराने की क्षमता इस प्रथमानुयोग मे है। प्रथमानुयोग वहुत "राउण्ड" खाकर के तत्त्व पर भले ही आता है लेकिन प्रथमानुयोग पढने के उपरान्त समन्तभद्र स्वामी जैसे कहते है कि यह बोधि और समाधि का निधान अर्थात् भण्डार है। यह तो प्रथमानुयोग की बात हुई। अब चरणानुयोग क्या है इसे कहते है—

> गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।
> चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

चरणानुयोग हमे चलना-फिरना सिखाता है। कैसे चले और किस ओर चलें? इसका निर्णय तो हमने कर लिया, किन्तु चाहे सागार हो या अनगार, दोनो के लिए उस ओर जाने के साथ पाथेय होना अनिवार्य है। वह पाथेय इस चरणानुयोग से मिलता है। इसके बारे मे कोई विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। मात्र करणानुयोग

और द्रव्यानुयोग को ही सही-सही समझना है कि, करणानुयोग क्या है? और द्रव्यानुयोग क्या है? इन दोनों के बारे में ही बहुत-सी भ्रान्तियां हुई हैं समन्तभद्राचार्य ने करणानुयोग के लिए कहा है–

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामति-रवैति करणानुयोगं च।।

जहाँ पर लोक और अलोक का, चारों गतियों का, नरक-स्वर्गादिक का विभाजन हो, अथवा कम शब्दों में कहें तो भौगोलिक-स्थितियों का वर्णन करने वाला करणानुयोग है। करणानुयोग का अर्थ हुआ - भौगोलिक जानकारी देने वाला। जैनाचार्यो का भूगोल किस प्रकार का है यह बताता है और खगोल किस प्रकार का यह भी। "गोल" होने की बात को गोल कर दीजिए क्योंकि यह तो आज विसंवादित विषय है। मैं तो यहाँ पर करणानुयोग का विषय बताना चाहता हूँ नरक, स्वर्ग, नदी, पहाड़, समुद्र, अकृत्रिम चैत्यालय और ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोकों के विस्तार को आदर्शमिव - दर्पण के समान करणानुयोग सब कुछ, स्पष्ट करता है– सामने रख देता है। ये चराचर जीव–

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादितैं भरमत है बिन ज्ञान।।

इस लोक में - संसार में भ्रमण कर रहे हैं? यह सब ज्ञान करणानुयोग से होता है। संस्थानविचयधर्मध्यान के लिए यह सब जानना आवश्यक है। यह जानना अनिवार्य है कि कौन-कौन जीव, कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं? हम कहाँ पर भटक रहे हैं? हमारा कहाँ उद्धार होगा? किन कारणों के द्वारा उद्धार हो सकता है। क्षेत्र की अपेक्षा भी ज्ञान होना चाहिए - हम कहाँ पर रह रहे हैं? निराधार तो नहीं है? कौन-सा आधार है? यह सब ज्ञान होना आवश्यक है।

अब द्रव्यानुयोग आ गया। द्रव्यानुयोग का रहस्य समझना बहुत कठिन है, बहुत गहरा है। अतः पहले इसे परिभाषित करना चाहूँगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के शब्दों में–

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

समन्तभद्राचार्य ही एक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने चारों अनुयोगों को बहुत स्पष्ट किन्तु अल्प शब्दों में बहुत गहरे अर्थ के साथ परिभाषित किया। संसार में छोड़ने योग्य मात्र पाप और पुण्य, ये दो ही है, तीसरा कोई वस्तु नहीं। इन दोनों बन्धनों में हो सभी बंधे हुए हैं। इनको हम छोड़ना चाहते है लेकिन छूटे कैसे? कब और

किस विधि से? इसका वर्णन करने के लिए आचार्यो ने द्रव्यानुयोग की रचना की। बन्ध क्या है और मोक्ष क्या? आस्रव क्या और सवर क्या? किस गुणस्थान म कौन-कौन से कर्मो का आस्रव होता है और किस-किस का बन्ध? आस्रव और वन्ध ही तो ससार के कारणभूत है। इनके द्वारा हमारा कभी भी कल्याण हाने वाला नहीं। सवर और निर्जरा, मोक्ष तत्त्व के लिए कारण है - मोक्षमार्ग है। मोक्षतत्त्व इनसे भिन्न है। इस प्रकार का विभाजन द्रव्यानुयोग मे किया गया है। इन सातो तत्त्वो नव पदार्थो और छह द्रव्यो का जानना द्रव्यानुयोग से होगा। आप पूछ सकते है कि द्रव्यानुयोग मे कौन-कौन से ग्रन्थ लेना चाहिए? कारण कि कुछ लोगों कि धारणा यह हो सकती है कि द्रव्यानुयोग में केवल समयसार, नियमसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थ ही आते है। लेकिन ऐसा नहीं है।

इसके दो भेद करने चाहिए। जैसा कि अभी पण्डित जी ने भी कहा था कि आगम और परमागम दो नाम आते है। जैनाचार्यो ने इसे आगम और अध्यात्म नाम दिये है। "अध्यात्म" यह शब्द हमारा नहीं है बल्कि आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला की १३ वीं पुस्तक में उपयोग किया है। दो भेद हो गये— आगम और अध्यात्म। अब आगम के भी दो भेद करने चाहिए— दर्शन और सिद्धान्त। दर्शन— जो षट्दर्शनो का बोध देने वाला है अर्थात् न्याय की पद्धति को लेकर जैसा आचार्य समन्तभद्र, अकलकदेव, पूज्यपादस्वामी आदि कई आचार्यो ने न्याय की पताका फहरायी, न्याय का बोध कराया उसे दर्शन कहते है। उन्होंने जैनतत्त्व क्या है? इसको दर्शन के माध्यम से ही विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का प्रयास किया। इसी के माध्यम से हम विश्व को समझा सकते है, सिद्धान्त और अध्यात्म के माध्यम से नहीं। अध्यात्म के माध्यम से समझाया नहीं जाता, किन्तु वह तो, हमारे पास क्या है? हमारी स्थिति क्या है? इसकी जानकारी करा देता है। वह आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूपेण वता देता है। वैसे तो आत्मतत्त्व को सव लोग मानते हैं परन्तु वे सभी अध्यात्मनिष्ठ नहीं है। इस प्रकार दर्शन और सिद्धान्त मे भेद है। दर्शन के ग्रन्थों मे भी न्याय-ग्रन्थो को संगृहीत करना चाहिए।

सिद्धान्त के दो प्रकार "जीवसिद्धान्त" और "कर्मसिद्धान्त" जानना चाहिए। कर्मसिद्धान्त मे बन्ध क्या, मोक्ष क्या, सवर क्या और आस्रव क्या? यह सभी कुछ बताया जाता है। और जीव सिद्धान्त मे जीव के भेद योनिस्थान् कहाँ-कहाँ पर रहता है? उसको जानने के लिए ढूढने के लिए मार्गणा के अनुसार ढूढना होगा— इस प्रकार का वर्णन होता है। षट्खण्डागम में मार्गणा के ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, मीमांसा आदि नाम बताये है। यानि जीवसिद्धान्त के बारे मे और कर्मसिद्धान्त के बारे मे

ऊहापोह करो, छानबीन करो। इस प्रकार आगम के भेद, दर्शन और सिद्धान्त को समझा। अब अध्यात्म की ओर आते है।

अध्यात्म को भी दो प्रकार से, एक भावना और दूसरा ध्यान, जानना चाहिए। भावनाओ मे बारहभावना, सोलहकारणभावना, मेरी भावना और तपभावनाए आदि-आदि लेना चाहिए। जिन भावनाओ के माध्यम से "डीप" उतर सकते है उन्हे लेना चाहिए।

"वैराग्य उपावन माई चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई"

छहढाला की पक्ति है यह। छहढालाकार दौलतरामजी ने तो गागर मे सागर को समाहित कर दिया। अर्थात् भावना के साथ ही लक्ष्य मे विशेष लगाव होता है। एक आग्ल कवि ने कहा— भोजन करने से पहले भोजन की भावना आवश्यक है। इससे भूख अच्छी लगती है, कड़ाके की लगती है, जिसे उदीरणा कहते है? भोजन के समय एक आमन्त्रण और एक निमन्त्रण, ये दो चीजे होती है। नहीं समझे ! आमन्त्रण करके जल्दी से नहीं बुलायेगे। एक बार कहकर चले जाऐंगे। ताकि आप लोग अन्य भावनाओ से निवृत्त होकर केवल भोजन की ही भावना करें। २ ३ घण्टे होने पर कडाके की भूख आ जाएगी तब आप भोजन को बैठेगे। अर्थात् भूख अच्छी खुल जानी चाहिए। इसे अपने शब्दो मे कहे यदि भोजन करना है तो अच्छे ढग से करो। इसीलिए आपको ६ बजे बता देगे कि भोजन अच्छा होगा, स्वादिष्ट होगा अमुक-अमुक चीजें बनेगी, पर्याप्त मात्रा मे मिलेगी, लेकिन १२ बजे मिलेगी- कहा जाता है।

यही बात भावना की है, वैराग्य की है। आप लोग ऊपर छत्र अर्थात् पंखा लटका रहे है - चला रहे हैं। और कहे— **"पल रुधिर राध मल थैली कीकस वसादिते मैली"** तो कभी भी शरीर के प्रति वैराग्य होने वाला नहीं। फिर कैसे हो? यह बहुत गन्दा है, ऊपर गन्ध न लगाकर गन्दगी की अनुभूति करिये, अपने आप ही इसके प्रति घृणा हो जाएगी। आज तो आप लाइफवाय लगा लेते है, क्रीम लगा लेते हैं। आप हमाम का प्रयोग करे, टीनोपाल के कपडे पहनकर स्नो लगाकर बारह भावनाओ का चिन्तन करना चाहते है, लेकिन इस विधि से तो बारह भावनाओ में न उतरकर, वैराग्य मे न डूबकर, निद्रादेवी से घिर जाते है। यह वासना की स्थिति है। जिसका वर्णन हम नहीं कर सकते। इसलिए भावनाओ का सही रूप रखे, तब ही अध्यात्म में ज्ञान की गति होगी।

अब ध्यान की बात आती है। ध्यान कैसे करे और कौन करे? ध्यान की चर्चा तो समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय आदि कुन्दकुन्ददेव का जितना भी साहित्य

है, वह करता ही है, लेकिन उस साहित्य के अनुरूप लीन होने की क्षमता किसमे है? स्वसमय मे ही वह क्षमता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मैंने तो एक ही गाथा में सब कुछ कह दिया जो कहना था। वह यह– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त स्वसमय है तथा पर में स्थित वह परसमय है। यह स्वसमय एवं परसमय की चाकलेट जैसी परिभाषा है।** मै कुन्दकुन्द देव की एक-एक गाथा को चाकलेट समझता हूँ। चाकलेट कौन खाता है और केसे खायी जाती है? चाकलेट खायी नहीं जाती, चूसी जाती है। कौन चूसता है खाली पट वाला? नहीं। खाली पेट वाला तो तीनकाल मे नहीं चूस सकता। उसको तो भूख लग रही है। जल्दी-जल्दी खा लेना चाहता है, स्वाद भी नहीं ले सकता। वह यदि चाकलेट खाता है तो उसको कोई फल नहीं, कारण चाकलेट खाने की चीज ही नहीं। मैं यही सोच रहा हूँ कि एक ही गाथा के द्वारा, स्वाद ऐसा आ जाता है फिर चार सौ उनतालीस की क्या आवश्यकता। कोई भी एक गाथा ले लीजिए उसमे भी वही है। जिसको ससार के भोगो की भूख है वह इन गाथाओ को चाकलेट के रूप मे काम न लेकर सीधा खा जाएगा और कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा निहित स्वाद को नही ले सकेगा। आज प्राय यही हो रहा है। सारा समयसार मुखाग्र है। **अरे ! समयसार को मुखाग्र करने की जरूरत नहीं हृदयंगम करने की आवश्यकता है।** आज समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि का जो असर पडा है मात्र सिर तक ही पडा है। यदि भीतर उतर जाएगे तो आपको ज्ञात होगा कि यह समयसार ग्रन्थ भी, जो बाहर दीख रहा है, भार हो जाएगा। यह ग्रन्थ भी ग्रन्थि का रूप धारण कर लेगा। किसके लिये? जो पेट भर खा लेता है उसे पेट भरने के बाद कोई भी अच्छी से अच्छी वस्तु दिखा दीजिए तब यही कहा जाएगा– "उहू ! भैया ! ऐसा क्यो कह रहे हो? मान नहीं रहे हो आप तो मैं क्या करू? नहीं एक और ले लीजिए? भैय्या ! लेने को तो ले लूगा परन्तु उल्टी हो जाएगी।

उसी तरह समयसार पढने के उपरान्त उल्टी - रागद्वेष की बात समझ मे नहीं आती। चमक-दमक की ओर दृष्टि हो, स्व से बाहर आना खतरनाक न लगे, यह सब समझ मे नहीं आता। पण्डितजी अभी कह रहे थे– मुनि महाराज वाहर आ जाए तो पचपरमेष्ठी– परमात्मा और भीतर रहे - चले जाए तो आत्मा। आत्मा और परमात्मा को छोड़कर कुछ नहीं है। बिल्कुल ठीक। लेकिन अन्दर बाहर यह क्यो हो रहा हे? जब तक सोलहवीं कक्षा पार नहीं कर ले तब तक यह होगा, कारण उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के "सब्जेक्ट" होते है परन्तु एम.ए.मे एक ही रहेगा। एम ए के आगे वह विद्यार्थी नहीं रहता, परीक्षा नहीं होती। अब आया समयसार मे।

समयसार अर्थात् शोध, सोलह कक्षाओं में पार होने के उपरान्त ही किया जाता है। लेकिन ध्यान रखिए—

"शब्द सो वोध नहीं,
वोध सो शोध नहीं"

शब्द कहते ही वहुत आगे की ओर चले जाते हैं, परन्तु उसका नाम वोध नहीं। *शब्द अलग है और वोध अलग। इसी तरह बोध ही शोध नहीं है।* वोध अलग है और अनुभव (शोध) अलग। पहले तो शब्द के माध्यम से वोध दिया जाता है कि ससार मे क्या-क्या है, फिर उसके वाद एक विषय को ध्यान का विषय वनाते है।

आजकल की वात विल्कुल अलग है, कि विना निर्देशक क भी शोध हो रहे हैं। पण्डित जी ! आपने भी तो शोध किया है। अजमेर की वात है। जव पहली-पहली वार टोडरमल स्मारक से आये थे आप। उस समय मै महाराज श्री के पास मे ही वैठा था। धोती-कुर्ते पर नहीं आये थे, शायद आप पायजामा पहनते थे। उस समय किसी ने कहा था— आप शोध कर रहे है। क्या विषय है? टोडरमल जी के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर। *वहुत अच्छी वात है। हमने पूछा— निर्देशक कौन हैं?* सम्भव है "सागर यूनिवर्सिटी" से या कोई। प्रसंगवश ये भी वताया कि आजकल शोध की "थ्योरी" भी कुछ अलग है। आजकल ऐसे भी निर्देशक होते हैं, जिनके "अण्डर" मे शोध किया जा रहा है, परन्तु उन्हे उस विषय का ना तो आगे का, ना पीछे का और ना वीच का ही ज्ञान है। वे उन्हे उपाधिया दिला रहे हैं। पण्डित जी ! जिन्हे ककहरा भी नहीं आता उनसे आप उपाधि ले रहे हैं। उनसे कोई उपाधि नहीं लेना चाहिए। यदि उपाधि लेना ही है तो कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्र जी और जयसेन आदि है, इनसे लीजिए *तो वह वस्तुत उपाधि कहलायेगी। अध्ययन* करना तो वस्तुत अपने से ही होता है, निर्देशक तो मात्र व्यवहार चलाने के लिए है। आज निश्चय को कोई प्राप्त नहीं करना चाहता। अध्ययन अलग है और मनन-चिन्तन अलग। पठन-पाठन और भी अलग है। भिन्न-भिन्न शब्द है, भिन्न-भिन्न वस्तुए। समभिरूढ़नय की अपेक्षा इनका वाच्यभूत विषय भी वहुत भिन्न-भिन्न है। इसलिए **"शब्द सो वोध नहीं, वोध सो शोध नहीं।"**

हमे आत्मा का शोध - अनुभव करना है, इसलिए सर्वप्रथम ध्यान करना होगा और ध्यान के लिए भावना की आवश्यकता पडेगी। भावना, विना भूमिका के नहीं होती। देख लीजिए सवर के प्रकरण को, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्यो ने कहा—

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः"

ये जितने भी हैं वह एक दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक या कार्य-कारणपने को लेकर हैं। अर्थात् संवर करने के लिए गुप्ति की आवश्यकता, गुप्ति के लिए समिति की, समिति के लिए धर्म की, धर्म के लिए अनुप्रेक्षा की, अनुप्रेक्षा के लिए परिषहजय की और परिषहजय के लिए चारित्र की आवश्यकता है और चारित्र प्राप्ति करने के लिए सबसे पहले बाधकतत्त्वों को छोड़ना पड़ेगा।

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्ति।।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने एक जगह बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा– वस्तु मात्र से बन्ध नहीं होता। बन्ध तो अध्यवसान के कारण होता है। अध्यवसान स्वय बन्ध तत्त्व है। एक शिष्य ने महाराज से कहा– आपने बहुत अच्छी बात कही कि अध्यवसान से बन्ध होता है तो हम अध्यवसान नहीं करेंगे। वस्तुओं को छोड़ने की बात अब छोड देना चाहिए। आचार्य ने कहा– मै आपके ही मुख से यह बात सुनना चाहता था। बहुत अच्छी बात कही। मै वस्तु के लिए कहाँ छुड़वा रहा हूँ? और यदि छोडने की कोशिश भी करोगे तो क्या-क्या छोड सकोगे? लेकिन मैं पूछता हूँ– वस्तु के प्रति जो राग है, मोह है उसे भी छोडना चाहोगे, कि नहीं? हा! उसको तो छोडना चाहूँगा। हमारे अन्दर जो राग, मोह, द्वेष हो रहे है वह वस्तु को बुद्धि मे पकड़ रखने के कारण ही हो रहे हैं। इसीलिए हमने पहले वस्तु को छोडने की बात कही। समझने के लिए– आपके सामने एक थाली परोस दी गई, भले ही आप भोजन नहीं करना चाहते हैं। आप यह भी कह रहे है कि मुझे भोजन की इच्छा बिल्कुल नहीं। फिर भी कहा जा रहा है कि आप अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी खा लीजिए। अब आपका हाथ किस ओर जाएगा? बिना अभिप्राय आपका हाथ रसगुल्ला की ओर ही जाए, यह सम्भव नहीं। यह कोई "कम्प्युटर-सिस्टम" करके हाथ मे ज्ञान भर दिया गया है क्या? इसलिए रसगुल्ला की ओर जाता है और वहीं पर रखी है रूखी-सूखी बाजरे की रोटी, उसे नाक सिकोडकर उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। आखिर ऐसा क्यो? हमने हाथ को पूछा, क्योंकि आपसे तो कुछ पूछ नहीं सकते, कारण आपने कह दिया– मेरे पास कोई राग नहीं, द्वेष नहीं, इच्छा नहीं। इसलिए हाथ को पूछा। लेकिन हाथ कहता है– मुझे क्या पूछ रहे हो? हम तो केवल काम करने वाले है। फिर करा कौन रहा है? भीतर पूछो, भीतर। भीतर कौन पूछे, कौन जाए भीतर? न जाइए, कोई बात नहीं, लेकिन मुखमुद्रा ही हृदय की सूचना है। हृदय मे जो बात होगी, वही अंग और उपांग की चेष्टाओं से बाहर आयेगी। इसलिए राग भीतर है तभी वस्तुओं का संकलन हुआ– "यह बात अमृतचन्द जी ने स्पष्ट रूप से

कही आत्मख्याति में" इसीलिए हम अध्यवसान से पहले वस्तु को छुड़ा रहे हैं। यदि वस्तुओं को नहीं छोड़ा तो तीन काल में भी अध्यवसान छूटने वाला नहीं।

"विन जाने तै दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये"

वस्तुओ को छोड़िये और यह भी जानिये कि क्या छोड़ना है। यह ज्ञान जिसको नहीं होता वह तीन काल मे भी वस्तुतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। हमे गुणो को तो प्राप्त करना है और दोषो को निकालना है। ध्यान रखिये, मात्र बातों के जमा खर्च से कुछ भी होने वाला नहीं, चाहे जीवन भी क्यो न चला जाये, कुछ करना होगा। सर्वप्रथम जो ग्राह्य है उसे जानना-पहचानना आवश्यक है और इसके साथ उसके "अगेन्स्ट" को भी जानना आवश्यक है। उपाय के साथ-साथ अपाय भी जानिए। उस उपाय को प्राप्त करने में किससे बाधा आ रही है, दु ख क्यो हो रहा है? **दुःख को समझना ही सुख को प्राप्त करने का सही रास्ता है।** आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने एक जगह कहा— हे भगवन्! हम आपके पास इसलिए नहीं आये कि आप बुला रहे है। इसलिए भी नहीं, कि आपकी पहचान पहले से है या आप सुख को जानते-देखते है। बल्कि हमे तो ऐसी पीड़ा हुई कि उससे हम भागने लगे और भागते-भागते हर जगह गये लेकिन शान्ति नहीं हुई, परन्तु आपके चरणों मे आते ही मन को बहुत शान्ति हो गई, इसलिए आए है।

दु ख को हम छोडकर आये, पुरुषार्थ हमारा है और भगवान् के सान्निध्य मे आये। इधर रास्ते तो बहुत है-- पथ बहुत है, जहाँ-जहाँ भटकने से च्युत होता गया, उनको छोडता गया और यहाँ तक आ गया। यही सच्चा पुरुषार्थ है - स्व की ओर मुड़ना ही पुरुषार्थ है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग के द्वारा - कर्मसिद्धान्त जीवसिद्धान्त के द्वारा जीव, अजीव, वन्ध और आस्रवादि तत्त्वो को जानिए। इनके १४८ प्रकार के कर्मो के बारे मे जानिए। किस द्रव्य का कैसा-कैसा परिणमन होता है, इसको समझने का प्रयत्न करिये। जैनागम मे तीन चेतनाए - कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना ही कहीं गई है। कोई चौथी - कालचेतना नहीं। आदि की दो चेतनाओ के द्वारा ही जीव ससार से वधा हुआ है। एककर्म करने वाली चेतना, एक कर्म को भोगने वाली चेतना और एक केवल ज्ञान का सवेदन करने वाली चेतना। इन चेतनाओ को भी द्रव्यानुयोग से ही समझा जा सकता है।

[१] सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं

पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा।।

जिसमें कर्मफलचेतना तो समस्त एकेन्द्रिय जीवो को हुआ करती है, कर्म के

फल को बिना प्रतिकार किये सहन करते रहते हैं। दूसरी कर्मचेतना कर्म करने रूप में प्रवृत्ति है जिसमे त्रसादिक जीव इष्टानिष्ट के सयोग-वियोग से प्रतिकारादिक की क्रिया, भाव करते रहते है। और तीसरी ज्ञानचेतना है जिसके सवेदन के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि उस ज्ञानचेतना की बात क्या बताऊ, जिसका सवेदन (अनुभव) मात्र सिद्धो को ही हुआ करता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पचास्तिकाय मे "पाणित्तमदिक्कता" शब्द लिखा है। जिसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेनस्वामी लिखते है कि जो प्राणो से अतिक्रान्त/रहित हो चुके है यानि दस प्रकार के प्राणो से रहित, तो मात्र सिद्ध परमेष्ठी हुआ करते है, उन्हीं सिद्ध परमेष्ठियो के लिए इस ज्ञानचेतना का सवेदन हुआ करता है। धन्य है ज्ञानचेतना जिसकी अनुभूति ससार म रहते हुए कवली अर्हन्त परमेष्ठी को भी नहीं हुआ करती है।

इस प्रकार चारो अनुयोगो के विभाजन को, जो निराधार नही, आधार के अनुसार कहा गया। एक बार पुन द्रव्यानुयोग मे आने वाले ग्रन्थो को गिन ले - जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला, महाबन्ध आदि ये सभी सिद्धान्त एव समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, द्रव्यसग्रह आदि अध्यात्म मे। इसके साथ-साथ भावनाग्रन्थ भी गिनना चाहिए। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द ने कहा– भावना ही एकमात्र अध्यात्म का प्रवाह है। अत अध्यात्म तक पहुँचने के लिए अनुप्रेक्षा आवश्यक है। भावना "आर्टिफिशियल" नहीं होना चाहिए। भावना, भावना के अनुरूप होती है तब–

"भावना भवनाशिनी"

भावना ही भव का, ससार का उच्छेद करा देती है। आप लोगो का यह जिज्ञासु-भाव सराहनीय है। आपकी भावना ऐसी ही होती रहे, ऐसी भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। आप प्रभावना की ओर न देखकर भावना की ओर देखें और समझे कि हमारी भावना किस ओर बढ रही है। यदि विषयो की ओर नहीं है तो मैं समझूँगा कि आज का यह प्रवचन सार्थक है, नहीं तो काल अपनी गति से चल ही रहा है और हम अपनी चाल से। इससे कुछ होने वाला नही। हमारे द्रव्य का परिणमन, गुण का परिणमन और आत्मपरिणति, तीनो अशुद्ध है, इस अशुद्धता का अनुभव करना हमे इष्ट नहीं। अत शुद्धि के अनुभव की ओर बढे।

□□

२

वस्तु है, और उसके ऊपर आवरण है। वस्तु और उसके ऊपर दूसरे पदार्थो का दबाव है। जब वस्तुए स्वतन्त्र है - अपना-अपना परिणमन करती है फिर इन बाहरी वातावरणो से प्रभावित होने का वधन, आखिर क्यो? -इस प्रकार की जिज्ञासा लेकर प्रात काल कोई भव्य आया था, आचार्यश्री के चरणा मे। वह भावुक है, साथ मे विवेकवान् भी। उसका लक्षण बहुत अच्छा है कि "अपना हित चाहता है।" बिलकुल ठीक, उपदेश जो होता है वह न देवो को होता है ना ही तिर्यचो को। न भोगभूमि के जीवो के लिए होता है और ना नारकियो के लिए। उपदेश मात्र मनुष्यो के लिए है, वह भी जो समवसरण की शरण मे गये है। वहाँ पर जितना क्षेत्र लाघना आवश्यक था, लाघकर गये है। उन्हीं को देशना मिलती है।

देशना देना भगवान् का लक्षण नहीं है। उनका कर्त्तव्य नहीं है। उनके लिए अव कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं। कोई लौकिकता भी नहीं रही। वे वाध्य होकर के भी नहीं कहते है। मात्र जो पुण्य लेकर के गया है– सुनने का भाव लेकर के गया है प्रभु के चरणो मे, वह उसे पा लेता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है श्वेताम्बर साहित्य मे देशना के वारे मे कहा है कि– "प्रभु की देशना सर्वप्रथम देवो के लिए हुई" परन्तु इसमे कोई तुक-तथ्य नहीं वैठता। जो भोगी होते है उनके लिए योग का व्याख्यान उपदेश हो, यह सभव-सा नहीं लगता, क्योकि रुचि के विना– "इन्ट्रेस्ट" के विना "इन्टर" सभव नहीं है। उसके बिना भीतरी वात, जो यहाँ चल रही है उतरेगी नहीं। प्रभु की देशना मे वाहरी बात भले ही चलती रहे लेकिन वे सभी भीतर के लिए चलती है और वे भीतर ही भीतर गूजती भी रहती है।

उस भव्य ने हित तो चाहा है और वह हित किसमे है? ऐसा पूछा है। हित मोक्ष में है "स आह मोक्ष इति" ऐसा आचार्य परमेष्ठी ने कहा, फिर उसे प्राप्त करने के साधनो के बारे मे कहा– बात ऐसी है कि साध्य के वारे मे दुनिया मे कभी विसवाद नहीं होते, होते है तो मात्र साधन को लेकर और उसको लेकर हुए विना रहते भी नहीं हैं। मजिल मे विसवाद नहीं होता, मजिल से पथ की ओर नहीं चलते, वल्कि

मजिल को सामने कर जब चलना चाहते हैं तो पथ का निर्माण होता है। सबसे पहले पथ-विचारों में बनते है और विचारो के पथ का निवारण कैसे हो? बाह्य पथों मे तो मजिल की पहुँच से, आसानी से निवारण संभव है लेकिन विचारो मे कैसे? प्रभु कहते है कि– उस समय हमारा ज्ञान पगु ही रहेगा। अनन्तशक्तियो का पिण्ड जो आत्मा है उसमें अन्तरायकर्म के क्षय से होने वाला जो बल, वह भी घुटने टेक देगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। उसका वल इतना होकर भी– कितना होकर? तीन लोक की सर्वाधिक शक्ति होकर भी, एक व्यक्ति को भी झुका नहीं सकती। विचारो की पॉवर (शक्ति) बहुत हुआ करती है। विचारो की शक्ति एक कील के समान है।

एक भैसा था। वहुत शक्तिशाली होता है भैसा। एक छोटी-सी कील के सहारे उसे बाध दिया जाता है। वह पूरी शक्ति लगाता है, फिर भी वह कील उखडती नहीं। क्यों नहीं उखडती? ऐसी क्या बात है। बात ऐसी है, उसके निकालने के लिए पहले हिलाना आवश्यक होता है। विना हिलाये वह पूरी शक्ति भी लगा दे, तो भी उखड नहीं सकती। कुछ ठीक-ठीक मेहनत करने पर उस कील को तो उखाड सकता है। परन्तु तीन लोक के नाथ, जो अनन्तशक्ति से सम्पन्न है, वे भी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के ऊपर पडते प्रभाव को, भीतरी वस्तु के परिणमन मे बाल-मात्र भी अन्तर नहीं करा सकते। वे निरावरण अपने लिए हुए हैं, दूसरो (हम लोगों) के लिए नहीं।

मोक्ष एक मजिल है। वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग की नितान्त आवश्यकता है। क्या है वह मार्ग? तीन बाते हैं– दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो कि "सम्यक्' उपाधि से युक्त है–

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

सम्यग्दर्शन का अर्थ क्या है? **"तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** कहा है। आप सोचते होगे कि हम काच ले ले, चश्मा लगा ले, उपनयन खरीद ले ताकि तत्त्वो को देख सके और उनके ऊपर श्रद्धान कर सकें। लेकिन नहीं, तत्त्व क्या है? इसकी चर्चा तो वहुत हो सकती है परन्तु "समझ मे आ जाए, समझ मे वैठ जाए", यह समझ से परे है। यहॉ पर तत्त्व और अर्थ के ऊपर श्रद्धान करने की वात कही गयी है न कि देखने की। ध्यान रखिये, तत्त्व कभी दीख नहीं सकता। जो दीखता है वह तत्त्व नहीं। जो दिखाने की कोशिश कर रहे है, वे भी दिखा नहीं सकते।

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।।

ऐसा कौन-सा विद्वान है, कौन-सा साधु-सज्जन है, जो यह कहे कि आज भी मैं वस्तुतत्त्व को यू हाथ पर, हथेली के ऊपर रखकर देख रहा हूँ अपनी आखो से?

अर्थात् कोई नहीं। यदि कोई कहता भी है तो वह कहने वाला विद्वान् नहीं हो सकता। चाहे गणधरपरमेष्ठी प्रवचन दे या स्वयं वीरप्रभु। या कोई और भी क्यों न हो, उनके प्रवचन मे जो तत्त्व आयेगा वह परोक्ष ही होगा। कोशिश करके अनन्तशक्ति लगा करके भी किसी प्रकार से, किसी की आखो से वस्तुतत्त्व को दिखा दे ताकि उसका भला हो जाए— यह सभव नहीं। देखने का नाम सम्यग्दर्शन कतई है ही नहीं। किसी भी अनुयोग में देख लीजिए, देखने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं। लेकिन "पश्यति-जानाति" इस प्रकार कहा तो है? हा कहा है, टीकाकार ने इसे खोला भी है कि देखने का नाम सम्यग्दर्शन न लेकर यहाँ पर 'देखने का अर्थ श्रद्धान लेना चाहिए। प्रात काल एक बात चली थी कि सम्यग्दर्शन का अर्थ अपनी आत्मा मे लीन होना है तथा अभी कहा— तत्त्वो के ऊपर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है वात उलझन जैसी लगती है कि "समयसार" मे भूतार्थ का नाम सम्यग्दर्शन है और तत्वार्थसूत्र मे— तत्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन। जो तत्त्वो के ऊपर श्रद्धान करता है वह चूकि अभूतार्थ माना जाता है। लेकिन इन दोनों मे कोई विपरीतता नहीं है मात्र सोचने-समझने की बात जरूर है।

श्रद्धान जो होता है, वह परोक्ष पदार्थ का होता है। सामने आने के उपरान्त हमे उन चीजो पर श्रद्धान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसमे लीन होने के बाद का नाम तो सवेदन है, जो कि अध्यात्मग्रन्थो मे बार-बार सम्यग्दर्शन के लिए कहा जाता है। आगम ग्रन्थो मे भी सम्यग्दर्शन की बात कही है पर उसमे विभाजन कर दिया गया है। वह विभाजन यह है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धान का ही नाम है लेकिन केवल श्रद्धान के द्वारा तीन काल में भी मुक्ति नहीं होगी। ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है लेकिन उससे भी मुक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी। फिर मुक्ति किससे होगी? मुक्ति होगी, जब भूतार्थता का अनुभव करेगे तब। अर्थ यह हुआ कि "सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो एक उपयोग की धाराऐ है। जिस उपयोग की धारा के द्वारा तत्त्वो पर श्रद्धान किया जाता है उसे सम्यग्दर्शन कहते है। जव वही उपयोग की धारा चिन्तन मे लग जाती है तब सम्यग्ज्ञान कहलाती है। जव कषायो का विमोचन, राग-द्वेष का परिहार करने लग जाती है तो उपयोग की धारा को सम्यक्चारित्र सज्ञा मिल जाती है—

"तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।"

अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति की ये पंक्तियां हैं। बहुत कठिन लिखते हैं वे, लेकिन भाव तो समझ मे आ ही जाता है– ज्ञान का श्रद्धान के रूप मे परिणत होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान का चिन्तन के रूप मे परिणत होना सम्यग्ज्ञान और ज्ञान का रागद्वेष परिहार करने मे उद्यत होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनो की एकता से ही मुक्ति सभव है, अन्यथा कभी नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र– ये तीन नहीं है किन्तु उपयोग की धारा मे जब तक भद प्रणाली चलती है तब तक के लिए भिन्न-भिन्न माने जाते है। आचार्यो ने अध्यात्मग्रन्थों मे इसे खोला है। इसी का नाम सरागसम्यग्दर्शन, भेदसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन और शुभोपयोगात्मक परिणति आदि-आदि कहा है। इसी का नाम श्रद्धान भी है। जब तक आत्मा अपने गुणो को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, तब तक उसे समझाना पडता है, उपदेश दिया गया है, कि तुम सर्वप्रथम इसको समझो, फिर इसको। समझो का अर्थ– श्रद्धान करो, उतारो। एक बार श्रद्धान मजबूत हो गया तब ही श्रद्धेय, पदार्थ की ओर यात्रा/गति होगी अन्यथा तीन काल मे भी संभव नहीं? इसे आचार्यो ने वीतराग सम्यग्दर्शन का साधक सम्यग्दर्शन माना है। उन्होने कहा है–

"हेतु नियत को होई"

जैसे प्रात काल भी छहढाला की पक्ति कही गयी थी, कि निश्चय सम्यग्दर्शन के लिए हेतुभूत यह व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन फालतू नहीं है, किन्तु पालतू है। अभूत नहीं है, वह बाह्य भी नहीं है। अभूतार्थ की व्याख्या "जयसेनाचार्य जी" ने इतनी बढिया लिखी है, अमृतचन्द्राचार्य जी ने भी अपनी आत्मख्याति मे अभूतार्थ क्या वस्तु है इसे लिखा है। उन्होने कहा है– भेदपरक जो कुछ भी है वह अभूतार्थ है और अभेदपरक "भूतार्थ"। इसको निश्चयसम्यग्दर्शन भी कहते है, इसी के साथ रत्नत्रय की एकता मानी गई है। लीनता मानी गई है। स्थिरता मानी गई है। जिसके द्वारा हमे साक्षात् केवल ज्ञान की उपलब्धि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर हो जाती है। यह विभाजन हमे आगम अर्थात् धवला, जयधवला, महाबन्ध, गोम्मटसार आदि ग्रन्थो मे नहीं मिल सकेगा। यह मात्र अध्यात्म ग्रन्थो मे ही मिलता है। इसके द्वारा यात्रा पूर्णता को प्राप्त होती है, अन्यथा जो व्यक्ति अपनी यात्रा इस जीवन मे नहीं कर पाता तो उसे मुकाम करने की आवश्यकता पडेगी। उसका मुकाम बीच मे ही होगा, मजिल पर नहीं। जो सीधे मजिल जाना चाहते हैं, उनकी प्रमुखता के साथ यह बात– अभेदरत्नत्रय, की, की गई है।

सरागसम्यग्दर्शन परोक्ष-पदार्थ का हुआ करता है और श्रद्धान तब तक ही होता है जब तक पदार्थ परोक्ष है। वीतराग सम्यग्दर्शन का विषय "आत्मतत्त्व, शुद्धपदार्थ,

शुद्ध अस्तिकाय और शुद्ध समयसार है'' – ऐसा आचार्यो ने कहा है। इसको और भी बारीकि से खोलने का प्रयास किया है, उन्होने कहा है कि– जिस प्रकार केवली भगवान् अपनी दृष्टि के द्वारा शुद्धतत्व का अवलोकन करते है, वैसा अवलोकन छद्मस्थावस्था मे न भूतो न भविष्यति। क्योकि बात यह है कि चाहे शुद्धोपयोग हो या शुभोपयोग या अशुभोपयोग, कोई भी उपयोग हो, जव तक कर्मो के द्वारा उपयोग प्रभावित होता है तब तक उसमे वस्तुतत्त्व का यथार्थावलोकन नहीं हो सकता। अत वारहवे गुणस्थान तक निश्चयसम्यग्दर्शन की सज्ञा दी जाती है। इसके वाद शुद्धोपयोग की परिणति, केवलज्ञान के उपरान्त नही रहती। डसका मतलव यह हो गया कि– शुद्धोपयोग भी– आत्मा का स्वभाव नहीं है। शुभोपयोग ओर अशुभोपयोग तो है ही नहीं। डसमे उन्होने हेतु दिया– ध्यान का नाम शुद्धोपयोग है और ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं, अत शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं।

''इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव''

जब इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा, मन की अपेक्षा, श्रुत की अपेक्षा और कोई वाहरी साधनो की अपेक्षा से तत्त्वो का निरीक्षण करते है, तव शुद्धोपयोग भी ''प्रत्यक्ष'' सज्ञा को प्राप्त हो जाता है। लेकिन शुद्धोपयोग और केवलज्ञान मे उतना ही अन्तर है, जितना सर्वज्ञता और छद्मस्थावस्था मे। अध्यात्मग्रन्थो मे इस सबका खुलासा किया गया है। जो व्यक्ति डस परम्परा का सही ढग से अध्ययन करता है उसके लिए कहीं पर भी विसवाद का कोई सवाल ही नहीं।

सर्वप्रथम हमे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन– सराग-सम्यग्दर्शन ही होगा। इसकी उत्पत्ति मे दर्शनमोहनीय का और चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होना अनिवार्य है। डसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके बल पर ही आगे कदम उठेगे। यदि व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है तो मोक्षमार्ग मे आगे कदम उठा सकने का कोई सवाल ही नहीं रह जाता है। महराज! एक प्रश्न बार-वार आता है कि व्यवहार पहले होता है या निश्चय? कैसे क्या होता है, कुछ यह भी बता दीजिये? भैय्या निश्चय, व्यवहार के विना नहीं होता और व्यवहार जो होता वह निश्चय के लिए होता है। अब निर्णय करना है कि कौन पहले होता है, कौन वाद मे। मै तो आपसे यही कहूँगा कि यदि आपको समझना है तो दो की जगह तीन रखिये, अब क्रम स्पष्ट हो जायेगा। लौकिक दृष्टि मे हमने निश्चय और निर्णय का भेद समाप्त कर रखा है, डसलिए यह विवाद है। लेकिन वन्धुओ! निर्णय अलग है और निश्चय अलग। सर्वप्रथम निर्णय होता है,

क्योंकि निर्णय के बिना-- अवाय के बिना कदम ही आगे नहीं उठा सकते। ओर निश्चय सज्ञा जिसकी दी गई है उसका अर्थ- "पर्याप्त मात्रा मे सब कुछ प्राप्त कर लेना है"। निश्चय का नाम साध्य है। व्यवहार साधन होता है। इस प्रकार जिस साध्य को सिद्ध करना-- प्राप्त करना हे उसका लक्ष्य बनाना निर्णय है और जिसके माध्यम मे, साधन से साध्य सिद्ध होता है वह व्यवहार हे तथा साध्य की उपलब्धि होना निश्चय है, इस तरह पहले निर्णय होता है फिर व्यवहार ओर अन्त में निश्चय। निर्णय के बिना जो मार्ग मे आगे चलते है वह गुमराह हो जाते हैं। और व्यवहार के बिना जो व्यक्ति निश्चय को हाथ लगाना चाहते है उनकी क्या स्थिति होती हे? तो आचार्य कहते है--

ज्ञान विना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे।
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे।।
प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे।
आत्मध्यान में लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पर तैर रहे।।

अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति के कलश मे एक कारिका लिखी, जिसका यह भावानुवाद किया गया है-- निश्चय-निश्चय, कहने मात्र से निश्चय कभी हाथ नहीं लग सकता और मात्र व्यवहार करते-करते भी कभी निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णय करने से भी मतलब सिद्ध होने वाला नहीं। निर्णय भी आगमानुकूल ही होना चाहिए। व्यवहार भी ऐसा हो जो निर्णय के अनुरूप आगे पग बढा रहा हो ओर निश्चय की भूख खोल रहा हो। अन्यथा तीनो व्यर्थ है। अर्थात् वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढाता और वह व्यवहार भी सही नहीं माना जाता जो निश्चय तक नहीं पहुँच पाता। मात्र व्यवहाराभास है। "हेतु नियत को होई" -- व्यवहार वास्तविक वही है जो निश्चय को देकर ही रहता है। कारण वही माना जाता है जो कार्य का मुख दिखा ही देता है। ऐसा सभव नहीं कि, प्रभात के ५ ६ तो बज जाए और पौ न फटे। प्रात सूर्योदय से पूर्व ही यह श्रद्धान हो जाता है कि ललाई आ चुकी है, अब प्राची दिशा मे नियम से सूर्योदय होगा। यही बात यहाँ कही गई है कि श्रद्धान रखो, किसके ऊपर श्रद्धान रक्खे? तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखो, यही व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

धवला का वाचन हो रहा था। उस समय यह बात आई थी कि दर्शनमोहनीय क्या काम करता है? आचार्यो ने लिखा-- जो सात तत्त्वो को विषय वनाने की क्षमता अथवा उनके ऊपर श्रद्धान करने की क्षमता को फेल कर देता है वह दर्शनमोहनीय है। मतलब यह हुआ कि मात्र शुद्धात्मा की बात ही नहीं कही गई धवला मे। इसीलिए

आचार्य कहते है कि– दर्शनमोहनीय की वजह से जीव की दृष्टि "रॉग" (गलत) हो रही है। दृष्टि अर्थात् श्रद्धान ही गलत है।

शुद्ध-आत्मतत्त्व विद्यमान है और उसको प्राप्त करने की क्षमता भी। लेकिन क्षमता होते हुए भी आज तक हम प्राप्त नहीं कर सके। इसमे क्या गड़बड़ी हो रही है? आचार्य कहते हैं कि– हमारा आत्मतत्त्व-द्रव्य उलट गया है, पलट गया है। हमारे द्रव्य का परिणाम कैसा हो रहा है? परिणमन जो हो रहा है वह पदार्थो-गुणों और द्रव्यो का हो रहा है। पर्याय का कभी भी परिणमन नहीं हुआ करता। पर्याय अपने-आप मे "परिणाम" ही है। उसकी कोई परिणति नहीं होती। कर्ता जो होता है वही परिणमन करता है– परिणमनशील हुआ करता है। फिर द्रव्य शुद्ध कैसे माना जा सकता है, जैसा कि कहा जाता है। जिस द्रव्य से अशुद्ध पर्यायें पैदा हो रही है वह अशुद्ध ही है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य का परिणमन तो शुद्ध हो ओर उसके "परिणाम' पर्याये अशुद्ध पैदा हो।

मैं गुण को लेकर के कुछ बात और कहना चाहूँगा कि शुद्धोपयोग गुण अपने आप मे शुद्ध नहीं है, किन्तु शुद्ध होने का कारण होने से शुद्धोपयोग कहा जाता है।

शुद्धोपयोग आत्मा का स्वभाव तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए शुद्धोपयोग पैदा करने वाला जो आत्मा है वह शुद्धात्मा नहीं है। अत. स्पष्ट है कि ज्ञान गुण को शुद्ध बनाना होगा। आत्मद्रव्य को शुद्ध बनाना होगा। पर्याय को कोई कभी भी शुद्ध नहीं बना सकता। पर्याय तो पकड़ में भी नहीं आ सकती। ध्यान रखिये! हमें पर्याय को नहीं मांजना। पर्याय को मांजने में लग जाएंगे तो गड़बड़ हो जाएगा। महाराज! फिर द्रव्य को शुद्ध कैसे कहा गया है? आचार्य कहते हैं कि द्रव्य को शुद्ध इसलिए कहा गया कि उसमें शुद्ध होने की क्षमता है। शुद्ध भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होने योग्य है– एक तो अनन्तकाल से एक द्रव्य मे कोई अन्य द्रव्य के प्रदेश आकर चिपके नहीं। मिले नहीं। इसका उसमें और उसका इसमें कुछ भी संकर नहीं हुआ, व्यतिकर नहीं हुआ। इस अपेक्षा से द्रव्य को शुद्ध कहा गया है। यह भिन्न-द्रव्यों की अपेक्षा से कहा गया है। दूसरी, परिणमन की अपेक्षा से शुद्धि कही जाती हैं यानि "स्वभावात् अन्यथा भवनं विभाव." यह अशुद्धि है। ज्ञान गुण का स्वभाव से अतिरिक्त जो परिणमन है वह विभाव है।। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग आदि जो कोई परिणमन है, केवलज्ञान के पूर्व की जितनी भी अवस्थाएं हैं वे सभी अशुद्ध गुण की परिणतियां हैं। इस प्रकार की श्रद्धा सम्यन्दृष्टि जीव गुरुदेव के मुख से सुनकर अथवा जिनवाणी

मा के इशारे से बना लेता है, भले ही वह तत्त्व देखने मे नहीं आ रहा हो। इसीलिए कहा—

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।।

आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वरूप है। इसलिए इसके ऊपर श्रद्धान नहीं रहने के कारण ससारी प्राणी दर-दर भटकता चला जा रहा है। अपनी शक्ति को एक बार भी उघाड़ने का प्रयास नहीं किया, अनन्तकाल व्यतीत हो गया इस जीव का। अनन्तो बार मा के उदर मे जा-जाकर कम से कम भी नौ-नौ महीनो तक शीर्षासन लगाया। ध्यान रखिये, कोई भी हो, उसे नौ महीने तक मा के उदर मे शीर्षासन लगाना ही पड़ता है—

जननी उदर वस्यो नव मास अंग सकुचते पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।

कहाँ तक कही जाए उस वेदना की कथा। वेदना होना वहाँ स्वाभाविक है, लेकिन इतनी वेदना— पिटाई होने के बावजूद जीव कभी मिट नहीं सका। पिटना बात अलग है और मिटना अलग। द्रव्य पिट सकता है, मिट नहीं सकता। उसके ऊपर अमिट छाप है। वस्तु/द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह कभी मिट नहीं सकता। वह तो "था" "है" और "रहेगा"। ऐसा होने मात्र से उसे सुख नहीं, सुख का अनुभव नहीं हो सका आज तक। जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महान् रोग नष्ट नहीं हो सके। इसे जब तक अटूट श्रद्धान नहीं होगा कि "मैं भी शुद्ध बन सकता हूँ" मेरे गुण द्रव्य और मेरी जो कुछ भी स्थितिया है उन सबको शुद्ध बना सकता हूँ" तब तक ये राग-द्वेष नष्ट होने वाले नहीं। ऐसा श्रद्धान कौन बना सकता है? जिसका दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होगा, वही कर सकेगा। इसके बिना श्रद्धान होना तीन काल मे भी सभव नहीं। भले ही वह श्रद्धान को शब्दो मे कह सकता है लेकिन श्रद्धान जैसी शुभ घडी उसे प्राप्त नहीं है।

धन्य है वे! जो भगवान् बनने चले हैं। वह व्यक्ति महान् भाग्यशाली है। जिसको इसके ऊपर यथार्थ श्रद्धान हो गया कि मैं भी इसी प्रकार का तत्त्व हूँ, ऐसा बन सकता हूँ, जो यद्वा-तद्वा जिस किसी भी व्यक्ति की कही बातों का श्रद्धान नहीं करता। सच्चे देव-गुरु शास्त्र पर श्रद्धान करता है उसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहते है। वह कर्म के क्षय को उद्देश्य बनाकर तत्त्वश्रद्धान, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आगे कदम बढायेगा और क्रमश महावीर तक जाएगा।

विषय पुन दुहरा दूँ। वीतराग सम्यग्दर्शन अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति के साथ ही

हुआ करता है। उपयोग की धारा जिस समय शुद्ध मे ढल जाती है उस उपयोग को शुद्धोपयोग कहते है। शुद्धोपयोग वह वस्तु है जो सम्यग्दर्शन के द्वारा आगे बढ़कर, अपनी आत्मा मे लीन हो जाता है। इसी को निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। आचार्यों ने, अमृतचन्द्राचार्य ने और जयसेनाचार्य ने भी खोला है इसे। उन्होने कहा– "अत्र तु वीतरागसम्यग्दृष्टीनां कथनम्" यहाँ पर वीतराग सम्यग्दृष्टियो का ही कथन है। नीचे वाले की विवक्षा नहीं है। फिर महाराज क्या नीचे वाला फेल माना जाएगा? नहीं, अपने आपमे– अपनी कक्षा मे तो पास है। ऊपरी कक्षा मे उसकी बात नहीं कही जाएगी, क्योकि यहाँ पर अभेदरत्नत्रय की बात कही जा रही है। जबकि धवला, जयधवला, महाबन्ध इत्यादि मे सम्यग्दर्शन को चतुर्थ गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक घटाते चले जाते है। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हम यहाँ पर जो बात कह रहे हैं, वह श्रद्धान वाली वात नहीं है किन्तु ध्यान वाली बात है– ध्यान से सुनिये आप।

ध्यान की बात करना अलग है और ध्यान से बात् करना अलग। इन दोनों मे बहुत अन्तर है। ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से कोई ध्यान मे केन्द्रित नहीं होता। आज हम मात्र उपदेश देने मे– ध्यान के केन्द्र खोलते जा रहे है, इससे अध्यात्म का प्रचार-प्रसार नहीं होगा किन्तु प्रचाल होगा। चार और चाल में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। चार का अर्थ स्वय मे चलने मे आता है "चरति एव चार" और प्रचाल मे वह बाहर की ओर भाग रहा है। इतना अन्तर है दोनो मे।

वीतराग-सम्यग्दर्शन अभेदपरक होता है और सराग-सम्यग्दर्शन भेदपरक। मोक्षमार्ग में दोनो आवश्यक है। एक उदाहरण दे देता हूँ– बहुत दिन पहले, गृहस्थावस्था की बात है। कार मे बैठकर जा रहे थे। गाड़ी तेज रफ्तार से चल रही थी। उस समय ड्राइवर को सामने से एक गाडी आती हुई देखने में आ गई– कानों मे "हार्न" की आवाज भी आ गई। ड्राईवर ने ऊपर वाली लाईट जला दी, जिसका प्रकाश सामने आती गाड़ी पर पड़ा। गाडी देख लेने पर लाईट पुन नीची कर दी। निश्चय और व्यवहार, यहाँ दोनो घटित हो जाते है। निश्चय अपने लिए है और व्यवहार पर के लिए, ऐसा नहीं, किन्तु व्यवहार भी पर के साथ-साथ स्व के लिए होता है। जैसे कि गाड़ी की लाईट चूकि दूसरी गाडी देखने के काम आती है। इसका अर्थ– वह लाईट मात्र दूसरो के लिए ही है, ऐसा नहीं है, किन्तु हम स्वय "एक्सीडेन्ट" से बचे इसलिए भी उसका प्रयोग होता है। नीचे की लाईट यदि गुम कर दी जाए तो आगे चलना ही मुश्किल हो जाएगा। इसके साथ-साथ एक और स्थिति है कि बीच मे एक गाडी जा रही थी। उसने ज्यो ही अपना ब्रेक लगाया त्यो

ही गाडी के पीछे जो "नम्बरप्लेट" थी उस पर लगी लाईट जल गयी। वह कैसी होती है भैया! लाल होती है। लाल नहीं होती! लाईट तो जैसी होती है वैसी ही है, लेकिन उसका काच लाल होता है। वह सही-सही व्यवहार चलाने के लिए लगाया जाता है जिसके माध्यम से मार्ग बाधक-तत्त्वो से रहित होता है और गाडी की यात्रा आगे निर्बाध होती है।

व्यवहार और निश्चय, दोनों को समझने की आवश्यकता है। व्यवहार कोई खेल नहीं है। व्यवहार, निश्चय के लिए है। जब तक निश्चय नहीं है तब तक व्यवहार का पालन पोषण करना आवश्यक है, क्योकि व्यवहार के द्वारा ही हम निश्चय की ओर ढलेंगे-बढ़ेगे। निश्चय की भूमिका बहुत लम्बी-चौडी नहीं है, किन्तु केवल ज्ञान होने के उपरान्त निश्चय की– शुद्धोपयोग की वही स्थिति होती है जो शुद्धोपयोग होने के पूर्व शुभोपयोग और अशुभोपयोग की होती है। कार्य हो जाने पर कारण की कोई कीमत नहीं रह जाती, लेकिन कार्य से पूर्व कारण की उतनी ही कीमत है जितनी कार्य की। सरागदशा मे, व्यवहार दशा मे हमे किस रूप में चलना है! इसको जानने की बडी आवश्यकता है। व्यवहार को व्यवहार के रूप मे बनाए रखिए। व्यवहार को व्यवहाराभास मत बनाईये। व्यवहार जब व्यवहाराभास बन जाता है तो न वह निश्चय को पैदा करता है और न लौकिक व्यवहार को। उसका कोई भी फल नहीं होता। आभास मात्र रह जाता है। आभास मे सुख नही, शान्ति नहीं मात्र वह आभास है इसीलिए– **"प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे"** आत्मा में अकम्प रहने का मतलब है आत्मा का अप्रमत्त होना। "प्रमत्त बनकर कर्म न करते" यह अवस्था बाबलेपन की अवस्था है जो भीतरी दृष्टि को फेल कर देती है। उसके द्वारा केवलज्ञान तीन काल में नहीं हो सकता। प्रमत्त बनने का अर्थ मिथ्यादृष्टि होना नही है, बल्कि सराग अवस्था मे जाना। यह काम इस कक्षा का नहीं। यहाँ अप्रमत्त अवस्था का अभेद अवस्था का प्रसग है। "अमृतचन्द्राचार्य" ने प्रवचनसार मे कहा है कि, मात्र सम्यग्दर्शन के द्वारा मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। ज्ञान के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। अन्त मे उन्होंने कहा– रत्नत्रय के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी। तब आप कहेगे– हमें रत्नत्रय का अभाव कर लेना चाहिए। आपके पास जब रत्नत्रय है ही नहीं तो अभाव क्या करेंगे? वस्तुत मोक्षमार्ग ध्यान के अलावा और कुछ भी नहीं है। वह भी उपयोग की एकाग्रदशा का नाम है।

हलुआ मे न हम शक्कर पाते है, ना घी और ना आटा। किन्तु शक्कर, घी और

आटा के बिना हलुवा कुछ नहीं है। हां! तीनों को तीन कोनों में रख दीजिए तब हलुआ नहीं बनेगा। मिला दें तो भी नहीं बनेगा। फिर कब बनेगा? जब तक अग्नि का योग नहीं दिया जाएगा— तीनों मिलकर एकमेक नहीं होंगे तब तक हलुआ नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार उपयोग में, जो बाहरी-वृत्ति को देखकर उथल-पुथल मच रही है। उसे भीतर कर लेने को ही "अभेद" कहते हैं। समयसार में एक गाथा आती है, जिसमें एक नामावली दी गई है—

बुद्धी ववसाओदि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो।।

विज्ञान कहो, परिणाम कहो, अध्यवसान कहो, ये नामावली एक ही बात की गठरी में बंध जाती है। मतलब इन सबसे ज्ञान का चिन्तन-उपयोग को भिन्न रखना है। सराग सम्यग्दर्शन के साथ चिन्तन का जन्म होता है, किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन में चिन्तन मौन-शून्य हो जाता है। सराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को सम्यक् माना जाता है जबकि वीतराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को स्थिर माना जाता है।

ज्ञान कम्पायमान है। उसकी व्यग्रता को मिटाने के लिए ध्यान है। ध्यान ही मुक्ति है। हाँ! पहले श्रद्धान होता है, ध्यान नहीं। वह श्रद्धान भी, जब तक वस्तु परोक्षभूत है तब तक ही अनिवार्य है, बाद में श्रद्धान नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन को धवला, जयधवला आदि में ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटाते हैं, जिसको "छद्मस्थ वीतराग" संज्ञा देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि वीतराग बनने के उपरान्त करना-धरना सब कुछ छूट जाता है। वस्तुतः यह एक सम्यक्प्रणाली है। इसके ऊपर प्रगाढ़ श्रद्धान करना ही जिनवाणी की सेवा है। श्रद्धान करना मात्र सेवा नहीं है, किन्तु उसके अनुसार अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को ढालते चले जाना ही सच्ची सेवा है। तब कहीं जिनवाणी का आशय-अभिप्राय क्या है? इसे ज्ञात कर सकेंगे। लेकिन हम तो ऐसा निर्णय ले लेते हैं कि सर्वप्रथम तो सारा का सारा सुना जाए बाद में हम करना प्रारम्भ करेंगे, जो होना असंभव है। आचार्य एक-एक कदम आगे बढ़ने पर एक-एक सूत्र देते चले जाते हैं। यदि वह कदम उठाता है तो उसे आगे का सूत्र बताया जाता है। यदि नहीं उठाता तो, ज्यों का त्यों रहने देते हैं। उसे पीछे भी नहीं भगाते। कहते हैं— "यहीं पर रह जाओ, कोई बात नहीं। पीछे वाले आएँ तो उनके साथ आ जाना" ऐसा कहकर उसे छोड़ देते हैं साथ-साथ यह भी कह देते हैं कि तुम आगे बढ़ोगे तो तुम्हें भी नियम से सूत्र मिलेंगे।

भगवान् का, आचार्यों का हमारे ऊपर बड़ा उपकार है, जिन्होंने ऐसे-ऐसे गूढ़ तत्त्वों की, सामान्य से सामान्य व्यक्ति समझ सके, ऐसी प्ररूपणा की। उन्होंने इसे

मुडकर भी नहीं देखा। मुडकर देखना उनका स्वभाव भी नही है। कहाँ तक मुड़कर देख सकेंगे? अनन्त केवली हमारे सामने-सामने से निकल गए है, और इसी स्टेशन पर खड़े हैं। जैसे– गाडिया आती है-जाती है। आती हैं, चली जाती हैं। बहुत सारे लोग चले जाते है। जाते-जाते मुडकर के देखते तक नहीं। हमे बुलाते नहीं। कदाचित् देख भी ले, आवाज भी दे दं, तव भी आते नहीं है। ऐसी कैसी वात है? कैसी करुणा है इनकी? भैय्या! उनका स्वभाव ही ऐसा है। क्या करे! कहाँ गये वे कुन्दकुन्द भगवान्, उमास्वामी, समन्त भद्राचार्य अकलकस्वामी और सारे के सारे अनन्त तीर्थकर कहाँ गये? वर्तमान में हम केवल उनका परोक्षरूप मे स्मरण करते है। ऐसा समवसरण होता है, ऐसा गर्भकल्याणक, ऐसा जन्मकल्याणक, तपकल्याणक पाचो कल्याणक होते हैं। उनके तो कल्याणक हो गए– हो जाते है। यहाँ पर तो पचो का कल्याण नहीं होता, दूसरी जनता की ता वात ही अलग है। क्यो नहीं होता? आचार्य कहते है– **"धम्मं भोगणिमित्तं"** । धर्म का हम भोग-ऐशो-आराम के लिए, ख्याति-पूजा-लाभ के लिए, नाम वढ़ाई के लिए करते है। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। हम जो करते है वह हमारे लिए ही है, हमारी उन्नति के लिए है यह विश्वास पहले दृढ वनाना चाहिए। फिर भी यदि होता है तो क्या करे? अनन्तकाल से इस प्रकार का कार्य ही नहीं किया। इसलिए जो भावुकता मे आकर कर लेते है, उनको भी समझना-समझाना होगा कि– देखो भैय्या! इसका परिणाम अच्छा निकलना चाहिए। यह काम तो बहुत अच्छा किया आपने। जैसे– आप सुन रहे हैं। तव मै यह थोडे ही कहूँगा कि आपका सुनना ठीक नहीं। बल्कि मै तो यही कहूँगा कि पचो का कल्याण इस प्रकार से कभी नहीं हो सकता। जव तक ये शब्द नहीं कहे जायेंगे तव तक कल्याण होने वाला नहीं। आचार्य कहते है– ख्याति-पूजा-लाभ के लिए नहीं किन्तु कर्मक्षय के हेतु धर्म होना चाहिए।

आदहिदं कादव्वं, जं सक्कई तं परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी कितनी मीठी है और कितनी पहुँची हुई है तथा कितनी तीखी भी है। क्या कहती है? आत्मा का हित पहले स्वय करो। आप तो सोचते है, अपना कल देखा जाएगा, आज तो दूसरों का करा दूँ। दूसरो का तू नहीं कर सकेगा। पहले तू खुद भोजन करने वैठ जा, तुझे देखकर दूसरों को भी रुचि उत्पन्न हो सकती है। भोजन की माग हो सकती है। लेकिन स्वयं के विना दूसरों को समझ मे नहीं आयेगा। जो कुछ करना है कर लो। उपकार भी करना है तो लोगों से कह दो– तुम भी वैठ जाओ, भाई! तुम भी वैठ जाओ। लेकिन जिस व्यक्ति को

भोजन करना ही नहीं, तो उसकी ओर पीठ कर दे, और एक वार जल्दी-जल्दी भोजन कर ले। ससार में कोई स्थायी रहने वाला नहीं। "ससार" शब्द ही कह रहा है कि जल्दी-जल्दी काम कर ले, नहीं तो सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। वह कभी भी रुकने वाला नहीं। उसको मै क्या कहूँ, स्वय आचार्य कहते है कि– भगवान् भी उसे रोकना चाहे तो नहीं रोक सकते, और भगवान किसी को रोकना नहीं चाहते।

काल रुकता नहीं और किसी को रोकता भी नहीं। इतना तो अवश्य है कि– चल-चल, मेरे साथ चल। तेरे भीतर ही भीतर परिवर्तन होता चला जाएगा, वस! तू अपने स्वभाव की ओर देख ले। मैंने तो अपने स्वभाव को न छोड़ा है, न कभी छोड़ूँगा। क्यों नहीं छोडता? आचार्य कहते हैं कि– कालद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य, शुद्धद्रव्य-शुद्धतत्त्व हैं। इनके लिए शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जीव और पुद्‌गल, ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो शुद्ध भी हो जाते हैं और अशुद्ध भी। पुद्‌गल द्रव्य ऐसा ही है कि वह शुद्ध होने के उपरान्त कालान्तर मे अशुद्ध हो सकता है, परन्तु जीव तत्त्व ऐसा नहीं है। वह एक वार शुद्ध हुआ कि पुन- कभी भी अशुद्ध नहीं होता। उसके शुद्ध करने के लिए क्या करें, वह तो आज तक शुद्ध नहीं हो पा रहा है? उसे शुद्ध करने के लिए सारे के सारे सावुन वेकार हैं। फिर उसके लिए कौन-सा रसायन है जिसके द्वारा उसकी अशुद्धि मिट सकती है? आचार्य कहते हैं कि एकमात्र ही रसायन है उसके लिए, वह भी यह–

रत्तो वंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।

चार-चरणो में, चार वातें कहीं गयी हैं– वन्ध की व्यवस्था– राग करोगे तो वन्ध होगा, मुक्ति की व्यवस्था– वीतरागता को अपनाओगे तो मुक्ति मिलेगी, उपदेश– यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है। इसलिए "जो कुछ होना है सो होगा" ऐसा नहीं कह रहे कुन्दकुन्द भगवान्। क्या कहते हैं– "तम्हा कम्मेसु मा रज्ज" यह राग की वात छोड़ दे।

"यह राग-आग दहे सदा तातै समामृत सेइए"

अरे! ममता, मोह, मत्सर की इस देह को धारण करते-करते, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। एक वार भी आख मीचकर अपने आपको देख ले, कि 'मैं कौन हूँ', "यहाँ पर क्यों आया हूँ", "कव तक चलना है", इसके वीच में कोई रास्ता है कि नहीं?

आज अफसोस की वात तो यह है कि, इस संसारी प्राणी को ज्ञान मिलने के उपरान्त भी, "धम्मं भोगणिमित्तं" है। सोचता है, वहुत सोचता है, "सद्दहदि'–श्रद्धान

करता है, "पत्तेदिय" प्रतीति करता है, "रोचेदि" रुचि करता है, "फासेदि" स्पर्श भी करता है। तत्त्व का ऐसा स्पर्श करता है जैसे– दो मेगनेट मिल गए हो। फिर भी भीतर का भोग परिणाम समाप्त नहीं हो पा रहा है। कल या परसो के दिन हम सब देखेगे कि– भोगो को किस प्रकार से उडा देते है– लात मार देते है भगवान्। इस सबकी आयोजना आप सुनेगे, देखेगे भी। गद्‌गद् हो जाएगा हृदय। आज हमारे पास एक कोडी वगवर भी भोग नही है, फिर भी उसको छोडने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन तीन लोक की सम्पदा, उसको भी लात मारते है। यह कमाल की बात है, भीतरी बात है। भीतर से ही यह काम होता है, उसके बिना सम्भव नहीं है।

सही दृष्टि यही है, जिसको यह श्रद्धान हो गया है– तीन लोक की सम्पदा मेरे काम आने वाली नहीं। यह सम्पदा वस्तुत सम्पदा ही नहीं। सम्पदा किसको कहते है? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने "स्वयभूस्तोत्र" मे अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है–

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः।।

हे भगवान्! सम्पदा वही होती है, जो वीतराग-विज्ञान है, रत्नत्रय है। इसके माध्यम से उसी को प्राप्त कर सकते हैं जो अनन्तकाल तक अक्षय-अनन्त मानी जाती है। वही मेरे लिए प्राप्तव्य है– प्रयोजन है। इस प्रयोजन को बना करके जो व्यक्ति सात तत्त्वो के ऊपर श्रद्धान करता है, नौ पदार्थों, छह द्रव्यो के ऊपर श्रद्धान करता है, उसका श्रद्धान ही वीतराग-विज्ञान के लिए कारण बन जाएगा और अन्यथा प्रयोजन के साथ वही ख्याति-पूजा-लाभ या सासारिक वैभव के लिए भी कारण बन आएगा। जिनवाणी तो आपने पढी, लेकिन भोगो के लिए पढी तो प्रयोजन सही-सही नहीं माना जाएगा।

वर्णी जी की "मेरी जीवन गाथा" मे एक घटना है। उसमे उन्होने लिखा है– देखो बन्धुओ! ध्यान रखिये, **"कभी भी जिनवाणी माता के माध्यम से अपना व्यवसाय नहीं चलाना"**। क्योकि, जिसके द्वारा रत्नत्रय का लाभ होता है उसको तुम क्षणिक व्यवसाय का हेतु बना रहे हो। चार पुरुषार्थ है– अर्थ, काम, धर्म और मोक्षपुरुषार्थ। तो अर्थ पुरुषार्थ करो और वित्त का अर्जन करो। जिनवाणी के माध्यम से तो रत्नत्रय की सेवा करो, रत्नत्रय को प्राप्त करने का व्यवसाय करो। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। बड़ी अच्छी बात कह दी। छोटी जैसी लगती है, लेकिन है बहुत बडी। ठीक है! जिनवाणी का क्या गौरव होना चाहिये? उसे कैसे रखे, कैसे उठाये? इसका ख्याल रखना चाहिए। जैसे– आप लोग जब धुले हुए– साफ-सुथरे

अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनकर आ जाते हैं तो कैसे बैठते हैं? मालूम है आपको! आपके बैठने में आदान-निक्षेपण समिति आ जाती है। भीतर जेब में रखी रुमाल, एक प्रकार से पिच्छी का काम करने लग जाती है। उस समय हम सोचते हैं कि भैय्या! यह कौन-से मुनि महाराज आ गए। कैसी आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। यदि रुमाल नहीं है आपके पास तो फूक ही मारते हैं और ऐसे बैठ जाते हैं, जैसे बिल्कुल ठीक-ठीक आसन लगाकर प्राणायाम होने वाला है। ऐसे कैसे बैठ गये? कौन-सा आसन है वह। आसन-वासन कुछ नहीं है वह, किन्तु वसन गन्दी न हो इसलिए ऐसा बैठते हैं आप लोग। इस प्रकार की प्रवृत्ति करते समय जरा सोचो तो बन्धुओ ! इससे किसकी रक्षा हो रही है? वस्त्र की या जीवों की। जब वस्त्रों की रक्षा आप इतने अच्छे ढंग से करते हैं तब जिनवाणी की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए ! आचार्यों ने कहा है— उसको नीचे मत रक्खो। जहाँ कहीं उसे ऊंचे आसन पर रखो। उसके प्रति आदर से खड़े होओ।

जब कभी मुझे समय मिलेगा, तब सम्यग्ज्ञान के बारे में कहूँगा। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, उसी प्रकार से सम्यग्ज्ञान के आठ अंग हैं। इन आठ अंगो को देखकर ऐसा लगता है कि हमारा ज्ञान अभी बहुत कुछ संकुचित दायरे में है। हम वस्तुतः इन अंगों का पालन नहीं कर पा रहे हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञानी होने का दम्भ रखते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है कि "अंग के बिना अंगी की रक्षा हो जाए"। यदि सम्यग्ज्ञान की रक्षा चाहते हो तो उस जिनवाणी मा की रक्षा करो। ध्यान रखियें— जब तक इस धरतीतल पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र रहेंगे, तब तक ही हमारी भीतरी आखें खुल सकेंगी। भीतरी आख जितनी पवित्रता के साथ खुलेगी, उतना ही पवित्र-पथ देखने में आयेगा। ज्यों ही इसमें दूषण आने लग जाएंगे तो पथ की पवित्रता नष्ट/समाप्त हो जाएगी। दृष्टि-दूषण के कारण कौन-कौन हैं? अज्ञान, राग, लोभ और भय। इन चारों के द्वारा ही दृष्टि में दूषण आता-आ सकता है। पवित्र वस्तुओं में दूषण लगने के ये चार-मार्ग हैं। यदि हमारा राग जागृत हो जाए या लोभ जागृत हो जाए तो लोभ के कारण हम तत्त्व को इधर-उधर करने लग जाएंगे। जो हमारे लिए अभिशाप सिद्ध होगा। "वह बड़ी वरदान नहीं हो सकती, अभिशाप ही सिद्ध होगी क्योंकि जिनवाणी में परिवर्तन करना महान् दोष का काम है साथ ही महान् मिथ्यात्व का भी।" दर्शनमोहनीय का जो बन्ध होता है। उसके लिए "तत्त्वार्थसूत्र" में उमास्वामी महाराज ने कहा है— "**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य**"

जिनवाणी का एक अक्षर भी यहाँ का वहाँ न हो, विकृत न हो। इन अंग

पर मै पुन· कहूँगा कि सरागसम्यग्दर्शन के साथ तत्त्व का श्रद्धान किया जाता है और वीतराग सम्यग्दर्शन के साथ ध्येय वस्तु को प्राप्त करने के लिए उपयोग को एकाग्र किया जाता है। ये दोनों सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाते हैं तो केवलज्ञान भी बहुत जल्दी प्राप्त हो जाता है। यही एक मात्र क्रम है। जिसे वृहद्द्रव्यसग्रह की टीका मे स्पष्ट किया गया है—

"एषां भरतादीनां यत्सम्यग्दर्शनं तत्तु व्यवहारसम्यग्दर्शनं"

गृहस्थावस्था मे जो भरतादि थे उनके सम्यग्दर्शन की बात है, तो उन्हे क्षायिक सम्यग्दर्शन था उसे भी उन्होंने "व्यवहार सम्यग्दर्शन" यह सज्ञा दी है। वीतराग सम्यग्दर्शन के लिए वे कहते है कि जिस समय मुनि महाराज अभेद रत्नत्रय मे लीन हो जाते हैं तव ही वीतराग सम्यग्दृष्टि है। वे मुनि महाराज ही वीतराग ज्ञानी हैं और वे ही वीतराग चारित्री भी है। इसीलिए उनको आदर्श बनाकर उनके पगचिन्हो पर चले तो नियम से एक दिन हमे भी वह घडी प्राप्त होगी, जिसकी प्रतीक्षा मे हम अनादिकाल से हैं।

मै भगवान् से बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप लोगो की मति भी इसी ओर हो और मेरी मति इससे आगे बढती हुई हो। जल्दी-जल्दी आगे पहुँच गए है जो, उनको आदर्श बनाकर वहाँ पर जाने के लिए याद रखें। जब तक हमारे सामने आदर्श नहीं रहेगा तब तक हमारे कदम ठीक-ठीक नहीं उठ सकेगे। इस पचमकाल मे, वह भी हुण्डावसर्पिणी काल में यदि कोई शरण है तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही है। देव का तो आज अभाव है, लेकिन अभाव होते हुए भी स्थापनानिक्षेप के माध्यम से आज भी हम उन वीतराग भगवान् को सामने ला रहे हैं जिन भगवान् के बिम्ब-दर्शनमात्र से, भीतर बैठा हुआ अनन्तकालीन मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न हो जाता है। सारी की सारी कषाय छिन्न-भिन्न हो जाती है। ऐसी प्रतिमा की स्थापना के लिए ही आप लोगो ने पाच छह दिन की यह आयोजना की है। अपने वित्त का सदुपयोग और अपने समय का, जो कुछ भी था, न्यौछावर किया। आप लोग भी इस आयोजना को देखने के लिए आए।

भावना की थी। आज यही आपके लिए धर्म-प्रभावना का कारण है और ध्यान के लिए भी। लेकिन यह ध्यान रखिये— "धम्म भोगणिमित्त" रूप भावना नहीं होना चाहिए। आप लोगो ने बहुत कुछ किया जो फालतू नहीं, बहुत आवश्यक है, लेकिन इतना और कर लेना कि भीतर कभी भी भोगो की वाछा न हो। भीतर कभी भी ख्याति-पूजा-लाभ की वासना न हो। क्योंकि यह भावना जागृत हुई, कि सारा का सारा क्रम समाप्त। अन्दर रहने वाली बारूद मे एक बार भी अगर, अगरबाती

लग गई तो विस्फोट होने से कोई नहीं बचा सकता। वह विस्फोट ऐसा भी हो सकता है, जिसका जीवन मे कभी अनुमान न किया हो। इसलिए अन्दर बारूद रहते हुए भी उसे अन्दर ही सुरक्षित रखो और अगरबत्ती लगने से पहले ही उसकी बाती (बत्ती) को ऐसा तोड़ दो ताकि तीन काल मे भी विस्फोट न हो। फिर चाहे उसे जेब मे भी रख ले तो कोई डर नहीं।

अत सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को आदर्श बनाकर चलना चाहिए, क्योकि कुन्दकुन्द भगवान् भी जब उनको आदर्श मानकर चले है तो हम किस खेत की मूली है। क्या ज्ञान है हमारे पास? क्या चारित्र है? हमारे पास निश्चय से तो कुछ भी नहीं है। हम तो उनकी पग-रज होने के लिए जीवित है। नहीं तो इस ससार मे हमारा कोई अस्तित्व नहीं। यदि वे नहीं होते तो हम अपनी आत्मा की आराधना कैसे करते? आत्मा की बात भी स्वप्न मे नहीं आ सकती थी। हमे इस जिनवाणी की, ऐसे गुरुओ की और सच्चे देव की शरण मिली है, इसलिए हमारे जैसा बडभागी और कौन हो सकता है। किन्तु बड़भागी कहकर रुकना नहीं चाहिए। रुकना वस्तु का स्वभाव नहीं और न ही पीछे मुडकर देखना। इसलिए इस बड़भागीपन की याद रखते हुए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण मे जाकर रत्नत्रय का लाभ प्राप्त कर भगवान् कुन्दकुन्द देव ने जिनको आदर्श बनाकर जो ज्ञान और चारित्र अगीकार किया, वह हम कर सके और सभी ससारी प्राणी उसे अगीकार करने की चेष्टा करे।

OO

३

ससारी प्राणी जन्म को अच्छा मानता है और मरण को बुरा। इसलिए हम पहले मरण को समझ लें। जन्म के बारे में मध्याह्न में समझना अच्छा होगा। अभी का जो समय है उसमें पहले मरण को समझ लेते हैं फिर उसके उपरान्त स्वाध्याय और दान के विषय में भी कुछ समझने का प्रयास करेंगे।

पहले तो, मरण किसका होता है? मरण क्या वस्तु है? मरण क्या अनिवार्य है और मरण का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है? इसको समझ लें। ससार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो मरण से न डरता हो, जबकि मरण एक अनिवार्य घटना है। फिर डरना क्यों? जहाँ जीवन भी एक अनिवार्य घटना और मरण भी। तो एक पहलू से प्रेम और एक पहलू को देखकर के क्षोभ क्यों? इसमे क्या रहस्य है? अज्ञान। अज्ञान के कारण ही ससारी प्राणी मृत्यु को नहीं चाहता और मृत्यु से बच भी नहीं पाता। अभी-अभी यहाँ जन्म महोत्सव मनाया जा रहा था। लेकिन जहाँ से निकल करके आ रहा है, वहाँ पर मरणकृत शोक छाया होगा। यह मात्र अज्ञान के खेल हैं। तो मरण क्या है? मरण, जीवन के अभाव का नाम है। जैसे– दीपक जल रहा है। वायु का एक झोका आ जाता है तो दीपक बुझने लगता है, भले ही उसमे तेल और बाती भी अभी जमाई हो, तब भी वह बुझ जाता है। इसी प्रकार आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है। जब आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है तो हम इसे समझ ले कि आयु क्या है? आयु एक प्राण है। दश प्राण होते है उनमें से एक आयु भी है "दशप्राणैर्जीवति इति जीव" दश प्राण इसलिए कह रहा हूँ कि यहाँ पर मनुष्य की विवक्षा रखी गई है। अर्थात् जो दश प्राणों से जीता था वह जीव है, जो अब भी जी रहा है वह जीव है तथा जो आगे भी जियेगा, वह जीव है। "अजीवत् जीवति जीविष्यति इति वा जीवा प्राणिन"। इन प्राणो का अभाव होना ही मरण है। आयु का अभाव होना ही मरण है। आयुकर्म का क्षय होना ही मृत्यु है। ससारी प्राणी मरण से भयभीत है अत समझ सके कि वह घटना क्या है? आयु का क्षय– अभाव क्यों जाता है? जिस अभाव को वह नहीं चाहता तो वह क्यों होता है? जो हम चाहते

है वह क्यो नहीं होता? अनचाहा होता है तो उसके ऊपर हमारा अधिकार क्यो नहीं?

सन्तो का कहना है, हमे उस ओर नहीं देखना है जहाँ सूर्य का प्रवास चलता है, यात्रा चलती है अविरल रूप से १२ घण्टे। वह चलती ही रहती है। कभी रुकती नहीं, यह नियम है। कभी किसी को पीछे मुड़कर देखता नहीं और ना ही किसी की प्रतीक्षा करता है सूर्य। उसका यह कार्य है। लोग इसे पसद करे, ठीक। नहीं करे, तो भी ठीक। वह चलता ही रहता है। इसी प्रकार आयुकर्म का खेल है। वह निरन्तर क्षय को प्राप्त होता रहता है। **आयुकर्म क्या है? आयु, आठ कर्मो में एक कर्म है, जिसका सम्बन्ध काल के साथ है लेकिन वह काल नहीं है। हमारा सम्बन्ध कर्म के साथ हुआ, न कि काल के साथ। हां! कर्म का सम्बन्ध कितने काल तक रहेगा, उसमें कितनी शक्ति है, कितने-किस प्रकार के उसमें परिवर्तन हो सकते हैं और कब, यह सब काल के माध्यम से जानते हैं।**

"आयु" कहते ही हमारी दृष्टि काल की ओर चली जाती है, लेकिन यह ठीक नहीं। क्योकि दृष्टि से ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है। जिसके साथ आपका सम्बन्ध है उसी को देखिये। काल कोई वस्तु नहीं है। मैने कल कहा भी था कि चेतनाए तीन होती है, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। जीव का सम्बन्ध इन चेतनाओ के साथ हुआ करता है, अनुभव के साथ हुआ करता है, अन्य कोई चौथी काल चेतना नहीं है। अत काल के साथ जीव का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह बात अलग है कि काल, कर्म को नापने का माध्यम है। जैसे– ज्वर को थर्मामीटर के माध्यम से नापा जाता है। ज्वर आते ही थर्मामीटर की याद आती है। और उसको भिन्न-भिन्न अगो पर लगाकर देख लिया जाता है। ज्वर थर्मामीटर को नहीं आता अर्थात् थर्मामीटर ज्वरग्रस्त नहीं होता, मात्र वह बता देता है। ज्वर तो हमारे अन्दर ही है। ज्वर, थर्मामीटर के अनुरूप भी नहीं आता, क्योकि एक तो बुखार आने के उपरान्त ही उसका प्रयोग किया जाता है, आवश्यकता पडती है। दूसरी, पहले तो थर्मामीटर नहीं थे। मात्र नाडी के माध्यम से जान लेते थे। आज थर्मामीटर भी ९४ के नीचे काम नहीं करता और १०७ १०८ के ऊपर भी नहीं। कितनी गर्मी है, पता नहीं चलता। एक हड्डी का बुखार हुआ करता है, वह थर्मामीटर मे आता ही नहीं, फिर भी ज्ञान का विषय तो बनता ही है। अर्थ यह हुआ थर्मामीटर होने से बुखार नहीं आता। वह तो मात्रा नापने मे एक यन्त्र का काम करता है। उस यन्त्र मे हम नहीं घुसे, और न उसके बारे मे ज्यादा सोचे, सिर्फ इसके कि, बुखार कितना आया? कब तक रहेगा? जायेगा कि नहीं? इसके उपरान्त इलाज प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

इसी तरह आयु कहते ही हमारे दिमाग मे काल की चिंन्ता नहीं होनी चाहिए?

कि अव कितना काल रह गया, क्या पता? काल रहता नहीं, काल टिकता नहीं, काल जाता नहीं, काल तो अपने-आप मे है। फिर क्या वस्तु है काल? इसको हम आगम के माध्यम से या अनुमान के माध्यम से जान सकते है। भगवान् की वाणी द्वारा जो उपदिष्ट हुआ है उस पर श्रद्धान कर समझ सकते है। "काल कोई जानकार वस्तु नही है, जो हमे जान सके। हम ही उसे जानने की क्षमता रखते है" लेकिन वर्तमान मे नहीं है, यह वात अलग है। वह केवल श्रद्धान का विषय है। भगवान् ने जो कहा, उसको हम मानते चले जाते है। काल के माध्यम से अपने-आपको आक सकते हैं। काल हमारे परिणमन का ज्ञापक है और इन परिणमनो के लिये सहायक काल है। काल निष्क्रिय है, उसके पास पैर नहीं, हाथ नहीं, ज्ञान नहीं। उसके पास अपना अस्तित्व है, अपना गुण-धर्म और अपना स्वभाव है। इस काल के बिना आयुकर्म क्या करता है? नियम से अपने परिणामो के अनुरूप परिणमन करता चला जाता है। उसकी कई अवस्थाए हुआ करती है, जिनका उल्लेख धवला, जयधवला एवं महावन्ध मे किया है।

"आयुक्खयेण मरणं" जैसे दीपक के तेल और बाती का समाप्त होना उसकी मृत्यु है, अवसान है। उसी प्रकार संसारी प्राणी के घट मे भरा हुआ आयुकर्म समाप्त हो जाना। फिर चाहे वह मोटा-ताजा हो, हृष्ट-पुष्ट हो या पहलवान भी क्यों न हो, बाहर, से बिलकुल लाल-सुर्ख टमाटर के समान दीखने वाला हो, उसका भी अवसान बहुत जल्दी हो जाता है, क्योंकि भीतर आयुकर्म समाप्त हो गया।

एक व्यक्ति ने कहा था– महाराज जी! आजकल तो जमाना पलट रहा है। वैज्ञानिक, वस्तु की स्थायी सुरक्षा का प्रवन्ध करने जा रहे है, वस चन्द दिनो मे उस पर कन्ट्रोल कर लेंगे। कोई भी वस्तु को मिटने नहीं देंगे। यदि मिटती भी है तो समय-पूर्व नही मिट सकती। जैसे शास्त्रो मे जहाँ कहीं भी मर्यादा सम्वन्धी व्यवस्था की गई है, कि आटे की सीमा गर्मी मे पाच दिन, ठण्ड मे सात दिन और वर्षा मे तीन दिन। लेकिन अव एक ऐसा यन्त्र विकसित हो गया है (वन गया है) कि उसमे आटा रखने से उम्र ज्यादा पाता है, उसकी सीमा अधिक दिन तक की हो जाती है। तथा आज जो वेमौसमी फल वगैरह मिल रहे है, वह सभी उसी की देन है। अव दीवाली मे भी आम खा सकते हैं। आमतौर पर दीपावली मे आम नहीं आ सकते, लेकिन फ्रिज मे रख करके वे-मौसम के खाने के काम आते है। वात विल्कुल ठीक है कि आप एक फल जो कि पेड से तोडा गया है, रेफ्रिजरेटर मे रख दीजिए, लेकिन उसके अन्दर भी काल विद्यमान रहता है और वह परिणमन करने मे सहायक होता है, क्योंकि परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है।

"वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य"

कालद्रव्य का माध्यम वना करके प्रत्येक वस्तु का परिणमन निरन्तर चलता रहता है। यदि उस आम को ८ १० दिन के बाद, जव निकाल कर खायेंगे, तब रूप में, गन्ध में, रस मे, वर्ण मे और स्पर्श मे नियम से अन्तर मिलेगा। यह बात अलग है कि इन्द्रियां के "अण्डर" मे हुआ व्यक्ति उस रस के, रूप के और गन्ध के वारे में पहचान न कर पाये, लेकिन उनमें परिवर्तन तो प्रति समय होता जा रहा है। यही आम का मरण है। रूप का, रस का, गन्ध का, स्पर्श का और वर्ण का मरण है। प्रत्येक का मरण है। ध्यान रखिए ! मात्र मरण का कभी भी मरण नहीं होता। **कोई अजर-अमर है तो वह मरण ही है। कोई नश्वर है तो वह जीवन है। आयु ही जीवन है और उसका क्षय होना नश्वरता है, मरण है।**

कर्मो का क्षय करना है लेकिन, सुनिये! आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मो की निर्जरा वताई गयी है आगम मे। कर्म मात्र हमारे लिए बैरी नहीं। "आठ कर्मो की निर्जरा करो" ऐसा व्याख्यान करने वाला अभी भूल मे है। जिनवाणी में आठ कर्मो की निर्जरा के लिए नहीं लिखा, किन्तु सात को लिखा है,आयुकर्म की निर्जरा नहीं की जाती है। जो आयुकर्म की निर्जरा मे उद्यमशील है उसे 'हिंसक' यह सज्ञा दी गई है।

जो आयुकर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत है, कि "किसी भी प्रकार से जल्दी-जल्दी जीवन समाप्त हो जाए" इस प्रकार की धारणा वाला व्यक्ति, ना जीवन का रहस्य समझ पा रहा है, ना मृत्यु का। कर्म-सिद्धान्त के रहस्य को समझने के लिए, अध्ययन करने के लिए, यदि एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी जीवन खपा दे, तो भी मैं समझता हूँ अधूरा ही रहेगा। फिर १० दिन के शिविरों मे कर्म के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं समझ पायेगे। कर्म के भेद-प्रभेद, उनके गुण-धर्म आदि-आदि वहुत विस्तार है। कहने को मात्र १४८ कर्म हैं लेकिन उनके भी असंख्याततलोकप्रमाण भेद है। इनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के साथ है। इनका फल भी आत्मा को भोगना होता है और इनके करने का श्रेय भी आत्मा को है अत कर्त्ता-भोक्ता दोनों आत्मा ही है। अपने भावो का कर्ता होते हुए भी, कर्मो का कर्ता कैसे वना? अपना परिणमन करता हुआ अन्य भावों को पैदा करने में योगदान कैसे देता है? इस सवका हिसाब-किताव बहुत गूढ़ है अत इनके रहस्य को समझे।

आयुकर्म हमारे लिए प्राण है। प्राण– मतलब जिसके माध्यम से हमारा वर्तमान जीवन चल रहा है। वह पेट्रोलियम का काम करता है। आपको सम्मेदशिखर जी की यात्रा करनी है। आपने एक मोटर की। उसमें एक पेट्रोल टैंक भी रहता है।

वह क्या करता है? वह मोटर को चलाता है। और यात्री ऐशोआराम के साथ यात्रा सम्पन्न कर लेता है। अब यदि पेट्रोल टंक फट जाय तो क्या होगा? गाडी तो वहुत बढ़िया है, ब्रेक भी ठीक है। ड्राइवर भी ठीक है– शराब भी पीकर के नहीं वैठा, आराम के साथ– यन्त्र देख-देखकर वह गाड़ी को चला रहा है। फिर भी पेट्रोल समाप्त हो जाने से आगे नहीं चलेगी वह,आप भी नहीं जा सकेंगे। मतलब पेट्रोल समाप्त, गाड़ी बन्द, यात्रा समाप्त। पेट्रोल क्या है? यही तो उस गाड़ी का आयुकर्म है।

आयुकर्म के बारे में बहुत समझना है, बहुत शान्ति से समझना है। उसकी उदीरणा-अपकर्षण-उत्कर्षण आदि-आदि जो भग/करण हैं वह बहुत कुछ सोचने के विषय है, चिन्तनीय है। जीवन तो आप चाहते हैं, लेकिन जीवन की सामग्री के बारे मे आप सोचते ही नहीं हैं। इसी से आपका पतन हो रहा है। मंजिल तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। कामना पूर्ण नहीं हो पा रही है। आयुकर्म आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तो भावों के द्वारा ही स्थितिया और अनुभाग के साथ वर्गणाए कर्म के रूप में परिणत हो कर आ जाती हैं। ऐसा पेट्रोलियम आपके साथ विद्यमान है तो जो काल के ऊपर आधारित नहीं, किन्तु अपना परिणमन वह पृथक् रखता है। जेसे दो कैरोसिन की गैसबत्ती है। वे तेल के माध्यम से जलती हैं। रात मे आपको कुछ काम करना था अत दुकान से किराये पर ले आये। दुकानदार से पूछा– यह कब तक काम देगीं? १२ घण्टे तक। अच्छी बात है। अब उन्हें लाकर काम चालू कर दिया। दिन डूबते ही आपने बत्तिया जला दीं। लेकिन चार घण्टे के उपरान्त एक बन्द हो गयी, बुझ गई। तो वह दूसरी के सहारे काम करता रहा, रात के बारह वजे तक। सुबह जाकर के दुकानदार को कहा– मै तो एक गैसवत्ती का किराया दूगा एक का नहीं। क्यों भैय्या क्या वात है? एक बत्ती ने काम नहीं दिया, हो सकता है आपने इस गैसबत्ती में कैरोसिन कम डाला हो। मालिक ने कहा– नहीं जी, ऐसी बात नहीं है। मैंने नापतोल कर तेल और हवा भर दी थी, फिर इसने काम नहीं किया तो उसमे कुछ गड़बड़ी होनी चाहिए। उसने देखा कि एक सुराख हो गया है तेल टैंक मे। यानि बर्नर के माध्यम से जो तेल जाता था, वह तो प्रकाश के लिए कारण बनता है किन्तु जो एक छिद्र हो गया है वह विना प्रकाश दिये कैरोसिन को निकाल देता है। इसीलिए वह चार घण्टे मे समाप्त हो गया। जिसे ८ घण्टे और चलना था, वह पहले ही समाप्त हो गया। हम पूछना चाहते हैं कि क्या तेल १२ घण्टे के लिए डाला गया था या चार घण्टे के लिये? तेल तो १२ घण्टे का डाला, किन्तु छिद्र होने से वीच में ही समाप्त हो गया। अपनी सीमा तक नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार आयुकर्म है, वह अपनी स्थिति को ले करके वधता है लेकिन वीच में

उदीरणा से स्थिति पूर्ण किये विना ही समाप्त हो जाता है। इसमें कर्मो का कोई दोष नहीं, कर्मो का आधारभूत जो नोकर्म शरीर रूपी गैसवत्ती उसकी खरावी है। इसकी खरावी का कारण भीतरी कर्मो को दोष नहीं देना चाहिये। कर्म जिस समय वध को प्राप्त होता है तो चार प्रकार से वध हुआ करता है– प्रकृति, प्रदेश, स्थिति ओर अनुभाग।

प्रकृतिवन्ध– स्वभाव को इंगित करता है। प्रदेशवन्ध– कर्मवर्गणाओं की गणना करता है। स्थिति वन्ध काल को वताता है कि इतने समय तक यहाँ रहूँगा जवकि काल द्रव्य से उसका कोई सम्वन्ध नहीं, मात्र अपनी क्षमता को काल के माध्यम से घोषित कर रहा है। ओर अनुभाग वन्ध अपने परिणामों को वताने वाला होता है। यह चार प्रकार के वन्ध एक ही समय में हुआ करते है। ऐसा नहीं है कि पहले प्रकृति वन्ध हो फिर प्रदेश वन्ध या पहले स्थिति वन्ध फिर अनुभाग वन्ध। पहले कुछ प्रदेश आ जाए, फिर शेष तीन प्रकार का वन्ध हो, ऐसा भी नहीं। जिस समय लेश्याकृत मध्यम परिणाम होते हैं वह समय आयुकर्म के वन्ध के योग्य माना गया है, ना कि अन्य परिणामो का। अव समझ लीजिए– किसी ने अस्सी साल की आयु की स्थिति प्राप्त की अर्थात् ८० वर्ष तक, वह कर्म टिकेगा, इससे आगे नही। लेकिन यदि वन्ध के वाद परिणामो मे विशुद्धि आ गई तो स्थिति वढ़ जाने को उत्कर्षण कहते है और यदि परिणामो मे अध पतन/अवपतन/सक्लेश हो गया तो स्थिति ओर घट गई, वह अपकर्षण हैं ये दोनो ही करण अगली आयुकर्म की अपेक्षा से इस जीवन मे वन सकते है। जिसका उदय चल रहा है जैसे– मनुष्यायु, तो इसमें ना उत्कर्षण सभव है ना अपकर्षण। इसमें तो उदीरणा संभव है। जितने भी निषेक, कर्मवर्गणाए हमे प्राप्त हो गई हैं, उनका समय से पूर्व अभाव अर्थात् उदीरणा सभव है। इसी का नाम आचार्यो ने धवला मे "कदलीघातमरण" कहा है। कदलीघातमरण यानि केले का पेड़ जो विना मौत के मार दिया जाता है। क्योंकि वह ज्यों ही फल दे देता है, त्यों ही किसान लोग उसे काट देते हैं, कारण कि उसमें दुवारा फल नहीं आता। इसलिए ताजा रहते हुए भी उसको समाप्त कर देते हैं। इसी प्रकार वाहरी निमित्त को लेकर आयुकर्म की उदीरणा होती है।

आयुकर्म की स्थिति ओर मरण का काल, ये दोनो ही समान अधिकरण मे नहीं होते हैं। अर्थ यह हुआ कि स्थिति को पूरा किये विना ही वे सारे के सारे कर्म विखर जाते है। कर्म-कार्मण शरीर का आधार होता है और कार्मण शरीर-नोकर्म का। ज्यों ही नोकर्म समाप्त हो गया, त्यों ही कार्मण शरीर की गति प्रारम्भ हो जाती है। एक ही आयुकर्म का अवसान हो जाता है पूरी स्थिति किये विना ही। वीरसेन स्वामी का

कहना है यदि 'जिसकी २५ वर्ष की उम्र मे मृत्यु हो गई तो उसकी उम्र २५ वर्ष की ही थी'' ऐसा जो कहता है वह एक प्रकार से कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान नहीं रखता। उन्होने कहा है कि आयुकर्म का क्षय और उसकी स्थिति का पूर्ण होना एक समयवर्ती नही है। अर्थात् उस व्यक्ति की उम्र अभी भी ५५ वर्ष शेष थी, जिसको पूर्ण किये विना ही उदीरणा के द्वारा अकालमरण को प्राप्त कर लेता है।

अकालमरण का मतलब यह कदापि नहीं है, कि वहाँ पर कोई काल नहीं था। अकालमरण का अर्थ वही है, जो कदलीघातमरण का और जो स्थिति को पूर्ण कर मरता है वह सकालमरण का अर्थ है। इस अकालमरण की अपेक्षा या उदीरणा मरण की अपेक्षा से भी भगवान् के ज्ञान मे विशेपता झलकती है। वह क्या विशेपता है? भगवान् ने मृत्यु को देखा और साथ-साथ उसको अकालमरण के द्वारा देखा।

अकालमरण का अर्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए, जैसा कि कुछ लोग लेते है। वे डर की वजह से अकालमरण को ही अमान्य कर देना चाहते है। लेकिन ऐसा सभव नहीं है। दुनिया मे एक ऐसी भी मान्यता है कि आयुकर्म तो रहा आवे और शरीर छूट जावे, तो उसे प्रेतयोनि मे जाना पडता है और जव तक आयु पूर्ण नहीं हो जाता तव तक उसे वहीं भटकना पडता है। (जैसे कि आप लोग राकेट को पेट्रोल भरकर भेज देते है ऊपर, तो भटकता रहता है– घूमता रहता है वह)। अत उसका श्राद्ध करो, उसकी शान्ति करो, आदि-आदि कार्य करते हैं। नहीं तो सिर पर आ जाएगा। जैसे ''स्काइलेव'' के द्वारा आप लोग डर रहे थे। उसी प्रकार से भी डरते रहते हैं कि हमारे ऊपर वह भूत सवार न हो जाये। लेकिन कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा है– ''आयुक्खयेण मरण'' अर्थात् आयुकर्म के निपेक रहे आवे और मृत्यु हो जाए, यह सभव ही नहीं तथा आयुकर्म समाप्त हो जावे और जीवन रहा आवे, यह भी सभव नहीं। इसका अर्थ यह भी नहीं है, जितना समय निकल गया, उतने ही निपेक थे। लेकिन ऐसा सभव कदापि नहीं कि स्थितिवन्ध तो ८० वर्ष का था और २५ साल में ही जिसका अभाव हो गया– कदलीघातमरण हो गया, और भी कम मे हो सकता है तो उतनी ही उम्र थी, ऐसा नहीं समझना चाहिए। उसकी क्षमता अधिक होती है। इसको एक अन्य उदाहरण से समझ लीजिए–

किसी एक व्यक्ति को नौकरी मिल गयी, कोई भी डिपार्टमेन्ट मे। इस डिपार्टमेन्ट मे नौकरी तो मिल गई– वहुत अच्छा काम मिला, लेकिन कव तक रह सकता हूँ? ५० वर्प तक तुम रह सकते हो। अच्छी वात है इसके वाद कुछ और भी वातें लिखाई गई और कह दिया गया कि इन शर्तो के अनुसार आप ५० वर्प तक नौकरी कर सकते है। वेतन भी इतना-इतना मिलेगा, सव तय हो गया। एक दिन उसी कर्मचारी

ने बदमाशी की, तो उन्होंने निकाल दिया, सस्पेण्ड कर दिया गया। अब वह कहता है कि हम तो हाईकोर्ट मे नालिश करेंगे, आपने कहा था कि ५० वर्ष तक काम कर सकते है, फिर बीच मे क्यों निकाला? यह कहाँ का न्याय है? उन्होंने कहा– हमने यह कहा था कि, हमारे जो कानून हैं उनके अनुसार चलोगे तो ५० वर्ष तक काम देगे। इसका मतलव यह नहीं कि तुम यद्वा तद्वा करो। "चेयर" के ऊपर बैठ जाओ और ऊघते रहो, काम कुछ भी न करो, मात्र वेतन के लिए हाजिरी लगा दो यह कैसे चलेगा। कानून भग होते ही बीच में काम से हाथ धोना पड़ सकता है। यदि सज्जन हैं तो बात ही अलग है। इसी प्रकार आयुकर्म बधने के उपरान्त कुछ ऐसी स्थितिया भी आती हैं जिनमे स्थिति को पूर्ण किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर सकते है और नहीं भी।

इस रहस्य को समझना है कि क्या मृत्यु को हम बचा सकते हैं? प्रश्न बहुत ही विचारणीय है,तेज है, समस्याप्रद है। क्योकि हम जानते हैं कि आयुकर्म को टाला नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता, परिमाण कितना है? गिना नहीं जा सकता, फिर कैसे इसकी रक्षा करे, मृत्यु से बचे? इसी के द्वारा जीवन चल रहा है। आचार्यों ने इसके विषय में उलझन न करके सुलझी-सी वात कही है– कि कर्म के ऊपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। स्वयं का भी अधिकार नहीं हैं। तव अन्य का क्या? कौन-सा कर्म कब और किस रूप मे उदय मे आ रहा है, आ जाए, इसको हम नहीं जान सकते। कोई भी रसायन ऐसा नहीं है कि जो कर्मो को रोक सके, दबा सके। वे तो अपने आप अबाधित गति से निकल रहे हैं। तव आचार्यो ने कहा कि– आयुकर्म की रक्षा तो कर नहीं सकते, लेकिन आयुकर्म की जो उदीरणा हो रही है उसे रोक सकते हो। उस उदीरणा के स्रोत कौन-कौन-से हैं, तो कहा है– भयानक रोग के माध्यम से, भुखमरी से, श्वास के रोकने से, शस्त्र के प्रहार से, अति संक्लेशपरिणामों से तथा विषादिक के भक्षण से, ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड मे भी अकालमरण के निमित्तो को लेकर एक तालिका ही दे दी है। उन: जैसा विश्लेषण अन्यत्र नहीं मिलता। उन्होने एक बात बहुत मार्के की कही है कि अनीति नाम के हेतु से भी यह संसारी प्राणी अतीतकाल मे अनन्तवार अकालमरण का कवल (ग्रास) बन चुका है।

आज के इस जमाने को देखने से ऐसा लगता है कि अनीति पर कोई भी रोक-टोक नहीं है। "अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" आज कोई व्यक्ति कन्ट्रोल में नहीं है। लोकतन्त्र का जमाना और उसमें भी अनीति का बोलबाला है। अनीति राज्य कर रही है हमारे जीवन पर, फिर भी हम सम्यग्दर्शन

की चर्चा कर रहे है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि– जिस व्यक्ति के जीवन में बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के प्रति भीतर से पीड़ा नहीं, उस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की भूमिका का भी सवाल नहीं उठता। आचार्य समन्तभद्र ही नहीं और भी कई आचार्य हुए है, जिन्होंने अनीति का खुलकर निषेध किया है। आज जो यद्वा-तद्वा व्यापार कर रहा है, घूसखोरी देकर के या और भी कुछ देकर, देने को तैयार है, नेता बनने का प्रयास कर रहा है, उसका सर्वप्रथम निषेध जैनाचार्यो ने किया है। उन्होने कहा है– ''न्यायोपात्तधन''। न्याय के साथ जो धन कमाया जाता है वही आगे जाकर के धर्म-साधन मे सहायक होगा। अन्याय के साथ जो धन कमाता है वह तीन काल मे भी मुमुक्षु नहीं बन सकता। उसकी बुभुक्षा-पिपासा इतनी है कि वह तीन काल मे भी अपने जीवन को सम्हाल सके, असभव है। फिर सम्यग्दर्शन कोई आसान चीज नहीं है, सम्यग्ज्ञान कोई आसान नहीं है, सम्यक्चारित्र तो और भी लम्बी-चौड़ी बात है। सम्यग्दृष्टि का भी चारित्र होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सम्यक्त्वाचरण चारित्र की परिभाषा बताते हुए अष्टपाहुड मे कहा है– **जिस व्यक्ति के जीवन में शासन के प्रति प्रेम नहीं अर्थात् जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, उसके जीवन में प्रभावना होना तीनकाल में संभव नहीं।**

आज हम देख रहे हैं जैनियो के यहाँ भी ऐसे-ऐसे कार्य होते चले जा रहे हैं, जिनसे कि जैनशासन को नीचा देखना पडता है। आप भले ही यहाँ टीनोपाल के कपडे पहनकर आयें, अच्छे से अच्छे साफ सुथरे पहनकर आये लेकिन वहाँ पर तो लोग कहेंगे कि ये जैन है।

एक जमाना था कि जब टोडरमल जी थे, सदासुखजी थे, जयचन्द जी थे और दौलतराम जी थे। ये सभी ऋषि-मुनि नहीं थे, पण्डित थे। परन्तु उनके जीवन मे सदासुख-सादगी थी। गाधी जी ने विश्व मे तहलका मचा दिया और स्वतन्त्रता दिला दी। क्या पहनते थे वह, क्या रहन-सहन था उनका मालूम है? हर तरह से सादगी थी उनके जीवन मे। जबकि, अब व्यक्ति ऐशोआराम मे डूब रहा है। विलासता का अनुभव करने के लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है बन्धुओं! इसमें योग और साधना की सुगन्ध आनी चाहिए। एक बार गाधी जी को पूछा क्या– आप इस प्रकार से कपडे पहनते है।, ऐसा जीवन बिताने से क्या होगा? अरे! शरीर की रक्षा के लिए तो सभी कुछ आवश्यक है? तब उन्होने कहा–''हमने मात्र अपने विचारों को स्वतन्त्रता देने के लिए यह सग्राम छेड़ा है।'' यहाँ जीवन के नाम पर ऐशोआराम नहीं करना है। **आज देश में सबसे बड़ा संकट/ सबसे बड़ी समस्या, भूख की नहीं, प्यास की नहीं बल्कि भीतरी विचारों के परिमार्जन करने की है इसी से विश्व में त्राहि-त्राहि**

हो रही है। यह समस्या धर्म के अभाव से, दया के अभाव से ही है। एक दूसरे की रक्षा करने के लिए कोई तैयार ही नहीं। जो रक्षा के लिए नियुक्त किये गये, वही भक्षक बनते चले जा रहे हैं। एक-दूसरे के ऊपर जो विश्वास था, प्रेम था, वात्सल्य था, वह सब समाप्त होता चला जा रहा है। अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए आज ऐसे-ऐसे घृणित कार्य किये जा रहे है। जिनसे कि जिनशासन और देश को अपार क्षति हो रही है।

मेरे पास, आज से २ साल पूर्व एक बन्द लिफाफा आया था, जिसमे एक कार्टून रखा था, उसमे कहा गया था कि महाराज! वनस्पति घी के नाम पर उसमे अशुद्ध पदार्थ डाले जा रहे हैं वह भी जैनियो के द्वारा। क्या आप ऐसा न करने के लिए उन्हें उपदेश नहीं दे सकते? इस शताब्दी मे ऐसे-ऐसे जघन्यतम कार्य हो रहे हैं और उसमे भी जैन सम्मिलित हैं। विश्व में वित्त की होड़ लग रही है इसीलिए क्या हम भी वित्त कमा रहे है? आप अवश्य ही उपदेश दीजिए। मैंने कहा– भैय्या! मैं उपदेश देने के लिए मुनि नहीं बना हूँ, फिर भी यदि आप उपदेश चाहते है तो सामूहिक रूप मे उपदेश दे सकते है। किसी एक व्यक्ति को नहीं, कारण कि वह उपदेश नहीं माना जाएगा। मुझे भी देखकर के खेद होता है कि आज जो काण्ड हो रहे हैं उनकी चाहे व्यापार मे, बहुत आरम्भ के बारे मे और चाहे बहुत परिग्रह के बारे मे, कोई सीमा नहीं रही है। धन का इतना अधिक लोभ करने वाले व्यक्ति के धर्म, दया, प्रेम सुरक्षित नहीं रह सकते।

जैन शासन में जो पन्थ चलते हैं, वे सागार और अनगार के हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि का कोई पन्थ नहीं होता। अविरतसम्यग्दृष्टि तो मात्र उन दोनों पन्थों का उपासक हुआ करता है। जिसे जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, आस्था नहीं, उसके पास चारित्र नहीं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि– जिसके पास सम्यक्त्वाचरण चारित्र नहीं है उसके पास सम्यग्दर्शन भी नहीं है। जिस व्यक्ति में, साधर्मी भाइयों के प्रति करुणा नहीं, वात्सल्य नहीं, कोई विनय नहीं वह मात्र सम्यग्दृष्टि होने का दम्भ भर सकता है, सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता। आज अनीति के माध्यम से कई लोग मृत्यु के शिकार बनते चले जा रहे हैं। "हार्ट-अटेक" क्यों होता है? इसीलिए तो, कि अन्दर डर रहता है और ऊपर से शासन के करों का/टेक्सों का अपहरण करते हैं। लेकिन यह भगवान् महावीर का दरबार है। इसमें अनीति-अन्याय के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। यहाँ तो नीति–न्याय के अनुसार, सादगीमय जीवन से काम लेना होगा।

सदासुखदास जी के बारे मे मुझे पंक्तियाँ याद आ रही हैं। सदासुखदास जी जयपुर मे रहते थे। किसी शासनाधीन विभाग मे कार्य करते थे वहाँ। वर्षों काम

करते रहे। एक बार सभी लोगों ने हड़ताल कर दी कि हमारे वेतन का विकास होना चाहिए। माग पूरी भी कर दी गई। लेकिन सदासुखदास जी ने माग ही नहीं की थी, तो माग के अनुसार जब इनके पास ज्यादा वेतन आया तब उन्होने कहा— ज्यादा क्यों दे दिया, कोई भूल तो नही हो गई? इतने ही हमारे होते है? इतने आपके है।

नहीं, नहीं, सभी के वेतन मे वृद्धि हो गई है। तब सदासुखदास जी ने कहा— सबके लिए हो सकती है लेकिन मुझे आवश्यकता नहीं। क्यो-क्या बात हो गई? सभी ने लिया है तो आपको भी लेना चाहिए। उन्होंने कहा— मालिक को बता देना, मे आठ घण्टे की ड्यूटी कर उतना ही काम कर रहा हूँ कोई १६ घण्टे तो नहीं करने लग गया। जितना काम करता हूँ, उतना वेतन लेता हूँ। अत उनसे कह दीजिए कि मुझे ज्यादा नहीं चाहिए। मालिक कहता है— ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो हडताल में शामिल नहीं हुआ। जाकर मेरा कह देना तो वह ले लेगा। सेवक ने कहा— भैय्या ले लीजिए, मालिक ने कहा है। नहीं, मैं नहीं ले सकता। अब मालिक ने उन्हे ही बुलाया और कहा मेरे कहने से ले लो। तब भी सदासुखदास जी ने कहा— मुझे नहीं चाहिए। फिर क्या चाहते हैं आप? मालिक ने पूछा। "मुझे यही चाहिए कि अब शेष जीवन का अधिक से अधिक समय जिनवाणी की सेवा मे लगा सकूँ। अत मुझे आठ घण्टे की जगह चार घण्टे का काम रहे और वेतन भी आधा कर दिया जाय।" इसको बोलते हैं मुमुक्षु और उसकी जिनवाणी के प्रति साधना-सेवा। जेसा नाम था वैसा ही काम "सदासुख"। उन्होंने कहा— हम धन्य है। हमारे राज्य मे इस प्रकार के व्यक्ति का रहना, बहुत ही शोभास्पद है। सदासुखदास जी का जीवन कितना सादगीपूर्ण था। एक बार टीकमचन्द भागचन्द जी सोनी (जिन्होने अजमेर के अन्दर नसिया जी का निर्माण कराया) के पास उनके द्वारा लिखे हुए पत्र मैंने स्वयं अपनी आखो से पढे है। जब टीकमचन्द जी अपने परिवार सहित सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए जाने वाले थे, उस समय सदासुखदास जी जयपुर मे रहते थे, अत कहा गया कि आपको भी सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए साथ चलने के लिए आना है। मै सारा प्रबन्ध कर लूँगा, आपको कोई चिन्ता नहीं करना है। सारी चिन्ताए छोडकर चलना है। लेकिन जवाब मे पण्डितजी ने लिखा— मैं नहीं आ सकता हूँ क्योंकि मैंने देशावकाशिक व्रत ले लिया है इससे हम सीमा को छोड़कर नहीं जायेंगे। साथ ही मै सल्लेखना के लिए भी प्रयास कर रहा हूँ, इसीलिए मैंने ड्यूटी भी कम कर दी है। अब मुझे आत्मकल्याण करना है। अब तो—

अन्तःक्रियाधिकरणं, तप-फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद् यावद् विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।

समाधिमरण प्राप्त करने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा– यदि वृद्धावस्था आ रही है तो जल्दी-जल्दी कीजिए, जब तक वैभव अर्थात् शक्ति है शरीर मे, तब तक इस ओर सारी शक्ति लगा दीजिए अब, जिससे यह जीवन शान्त-निराकुलतामय वन जाए और आगे भी शान्ति का लाभ हो सके।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी के रत्नकरण्डक श्रावकाचार पर जो कि मूलत श्रावकों के लिए लिखा गया है, सदासुखदास जी ने टीका की उसे आज भी आबाल-वृद्ध सभी पढ़ते हैं। मै तो रत्नकरण्डक को रत्नत्रयस्तुति ग्रन्थ मानता हूँ। उसमें रत्नत्रय की स्तुति के माध्यम से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की उपासना करता हुआ व्यक्ति, अन्त मे सल्लेखना लेकर के बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह क्या? वह तो बहुत दूर की बात होगी, अब तो थोड़ा-सा भी परिग्रह शनि के रूप मे मानकर दूर फेक देगा। उनकी कृतियाँ आज भी धरोहर है। हम उनका मूल्याकन करने चलते है तो पाते है कि कितना अपार अनुभवमय जीवन था उनका। कितनी सादगी थी। मुनि बन जाते तो, कितना उपकार कर जाते, पता नहीं। भजनो मे लिखते है कि "वे मुनिवर कब मिल है उपकारी" यानि उनके जीवन मे ऐसे मुनिमहाराजो के दर्शन भी सुलभ नहीं थे। लेकिन आज उनके भजन से ऐसा लगता है कि ये भी मुनिराजो से कम नहीं थे। उनके भीतर-मन मे मरण से किंचित् भी डर नहीं था। वे मरण के ऊपर महोत्सव मनाने मे लगे रहे। अन्तिम समाधि, सदासुखदास जी की कैसी हुई, मालूम है? उन्होने पहले से तिथि लिख दी, कि फला तारीख को इस समय, इस प्रकार की घटना होने वाली है। मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा। वही घटना, वही तिथि और वही समय। भागचन्द सोनी को आखो में पानी आ रहा था सुनाते-सुनाते, कि इस प्रकार का उच्च आदर्शमय जीवन था सदासुखदास जी का। उन पत्रो को उन्हीं ने बताया था, जो कि एकत्रित कर रखे है।

एक जीवन ऊपर कहा जा चुका और एक आज का जीवन है। आज यद्वा-तद्वा आचरण कर असमय में ही मृत्यु की गोद मे पहुँच रहे हैं लोग। इस आयुकर्म को अच्छी तरह से रखना है। जीवन में डर नहीं होना चाहिए, लोभ नहीं होना चाहिए।

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच"

जिसके जीवन मे क्रोध है वह सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पाई-पाई के लिए लोभी बन रहा है वह जिनवाणी का, सत्य का प्रचार-प्रसार नहीं कर सकता। भीरुत्व, ये क्या कहेगे? क्या पता, इसलिए पलट दो। आज कुछ, कल कुछ। अभी कुछ, रात को कुछ और सुबह कुछ। मन मे कुछ, लिखना कुछ और कहना कुछ और ही। यह कुछ का कुछ, क्यो होता है। यह भीतरी दृढ़ता नहीं होने

हैं कि जब अति लोभ होगा तब मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए आप यदि स्वयं को तथा दूसरों को - दुनिया को सम्यग्दर्शन से सहित देखना चाहते हैं तो सर्वप्रथम बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह छोड़ दीजिये। वैसे स्वाध्याय ज्यादा आवश्यक नहीं जितना आरम्भ-परिग्रह का त्याग। बहुत से आचार्यों ने स्वाध्याय के लिए जोर दिया पर ध्यान रखिये यह मुनियों को भी आवश्यक रूप में नहीं है। स्वाध्याय २८ मूलगुणों में नहीं है। स्वाध्याय को तप के अन्तर्गत गिना गया है। आज केवल स्वाध्याय का, स्वाध्याय के द्वारा अनेक प्रकार की भीतरी वासनाओं को पूर्ण करने के लिए प्रचार-प्रसार किया जा रहा है जो कि बिल्कुल आगम विरुद्ध है। श्रावकों को भी आवश्यक नहीं बताया गया स्वाध्याय। ना धवला में, ना जयधवला में, ना महाबन्ध में, ना रत्नकरण्डकादि श्रावकाचारों में, आवश्यक बताया है। फिर यह प्रवाह कैसे आ गया? मुझे मालूम नहीं। लेकिन इसके उपरान्त भी कह सकता हूँ कि मान लीजिए, श्रावकों के षट्कर्मों में लिखा गया, तो पहले यह ध्यान रखिये कि षट्कर्म किसके होते हैं। आचार्यों ने कहा है– अहिंसाआदि व्रत, चाहे अणुव्रत हो या महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए, उन श्रावकों-मुनियों के लिए जीवन में छह आवश्यक कर्म बताये गये हैं। जैसे खेती की रक्षा बाड़ी के माध्यम से होती है उसी प्रकार आवश्यकों को जानना।

अब केवल स्वाध्याय-स्वाध्याय को करने-कहने की बजाय अपने जीवन से तामसी प्रवृत्तियों को कम करो, सत्य रखो, समता रखो, वात्सल्य रखो, प्रेम रखो और जीवन के प्रति गौरव रखो। हमारी कौन-सी संस्कृति है इस बात का ध्यान रखो, हम जैन हैं। जैन होने के नाते अपनी वृत्तियों को संयमित रखो।

जैन कहते ही पहले अदालतों से छुट्टी मिल जाती थी। लेकिन आज जैन कहने की हिम्मत नहीं हो रही है। अखबारों में छपे समाचारों को देखकर बहुत ही दुःख होता है कि आखिर हम भी तो उसी कोटि में माने जायेंगे/आ जायेंगे। वैसे साधु किसी सम्प्रदाय के नहीं होते, साधु तो विश्व का होता है। फिर भी हमारे साथ "जिन" एक ऐसा शब्द लगा है, वह उन भगवान् को इंगित करता है, जो राग-द्वेष नहीं करते, विषय-कषाय से रहित होते हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित होते हैं, ऐसे जिन भगवान् हुआ करते हैं। जिन भगवान् की उपासना करने वाले जैन माने जाते हैं, तब जैन का कार्य भी इन जैसा होना चाहिए। उनके कदमों पर चलना चाहिए, चलने की स्पर्धा होनी चाहिए होड़ होनी चाहिए, जबकि आज हम विपरीत दिशा में जाकर अपने को जैन सिद्ध करना चाहें तो दुनिया बावली नहीं, भोली नहीं, अंधी नहीं, आंखें लगाकर देखती है। आजकल आंखें तो क्या, आंखों के ऊपर आखें

(सूक्ष्मदर्शी इत्यादि) लगाई जा रही है। आखे (निगाहे) रखी जा रही है। कौन क्या-क्या कर रहा है, कौन क्या बोल रहा है, कौन-कैसा पलट रहा है कैसा उलट रहा है? कोई भी उसकी निगाहों से बच नहीं सकता।

सदासुखदास जी के जीवन से हमे ज्ञात होता है कि जीवन बहुत सादगी पूर्ण होना चाहिए। यह बुन्देलखण्ड है और मैं मानता हूँ कि यहाँ पर अभी यह हवा नही है या नहीं के बराबर है लेकिन आने मे देर नहीं। कहीं चक्रवात आ जाये तो इसे भी अपने चक्कर म ना ल ल, बस यही मे चाहता हूँ, कामना करता हूँ। इसको शुद्ध रखने की अधिक मे अधिक कोशिश की जाए। **हम भले ही शुद्ध-शुद्ध की चर्चा करते जाएँ कि आत्मा शुद्ध है, हम शुद्धाम्नाय वाले हैं किन्तु भगवान् कहते हैं कि जिसका अचारण शुद्ध है उसकी आम्नाय शुद्ध है, जिसका आचरण शुद्ध नहीं उसकी आम्नाय शुद्ध नहीं। आम्नाय (परम्परा) आचार और विचार की एकता से ही चलती है।** सही शुद्ध आम्नाय तो वही है जिसम महान् चारित्रनिष्ठ आचार्य कुन्दकुन्ददेव हुए, समन्तभद्रस्वामी हुए ओर भी आचार्य हुए और हो रहे है। जिन्होंने श्रावकों के लिए, अल्पबुद्धिशालियो का ग्रन्थ रचना की और जिनशासन की प्रभावना की, अपनी भावना के द्वारा। अन्त मे अपने जीवन का कल्याण किया तथा हजारों-लाखों जीवो का कल्याण किया, उनका मार्ग प्रशस्त किया। अब आप वह मार्ग अक्षुण्ण बनाये रखे, यही हमारा निवेदन है।

बन्धुओ ! नीति-न्याय को नहीं भूलिये। आज की पीढी, जो कि २५ से ४० वर्ष के बीच की है, यह ऐसी पीढी हे कि जो सम्पन्न हे, और उसमें करने की कुछ पाने की सामर्थ्य है साथ ही कुछ जिज्ञासाए व सभावनाए भी है। ऐसी पीढी के सामने यदि आपने अपने अनीतिमय जीवन को रखा तो उनके जीवन को पाला लग जायगा। "आप यदि करुणाकर, उनके भविष्यज्जीवन के बारे मे करुणा करते है तो इस घृणित जीवन को आज से ही छोड दीजिए और सकल्प कीजिए की अब हम अपने जीवन मे अनीति को कोई स्थान नही देगे।'' तब समझा जाएगा कि प्रतिष्ठा-महोत्सव बहुत अच्छी बात है। अनीति से धनोपार्जन नहीं होना चाहिए और अनीति के द्रव्य का (धन का) दान नहीं देना चाहिए।

दान देने का अर्थ, यह नही है कि हम यद्वा-तद्वा दान दे। यदि एक व्यक्ति चोरी करके दान दे तो क्या उसका दान कहलायेगा? नहीं ! नहीं !! वह तो पाप का ही कारण बन जाएगा। जो आरम्भ-परिग्रह किया था उसके द्वारा पाप का ही आस्रव हुआ और पाप का ही उपभोग हुआ करता है। अत इसको छोड दो। बिना देखे छोड दो। जिस प्रकार मल को छोडते है उसी प्रकार इसको भी छोडने के लिए

कहा है, किन्तु आज तो यह नाटक जैसा होता जा रहा है। जबकि सभी बातें सारी-दुनिया जान रही है, इसलिए अब किसी भी प्रकार के साहित्य के माध्यम से प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता।

आज तो हमारी नीति, हमारा न्याय, हमारा आचरण, हमारे विचार, हमारा व्यवहार जो कि समाज के सामने है, उसे देखकर ही मूल्यांकन किया जावेगा। आज की पीढ़ी इस प्रकार से अन्धानुकरण कर चलने वाली नहीं है। अनीतिपूर्वक "गवर्मेन्ट" के "टेक्स" को डुबोकर, दान देना, दान नहीं माना जाता। आचार्य उमास्वामी जी ने कहा है—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोनमानप्रतिरूपकव्यवहाराः

राज्यातिक्रम बहुत बड़ा दोष है और संभव है वह जैनियों के ऊपर कोई आपत्ति ला दे, इसीलिए सत्ता के विपरीत चलना धर्म नहीं, अधर्म माना जायेगा। **"जो सत्ता के विपरीत चलेगा, वह महावीर भगवान् के शासन को भी कलंकित करेगा, दूषित करेगा"**, बात यद्यपि कटु है लेकिन, कटु भी सत्य हुआ करता है। जैसे— मां को गुस्सा आ गया। क्यों आया? क्योंकि उसका लड़का उत्पथ-उन्मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तो उसका सब कुछ कहना, करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए आप समझिये कि **जब तक भीतर आत्मा के परिणाम उज्ज्वल नहीं होंगे, हमारा आचार-विचार उज्ज्वल नहीं रहेगा, तब तक हमारा सम्बन्ध महावीर भगवान् से नहीं होगा। कुन्दकुन्द के साथ नहीं होगा। समन्तभद्र के साथ नहीं होगा।** इतना ही क्या? आप लोग सुनते ही हैं— जब पिताजी अवसान के निकट होते है, तब बेटा को बुलाते है। क्या आज्ञा है बाबूजी ! और कोई आज्ञा नहीं। बस यही, कि जब तक आज्ञा का उल्लघन नहीं करेगा तब तक ही मेरा बेटा है। देख ! तेरे लिए ही सब कुछ किया - दुकान बना दी, मकान बना दिया। खेती-बाड़ी कर दी, सब कुछ तो कर दिया, अब कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन यह ध्यान रखना कि इस परम्परा में दूषण न लगे। नहीं तो उसी दिन से हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। अब फर्म मेरी नहीं, तुम्हारी है अत फर्म की परम्परा देखकर काम करना। आप इन सब बातो को तो करने जल्दी कटिबद्ध हो जाते है। लेकिन यहाँ पर आप सोचते है कि— ऐसा करने से कहीं हमारा जीवन ही न मिट जावे। लेकिन हमारा जीवन वस्तुत धार्मिक जीवन है और इस दृश्य को देखकर भगवान् महावीर क्या कहते होंगे, कुन्दकुन्द भगवान् क्या कहते होंगे और समन्तभद्र महाराज क्या कहते होंगे? जरा सोचो, विचार तो करो?

हमारा साहित्य तो बहुत ही उज्ज्वल हैं। विश्व-भर में भी इस प्रकार का साहित्य नहीं मिल सकता, लेकिन हमारे इस आचरण को देखकर लोग व्यंग्य मे कहते है

कि क्या यह इस साहित्य की देन है। जो व्यक्ति इस प्रकार के साहित्य के साथ होने पर भी अनीति के साथ चलता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील करता है, परिग्रह की होड़ लगाता है तो उसके मुख से जो शब्द निकलेगा वह विनाशकारी होगा, कार्यकारी शब्द तीन काल मे भी सभव नहीं है।

धन्य है वे समन्तभद्र ! धन्य है वे कुन्दकुन्द, जिन्होने हमारे लिए मृत्यु की भीति से दूर हटा दिया। मृत्यु क्या है? दिखा दिया। जन्म क्या है? सब कुछ बता दिया।

जीव अरु पुद्‌गल नाचै यामें कर्म उपाधि है

अर्थात् जीव और पुद्‌गल कर्म ये दोनो मिलकर यहाँ पर नाच रहे है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति नट (नाच दिखाने वाले) है, तो फिर देखने वाला कौन है? सारे के सारे नट ही है। देखने वाला कोई नहीं। अत खुद ही अपनी आत्मा को सजग-जागृत बनाये और हम अपने नाटक को देखे, सोचे, लेकिन इसमे टिके नहीं, भटके नहीं। हम भटकते चले जा रहे है। राग-द्वेष-मोह-माया-मत्सर इत्यादि का स्वरूप समझे और इनको तिलाजलि दे दे। अपने एकमात्र शुद्धस्वरूप का, निरजनस्वरूप अखण्डज्ञान का चिन्तन करे। कितना आनन्द, शक्ति और वैभव पड़ा है हमारे पास। एक महान् सेठ होकर भी ससारी-प्राणी अज्ञान और कषाय के वशीभूत होकर भिखारी के समान दर-दर, एक-एक दाने के लिये मुहताज हो रहा है। भगवान् कुन्दकुन्द को हमारे ऐसे जीवन पर दया, करुणा आती है, रोना आता है कि कैसे समझाये? मा का रोना स्वाभाविक है, क्योकि आखिर उसकी वह सतान उसके जीवन के ऊपर ही तो निर्धारित है। मैं उसको दिशा-बोध नहीं दूँगी तो कौन देगा? -इस प्रकार वह सोचती रहती है, विचार करती रहती है।

बन्धुओ ! अनीति के व्यसन से बचिये ! वित्त की होड़ को छोड दीजिए ओर वीतरागता प्राप्त करने का एक बार प्रयत्न कीजिए। जीवन में एक घड़ी भी वीतरागता के साथ जीना बहुत मायना रखता है और हजारों वर्ष तक राग-असंयम के साथ जीना कोई मायना नहीं रखता। सिंह बनकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ हैं। किन्तु १०० साल तक चूहे बनकर जीने की कोई कीमत नहीं। सब कुछ छोड दीजिए - ख्याति, पूजा, लाभ, वित्त, वैभव। अपने आत्मवैभव की बात करिये अब।

इन पाच दिनो मे २ दिन आपके थे और ३ दिन अब हमारे होगे। अब भगवान् हमारे हो जायेंगे। अभी तक तो वह मोह के पालना मे झूले, लेकिन कल मोह को छोड़ेगे तब कैसा माहोल होगा? क्या वैराग्य, क्या आत्मा का स्वभाव होता है? ज्ञात होने लग जायेगा। जितना भी वैभव है सब कुछ छोडकर निकलेगे वे। आप लोगों के पास क्या हे? षट्‌खण्ड का आधिपत्य भी छोड़कर चले जाते हैं। आपके पास

तो छह खण्ड का भी मकान नहीं है। एक खण्ड का है, वह भी चूता है (रिसता है) बरसात के दिनो मे यदि तूफान आ जाए तो छप्पर भी उड जाए। इस प्रकार आप तो एक खण्ड के भी अधिपति-स्वामी नहीं हैं, एक मकान के भी स्वामी नहीं है। और फिर भी क्या समझ रहे है अपने आपको। यह सब पर्याय-बुद्धि है। इसमे कुछ भी नहीं है।

ऐसे अनमोल क्षण चले जा रहे है, आप लोगो के। इसलिए, यदि साधु नहीं बन सकते, मुनि नहीं बन सकते तो ना सही, परन्तु श्रावकाचार के अनुरूप सदासुखदास जी का तो साथ आप सबको देना ही चाहिए। यानि श्रावक के व्रतो को तो अगीकार करना ही चाहिए जो कि परम्परा से मोक्ष-सुख के साधन हैं।

□□

४

प्रात काल जन्मकल्याणक महोत्सव हो चुका है। उसी के विषय में कुछ कहना चाह रहा हूँ। "भगवान् का जन्म नहीं हुआ करता, जन्म के ऊपर विजय प्राप्त करने से बनते हैं भगवान्। भगवान् का जन्म नहीं होता किन्तु जो भगवान् बनने वाले हैं उनका जन्म होता है। इसी अपेक्षा से यहाँ पर जन्मकल्याणक मनाया गया। यह जन्म महोत्सव हमारे लिये श्रेयस्कर भी होगा। क्या "हम भी अपना जन्म महोत्सव मनायें" इस पर भी कुछ कहना चाहूँगा। अन्य विषयों पर भी कुछ कहूँगा। तो सबसे पहले जन्म को समझें। आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कारिका के द्वारा अठारह दोष गिनाये हैं—

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त- स प्रकीर्त्यते।।

इन दोषों से रहित होना ही भगवान् का सही-सही स्वरूप है। जिन्हें हम पूज्य मानते हैं, चरणों में माथा झुकाते हैं, आदर्श मानते हैं, उनके सामने घुटने स्वत- ही अवनत हो जाते हैं। यहाँ अठारह दोषों में एक जन्म भी आता है और मरण भी, किन्तु वह मरण महान् पूज्य हो जाता है जिसमें फिर जन्म नहीं मिलता।

प्रात काल बात यह कही थी कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन करना स्वभाव है। चाहे वह जीव हो या अजीव, कोई भी हो। इतना अवश्य है कि जीव-जीव के रूप में परिणमन करता है और अजीव-अजीव के रूप में। कभी भी अजीव, जीव के रूप में तथा जीव अजीव के रूप मे परिणमन नहीं करता। तब भी हमारी दृष्टि में जीव का परिणमन, जीव के रूप मे न आकर अजीव के रूप में आता है, जो हमारी ही दृष्टि का दोष है। आचार्यों ने तो आप्त, सच्चे देव की परीक्षा करके, लक्षण बता दिया। इसके माध्यम से क्या होने वाला है? हमारे साध्य की सिद्धि होने वाली है। वे तो आदर्श रहेंगे और उनके माध्यम से हमारा भाव, हमारे भीतर उद्भूत होगा, स्वरूप की पहिचान होगी। क्या कभी आपने दर्पण देखा है? दर्पण कहो, प्रतिमा कहो बात एक ही है। दर्पण देखा है ऐसा कह तो देंगे। परन्तु वस्तुत दर्पण देखने में आता

ही नहीं। ज्यो ही दर्पण हम हाथ मे लेते है त्यो ही उसमे अपना मुख दिखाई देने लगता है। दर्पण नहीं दीखता और दर्पण के बिना अपना मुख भी नहीं दीखता।

भगवान् भी दर्पण के समान है, क्योकि वे अठारह दोषो से रहित है, स्वच्छ-निर्मल है। उनको देखकर, ज्ञान हो जाता है कि हमारे सारे के सारे दोष अभी विद्यमान हैं। इसलिए हमारा स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप की पहिचान दो प्रकार से होती है एव सुख की प्राप्ति भी दो प्रकार से होती है। इसी तरह ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक विधि रूप और दूसरा निषेधरूप। जैसे आपने बेटे से कहा– तुम्हे यहाँ पर नहीं बैठना है तो उसे अपने आप यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे यहाँ न बैठकर वहाँ बैठना है। यदि वहाँ के लिए भी निषेध किया जाता है तो वह अन्यत्र प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार से निषेध से ही विधि का ज्ञान हो जाता है मात्र कहने का ढग अलग-अलग है, बात तो एक ही है। इसी तरह मोक्ष मार्ग मे कहा जाता है कि पकड़िये अपने आपको। तब आप कहते है क्या पकडे महाराज ! कुछ भी दीखने मे नहीं आता। कोई बात नहीं, यदि पकड़ मे नहीं आता तो न पकडिये, किन्तु जो पकड रखा है उसको छोड़िये'' – यह निषेध रूप कथन है। इससे निषेध करते-करते अपने आप ज्ञात हो जाता है कि यह हमारा स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने एक स्थान पर लिखा है कि– आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा के लक्षण से हम स्वरूप को पहचान सकते है, स्वभाव को जान सकते है। तो मतलब यह हुआ कि लक्षण अलग है और स्वरूप-स्वभाव अलग। दोनो मे बहुत अन्तर होता है। वर्तमान मे लक्षण का सवेदन हो सकता है, होता है किन्तु स्वरूप का सवेदन नहीं होगा। उपयोग, आत्मा का लक्षण है। इससे ही आत्मा को पकड़ सकते है। स्वरूप का श्रद्धान भी इस लक्षण के माध्यम से ही होगा। जिसकी प्राप्ति के लिए श्रद्धान किया जाता है तो उसकी प्राप्ति मे साधना की भी आवश्यकता होती है। जैसे कि भगवान् बनने के लिए प्रक्रिया कल से प्रारम्भ होने वाली है। साधना के लिए "समयसार" मे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

जीव रूपवान् नहीं है। जीव गन्धवान् नहीं है। जीव रसवान् नहीं है। जीव स्पर्शवान् नहीं है। जीव सस्थान वाला नहीं है। जीव उपयोग वाला है। अब सोचिये– यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, फिर स्वभाव क्या है आत्मा का? अनिर्दिष्ट सस्थान। सस्थान आत्मा का स्वभाव नहीं है। फिर सस्थान क्यो मिला, क्या कारण है? जब

सस्थानातीत है तो सस्थान क्यों मिला, जो आकार-प्रकार से रहित है उसमें आकार-प्रकार क्यों? जो रूप, रस, गन्ध, वर्णवाला नहीं है फिर भी उसे रस, रूप, गन्ध के माध्यम से पहचान सकेंगे। जैसे पण्डित जी ने अभी कहा— क्या कहा था अपने आपको? हुकुमचन्द ही तो कहा था। कहने मे भी यही आयेगा अन्यथा अपना परिचय देना कैसे सभव है? तब मै सोच रहा था कि पण्डित जी अपनी आत्मा के बारे मे क्या परिचय देते हैं? आखिर हुकुमचन्द यही तो कहना पडा। शब्द के माध्यम से ही अपनी आत्मा का बोध कराया, जो कि शब्दातीत है। अर्थ यह हुआ कि पण्डित जी ने विधि परक अर्थ कभी भी नहीं बताया, बता भी नहीं सकेगे, क्योकि कुन्दकुन्दस्वामी खुद कह रहे हैं "अरस" अर्थात् रस नहीं है। तो क्या है? भगवान् ही जाने ! अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अनिर्दिष्टसस्थान— कोई आकार-प्रकार नहीं है, अलिग्रहण रूप है। किसी बिम्ब के द्वारा, किसी साधन के द्वारा उसे पकड़ा नहीं जा सकता, फिर भी ऑखो के द्वारा देखने मे आ रहा है, छूने में आ रहा है, सवेदन भी हो रहा है। सब कुछ हो रहा है। हा ठीक ही तो है, सवेदन, आत्मा के साथ बना रहने वाला है। चाहे गलत ही सही। सवेदन, आत्मा का लक्षण है। महसूस करना, अनुभव करना आत्मा का लक्षण है। केवल ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति उपयोग के ऊपर श्रद्धान करने से ही हुआ करती है। अन्यथा तीन काल मे भी कोई रास्ता नहीं है। स्वभाव का श्रद्धान करो? जव ऐसा कहते है तो आप कहते हैं कि कुछ दीख ही नहीं रहा है महाराज! लेकिन श्रद्धान तो उसी का किया जाता है जो दीखता नहीं है, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

लक्षण अन्यत्र नहीं मिलना चाहिए। उसका नाम विलक्षण है। विलक्षण होना चाहिए, भिन्न पदार्थो से। घुले-मिले हुए बहुत सारे पदार्थो को पृथक् करने की विधि का नाम ही लक्षण है। लक्ष्य तक पहुचने के लिये लक्षण ही दीखता है, लक्ष्य नहीं। यदि लक्षण भी नहीं दीखता तो हम नियम से भटक रहे हैं ऐसा समझ लीजिए। आत्मा दिखेगा नहीं, आत्मा का स्वरूप भी नहीं दिखेगा। घबडाना नहीं। आचार्य कहते हैं— जो दिखेगा वह हमेशा बना रहेगा उसका लक्षण अलग है। चाहे सो रहे हो या खा रहे हो, पी रहे हो या सोच रहे हो। चाहे पागल भी क्यो न वन जाये। पागल भी अपना सवेदन करता रहता है। महाराज ! पागल का कैसा सवेदन होता है? होता तो है लेकिन वह सवेदन पागल होकर के ही देखा जा सकता है, किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता, सवेदन कहने की वस्तु नहीं है।

इस प्रकार उपयोग रूप लक्षण को पकड़कर घने अन्धकार मे भी कूद सकते

है। इसमे घवड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन जिस समय लक्षण हाथ से छूट जाएगा, उस समय अन्धकार मे नियम से भटकन है। हमे इसलिए नहीं घबडाना है कि कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा, फिर कैसे प्राप्त करे उसे? किसके ऊपर विश्वास करे? "विश्वास उसके ऊपर करना है जो हमे प्राप्त करना है। और वर्तमान में क्या करना है? वर्तमान जो अवस्था है उसी को देखकर विश्वास को दृढ वनाते चले जाना है। आत्मा को वर्तमान मे तो मात्र प्रत्यक्ष ज्ञानी ही देखते है और हम **"आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्यमानानां"** से जानते है। दूसरी बात, जितनी भी अर्थपर्याय होती है वे सारी की सारी आगम प्रमाण के द्वारा ही जानी जाती है। ये स्वभावभूत पर्याये जो है।

लक्षण पर विश्वास करिये, जो त्रैकालिक बना रहता है। स्वभाव त्रैकालिक नहीं होता। आप कहेगे महाराज ! आचार्यों ने तो कहीं-कहीं पर स्वभाव को भी त्रैकालिक होता है ऐसा कहा है। हा, कहा तो है लेकिन, जिस स्वभाव की बात यहाँ पर कह रहा हूँ, उस स्वभाव को त्रैकालिक नहीं कहा। उन्होने कहा है– "अभूदपुव्वो हवदि।"

ज्ञान को, सामान्य वनाने पर, उपयोग को सामान्य बनाने पर, यह स्वभाव त्रैकालिक रहेगा। चाहे निगोद अवस्था हो या सिद्धावस्था, या और भी शेष अवस्थाए। परन्तु केवलज्ञान रूप जो स्वभाव है, वह त्रैकालिक नहीं होता। तात्कालिक हुआ करता है। यह बात अलग है कि उत्पन्न होने के उपरान्त, वह अनन्तकाल तक अक्षय रहेगा, तब भी पर्याय की अपेक्षा तो क्षणिक रहेगा। अर्थपर्याय तो और भी क्षणिक होती है। क्षणिक होना ही तो बता रहा है कि क्षय से उत्पन्न होता है - हो रहा है। हा ! गुण जो है वे त्रैकालिक है। द्रव्य भी त्रैकालिक हुआ करता है। गुण की अपेक्षा से लक्षण होता है, पर्याय की अपेक्षा नहीं। केवलज्ञान को आत्मा का लक्षण माना जाए तो "अव्याप्तिदोष" आ जाएगा। इसलिए वह लक्षण नहीं स्वभाव है। उस स्वभाव की प्राप्ति कैसे होती है? जव साधना करेगे तव। साधना कैसी करें महाराज ! आचार्य कहते है– इसको (आत्मा को) अरस मान ले, अगन्ध मान ले, और अरूपी मान ले। जव अगन्ध है तो सूघने के द्वारा हमे सुख नहीं आयेगा, जव अरस है तो चखने से पकड़ मे नहीं आयेगा, अत चखना छोड़ दे। देखने में तो रूपग्रहण होगा और आत्मा का स्वभाव अरूप है। अत देखने का कोई मतलव नहीं, फिर उतार दीजिए चश्मा, आख भी वन्द कर लीजिए, अव देखने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए, जो केवल भगवान् बनने वाले हैं वह नासादृष्टि करेगे। क्यो करेगे? कल ही समझ में आयेगा, कि मेरा अस्तित्व होते हुए भी, वह मुझे तव तक नहीं

अच्छी है बहुत प्रभावित भी हुआ हूँ आपसे। लेकिन एक बात है, यदि आप नाराज न हो तो। नाराज होने की क्या बात? आपको जहाँ सन्देह हो, बताओ? देखिए, बात ऐसी है नाराज नहीं होइये। हा-हा, कह रहा हूँ, नाराज होना ही क्यो? नाराज है तो महाराज नहीं, महाराज है तो नाराज नहीं। तो महाराज ऐसा है, आप एक लगोटी लगा लो तो अच्छा रहेगा। हमने सोचा– इन्होने कुछ सोचा तो है। सामाजिक प्राणी है, सभव है इनके लिए विकार नजर मे आ रहा हो। मैने कहा– अच्छा ठीक है। बात ऐसी है कि एक लगोट तो आप खरीदकर ला देगे लेकिन फिर दूसरी भी तो चाहिए। एक दिन एक पहनूँगा, एक दिन दूसरी। दूसरी भी आ जाए तो उसके धोने आदि का प्रबन्ध करना होगा तथा फटने पर सीने या नयी लाने की पुन व्यवस्था करनी होगी। हा, जीवन बहुत लम्बा चौडा है, इससे आप जैसे लोग भी बहुत मिलेगे। अत सर्वप्रथम आपसे ही मेरा सुझाव है कि आपको जब कभी भी यह रूप देखने मे आ जाए तो उस समय आप अपनी ही आखो पर एक हरी पट्टी लगा लीजिए, उसको लगाना आखो को लाभदायक भी होगा और रोशनी से शान्ति-छुटकारा भी मिलेगा।

इतना कहते ही उनकी समझ मे आ गया कि कमी कहाँ है। वस्तुत विकार हमारी दृष्टि मे है। विकार दुनिया मे नहीं है, वस्तु मे नहीं है। केवल दृष्टि मे विकार को हटाना है, दृष्टि को मोडना है। दुनिया पर हर चीज थोपना नहीं चाहिए। ध्यान रखिये। सामने वाले के ऊपर जितना थोपा जाएगा, उतना ही वह अधिक विकसित - अधिक दिमाग वाला होता जाएगा। वह विचार करेगा कि यह क्यो थोपा जा रहा है? जैसा किसी के पीछे जितनी जासूसी लगाई जाती है वह उतना ही उससे ऊपर निकलने का प्रयास करता है क्योकि उसके पास माइन्ड है, ज्ञान है। वह काम करता रहता है। रक्षा का प्रावधान करता रहता है। इसलिए सबसे बढिया यही है कि बाहर की ओर न देखे।

मार्ग सरल है, स्वाश्रित है– पराश्रित नहीं है। आनन्दवाला है, कष्टदायक नहीं है। आख मीच लो, १० १५ मिनिट के उपरान्त, माथा का दर्द भी ठीक हो जाएगा। क्योकि इन्द्रियो के माध्यम से जो मिल रहा है, हम उसकी खोज मे नहीं हैं। हमारी खोज उस रूप के लिए है जो सबसे अच्छा हो, उस गन्ध के लिए है जो तृप्ति दे, उस शब्द के लिए है जो बहुत ही प्रिय लगे-कर्णप्रिय हो। यह सब इन्द्रियों के माध्यम से "ण भूदो ण भविस्सदि"। पचेन्द्रिय के विषय मिलते रहते है और उनमे इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है। यह कल्पना आत्मा मे उपयोग में होती है वह भी मतिज्ञान के द्वारा नहीं श्रुतज्ञान के द्वारा होती है। मतिज्ञान के द्वारा इष्ट-अनिष्ट

कल्पना, तीन काल मे सभव नहीं है। मतिज्ञान एक प्रकार से निर्विकल्प-निराकार होता है। उसमं वस्तुए दर्पणवत् झलकती है। झलक जाने के उपरान्त यह किसकी है? यह विचारधारा बनना श्रुतज्ञान की देन है, मतिज्ञान की नहीं। श्रुतज्ञान के माध्यम से ही उसे चाहा जाता है, इससे वस्तु पर श्रुतज्ञान का आयाम होता जाता है। या यू कह, यह मेरे लिए बुरा है, यह मेरे लिए अच्छा है, इस प्रकार की तरगे उठती रहती है।

"मतिज्ञानं यद्गृह्यते तदालम्ब्य वस्त्वनन्तरं ज्ञानं"

अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु का अवलम्बन करके प्रकारान्तर से वस्तु का जानना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान बहुत जल्दी काम करता है, क्योकि वह सुख का इच्छुक है। हमे मतिज्ञान का कन्ट्रोल करके श्रुतज्ञान को कन्ट्रोल करने का प्रयास करना चाहिए। यही मोक्षमार्ग मे "पुरुषार्थ" माना जाता है।

सुख क्या है? दु ख का अभाव होना ही सुख है। जिस प्रकार यह कहा गया उसी प्रकार से आत्मा के विषय मे भी जानना चाहिए। कारण कि नास्ति और अस्ति दोनो कथन एक साथ सभव नहीं है। यह वस्तुस्थिति है। जिस समय वस्तु उल्टी होती है उस समय सुल्टी नहीं हो सकती। जिस समय सुल्टी है उस समय उल्टी नहीं। जिस समय आरोग्य रहता है उस समय रोग नहीं रहता किन्तु जिस समय रोग आ जाता है, उस समय आरोग्य का अनुभव भले ही ना हो, लेकिन आरोग्य का श्रद्धान तो रह सकता है अर्थात् रोग का अनुभव करना मेरा स्वभाव नहीं है अत इसे मिटा देना होगा। जब तक रोग रहेगा, तब तक स्वभाव का, निरोगता का अनुभव सम्भव नहीं। महाराज ! अनुभव रहित स्वभाव को कैसे माने? आचार्य कहते है– मानो ! आगम के द्वारा कहे तत्त्व पर श्रद्धान रखो। छद्मस्थावस्था मे स्वभाव का अनुभव तीन काल मे भी सभव नहीं, केवलज्ञान के द्वारा वह साक्षात् हो सकता है। आचार्य कहते हैं कि अर्थपर्याय विशिष्ट द्रव्य को धारणा का विषय बनाना अलग है और उसका सवेदन-साक्षात्कार करना अलग बात है। वह केवलज्ञान के द्वारा ही सभव है।

"केवलज्ञानापेक्षया तु तत् मानसिकप्रत्यक्षं परोक्षमेव किन्तु इन्द्रियज्ञानापेक्षया तत्कथंचित्प्रत्यक्षमपि"

आचार्य कहते हैं कि– केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह मानसिक-प्रत्यक्ष या छद्मस्थ ज्ञान परोक्ष ही है। मानसिक प्रत्यक्ष को "प्रत्यक्ष" की सज्ञा इन्द्रिय ज्ञान के अभाव को लेकर दी गई है। वह भी श्रद्धान के अनुरूप चलती है अत पराश्रित है। स्वभाव को हमे प्राप्त करना है अत उसी का विश्वास-श्रद्धान आवश्यक है।

कैसा है वह? "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो" ऐसा पचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि सिद्धत्वरूप जो स्वभाव है वह अभूतपूर्व है। अभूतपूर्व का मतलब क्या है? अभूतपूर्व का अर्थ बढिया– अपश्चिम है, अपूर्व वस्तु है। अर्थात् ऐसी अवस्था कभी हुई नहीं थी। इसी तरह का अर्थ करणो मे भी आपेक्षित होता है। जब गुणस्थान के क्रम बढते जाते है उस समय विशुद्धि बढती जाती है– भावो मे वृद्धि होती है। उन करणो मे एक अपूर्व करण और एक अनिवृत्तिकरण भी है। जिनमे परिणामो की अपूर्वता होती है तुलना नहीं होती एक दूसरे से। इस प्रकार की व्यवस्था चलती रहती है उस समय।

अर्थ यह हुआ कि स्वभावभूत वस्तुतत्त्व आज तक उपलब्ध नहीं हुआ हमें। उसका रूप, उसका स्वरूप प्रतीकारात्मक है। यह नहीं है, यह नहीं है - ऐसा प्रतिकार करते आइये- पलटते जाइये। और बिल्कुल मौन हो जाइये। जिसको पलट दिया उसके बारे मे कुछ भी नही सोचिये। आपके पास वस्तुओ की सख्या बहुत कम है। लेकिन दिमाग मे– सोचने मे, उससे कई गुनी हो सकती है। दिमाग की यह कसरत तब अपने आप रुक जाएगी जब यह विश्वास हो जाएगा कि इसमे मेरा "बल" नहीं है।

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

तब तक अप्रतिबुद्ध होता है जब तक कि कर्म मे, नोकर्म में, मेरा-तेरा करता रहता है तब तक वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी माना जाता है। "यह मै हूँ, यह मै हूँ– ऐसा चौबीसो घण्टे इन्द्रियो के व्यापार के माध्यम से सचित्त-अचित्त-मिश्र पदार्थो से जो कि भिन्न है, सम्बन्ध जोड़कर चलना और उसके साथ जो पोषक द्रव्य है उनके सयोग से हर्ष और वियोग से विषाद का अनुभव करना, अज्ञानी का काम है। इसी के माध्यम से ससार की यात्रा बहुत लम्बी-चौड़ी होती जाती है। जैसे- अमेरिका में आपकी एक शाखा चलती हो। अब यदि अमेरिका पर बवारडिग होने लगे तो, आपके हृदय मे भी वह शुरू हो जाएगी। तत्सम्बन्धी सुख-दुख होने लगता है। आप से पूछते है कि भैया ! आपका देश तो भारत है अमेरिका नहीं। वह तो विदेश है। बात तो ठीक है, लेकिन हमारा व्यापार सम्बन्ध तो अमेरिका से भी है। इसी प्रकार हमारा व्यापार भी वहाँ चलता है जहाँ इन्द्रिया है। उन्हीं से हित-अहित, सुख-दु ख, हर्ष-विषाद का अनुभव करते है।

पण्डित जी ने अभी सात प्रकार की "टेबलेट" के विषय मे बताया। लेकिन मैं तो यह सोच रहा था कि ससार मे सात प्रकार के भय होते हैं और सभी प्राणी

उन भयो से घिरे हुए है। इसलिए उन्होंने सात प्रकार की गोलिया निकाली होगी। परन्तु सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयो से रहित होता है। इसलिए नि शक हुआ करता है। जैसा कि "समयसार मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है–

सम्मादिट्ठिजीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।

सातो भयो से मुक्त हो गये तो फिर गोली की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, और न कोई शस्त्रो की। क्योकि उसके द्वारा न आत्मा मरता है, न मरा है और न मरेगा। महाराज ! फिर जन्म किसका हो रहा है आज? इसी को ता समझना है। पाच दिन रखे है जिनमें एक दिन जन्म के लिए भी है।

बहुत दिनो की प्रतीक्षा के उपरान्त एक के घर मे सन्तान की प्राप्ति हुई। जिस समय जन्म हुआ, उसी समय उधर ज्योतिर्विद् को बुलाकर कह दिया– भैय्या ! इसकी कुण्डली बनाकर ले आना और इधर साज-सज्जा के लिए कहा और मिठाई भी बटने लगी। सब कुछ हो गया। लेकिन दूसरी घडी में ही ज्योतिषी कुण्डली बनाकर ले आया। कहता है– सतान की प्राप्ति बहुत प्रतीक्षा के बाद हुई, लेकिन, लेकिन क्यों कह रहे हो? महान् पुण्य के उदय से हुई, फिर लेकिन क्या? हा-हा पुण्य के उदय से हुई थी और लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुई, बिल्कुल ठीक है। लेकिन ! लेकिन क्यो लगा रहे है? बात ऐसी है कि पाप और पुण्य दोना का जोड़ा है। इसलिए "हुई थी" "पासटेन्स" है। अब वर्तमान मे वह नहीं है, वह मर जाएगी। इतने मे ही वहाँ से खबर आ गई कि मृत्यु हो गई। सुनते ही विचार मे पड गया। बहुत दिनो के उपरान्त एक फल मिला था, वह भी किसी से नहीं देखा गया। उसके ऊपर भी पाला पड गया। सुना है कि एक महाराज आए है जा बहुत पहुँचे हुए है। कहाँ पहुँचे है? पता नहीं, लेकिन उनकी दृष्टि मे तो बहुत कुछ है, होगे। वह भागता-भागता गया, उस पुत्र को लेकर। कहा– जिस प्रकार इसको दिया, उसी प्रकार "दिया" (दीपक) के रूप मे रखो तो ठीक है। नहीं तो क्या होगा? नहीं-नहीं आप ऐसा नहीं कहिए। आप करुणावान् है, दयावान् हैं, मेरे ऊपर कृपादृष्टि रखिये और इसे किसी भी प्रकार बचा दीजिए, क्योकि आपके माध्यम से बच सकता है– ऐसा सुना है। महाराज बोले मेरी बात मानोगे? हा-हा, नियम से मानूगा। जरूर मानूगा। उसने सोचा अपने को क्या? यदि काम करना है तो बात माननी ही पड़ेगी। महाराज बोले– अच्छा ! तो तू कुछ सरसो के दाने ले आ, तेरा बेटा उठ जाएगा। इतना सुनना था कि वह तत्परता से भागने लगा। तभी महाराज ने कहा– इधर आओ, इधर आओ, तुम्हे सरसो के दाने तो लाना है लेकिन साथ में यह भी पूछ लेना कि

उसके घर में कभी किसी की मौत तो नहीं हुई? जिसके यहाँ मौत हुई हो, उसके यहाँ से मत लाना, क्योंकि वह सरसों दवाई का काम नहीं करते। . . ठीक है, ठीक है– कहकर वह चला गया। एक जगह जाकर कहता है– भैया! मुझे कुछ सरसों के दाने दे दो, जिससे हमारा पुत्र पुनः उठ (जी) जाये। अच्छी बात है, ले लो, ये सरसों के दाने, उसने दे दिए और देते ही वह भागने लगा कि याद आया और पूछा– अरे ! यह तो बताओ आपके यहाँ कोई मरा तो नहीं, अभी तो नहीं पर एक साल पहले हमारे काकाजी मरे थे। ... .. अच्छा, तब तो ये सरसों नहीं चलेंगे। दूसरे के यहाँ गया वहाँ पर भी सरसों माँगे और पूछा– सरसों मिल गये और उन्होंने कहा– इन दिनों तो कोई नहीं मरा पर कुछ दिनों पहले हमारे दद्दा (दादा) जी मरे थे। इस प्रकार सुनते ही उसने सरसों लौटा दी। ऐसा करते-करते वह प्रत्येक घर गया। लेकिन एक भी घर ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी न किसी का मरण न हुआ हो। जो जन्मे थे, वही तो मरे होंगे। इस प्रकार मरण की परम्परा चल रही है। एक और घर में गया और देखा कि– एक जवान मरा पड़ा है, अभी ही मरा होगा, क्योंकि उसका शव अभी तक उठाया नहीं गया। उसके घर के लोग, अभी भी हाथ-पैर पटक रहे हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। दृश्य देखकर मौन हो गया। भागते-भागते थक चुका था, अतः वहीं खड़े-खड़े कुछ सोचने लगा– किसी का घर ऐसा नहीं मिला जहाँ मरण न हुआ हो। सबके यहाँ कोई न कोई मरण को प्राप्त हुआ है। अर्थात् जिसने भी जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा। इससे बचाना किसी के वश की बात नहीं है। उसे औषध मिल गयी, मंत्र मिल गया, सोचा– महाराज वास्तव में पहुँचे हुए हैं। .. . भागता-भागता उनकी शरण में गया और कहने लगा– महाराज! गलती हो गई? भैय्या ! लाओ सरसों के दाने,मैं अभी उठाये देता हूँ तुम्हारे पुत्र को। . . . नहीं, महाराज, ! अब वह नहीं उठ सकता, मुझे बोध हो गया।

यह जीवन की लीला है बन्धुओं ! मालुम है आपको? व्याकरण में एक "ज्या" धातु आती है। उसका अर्थ "वयोहानौ" होता है। प्रातःकाल कहा था कि मरण की क्या परिभाषा है, मरण क्या है? "आयुक्षयेण मरणं" और जीवन की परिभाषा क्या, जीवन क्या? उम्र की समाप्ति होना या उम्र की हानि होती चली जाना जीवन है। मतलब यह हुआ कि मरण और जीवन में कोई अन्तर नहीं है मात्र इसके कि मरण में पूर्णतः अभाव हो जाता है और जीवन में क्रमशः प्रत्येक समय हानि होती चली जाती है। हानि किसकी और क्यों? वय की हानि, वय का अर्थ उम्र या आयुकर्म। अर्थात् आयुकर्म की हानि का नाम जीवन है और उसके पूर्णतः अभाव का - क्षय का नाम मरण।

हमारे जीवन मे मृत्यु के अलावा और किसी का कुछ भी सवेदन नहीं हो रहा है। भगवती आराधना में एक गाथा आयी है, वह मूलाचार, समयसार आदि ग्रन्थों मे भी आयी है, जिसमे आवीचिमरण का वर्णन किया है। आवीचिमरण का अर्थ यह है कि पल-पल प्रतिपल पलटन चल रहा है। कोई भी व्यक्ति ज्यो का त्यों बना नहीं रह मकता। कोई अमर नहीं। महाराज देवो को तो अमर कहते है? वहाँ अमर का मतलव है बहुत दिनो के बाद मरना। इसलिए अमर हैं। हम लोगो के सामने उनका मरण नहीं होता, इसलिए भी अमर है। किन्तु उन लोगो की दृष्टि मे हम मरते रहते है अत मर्त्य माने जाते हैं। रोज का मरना मरते है हम लोग। रोज मर रहे है? हा प्रतिपल मरण प्रारम्भ है, इसी का नाम आवीचिमरण है। मरण की ओर देखा तो मरण, और जीवन की ओर देखा तो मरण।

अग्रेजी में मे एक बहुत अच्छी बात कही जाती है। वह यह है कि— एक दिन का पुराना हो या सौ सालो का, उसे पुराना ही कहते है। जैसे— "हाउ ओल्ड आर यू"। हम ओल्ड का अर्थ पुराना तो लेते हैं परन्तु बहुत साल पुराना लेते है। लेकिन नहीं पुरा का अर्थ मतलब एक सेकेण्ड बीतने पर भी पुरा है। अब देखिये पुरा क्या है और अपर क्या है? एक-एक समय को लेकर चलिये, चलते-चलते एक ऐसे विन्दु पर आकर के टिक जायेंगे आप, यहाँ पर जीवन और मरण, पुरा और अपर एक समय में घटित हो रहे हैं।

मैं पूछता हूँ— सोमवार और रविवार के बीच में कितना अन्तर है, आप कहेगे— महाराज! एक दिन का अन्तर है। लेकिन मै कहता हूँ कि सोचकर बताइये? इसमे सोचने की क्या वात महाराज! स्पष्ट है कि एक दिन का अन्तर है। अरे! सोचिये तो सही, मैं कह रहा हूँ इसलिये सोचिये तो। फिर भी कहते हैं कि आप एक दिन का अन्तर है। तो कितना अन्तर है महाराज! आप ही बताइये? लीजिये, सोमवार कव प्रारम्भ होता है और रविवार कब? रविवार कव समाप्त होता है और सोमवार कब, इस तथ्य को देखिये, तो पता चल जाएगा। आप घडी को लेकर के रविवार के दिन बैठ जाइये, क्रमश एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा वीत रहा है। अब रात आ गयी। रात मे भी एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा बीत रहा है। घण्टो पर घण्टे निकलते चले गये तब कहीं रात्रि के ११ बजे। अब सवा ग्यारह, साढे ग्यारह और अभी बारह बजने को कुछ मिनट-कुछ सेकेण्ड ही शेष है तब भी रविवार है। आप देख रहे हैं, सुई घूम रही है। अब मात्र एक मिनिट रह गया, फिर भी रविवार है। रविवार अभी नहीं छूट रहा है। अव सेकेण्ड के कांटों की ओर आपकी दृष्टि केन्द्रित है। एक सेकेण्ड शेष है तव तक रविवार ही देखते रहे और देखते-देखते सोमवार

आ गया। पता भी नहीं चला। देखा आपने कि कितने सेकेण्ड का अन्तर है रविवार और सोमवार मे? यदि आप उस सेकेण्ड के भी आधुनिक आविष्कारों के माध्यम से १० लाख टुकड़े कर दे तो और स्पष्ट हो जाएगा। लेकिन सिद्धान्त कहता है वर्तमान सेकिण्ड मे असख्यात समय हुआ करते हैं। इन असख्यात समयो मे यदि एक समय भी वाकी रहेगा तो उस समय भी रविवार ही रहेगा। इस अन्तर को अन्दर की घडी से ही देखा जा सकता है अर्थात् एक समय ही रविवार और सोमवार को विभाजित करता है।

इसी तरह जीवन और मरण का अन्तर है। आपकी दृष्टि मे थोड़ा भी अन्तर आया कि देव-गुरु-शास्त्रो के बारे मे भी अन्तर आ गया। सम्यग्दर्शन मे भी अन्तर आ गया। इसको पकडने के लिए हमारे पास कोई घड़ी नहीं है पर आगम ही एक मात्र प्रमाण है।

हे भगवान् ! कैसा हूँ? मेरे गुणधर्म कैसे हैं? भगवान् कहते हैं कि मेरे पास कोई *शब्द नहीं है, जिनके द्वारा स्वरूप वोध करा सकूँ। कुछ तो बताइये, आपके आदेश के विना कैसे दिशा मिलेगी? तो वे कहते हैं कि— "यह दशा तेरी नहीं है"* इतना तो मैं कह सकता हूँ परन्तु *"तेरी दशा कैसी है"* इसे ना मै दिखा सकता हूँ और ना ही आपकी आखो मे उसे देखने की योग्यता है। नई आखे आ नहीं सकती। सवको अपने-अपने चश्मे का रग वदलना होगा, भीतर का अभिप्राय-दृष्टिकोण वदलना होगा। इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि विभाजन करना सभव नहीं। जैसे समय से भेद नहीं रविवार और सोमवार के वीच मे इतनी मेहनत के वाद भी अन्तर विभाजन करना सभव नहीं। पूरे के पूरे आविष्कार समाप्त हो गये, फिर भी कव रविवार समाप्त हुआ और कब सोमवार आ गया, यह वता नहीं सके। सभव है वह सन्धि आपकी घडी मे स्पष्ट ना हो, लेकिन आचार्य कहते हैं कि— केवलज्ञान के द्वारा हम इसे साफ-साफ देख सकते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा इसे सहज ही प्रमाण मान सकते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान करिये, ऐसा मजवूत श्रद्धान करिये, जिसमे थोडी भी कमी न रहे। ऐसा श्रद्धान ही कार्यकारी होगा। सिद्धान्त के अनुरूप श्रद्धान वनाओ। तत्त्व को उलट-पलट कर श्रद्धान नहीं करना है। हमें अपने भावों को सिद्धान्त/तत्त्व के अनुसार पलटकर लाना है। जैसे रेडियो में सुई के अनुसार स्टेशन नहीं लगती वल्कि स्टेशन के नम्वर के अनुसार सुई को घुमाने पर ही विविधभारती आदि स्टेशन लगती है। एक वाल मात्र का भी अन्तर हो गया— सुई इधर की उधर हो गयी तो सीलोन लग जाएगी। अब सगीत का मजा नहीं आयेगा। यही स्थिति भीतरी

ज्ञान-तत्त्वज्ञान की भी है। कभी-कभी हवा (परिणामो के तीव्र वेग) के द्वारा वहाँ की सुई इधर से उधर की ओर खिसक जाती हे तो डबल स्टेशन चालू हो जाते है। किसको सुनोगे, किसको कैसे समझोगे? तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। वस्तु का परिणमन बहुत सूक्ष्म है, उसे पकड नहीं सकते।

जन्म-जरा-मृत्यु, ये सभी आत्मा की बाहरी दशायें हैं। अनन्तकाल से यह ससारी प्राणी आयुकर्म के पीछे लगा हुआ है। अन्य कर्म तो उलट-पलटकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आयुकर्म का उदय एक सेकेण्ड के सहस्राश के लिए भी अभाव को प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार अभाव को प्राप्त हो जाए तो मुक्त हो जाये, दुबारा होने का फिर सवाल ही नहीं। आयुकर्म प्राण है जो चौदहवे गुणस्थान तक माना जाता है। वह जव तक रहता है तब तक जीव ससारी माना जाता है, मुक्त नहीं माना जा सकता।

जन्म क्या है, मृत्यु क्या है? इसको समझने का प्रयास करिये। ये दोनो ही ऊपरी घटनाए है। आने-जाने की बात नयी नहीं है, वहुत पुरानी है। ससार मे कोई भी नया प्रकरण नहीं है, अनेको बार उलटन-पलटन हो गया। क्षेत्र, स्पर्शन के भग लगाने पर तीन लोक मे सर्वत्र उलटन-पलटन चल रहा हे। अनन्तकाल से कस्सम-कस चल रहा है। जिस प्रकार से चूने मे पानी डालने से रासायनिक प्रक्रिया होती है। उसी प्रकार जीव और पुद्‌गल, इन दोनो का नृत्य हो रहा है। इसे आख बन्द कर देखिए, बहुत अच्छा लगेगा। परन्तु आँख खोलकर देखने से मोह पैदा होगा, राग पैदा होगा। जो ध्यक्ति इस शरीर को, पर्याय को लेकर अपनी उत्पत्ति मान लेता है तो उसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव सम्बोधित करते हैं कि– तू पर्याय बुद्धिवाला वनता जा रहा है, परिवर्तन-परिणमन तो आत्मा मे निरन्तर हो रहा है। क्षेत्र मे भी हो रहा है। इस क्षेत्र मे लाया गया। वहाँ अपना डेरा जमाया। नोकर्म के माध्यम से इसे जन्म मिला। इसमे मात्र पर्याय का परिवर्तन है, वह भी कर्मकृत पर्याय का परिवर्तन। उपयोग का नहीं। आत्मा का जो लक्षण पहले था अव भी है आगे भी रहेगा।

जो व्यक्ति इस प्रकार के जन्म से, जन्म-जयन्ती से हर्ष का– उल्लास का अनुभव करता है उसे जन्म से बहुत प्रेम है। जबकि भगवान् ने कहा है कि जन्म से प्रेम नहीं करिये। यह दोष है, महादोष है, इससे मुक्त हुए विना भगवत् पद की उपलब्धि नहीं होगी। यदि आप जन्म को अच्छा मानते है, चाहते हें तो जन्म जयन्ती मनाईये। यदि ऐसा कहते हैं कि भगवान् की क्यो मनाई जाती है? तो ध्यान रखिये– उनकी जन्म जयन्ती इसलिए मनाई जाती है कि वह तीर्थकर होने वाले है। असख्यात जीवो के कल्याण का दायित्त्व इनके पास है, इसकी साक्षी के लिये- इसे स्पष्ट करने

के लिए इन्द्र जो कि सम्यग्दृष्टि होता है, आता है और जन्मोत्सव मनाता है। आज पचमकाल में जो जन्म लेता है वह मिथ्यादर्शन के साथ जन्म लेता है, इससे जन्मोत्सव मनाना यानि मिथ्यादर्शन का समर्थन करना है, पर्यायवुद्धि का समर्थन है। इसलिए ऐसा न करे। सम्यग्दृष्टि तो भरत और ऐरावत क्षेत्र मे पचमकाल मे आते ही नहीं। वे वहाँ जाते हैं जहाँ से मोक्षमार्ग का- निर्वाण का मार्ग खुला है। पुण्यात्माओं का जन्म यहाँ नहीं होता, यहाँ जन्म लेने वाले मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के साथ ही आते है और उनकी जन्म-जयन्ती मनाना मिथ्यादर्शन -मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र की ही जयन्ती है इसमे सम्यग्दर्शन की कोई वात नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए कम से कम आठ वर्ष लगते हैं। इससे पूर्व सम्यग्दर्शन होने की कोई गुजाइश भी नहीं होती। और उस समय मिथ्याचारित्र ही होता है। जवकि जैनागम मे सम्यक्चारित्र को ही पूज्य कहा गया है इसके अभाव मे तीन काल मे भी पूजता नहीं आ सकती। ध्यान रखिये वन्धुओ ! मिथ्यादृष्टि की जयन्ती मनाना, मिथ्यादर्शन एव मिथ्याचारित्र का पूजत्त्व स्वीकार करना है, जो कि ससार परिभ्रमण का ही कारण है। यदि हमे ससार से मुक्त होना है तो कुछ प्रयास करना होगा, और वह प्रयास आजकल की जन्म-जयन्तियों के मनाने मे सफल नहीं होगा। वल्कि उनकी दीक्षा तिथि अथवा सयमग्रहणदिवस जैसे महान् कार्य के स्मरण से ही हमारी गति, उस ओर होगी जिस ओर हमारा लक्ष्य है।

सभी प्राणी लक्ष्य को पाना चाहते हैं, अत उन्हे यह ध्यान रखना होगा, यह प्रयास करना होगा कि वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र का पालन एव समर्थन न कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र की ओर वढ़े, जो कि आत्मा का धर्म है एव शाश्वत सुख (मोक्षसुख) को देने वाला है।

□□

५

उस धर्म को बारम्बार नमस्कार हो जिस धर्म की शरण को पाकर के ससारी प्राणी पूज्य बन जाता है। आराध्य बन जाता है। अक्षय/अनन्तसुख का भडार बन जाता है।

अभी आपके सामने दीक्षा की क्रिया-विधि सम्पन्न हुई, यह मात्र आप लोगो को उस अतीत के दृश्य की ओर आकृष्ट करने की एक योजना है, कि किस प्रकार वैभव और सम्पन्नता को प्राप्त करते हुए भी, भवन से वन की ओर विहार हुआ। ससार महावन मे भटकने वाले भव्य जीवो ! थोडा सोचो, विचार करो, कि आत्मा का स्वरूप क्या है? अभी तक वैभव से अलकृत वह शृगार-हार, जो कुछ भी था, उस सबको उतार दिया। कारण, आज तक जो लाद रखा था उसको जब उतारेंगे नहीं, तब तक तरने का कोई सवाल नहीं होता। आप लदने मे ही सुख-शान्ति का अनुभव कर रहे हैं और मुमुक्ष उसको उतारने मे, सुख का, शान्ति का अनुभव कर रहे है, यह भीतरी बात है। देखने के लिए क्रिया ऐसी लगती है कि जैसे आप लोग कमीज उतार देते है और पहन लेते हैं लेकिन वहाँ पहनने का कोई सवाल नहीं। अब दिगम्बर दशा आ गई। अभी तक एक प्रकार से वे श्वेताम्बर थे, अब वो दिगम्बर बन गये और आप दिगम्बर के उपासक हैं इसलिए आप दिगम्बर है, वस्तुत आप दिगम्बर नहीं है।

आप इसलिए सब वस्त्र पहनते हुए भी दिगम्बर माने जाते है। इस मत को जो नहीं मानते वो तो हमेशा वस्त्र मे ही डूबे रहते हैं

आपके मन मे एक धारणा बननी चाहिए कि मेरी भी यह दशा इस जीवन मे कब हो ! वह घड़ी वह समय, वह अवसर कब प्राप्त हो मुझे। हे भगवन् ! मेरे जैसे आप भी थे, लेकिन हमारे बीच में से आप निकल चुके। कल तक मै कहता रहा— भैया ! आदिकुमार-ऋषभकुमार आपके घर मे हैं जो कुछ भी करना हो कर लो, सब कुछ आपके हाथ की बात है, लेकिन ज्यो ही वन की ओर आ जायेगे, नियम से आप मेरे पास आ जाएगे, कि महाराज ! अब आगे क्या करना है। ये मान नहीं

रहे हैं। घर मे रहना नहीं चाहते, अव कहा जाएगे पता नहीं। वस अव तो उन्हें पता है और आपको? सुनो ! आप लोग तो लापता हो जाएगे, अब आपका कोई भी पता नहीं रहेगा। इसीलिए उस दिगम्बर की शरण मे चले जाइये, वहॉ सवको शरण मिल जायेगी

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष-रक्ष मुनीश्वरः।।

हे यते ! हे यतियो मे भी अग्रनायक ! हमारे लिए शरण दो। भगवान् को वैराग्य हुआ, उनके साथ चार हजार और दीक्षित हो जाते है। यहॉ पर तो उनके माता-पिताओ को भी वैराग्य हो रहा है। तीर्थकर अकेले लाडले पुत्र होते है। घर मे यदि २ पुत्र हो जाए तो, या तो छोटे के ऊपर ज्यादा प्रेम होगा या बडे पर। और लोग तो समझते हैं कि जो कमाता है उसके ऊपर ज्यादा प्रेम वरसता है, जो नहीं कमाता उसके ऊपर करेगे ही नहीं। इनका इतना तेज पुण्य होता है कि लाड़-प्यार जो कुछ भी मिलता है माता-पिताओं का वह एक के लिए ही मिलता है इसलिए वे विषयो में भूल जाते हैं और बाद में विषय से विरक्ति का सकल्प लेते है। यहॉ पर भी माता-पिता वनने का सौभाग्य भी बहुत मायने रखता है। तीर्थकर के माता-पिता, वह ससारी प्राणी आज तक नहीं बना, वन जाने पर नियम से एक-आध भव से मुक्ति मिलती है। इन लोगो (उपस्थित माता-पिताओ) की भावना हुई है कि इस पुनीत अवसर पर वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अगीकार करे और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। इस माध्यम से हम भी भगवान् से प्रार्थना करते है, जिस प्रकार प्रभु का कल्याण हो गया/ हो रहा है, इनका भी हो।

उधर भगवान् के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हुए, लेकिन उन्होंने दीक्षा नहीं दी किसी को। दीक्षा किसलिए नहीं दी? इसलिए नहीं दी कि, वे किसी को आदेश नहीं देगे। दीक्षा लेने के उपरान्त वे गहरे उतरेंगे, किसी से कुछ नहीं कहेंगे। भीतर-भीतर आत्मतत्त्व में डुवकी लगाते-लगाते जव एक हजार वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, तव कैवल्य की उपलब्धि होगी। इन एक हजार वर्षो तक मौन रहेंगे, आहार के लिए आयेंगे, सव कुछ क्रियाये होगीं लेकिन कुछ उपदेश नहीं देंगे। न आशीर्वाद देंगे, न कोई आदेश। मौन रहना ही इन्हे पसन्द होगा। इसके वाद वनेंगे ऋषभनाथ भगवान्। दिखाने के लिए कल ही कैवल्य हो जाएगा, कारण एक हजार साल तक तो आप वैसे भी प्रतीक्षा नहीं कर सकोगे। अत. मतलव ये है, कि इस प्रकार की साधना मे उतरेंगे कि वह आत्मा का रूप बन जाएंगे। यही सत्य मार्ग है।

इस समय ज्यादा कहना आपको अच्छा नहीं लग रहा होगा क्योंकि आप

आकुलित है, भगवान् आपके घर से चले गये है। भगवान् नहीं थे वे, कुमार थे, और आपके अण्डर मे नहीं रह पाये। ये ध्यान रखना माता-पिताओ का कर्त्तव्य होता है अपनी सतान की रक्षा करे। यदि वह घर मे रहना चाहे, तो उसके लिए सब कुछ व्यवस्था करे। घर मे नहीं रहता तो यह देख लेना चाहिए कि कहाँ जाना चाहता है। कहीं विदेश तो नहीं जाता। यदि विदेश आदि जाने लगे तो, नहीं, यह हमारी परम्परा नहीं है, यहीं पर रहो, यह काम करो, ऐसा समझाना चाहिए। और यदि आत्मा के कल्याण के लिए वन की ओर जाना चाहता है तो आपके वश की कोई बात नहीं है। यही हुआ आपके वश की बात नहीं रही और ऋषभकुमार निकल चुके घर से।

धन्य है यह घड़ी, यह अवसर, युग के आदि मे यह कार्य हुआ था। और आज हमने उस दृश्य को देखा, जाना। किसके माध्यम से जाना यह सब कुछ? अपने आप जान लिया क्या? अपने आप आ गई क्या यह क्रिया? नहीं। इसके पीछे कितना रहस्य छुपा हुआ है। बडे-बडे महान् सन्तों ने इस क्रिया को अपने जीवन मे उतारा और किसी ने इस क्रिया को अपनी लेखनी के माध्यम से लिख दिया। यही एक मार्ग है जो मोक्ष तक जाता है और कोई नहीं।

विश्व में, सारे के सारे मार्ग को बताने वाले साहित्य हैं। लेकिन यहाँ पर साहित्य के साथ-साथ साहित्य के अनुरूप आदित्य भी हैं। आज तक हमारी यह परम्परा अक्षुण्य है। यह हम लोगों के महान् पुण्य और सौभाग्य का विषय है। आज भी ऐसा साहित्य मिलता है, जिससे हम अध्यात्म-दशा को प्राप्त कर सकते हैं। कई बार पूछा जाता है कि कैसे प्राप्त कर सकते है हमे भी बता दो? तो यहाँ पर वही क्रियाए हो रही हैं जिन्हे देखकर मालूम होता है कि ऐसे प्राप्त की जाती है वह अवस्था। इतना ही नहीं, आज कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के अनुरूप चलने वाले, लिग को धारण करने वाले भी मिलते है। तीन लिग बताये गये है– 'एक मुनि का, एक श्रावक का और एक आर्यिका का या श्राविका का। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दर्शनपाहुड में कहा है जैनियो के चौथा लिग नहीं है–

"चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।"

आज हमारा कितना सौभाग्य है कि कुन्दकुन्ददेव ने, समन्तभद्र स्वामी ने, पूज्यपादस्वामी आदि अनेक आचार्यो ने इस वेश को धारण किया, कितने बड़े साहस का काम किया। सांसारिक वेश को उतार देना भी बहुत सौभाग्य की बात है। अनेक सन्त हुए और बीच मे ऐसा भी काल आया, जिसमे सन्तो के दर्शन दुर्लभ हो गये थे। जैसे मैंने कल कहा था दौलतराम जी, टोडरमल जी, बनारसीदास जी, ये सब

तरसते रहे। जिन लिग को देखना चाहते थे लेकिन केवल शास्त्रो को देखकर के रह जाना पडा उन्हे। यहाँ तक भी कहने मे आता है कि टोडरमल जी के जमाने में धवला, जयधवला, महाबन्ध का दर्शन तक नहीं हो सका। पढना चाहते थे वे। उन्होने लिखा है कि मैने गोम्मटसार को पढ़ा उसकी टीका के माध्यम से, उसमे भी उन्होने लिखा केशववर्णी की टीका नहीं होती तो हम गोम्मटसार का रहस्य नहीं समझ सकते थे। ऐसे-ऐसे साधको ने इस जिनवाणी की सेवा करते हुए केवल सेवा ही नहीं किन्तु इस वेश को भी धारण कर अपने को धन्य किया। कल पण्डितजी भी कह रहे थे कि हमने भी अपने जीवन मे जिनवाणी की सेवा करने का इतना अवसर प्राप्त किया। किन्तु मैं समझता हूँ कि आज दीक्षा-कल्याणक का दिन है, पण्डितजी ! **जिनवाणी की सेवा तो जिन लिंग धारण करके ही करना सर्वोत्तम है।** यदि आप जैसे विद्वान् जिन लिग धारण कर इस तरह सेवा करे तो सही सेवा होगी जिनवाणी की। धर्म की प्रभावना भी होगी।

वात ऐसी है जिनलिग की महिमा कहाँ तक गायी जाये, जहाँ तक गाये, जितनी गावे उतनी ही आनन्द की लहर भीतर-भीतर आती जाती है। एक उदाहरण देता हूँ–

एक सन्त के पास परिवार सहित एक सेठ जी आते है। दर्शन करते है। पूजन करते हैं। जो कुछ भी करना कर लिया। इसके उपरान्त प्रार्थना करते है कि भगवन्! ससार का स्वरूप बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण, हमे समझ मे आ गया है, लेकिन अब मुझे मुक्ति का स्वरूप बताओ? लोग मुझसे भी पूछते हैं कि महाराज ! आपको वैराग्य केसे हुआ, मेरी समझ मे नहीं आता, चारो ओर चकाचौंध है विषयो की और आपको वैराग्य कैसे? हम जानना चाहते हैं। आपने न घर देखा, न वार, न कोई विवाह हुआ, कुछ समझ मे नहीं आता क्या जानकर के आपने घर छोड़ दिया? "छोड़ने को क्या, क्या छोडा? कुछ था ही नहीं मेरे पास'' – हमने कहा। समझदारी की वात तो मै यह मानता हूँ– कहना चाहता हूँ कि जो फसे हुए है, उनके मुख को देखकर के मैं भाग आया। कोई भी दिखता है, हँसता हुआ नहीं दीखता। रोता ही रहता है, अपना रोना ही रोता है। मैं समझता हूँ कि बहुत अच्छी वात है जो हम फसे नहीं। यहाँ से दूर चलिये इसकी क्या आवश्यकता है। पढ़ने की, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, अनुभव की कभी कोई आवश्यकता नहीं, जो अनुभव कर रहे है वही टेलीविजन (मुखमुद्रा) हम देख रहे हैं, इनको देख लो। इनकी समस्या समझ लो, वस अपने लिए वहीं रास्ता बन गया। तो वह कहता है कि मुक्ति का स्वरूप वताओ। किस प्रकार इनसे छुटकारा पाऊँ? सन्त कहते हैं–

कुछ नहीं, सो जाओ। सो जाओ, कल आना "जैसी आज्ञा" - कहकर चला गया सेठ। घर पर सेठजी ने एक तोता वहुत ही लाड-प्यार से पाल रखा था। उसने पूछा– आज कहाँ गये थे सेठजी ! महाराज जी आये थे उनके पास उपदेश सुनने गया था– सेठ ने कहा। क्या कहा महाराज ने– तोते ने पूछा। सेठ ने कहा– उन्होने कुछ नहीं कहा सिवा इसके कि "कल आना"। लेकिन आज क्या करना– तोते ने पूछा। सो जा– सेठ ने कहा। अच्छी बात है। दूसरे दिन सेठ पुन महाराज के पास पहुँच गया। क्यो, क्या वात है?– महाराज ने पूछा। महाराज आपने तो कहा था– आज सो जा, कल आ जाना, इसलिए आ गया। अरे ! मालूम नहीं पडा यही तो प्रवचन था– महाराज ने समझाया। सोने का प्रवचन था? हां..........हां ! **"जो व्यवहार में सोता है वह निश्चय में जागता है। और जो निश्चय में सोता है वह व्यवहार में जागता है।"** अब वात उसे समझ में आ गयी थी। उपदेश के वाद घर गया तो देखा तोता तो बिल्कुल अचेत पडा है, पिजरे मे। अरे ! यह क्या हो गया? महाराज जी ने उपदेश बहुत अच्छा दिया– अच्छा समझाया। मै इसको भी बता देता, लेकिन यह क्या हो गया? मर गया, यह तो मर गया। हे भगवान् क्या हो गया? इस प्रकार करते हुए पिजरे का दरवाजा खोलकर के उसको देखता है, विल्कुल अचेत है, ओऽहो! यू ही नीचे रख देता है तो वह उड़ जाता है और एक खिडकी के ऊपर जा कर बैठ जाता है, और कहता है महाराज ने बहुत अच्छा उपदेश सुनाया– बहुत अच्छा सुनाया। कैसे सुनाया? सेठ ने कहा। आपने तो कहा था आज सो जा– तोते ने कहा।

रहस्य को सेठ ने अब समझ लिया। **"एक बार सो जाओ मुक्ति मिल जायेगी।" लेकिन "सोना" कैसे? मखमल के गद्दे बिछाकर के नहीं। एयरकंडीशन में नहीं, बल्कि शरीर तो सो जाए और आत्मा अप्रमत्त रह जाए।** आज का विज्ञान क्या कहता है? आत्मा को सुलाओ ताकि रेस्ट मिल जाए, इस शरीर को। मतलब क्या? यही कि चिन्ताओ से, विचारो से विकल्पो से छुट्टी दे दो–

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।।

आत्मा के ध्यान की प्रसिद्धि के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है मन को एकाग्र करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थो मे राग-द्वेष मत करो। इतना ही पर्याप्त है।

मोक्षमार्ग यह है और संसार मार्ग यह है। कौन सा आपको इष्ट है? आप चुन

सकते है। जबरदस्ती किसी को नहीं किया जा सकता। जबरदस्ती से मार्ग ही समव नहीं। खुद स्वय जो अगीकार करे, उसी का ये मार्ग और जो अगीकार करता हे उसको हजारो व्यवधान आ जाते है। व्यवधान आने पर आचार्य कहते हैं कि वह सारे के सारे व्यवधान शरीर रूपी पहाड़ के ऊपर टूट सकते है, लेकिन आत्माराम के ऊपर उसका कोई भी स्पर्श तक नहीं हो सकता है। यही एक मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग की कहाँ तक प्रशसा करूँ, अपरम्पार है।

□□

६

दो दिन आपके थे अब तीन दिन हमारे हैं। हमारा यह प्रथम दिन है। आज ज्यों ही वृषभकुमार ने दीक्षा अगीकार की, त्यो ही परिग्रह और उपसर्गो का कार्यक्रम प्रारभ हो गया। इधर-ऊपर से बूदाबादी भी प्रारम्भ हो गई। आप लोग भीतर ही भीतर प्रार्थना कर रहे होंगे कि पानी रुक जाए भगवान्, लेकिन एक प्राणी (दीक्षितसंयमी) कहता है– जो भी परीक्षा लेनी हो, ले लो। उसके लिए ही खड़ा हुआ हूँ। यह जीवन संघर्षमय है, इसे वहुत हर्ष के साथ अपनाया है।

तप कल्याणक– अभिनिष्क्रमण में, घर से निकाला नहीं गया किन्तु निकालने से पूर्व ही निकल गये। जो निकलते नहीं, उनकी फजीती इस प्रकार की होगी कि एक दिन चार व्यक्ति मिलकर कन्धे पर रख चौखट से बाहर निकाल देगे। इसमे किसी भी प्रकार के सदेह की गुजाइश नहीं। जो हमारा घर नहीं, उसमें हम छिपे बैठे और उसमे किसी भी प्रकार से रहने का प्रयास करें, तो भी उसमे रह पाना सभव नहीं। इसीलिए–

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयभूस्तोत्र की रचना करते हुए आदिनाथ की स्तुति मे कहा– भगवन्! आपने सागर तक फैली धरती को ही नहीं छोडा किन्तु जो प्यारी-प्यारी सुनन्दा-नन्दा थी, उनको भी छोड़ दिया। जिसके साथ गाठ पड़ी थी। उस गाठ को उन्होने खोलने का प्रयास किया, जब नहीं खुली तो कैंची से काट दिया। अब कोई मतलब नहीं। जिसके साथ बडे प्यार से सम्बन्ध हुआ था, उसको तोड दिया। आज अब किसी और के साथ सम्बन्ध हो गया। यह क्यो हुआ? अभी तक शान्त-सरोवर था। उसमे किसी ने एक ककर पटक दिया, ककर नीचे चला गया। उधर तल तक पहुँचा, इधर तट तक लहर आ गई। नीचे से ककर ने सकेत भेजना शुरू कर दिये, बुलबुले के माध्यम से। यानि भीतर क्रान्ति हो गई। भीतर जल क्रान्ति होती है तब इस प्रकार के बुलबुले निकलते हैं। जब बुलबुला निकलता है तो वह आपको

वुला-वुला कर कहता है– "जीवन बहुत थोडा है। प्रतिसमय नष्ट हो रहा है ऐसी स्थिति मे आपके भीतर उसके प्रति जो अमरत्व की भावना है, वह अयथार्थ है।''

राजा राणाछत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सवको एक दिन अपनी-अपनी वार।।

जब मरने का, जीवन के अवसान का समय आयेगा, तव हम कुछ भी नहीं कर पायेगे। मरण-मृत्यु आने से पहले हमे जागृत होना है। छत्र, चवर और सम्पदा कुछ भी कार्यकारी नहीं होगी। ये तो इन्द्र-धनुष, आकाश की लाली और तृण-विन्दु की भाति क्षणभंगुर है। वहुत जल्दी मिटने वाले है और वहुत जल्दी पैदा भी होते हैं। जो जल्दी पैदा होता है, वही जल्दी मिट भी जाता है। लेकिन अब ऐसी पैदाइश की जाए, जो अनन्तकाल तक रहे। ऐसा उत्पाद हो, जो उत्पात को ही समाप्त कर दे। ऐसा कौन-सा उत्पाद है। वह एक ही उत्पाद है जिसे भीतर जाकर देख सकते है जान सकते है। ऊपर वहुत खलवली मच रही हो और यदि भीतर मे शान्त हो तो ऊपर की खलवली भीतर की शान्ति मे कोई वाधक के रूप में कार्यकारी नहीं। अन्दर की शान्ति वारह भावनाओ का फल है। यह समझ वह (मुनि ऋषभनाथ) ध्यान मे वैठ गए।

सोलहकारण भावनाओ के द्वारा जगत् का कल्याण करने का एक संकल्प हुआ, एक वहुत वड़ी इच्छा-शक्ति, जो संसार की ओर नहीं, किन्तु कल्याण की ओर खींच रही थी, उत्पन्न हुई। उस दौरान भावना भायी और फल यह निकला कि तीर्थकर प्रकृति का वन्ध हुआ। कव हो गया, उन्हे ज्ञात नहीं। किस रूप में है? ज्ञात नहीं। फिर भी समय पर काम करने वाला है। अभी भी सत्ता मे है, लेकिन सत्ता मे होकर भी, जिस प्रकार वह कंकर वुलवुले के द्वारा सकेत भेज देता है उसी प्रकार उसने दिया, कि अव घर-वार छोड़ दीजिए। वन की ओर रवाना हो जाइये। इन्द्र, जो कि अभी तक चरणो में रहा, कहता है कि आप ने नन्दा-सुनन्दा को छोड़ा। राज्य-पाट छोडा और सव कुछ छोड़ दा। लेकिन, कम से कम मुझे तो मत छोड़ो। मैंने आपको पाला है, दूध पिलाया है, ऐशोआराम की चीजे दी है। अत· जव तक रहो तव तक मुझे सेवा का अवसर प्रदान करते रहना चाहिए। तव जवाव मिलता है– मैं अकेला हूँ ! मै अव कुमार के रूप मे, राजा के रूप मे अथवा किसी अन्य रूप में भी नहीं हूँ। मुझे अव वन जाना है, अकेले ही जाना है। साथ में लेकर जाने वाला अव नहीं, यदि आप स्वयं आ जाए तो कोई आवश्यकता अथवा विरोध भी नहीं। मतलव यह हुआ, कि अभी तक अनेक व्यक्तियो के वीच मे वैठा और अव अकेला होने का

भाव क्यों हुआ? हा ! इसी को कहते हैं मुमुक्षुपना—

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं, मुमुक्षोश्चक्रलांछनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृणमिवाभवत् ।।

मुमुक्षुपन की किरण जब फूट जाती है हृदय में, तब बुभुक्षुपन की सारी की सारी ज्वाला शान्त हो जाती है। अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूर्य के आने से पूर्व ही प्रभात वेला आ जाती है। इसी को कहते है मुमुक्षुपन, तब लक्ष्मी, विभव, साम्राज्य, सार्वभौमपना ये जितने भी है सब ''जरत्तृणवत्'' — जीर्ण-शीर्ण एक तृण के समान देखने मे आते है।

आपको यदि रास्ते पर पीली मिट्टी देखने मे आ जाती है तो आपको यही नजर आता है कि पीली है तो सोना होना चाहिए? अब भीतर ही भीतर लहर आ जाती है कि झुककर देखने मे क्या बात है? झुकलो ! भले ही कमरे मे दर्द हो । झुककर जब हाथ मे लेता है तो लगता है कि कुछ ऐसी ही है, सोना नहीं है, तो पटक देता है और यदि सोना हुआ तो उस मिट्टी के मिलने से ऐसा समझता है कि आज मेरा अहोभाग्य है ! भगवान् का दर्शन किया था इसलिए ऐसा हुआ। लेकिन यहाँ भगवान् ने तो आत्मसर्वस्व प्राप्ति के लिए सब कुछ छोड दिया, जीर्ण-शीर्ण तृण समझकर। उसे छोड दिया, उसकी तरफ से मुख को मोड लिया। प्रत्युपन्नमति इसी को कहते है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार मे कहा है—

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।

यदि तुम दु ख से मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य को अगीकार करो। श्रामण्य के बिना कोई मतलब सिद्ध नहीं होने वाला, दु ख से मुक्ति तीन काल में भी सभव नहीं। ''यू शुड अडेक्ट इक्वनमिटि वेयर बाइ निर्वाना इज अटेन्ड।'' इसके द्वारा तो मुक्ति का लाभ मिलता है भुक्ति का नहीं। भुक्ति तो अनन्तकाल से मिलती आ रही है। सुबह खा लिया तो शाम को फिर भूख आ गई, अन्थौ (सन्ध्या भोजन) कर ली तो नाश्ते की चिन्ता, कब नींद खुले और कब नाश्ता करें? अरे ! नाश्ता मे आस्था रखने वालो ! थोडा विचारो-सोचो तो कि मुक्ति का कौन-सा रास्ता है। मुक्ति की बात तो तब चलती है जबकि भुक्ति की कोई भी वस्तु नहीं रहती है।

जब श्रमण बनने चले जाते है श्रमण परिषद् के पास, तब कहते हैं कि मुझे दु ख से मुक्ति दिलाकर अनुग्रहीत करो स्वामिन् ! मै महाभटका हुआ, अनाथ-सा व्यक्ति हूँ। अब आपके बिना कोई रास्ता नहीं कोई जगह नहीं है। उन्होंने कहा— तुम दु ख से मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें श्रमण बनना होगा। श्रमणता क्या है स्वामिन्!

अब बताते है कि श्रमणता क्या है और श्रमण वनने के पूर्व किस-किसको पूछता है। प्रवचनसार मे इसका वहुत अच्छा वर्णन दिया गया है। वह श्रमणार्थी सर्वप्रथम मा के पास जाकर कहता है– मा! तू मेरी सही मा नहीं है। मेरी मा तो शुद्धचैतन्य आत्मा है। अब उसी के द्वारा पालन-पोषण होगा। आप तो इस जड़मय शरीर की मा है, फिर भी मै व्यवहार से आपको कहने आया हूँ कि यदि आपके अन्दर वैठी हुई चेतन आत्मा जाग जाए तो वहुत अच्छा होगा। फिर तो आप भी मा बन जायेगी। नहीं तो, मैं जा रहा हूँ। अव नकली मा के पास रहना अच्छा नहीं लगता। अब आप रोयें या धोयें, कुछ भी करे, पर मैं चल रहा हूँ। अब पिता के पास चला जाता है और कहता है– पिताजी ! आपने वहुत बड़ा उपकार किया, लेकिन एक वात है, वह सभी जड़मय शरीर का किया। किन्तु आज मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ कि मेरे पिता तो शुद्ध चैतन्य-आत्मतत्त्व है अन्य कोई नहीं। उसी के द्वारा ही मेरी रक्षा होती आ रही है। इसलिए मेरा चेतन आत्मा ही पिता है और चेतना मा। इतना कह उन्हें भी छोड़कर चल देता है। इसके बाद सवको कहता-कहता, वीच मे ही जिसके साथ सम्वन्ध हो गया था, उसके पास जाकर कहता है– प्रिये ! आज तक मुझे यही ज्ञात था कि तुम ही मेरी प्रिया हो, लेकिन नहीं, अव मुझे ज्ञात हो गया कि चेतना ही मेरी एक मात्र सही प्रिया है, पत्नी है। वह ऐसी पत्नी नहीं है जो वीच में ही छोड़कर चली जाये। वह तो मेरे साथ सदा रहने वाली है। वही तो शुद्ध चेतना मेरी पत्नी है। वस, एक के द्वारा ही सारे सम्वन्ध है। वही पिता है, वही मां। वही पति है, वही पत्नी। वही वहिन भी है और भाई भी। जो कुछ है उसी एकमात्र से मेरा नाता है। इसके अलावा किसी से नहीं।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सबसे पूछना आवश्यक है। घबराओ नहीं, आप लोगो के जितने भी सम्वन्धी हैं वे कभी भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। हां ! आपको ही इस प्रकार का कार्यक्रम वनाना होगा, ऐसी उपेक्षा दृष्टि रखनी होगी, भीतर ही भीतर देखना आरम्भ करना होगा कि सभी अपने-अपने काम में जुट जाएं और आप उपेक्षा कर चल दें।

भगवान् को आपने कभी देखा है, क्या कर रहे हैं? कौन आता है, कौन जाता है यह देख रहे हैं? नहीं। लाखों, करोडो ही नहीं, जितनी भी जनता आ जाये और सारी की सारी जनता उनको देखने का प्रयास करती है किन्तु वह जनता को कभी नहीं देखते। उनकी दृष्टि नासा पर है, उसमे किसी प्रकार का अन्तर आने वाला नहीं। "नासादृष्टि" का मतलव क्या? न आशा, नासा। किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही, इसी का नाम नासा है। यदि उनकी दृष्टि अन्यत्र चली गई तो समझिये

नियम से आशा है। वह आशा, हमेशा निराशा मे ही घुलती गई यह अतीनकाल का इतिहास है।

न भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं?
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं।।

वे ज्ञानी है। वे ध्यानी है। वे महान् तपस्वी है। वे स्वरूप-निष्ठ आत्माए है, जिन्हे भूत-भविष्य के भोगों की इच्छा-स्मृति नहीं है। मैने खाया था इसकी कोई स्मृति नहीं है। बहुत अच्छी बात सुनी थी, एक बार और सुना दो तो अच्छा है। अनागत की कोई इच्छा नहीं। जब अनागत की कोई इच्छा नहीं और अतीत की स्मृति नही तो वर्तमान मे भोगों की फजीती हो जाती है। वह उन्हे लात मार देती है। इसी को कहते है समयसार मे हेय-बुद्धि। किसके प्रति हेय-बुद्धि? भोगोपभोग के प्रति। भोगोपभोग को लात मारना, खेल नही है। जहाँ भोगोपभोग सामग्री हमे लात मार देती है, फिर भी हम उसके पीछे चले जाते है। लेकिन ज्ञानी की यह दशा, यह परिभाषा अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, जिनके दर्शनमात्र से वैराग्यभाव सामने आ जाता है। जिनके स्वरूप को देखते ही अपना रूप देखने मे आ जाता है।

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणी अपनी अनुभूति पिछानी।।

वह मुद्रा, जिसके दर्शन करने मे हमारा स्वरूप सामने आ जाए। आत्मा का क्या भाव है, वह ज्ञात हो जावे। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, आज तक स्वरूप का ज्ञान क्यो नहीं हुआ? वैराग्य को वैराग्य से ही देखा जाता है। **"विरागी की दृष्टि रागी को देखकर भी, राग में विरागता का अनुभव करती है और रागी की दृष्टि विरागता को देख, विरागता में भी राग का अनुभव करती है।" यह किसका दोष है? यह किसका फल है, इसको कोई क्या कर सकता है, जिसके पेट में जो है वही तो डकार में आयेगा।**

दो टैंक थे तैरने के। एक मे दूध था और एक में मट्ठा–मही था। उन टैंको मे दो व्यक्ति तैर रहे थे। दोनों को डकार आई। ज्यो ही डकार आई, एक ने कहा– वाह-वाह, बहुत अच्छा-बहुत अच्छा, क्या सुवास और सुरस है? भगवन्! अम्लपित्त जैसी डकार आ रही है, दूसरे ने कहा। अरे क्या बात हो गई। तुम तो दूध के टैंक मे हो और अम्लपित्त की बात कर रहे हो? बात ही समझ मे नहीं आती। दूसरा कहता है– तुम तो मट्ठे के टैंक मे हो और फिर भी वाह-वाह कर रहे हो? ऐसी

अर्थ अलग वस्तु। मेरा अर्थ, मेरा पदार्थ मेरे पास है, उसके अलावा मेरा कुछ भी नहीं। तिल-तुषमात्र भी मेरा नहीं है। मै तो एकाकी यात्री हूँ। कहाँ जाऊँगा? कोई इच्छा भी नहीं। किससे मिलना? किसी से कोई मतलब नहीं। अब मुक्ति की इच्छा भी नहीं। इच्छा मात्र से भी कोई मतलब नहीं। बस, अपने आप मे रम जाने के लिए तत्पर हूँ।

मुमुक्षु को अकेला होना अनिवार्य है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने दो स्थानो पर "मुमुक्षु" सज्ञा दी। एक - वृषभनाथ के दीक्षा के समय और दूसरी अरनाथ भगवान् जब चक्रवर्तित्व पद छोडकर चले गये तब। उस समय अरनाथ भगवान् को सब कुछ क्षणभगुर प्रतीत हुआ, दु ख का मूल कारण प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होने उसको छोड दिया। ऐसा मुमुक्षु ही ज्ञानी-वैरागी होता है। उसी का दर्शन करना चाहिए। रागी का दर्शन करने से कभी भी सुख शान्ति का, वैभव-आनन्द का अनुभव होने वाला नहीं।

वृषभनाथ भगवान् के जमाने की बात। चक्रवर्ती भरत के कुछ पुत्र थे, जो कि निगोद से निकलकर आये थे, (बीच मे एक-आध त्रस पर्याय सम्भव है) सभी के सभी बोलते नहीं थे। चक्रवर्ती को बहुत चिन्ता हुई। उन्होने एक दिन आदिनाथ भगवान् से समवसरण मे जाकर पूछा– प्रभो ! तीर्थकरो की वशपरम्परा मे ऐसे कोई पगु, लूला, बहरे और अपाग नहीं होते, लेकिन कुछ पुत्र तो ऐसे है जो बोलते ही नहीं, हमे तो दिमाग मे खराबी नजर आती है। मुझे जब अडोसी-पडोसी उलाहना देते हैं कि– "तुम्हारे बच्चे गूगे है, बहरे है, तब बहुत पीडा होती है। मै क्या करूँ? भगवान् वृषभनाथ ने कहा– वे गूगे और बहरे नहीं है, बल्कि तुम ही बहरे हो। भगवान् कैसे बहरे है हम? बहरे इसलिए कि उनकी भाषा तुम्हे ज्ञात नहीं। देखो तुम्हारे सामने ही वे हमसे बोलेगे। उन्होने कहा– सब लोग राजपाट मे घुसते चले जा रहे है। झगडा तुम्हारे सामने है। कलह हो रहा है। भाई-भाई मे लडाई हो रही है, इससे इनको वैराग्य हुआ। अत सब कुछ छोडकर सभी पुत्र भगवान् के पास चल दिये और कहा– हे प्रभो ! जो आपका रूप सो हमारा रूप, जो आपकी जाति सो हमारी जाति, बस हम, आपकी जाति मे मिल जाना चाहते हैं। और ॐ नम सिद्धेभ्य कह पचमुष्ठी केशलौंचकर बैठ गये। तब चक्रवर्ती भरत ने कहा– वे गूगे नहीं थे क्या? नहीं ! इन्हे जातिस्मरण हो गया था। इसलिए नहीं बोलते थे।

बन्धुओ ! मै जातिस्मरण की बात इसलिए कह रहा हूँ कि कुछ आपको भी स्मरण आ जाए। जातिस्मरण की बात जिससे नारकियो के लिए सम्यग्दर्शन होता है। उन्हे वहाँ पर वेदना के अतिरेक से भी सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु मनुष्यो को ना

जातिस्मरण से और ना ही दु ख का अतिरेक होने से होता है। मनुष्य भव मे तो जिनविम्व के दर्शन से, जिनवाणी सुनने/पढ़ने आदि से ही होता है। मनुष्य को जातिस्मरण और वेदनानुभव से सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? तो आचार्यो ने कहा– वह जाति की ओर देखता है। लेकिन जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है वह उससे दूर रहता है। देखो भरत ! तुम्हारे पुत्रों को वोलने की शक्ति होते हुए मात्र पर्याय को देखकर तुम्हारे साथ वोलना पसन्द नहीं, वोलने की इच्छा नहीं उनकी, क्योंकि कामदेव के ऊपर चक्र चलाने वाले है, आप, भाई के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं। सर्वार्थसिद्धि से तो उतरे हुए हो और धार्मिक सीमा का भी उल्लघन करते हो। दोनो तद्भव मोक्षमागी हो अत कामदेव एव चक्रवर्ती दोनो ही अन्त मे फकीरी (मुनि पद) अपना कर मोक्ष को चले जाओगे। इसीलिए मन्त्रियो ने कहा– तुम दोनों ही लड़ो, हम देख लेते है, कौन पास होता है। चक्रवर्ती भरत तीनो मे फेल हो गये ओर चौथे मे भी। युद्ध तो तीन ही थं चौथा कोन-सा था? चौथा यह था कि सीमा का उल्लघन नहीं करना, धर्म युद्ध करना। उन्होंने उसका भी उल्लघन कर चक्र का प्रयोग कर दिया। छोड़ा नहीं, कसर वाकी नहीं रही।

सर्वार्थसिद्धि से उतरे थे। तीनो के साथ अनुगामी अवधिज्ञान आया था। तीन मे वृपभनाथ तो दीक्षित हो गये, लेकिन इन दोनों को अवधिज्ञान की कुछ याद भी नहीं, फिर जातिस्मरण तो वहुत दूर की वात रही। अपना धन, अपना ज्ञान, वर्तमान मे हम कहाँ से आये है? यह तक पता नहीं है। यह ज्ञान होना चाहिए कि अपने परिवार पर चक्र का कोई प्रभाव नहीं होता। लेकिन वुद्धि भ्रष्ट हो गई, धन के, मान-प्रतिष्ठा के पीछे। किन्तु वाहुवली का पुण्य वहुत जोरदार था, इसलिए उसने परिक्रमा लगाई और रुक गया। इस प्रकार वाहुवली ने तीनो युद्धों में तो हरा ही दिया और चौथे मे भी सवके सामने नीचा दिखा दिया।

इस सव रहस्य को देख, अविनश्वर आत्मा का ज्ञान उन सव वच्चो को हो गया। इसलिए वोले नहीं किसी के साथ। जव तक उम्र पूर्ण नहीं हो जाती, योग्यता नहीं आती तव तक के लिए मौन और वाद में दीक्षा ले ली। वृपभनाथ भगवान् ने ऐसा जव कहा तव कहीं चक्रवर्ती को ज्ञात हुआ कि यह भी सम्भव है। मै तो यह सोचता हूँ कि पिताजी सम्यग्दृष्टि और चक्रवर्ती भी थे तो कम से कम पिताजी के चरण छू लेने चाहिए थे, लेकिन नहीं। अभी वहुत छोटे है, दूध के दात भी नहीं टूटे, पर उन्होने एक वात समझने योग्य कही– रागी के साथ हम वोलने वाले नहीं ! हम तो वैरागी-वीतरागी सन्तों के साथ वोलेगे। यह वहुत अद्भुत परिणाम जातिस्मरण का है। इस कथा को सुनकर ऐसा लगने लग जाता है कि दूसरे को देखना वदकर

केवल अपनी आत्मा की ओर लगना चाहिए। भीतर जो बात रहेगी वही तो फूटती हुई बाहर आयेगी।

एक बच्चा था। वह काफी बदमाश था। स्कूल नहीं जाता था, ऐसे ही घूम-फिरकर आ जाता था। एक दिन माता-पिता को पता चला कि यह दिन खराब करता रहता है अत फेल हो जायेगा तो मास्टर को कहा— इसे प्रतिदिन उपस्थित रखो और अच्छी शिक्षा दो। वह बालक होशियार भी था और बदमाश भी। एक दिन मास्टर ने पूछा— ५ और ५ कितने होते है? उसने कहा— १० रोटी। ४ ४ कितने होते है? ८ रोटी। ३ ३ कितने होते है? ६ रोटी। साढे तीन-साढे तीन कितने? सात रोटी। तब मास्टर ने सोचा यह रोटी क्यो बोल रहा है? क्या खाना खाकर नहीं आया? या मम्मी ने रोटी नहीं खिलाई? मास्टर ने पूछा— क्या रोटी नहीं खाई? उसने कहा जी, नहीं खाई। मम्मी ने कहा है, तब तक खाना नहीं जब तक स्कूल से पढकर नहीं आते। इससे ज्ञात होता है कि वह ८ बोल रहा है, किन्तु रोटी नहीं भूल रहा है। हम समयसार की कितनी ही गाथाए याद कर लें, लेकिन हमारे भीतर जो अभिप्राय है वह याद आता जाता है। हमारे अभिप्राय के अनुसार ही कदम बढते है, दृष्टि भले ही कहीं हो। बन्धुओ ! आप लोग 'रिवर्स'' में गाडी चलाते हैं, अब भले ही ड्राइवर सामने देख रहा हो, लेकिन सामने के दर्पण में जो पीछे का बिम्ब है उसे देखता है। देखने को तो लगता है कि दृष्टि सामने है परन्तु दृष्टि नियम से रिवर्स की ओर ही रहती है। इसी तरह हम दृष्टि भी इन विषयो से रिवर्स कर लें, कैसे हो, रिवर्स होना ही बडी बात है।

जब ऋषभनाथ के जीवन मे घटना घटी तो उन्होने अपनी दृष्टि को मोड लिया अपने-आप मे समेट लिया। सबको उन्होने समाप्त नहीं किया, किन्तु अपने को समेट लिया। यह अद्भुत कार्य है। हम दुनिया को समेटकर कार्य करना चाहते है जो "ण भूदो ण भविस्सदि।''

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।

भगवन् ! आप अपने पद से च्युत नहीं हुए। "ज्ञानी जीव अपने पद से च्युत नहीं होते यही उनका ज्ञानीपना है।'' मात्र जानने वाले को ज्ञानी नहीं कहते। ज्ञानी का अर्थ अच्छा खोल दिया— जो राग नहीं करे, द्वेष नहीं करे, मोह नहीं करे, मद-मत्सर नहीं करे, समता का अभाव न हो। उन्हीं का नाम श्रमण है। वे श्रमण बन चुके, इसलिए अपने पद को कभी छोड़ेंगे नहीं। ऐसे अच्युत और सहिष्णु है कि कितने भी उपसर्ग आ जाए तो भी चलायमान नहीं होंगे। मोक्षमार्ग परिषह और उपसर्गों

के रास्तों से गुजरता है–

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः"

मार्ग अर्थात् सवर मार्ग से च्युति-स्खलन न हो, गिरावट न हो इसलिए उपसर्ग और परीषह सहन करने की आदत/अभ्यास करना चाहिए। अव यह नहीं चलेगा कि, उष्णता आ गई तो पखा खोल लिया या कूलर चला दिया। यहाँ पर न कूलर ही होगा और न ही हीटर। यहाँ पर तो सभी वातानुकूल है और वातानुकूल भी। दोनो अनुकूल है। गर्मी पड़े तो निर्जरा, नहीं पडे तो निर्जरा। उपसर्ग हो। तो ज्यादा निर्जरा, नहीं हो तो भी निर्जरा। कोई प्रशसा करे तो भी निर्जरा, निन्दा करते तो भी निर्जरा। कोई आवे तो भी निर्जरा, नहीं आवे तो भी निर्जरा। वडी अद्भुत वात हो गई। लोग आये तो अच्छा लगता है, नहीं आये तो अकेले कैसे वैठे? जो व्यक्ति भीड मे रहने का आदि हो उसको यदि मीसा मे वन्द कर दिया जाये तो उसकी स्थिति एकदम विगड जायेगी। कही "वेट" कम हो जायगा या कुछ और ही हो जाएगा। लेकिन जिसे मीसा मे ही रहने की आदत हो गई है वह तो पहलवान होकर निकलेगा।

हमारे ऋषभनाथ का हाल भी इसी तरह का है कि उन्हें अव मीसा मे वन्द करो या किसी अन्य में, उन्हें तो भीतर "पीस" है। आनन्द-सुख-शान्ति-चैन, सव कुछ अन्दर है। मैं अकेला हूँ तव वन्द करो या कुछ और, मुझे चैन ही मिलेगी ऐसा सोचते हैं। बड़ी अद्भुत वात है, कहीं भी चले जायें, कैसी भी अवस्था आ जाए, कैसा भी कर्म का उदय आ जाय, अव अनुकूल हो या प्रतिकूल। वल्कि विश्वास तो यह है कि अव नियम से कूल-किनारा मिलेगा। इसी को कहते हैं श्रामण्य। श्रमणता पाने के उपरान्त किसी भी प्रकार की कमी अनुभूत नहीं होना चाहिए। मात्र ज्ञान से पूर्ति करता रहता है। समयसार के संवराधिकार में कहा है–

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं।।

ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, भले कितने कर्म के उदय कठोर से कठोरतम क्यों न आये। जिस प्रकार कनक को आप कैसे भी तपाते जाए, तपाते जाए, वह सोना और भी दमकता चला जाता है। वह अपने कनकत्व को, स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता। जयसेनस्वामी ने तो इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि– "पाण्डवादिवत्"। कौन पाण्डव? जो पाण्डव वनवास में भेजे गये थे, वे क्या? नहीं, नहीं। वे जो स्वय अपनी तरफ से वनवास मे आये थे, अर्थात् मुनि वनकर आये है और उनके शरीर पर तपे हुए लोहे की जजीरें डाल दीं गई, फिर भी शान्त है। ऐसे "पाण्डवादिवत्"। रत्नत्रय में भी तप के विना चमक नहीं आती, रत्नत्रय को

तपाना आवश्यक है। उसी से मुक्ति मिलती है। तपाराधना से ही मुक्ति मिलती है। रत्नत्रय से नहीं जैसे— हम हलुवा बनाते है तो, मिश्री हो, आटा हो और घी हो। उन्हे अनुपात मे मिला दो। उसमे और कुछ भी मिलाना हो तो मिला दो। लेकिन अभी हलुवा नही बनेगा। कब तक नहीं बनेगा? जब तक की नीचे से अग्नि का उसे पाक नहीं मिलेगा। ज्यो ही अग्नि की तपन पैदा होगी त्यो ही तीनो चीजे मिलने लगेगी और मुलायम हलुवा तैयार हो जाएगा। इसी तरह रत्नत्रय रूप मे तीनो जब तक भिन्न-भिन्न रहेगे और तप का सहारा नहीं लेगे तो ध्यान रखिये। कोटिपूर्व वर्ष तक भी चले जाए तब भी मुक्ति नहीं होगी। होगी तो तप से ही।

अभी एक बात पण्डित जी ने कही थी कि अन्तर्मुहूर्त मे भरत चक्रवर्ती को केवल ज्ञान पैदा हो गया। बात बिल्कुल ठीक है, परन्तु मुक्ति क्या नहीं मिली अन्तर्मुहूर्त मे उन्हे? एक लाख वर्ष तक उन्हे तप करना पडा। जितनी तपस्या ऋषभनाथ ने की उतनी ही तपस्या भरतचक्रवर्ती ने की। अभी-अभी वाचना (खुरई मे) चल रही थी, उसमे प्रसग आया था कि "अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान भले ही हो जाए परन्तु मुक्ति नहीं मिलती।" इसका अर्थ है कि केवलज्ञान अन्तिम स्टेज नहीं है, अन्तिम मजिल नहीं है। वह तो एक प्रकार से बीच स्टेशन है जिसके उपरान्त मजिल है। **केवलज्ञान यदि उपाधि नहीं तो वह बीच में अवश्य मिलेगा। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी तो मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता। इसलिए मुक्ति देने की क्षमता केवलज्ञान में नहीं। जिसके द्वारा मुक्ति मिलती है उसे उपादेय मानिये। मात्र तपाराधना के द्वारा मुक्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त में मंजिल तक पहुँचा देती है। देखिये !** भरत रह गये, ऋषभनाथ भी रह गये, परन्तु बाहुबली केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वप्रथम मुक्ति के उद्‌घाटक बने। इस युग के आदि मे पिताजी और भाई से पहले, आगे जाकर दरवाजा खोल कर बैठ गये। बाद मे पिताजी आये और भरत भी।

एक मजे की बात तो यह रही कि ऋषभनाथ भगवान् को भी बाहुबली के सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करना पडा। भरत को भी करना पडा। जिसका जैसा पुरुषार्थ होता है उसको वैसा ही फल मिलता है। इसलिए हमारा लक्ष्य मजिल का है, स्टेशन का नहीं। जैसे दिल्ली जाने के लिए तो आगरा भी एक स्टेशन आयेगा जो मजिल नहीं है, मजिल के निकट अवश्य है पर उससे भी आगे जाना है दिल्ली अन्तिम स्टेशन एव मजिल के रूप मे होगा। दिल्ली पहुँचते ही उतर जाइये और मस्त हो जाओ साथ ही यह देखते रहे कि पीछे क्या-क्या हो रहा है। गजकुमार स्वामी जैसों के उदाहरण हमारे सामने हैं। वह बालावस्था मे जब मात्र बारह वर्ष के थे, गोद में बैठने की क्षमता रखते थे। उस समय मात्र अन्तर्मुहूर्त मे मुक्ति पा गये। वह भी

केवलज्ञान, प्राप्त कर लेते हैं। हा ! अन्तर्मुहूर्त में सब कुछ काम हो जाता है। एक और बड़ी बात कही गयी है कि जिसने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की, जिसे वेद की वेदनाओं का अनुभव नहीं, अभी निगोद से निकलकर आ रहा है और आठ साल का होते ही मुनिवर के व्रत ले अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति प्राप्त कर लेता है-- ऐसा आगम का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख अनन्त की संख्या में है, कोई भी अन्त वाला नहीं। अर्थात् ऐसे पुरुषार्थशील प्राणी अनन्त हो गये और होंगे। बस, अब हमारे नम्बर की बात है। इसी की प्रतीक्षा में हम हैं। हमें भीतरी पुरुषार्थ जागृत करना है। भीतर कितनी ऊर्जा शक्ति है? इसका कोई भी मूल्यांकन हम इन छद्मस्थ आँखों से नहीं कर सकते। इसे प्रकट करने में भगवान् ऋषभनाथ लगे हुए है। वे सोच रहे है कि-- कोई भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल अवस्था आ जाये, मेरे लिये सभी कुछ समान है। उनका चिन्तन चल रहा है।

बाहर यह
जो कुछ दीख रहा है
"सो" मैं नहीं हूँ
और वह मेरा भी नहीं है
ये आँखें
मुझे देख नहीं सकती
मुझमें देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा हूँ
सभी का मैं दृष्टा हूँ !!

बहुत सरल-सी पंक्तियां है, लेकिन इन पंक्तियों में बहुत सार है -- यह जो कुछ भी ठाट-बाट दिख रहा है वह 'मैं नहीं हूं' और वह "मेरा भी नहीं"। ऐसा हो जाए तो अपने को ऋषभनाथ बनने में देर न लगे। लेकिन बन नहीं पा रहा है। क्यों नहीं बन पा रहा है? भीतर से पूछो, भीतर की बात पूछो, क्यों नहीं हो पा रहा है। ऋषभनाथ कहते है-- तू तटस्थ होकर देख। देखना स्वभाव है, जानना स्वभाव हैं लेकिन चलाकर नहीं, चलाकर देखना राग का प्रतीक है। जो हो रहा है उसे होते हुए देखिये-जानिये।

एक व्यक्ति जिसको वैराग्य का अंकुर पैदा हुआ है। पर अतीत में बहुत कुछ घटनाएं उसके जीवन में घटी थीं। उन सबको गौण कर वह दीक्षित हो गया। दीक्षा लेने के उपरान्त एक दिन का उपवास रहा। अगले दिन चर्या को निकलने वाला था तो गुरुदेव ने कहा-- चर्या के लिए जाना चाहते हो? जाओ ठीक है। पर ध्यान

रखना! हा हां आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी जो आज्ञा। वह जो सेठ है, उन्हीं के यहाँ जाना है। उनका नाम भी बता दिया गया। पर!. . ..वहाँ महाराज? हां, मै कह रहा हूँ। वहीं जाना है, अन्यत्र नहीं जाना। पसीना आने लगा नवदीक्षित साधु को, लेकिन महाराज की आज्ञा। अब क्या करे! वह चल दिया। एक-एक कदम उठाते-उठाते चला गया, उसके घर की ओर। वह सोच रहा है-- जिसके लिए मै जा रहा हूँ। वह सम्भव नहीं। अभी भी कुछ बदला भोगना होगा। यह बात उसके दिमाग मे गहरे घर करती जा रही है। फिर भी वह उसके सामने तक पहुँच गया। उस सेठ ने दूर से ही मुनि महाराज को देखकर सोचा धन्य है हमारा भाग्य!

नमोऽस्तु नमोऽस्तु महाराज! आवाज तो उसी सेठ की है, बात क्या है, क्या उसके स्थान पर कोई अन्य तो नहीं, दीखता तो वही है। उसी के आकार-प्रकार, रग-ढग जैसा है। जैसे-जैसे महाराज पास गये वैसे-वैसे वह सेठ और भी विनीत होकर गद्‌गद् हो गया। उसके हाथ कापने लगे। सोच रहा है-- विधि में कहीं चूक न हो जाये, गलती न हो जाय। उधर सेठ नमोऽस्तु .नमोऽस्तु नमोऽस्तु बोल, तीन प्रदक्षिणा लगाता है। इधर महाराज सोचते हैं कि-- यह सब नाटक तो नहीं हो रहा है। क्योकि इसके जीवन मे यह सभव नहीं। मैं तो गुरु-आज्ञा से यहाँ आया हूँ। अन्यत्र जाना नहीं है। झूठ बोल सकने की अब बात ही नहीं, विधि तो मिल गई और पडगाहन (प्रतिग्रहण) भी हो गया अब । महाराज! मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, आहार जल शुद्ध है। महाराज गृह-प्रवेश कीजिए, भोजनशाला मे प्रवेश कीजिए - कापते-कांपते सेठ ने कहा। मुनिराज सोच रहे थे कि यह कैसा परिवर्तन हुआ, जीवन के आदि से लेकर अभी तक के इतिहास मे ३६ का आकड़ा था। लेकिन यहाँ तो ३६ का उल्टा ६३ हो गया, यह कैसे, अभी तक वह ३६ का काम करता था, पर अब! यह ६३ शलाका पुरुषों का ही चमत्कार है। उसने अपने को ६३ शलाका पुरुषो के चरणो मे जाकर के अर्थात् तीर्थकर आदि के मार्ग पर चलने के लिए सकल्प कर लिया परिवर्तन कर लिया। और लिग बदलते ही उसका जो बैर जन्मत था, भव-भव से था वह टूट गया। किन्तु मुनिराज को अभी इस बात का ज्ञान नहीं था। वह सोच रहे थे कि-- सम्भव हो अभी वह बैर भाव मेरे साथ बदला ले ले। लेकिन नहीं! सेठ ने नवधा भक्ति के साथ आहार करवाया और आहार के बाद पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा व कहा-- मैंने गलती की, माफ करिये, माफ करिये। मैं भीतरी आत्मा की छवि को नहीं देख पाया था। भीतर ही भीतर ऐसा एक परिवर्तन अब हुआ। मै बिल्कुल पर्याय बुद्धि अपनाता चला गया। आत्मा की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं गई। अब मुनि महाराज कहते हैं कि-- यह दृष्टि

मगी नहीं है भैय्या ! मैं तो भगवान् के पास गया था। उनकी शरण में ज्ञान की ही कृपा है कि मुझे इस प्रकार की दिव्य-दृष्टि मिली। माफी तो हम दोनों मिलकर वहीं पर मांगेंगे। चलो ! तुम भी चलो साथ उनके चरणों में। वहाँ पहुँचने पर महाराज बोलते हैं क्यों भैया ! मुलाकात हो गई? मुलाकात क्या, अब यह मुलाकात कभी मिटने वाली नहीं है। कारण, बैर भाव जो चलता है वह केवल पर्याय-बुद्धि को लेकर चलता है, यह समझ में आ गया।

आप लोग तो रामायण की बात करते होंगे, लेकिन मैं तो रावणयात्रा की बात करता हूँ। रावण, राम से भी दस कदम आगे काम करने वाला है। वे हलधर थे, तो वे तीर्थंकर बनेंगे। ऐसे तीर्थंकर होंगे सीतारानी का जीव स्वयं गणधर बनेगा। जितना विप्लव दोनों ने मिलकर किया था, उससे कहीं अधिक शान्ति धरती पर करके मोक्ष चले जाएंगे। लक्ष्मण का जीव भी तीर्थंकर बनेगा, सीता का जीव बीच में कुछ पर्याय धारणकर गणधर परमेष्ठी बनेगा। रावण की "ब्राडकास्टिंग" करने गणधर बनकर बैठेगा। अब सोचिये। भव-भव का वह बैर कहाँ चला गया। ससारी प्राणी अतीत की ओर और अनागत की ओर नहीं देखता है इसके सामने तो एक वर्तमान पर्याय ही रह जाती है। प्रागभाव को भी देखा करो, प्रध्वंसाभाव को भी देखा करो और तद्भाव को भी देखा करो, तभी भव-भव का नाता टूट जाएगा। ऐसा भव प्रादुर्भूत हो जायगा कि जिनका दर्शन करते ही अनन्तकालीन कषाय की शृंखला टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगी। कितना सुन्दर दृश्य होगा, रावण के भविष्य का उस समय, जब रामायण अतीत का दृश्य हो जाएगा। एक बार चित्र देखा हुआ, यदि दुबारा देखते हैं तो रस नहीं आता। जो नहीं देखा उसके बारे में बहुत भावना उठती है।

आश्चर्य की बात यह है कि भव-भव में बैर पकड़ने वाले ये जीव एक स्थान पर ऐसे बैठकर सब लोगों को हित के मार्ग का दर्शन देकर आदर्श प्रस्तुत करके मोक्ष चले जायेंगे।

इस प्रकार की घटनायें (रावण-सीता-राम जैसी घटनाएं) पुराणों में अनन्तों हो गई, भविष्यत् काल में अनन्तानन्त होंगी। जब अतीत काल की विवक्षा को लेते हैं तो अनन्त की कोटि में कहते हैं और अनागत की अपेक्षा से अनन्त नहीं, बल्कि अनन्तानन्त कहा जाता है। राम-रावण-सीता जैसी घटनाओं में कभी आप भी राम हो सकते हैं, कभी रावण और भी कुछ हो सकते हैं। नाम तो पुन पुन वही आते जाते हैं। क्योंकि शब्द संख्यात हैं और पदार्थ अनन्त। "फलाचंद" नाम के कई व्यक्ति हो सकते हैं। इसी तथा में १०.२० मिल सकते हैं। सागर सिटी में ५० १०० मिल

सकते है। उस समय यदि किसी की दानराशि, उसी नाम वाले से मागे तो घोटाला हो जाएगा। अब क्या करें? बोली किसने ली थी क्या पता? इसलिये सागर मे भी मुहल्ला एव अपने पालक का भी नाम बताओ? अर्थात् शब्द बहुत कमजोर है। शब्द के पास शक्ति नहीं और ना ही अनन्त है। इसलिए इन सब बातो को भूल जाओ। अभावो मे प्रागभाव ओर प्रध्वसाभाव क्या था यह ज्ञात हो गया।

महाराज सोचते हे कि– वह बेर भाव अभी रह सकता है क्या? नहीं ! लेकिन लिग (भेष) न बदलता तो सभव भी था। क्योकि सजातीयता थी। लेकिन ज्यो ही मुनिलिग धारण किया और मुद्रा लेकर चले, त्यों ही उस व्यक्ति के साथ जो बेर चल रहा था, जाता रहा। उसने सोचा– अब यह वह व्यक्ति नहीं, किन्तु इसका सम्बन्ध तो अब महावीर प्रभु से हो चुका। यह लिग घर का नहीं है। इसलिए जिनलिग देखने के उपरान्त समता आ जाती है। **किसी व्यक्ति विशेष का लिंग नहीं है यह। किसी व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं है जैनशासन में। किसी एक व्यक्ति का शासन नहीं चल सकता। किसी की धरोहर नहीं। यह तो अनादिकाल से चली आ रही परम्परा है और अनन्तानन्तकाल तक चलती रहेगी।** मात्र नाम की पूजा नहीं, नाम के साथ गुणो का होना आवश्यक है। स्थापना निक्षेप मे यही बात होती हैं– "यह वही है" इस प्रकार का ऐक्य हो जाता है। अर्थात् यह वृषभनाथ ही हैं। इसमे और उसमे कोई फर्क नहीं। इस तरह का "बुद्ध्या ऐक्य स्थाप्य" बुद्धि के द्वारा एकता का आरोपण करना, जैसा कि कल ही पण्डित जी कह रहे थे– "यह प्रतिमा नही भगवान् हैं, ऐसी ताकत होती है। तब कहीं वह बिम्ब सम्यग्दर्शन के लिए निमित्त बन सकता है, नहीं तो वह अभिमान का भी कारण है। इसीलिए किसी व्यक्ति को स्मरण मे न लाकर उसे प्रागभाव की कोटि मे ले जाइये। यदि प्रागभाव की कोटि में चला गया तो उसका क्षय हो चुका। इसीलिए अब उस व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध नहीं। उस भाव और इस भाव के बीच मे अन्तर हो गया है। वह तब राग के साथ सम्बद्ध था, पर अब वीतरागता से सबद्ध। "जो व्यक्ति इस प्रकार के लिग को देख करके, उनकी पूजा-अर्चा नहीं करता, उनके लिए आहारदान नहीं देता तो उसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड मे कहते है–

सहजुप्पणं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवदि एसो।।

कितनी गजब की बात कही है आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने - सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन को एक दर्पण के सामने लाकर रख दिया है। "फेश इज दा इन्डक्स आफ दा हार्ट" हृदय की अनुक्रमणिका मुख-मुद्रा है। हृदय मे क्या बात है यह मुख

के द्वारा समझ लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि अभी भी तुम्हारी दृष्टि में वैर भाव है। अभी भी वह सेठ है। पर्यायबुद्धि है तेरी। नग्न दृष्टि में वीतरागता नहीं आ रही है। वीतरागता किसी की, अथवा घर की नहीं होती, न इसे चुराया जा सकता है और न किसी की बपौती है। नग्नत्व ही उसका साधन है। भगवान् महावीर या वृषभनाथ भगवान् और भी जिनको पूजते हैं उनका लिंग है। कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा - यथाजातरूप भगवान् महावीर और इस लिंग में कोई अन्तर नहीं है। इसको देखकर जो व्यक्ति मात्सर्यादिक भावों के साथ वन्दना आदि नहीं करता है। वह मिथ्यादृष्टि है। यह ध्यान रखिये ! यथाजातरूप होना चाहिए, क्योंकि वे ही जो छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती हैं वे ही आपके घर तक आहार के लिए आ सकते हैं, अन्य नहीं। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन है वह जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा और जिनेन्द्र भगवान् को देखते ही सब पर्यायों को भूल जाता है। यह मेरा वैरी था, मित्र था, पिताजी थे, मेरे भाई थे या और कोई अन्य सम्बन्धी, अब कोई सम्बन्ध नहीं, सब छूट गया। इस नग्नावस्था के साथ तो मात्र पूज्य-पूजक सम्बन्ध रह गया है। इसके उपरान्त भी अतीत की ओर दृष्टि चली जाती है, रागद्वेष हो जाते हैं, परिचर्या में नहीं लगता है तो कुन्दकुन्दस्वामी ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा। आगे दूसरी गाथा में कहते हैं —

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।

अमरों के द्वारा जो वन्दित है, उस पद को तथा शील सहित व्यक्ति को देखकर भी जो गर्व करता है, उसका तिरस्कार करता है तो वह सम्यग्दर्शन से कोसों दूर है। ऐसा नहीं है कि एक बार सम्यग्दर्शन मिल गया फिर पेटी में बन्द कर, अलीगढ़ का ताला लगाकर ट्रेजरी में बंद कर दें। कहीं हिल न जाए। आचार्य कहते हैं कि - ऐसा नहीं है, अन्तर्मुहूर्त में ही कई बार उलट-पलट हो सकता है। भीतर के भीतर माल "पास" हो सकता है। ताला ऊपर रह जाये और माल भीतर से "सफाई" हो जावे। भीतर परिणामों में उथल-पुथल होता रहता है। यह सब पुण्य और पाप की बात है। इसी अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने एक जगह लिखा - "बाहुबली, सर्वप्रथम द्रव्यलिंगी की कोटि में हैं। बड़ी अद्भुत बात है। सर्वार्थसिद्धि ने तो आये हैं और मुनि भी बने, फिर भी द्रव्यलिंगी की कोटि में उनको रखा। यह मात्र दृष्टि की बात है। बात ऐसी है कि -वर्द्धमान चारित्र वाला छट्ठे-सातवें गुणस्थान में तो परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसका वर्द्धमान चारित्र नहीं है वह व्यक्ति नीचे गिरकर छट्ठे से पांचवें में भी आ सकता है,चौथे में आ सकता है और क्षायिक

सम्यग्दृष्टि नहीं है तो प्रथमगुणस्थान तक आ सकता है। ऐसे भी भग आगम मे बताये गये है। उन्होंने कहा - एक व्यक्ति क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ मुनिपद को अपनाता है, सातवे गुणस्थान को छू लेता है और अन्तर्मुहूर्त मे छट्ठे में आ जाता है। फिर चतुर्थ गुणस्थान मे आकर आठवर्ष और कुछ अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष व्यतीत कर सकता है।

धवला पढिये ! उसका अध्ययन करिये तव ज्ञान होगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो है पर असयमी हो गया, अव कैसे आहार दान दे? परिचर्या कैसे करे? हो सकता है देने वाला पचमगुणस्थानवर्ती हो और लेने वाले मुनि महाराज चौथे गुणस्थानवर्ती। यहाँ ध्यान रखिये मुनिलिग की पूजा की जाती है। भीतर रत्नत्रय है या नहीं, यह आपकी आखो का विषय नहीं। अव हम पूछते है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी उसे ऊपर क्यों नहीं उठाया। जवकि अभी भी दिगम्बरावस्था है। जब सम्यग्दर्शन है तो चारित्र भी सम्यक् होना चाहिए। छट्ठे-सातवें गुणस्थान को छूना चाहिए। पर नहीं होता है। इसका कारण, भिन्न-भिन्न शक्तियो की सीमाये, लक्षणो और गुणो की सीमाये ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनो के कारण भी आगे नहीं बढ पाता। उसकी विशुद्धि इतनी घट गई कि ऊपर से तो मुनिलिग की चर्या का अनुपालन करता हुआ पूर्वकोटि वर्ष तक सम्यग्दृष्टि वना रह सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं है वह लेते समय छट्ठे-सातवे गुणस्थान मे था और अन्तर्मुहूर्त मे ही मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ गया। अव क्या करे ? क्या आप आहार देना वद कर देगे ? उसे कपडे पहनना चाहिये क्या ? "अरे ! यदि कपडा नहीं पहनता तो धोखाधडी कर रहा है" ऐसा कहना बिल्कुल गलत है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। यहा धोखाधडी करने की बात ही नहीं। सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं की बाध के रख लिया जाये। क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी छट्ठे-सातवे गुणस्थान से नीचे उतरना पडे। हा ! यह तो अवश्य है कि चारित्र वाधा जा सकता है किन्तु भीतरी परिणामरूप चारित्र को नहीं वाधा जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म की भी अपनी शक्ति है। उसकी शक्ति के सामने किसी का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता।

द्रव्यलिगी कहने से मिथ्यादृष्टि को ही नहीं लेना चाहिए। कारण, वाहुवली मिथ्यादृष्टि होने वाले नहीं। सर्वार्थसिद्धि से क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ आये थे। इसी प्रकार की कई बातें राम के जीवन मे आती है। भूमिका के अनुसार जव-जब कर्मो का उदय आता है तब-तब उसकी चपेट से आत्मा के कैसे परिणाम होते हैं। उसे कहा है - कोउ-कोउ समै आतमाने कर्म दावे छे, कोउ-कोउ समै आतमा कर्मने

दावे छे। अर्थात् कभी-कभी आत्मा कर्मो को दबाता है और कभी-कभी कर्म, आत्मा को दबाते हैं। यह कस्समकस्सा चलता रहता है। अन्त मे जीत आत्मा की ही होगी। यह चलना भी चाहिए। मानलो, मैदान मे दो कुश्ती खेलने वाले आ गये। एक मिनिट मे ही एक गिर गया (चित्त हो गया) तो लोग कहते है कि मजा नहीं आया। कुछ दाव-पेंच होना चाहिए था। जब सारा का सारा बदन लाल हो जाए, २ ३ बार गिर-उठकर एक बार चित्त करे तो - वाह वाह ! कमाल कर दिया, कहेगे। क्योकि हमे आनद तभी आता है। उसी प्रकार जब जाना ही है इस लोक से तो करामात कर दिखाने से नहीं चूकना चाहिए। कर्मो ने अनन्तकाल से इसको दबाये रखा, अब एक बार ऐसी सन्धि आयी है कर्मो को दबाने की। एक बार मे ही न दबा दे बल्कि दबाते रहे-दबाते रहे, जब बिल्कुल लतफत हो जाये, कहे - मै भाग जाऊँगा, चला जाऊँगा - ऐसा कर दो अपने आत्मा के बल से। जब सम्पूर्ण बल खुलकर सामने आयेगा तो सभी कर्म भागते फिरेगे। तभी वीतरागता प्राप्त होगी।

वीतराग और अराग में क्या अतंर है? यह जो पृष्ठ, कागज का है यह अरागी है और भी जितनी भी वस्तुएं देखने में आ रही हैं वे सभी अरागी हैं, जड़ हैं, किन्तु चेतना वाले जीव ही कुछ रागी और कुछ वीतराग होते हैं। जिसके पास राग था, उसका अभाव करने से वीतरागता आती है। हमें अरागी नहीं वीतरागी बनना है।

आप लोग भी तो वीतराग हैं लेकिन कैसे ? "आत्मान प्रति रागो यस्य न वर्तते इति वीतराग '' आत्मा के प्रति जिसका राग नहीं है वह भी वीतराग है और जिसकी आत्मा मे राग नहीं वह भी वीतराग है। आपको आत्मा के प्रति राग न होते हुए भी आप सरागी माने जाते है। क्योकि भिन्न-भिन्न जो अन्य वस्तुए है उन सबके प्रति आपको राग है। **आप कहते तो हैं- यह भिन्न हैं, यह भिन्न हैं, लेकिन थोड़ी भी प्रतिकूल दशा आ जाये तो खेद-खिन्न हैं। यह पर है, यह पर है - फिर भी उसी में तत्पर हैं। यह सब नाटक क्या है?**

जब नये दीक्षित श्रमण ने महाराज के चरणो मे नमन किया तो महाराज ने कहा - क्यो क्या बात है, निकल गया पूरा का पूरा काटा ? महाराज ! आपने तो अच्छी सधि पकड़ी, हृदय की बात जान ली। भैय्या ! हम हृदय की बात जानते है बाद की बात नहीं। किसी और के पास नहीं पहुँचना था, क्योकि सबके प्रति तुम्हारे क्षमा भाव है। जहाँ बैर नहीं वहाँ क्षमा भाव है। अब तुमने दीक्षा ले ली, लेकिन जिसके साथ तुम्हारा बैर-भाव था, वह निकला कि नहीं ? भीतर रहना नहीं चाहिए। उसको तुम्हीं टटोलो, और कहाँ पर ? वहीं पर जाकर। उसमें अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए उस श्रावक के, इस लिग (जिनलिग) को देखने मात्र से निष्ठा पैदा

हो गयी कि इस प्रकार का वैर रखने वाले भी मेरे आगन तक आ सकते है। मान का पूरा का पूरा हनन। जो राजा था, दूसरो पर सत्ता रखता था, सब कुछ करता था, वही आज यूं हाथ पसारकर आया है। यह भीतर की अग्नि-परीक्षा है। "जो दिया जाय वह लेना" बहुत ही कठिन व्रत है। उसमें अपनी माग नहीं होना, बहुत कठिन है।

एक बार, सागर मे वाचना चल रही थी, तब आचार्य गुणभद्र का सदर्भ देते हुए कहा था कि - श्रावक का पद कभी भी बडा नहीं होता, मात्र दान के अलावा। जिस समय उसके सामने तीन लोक के नाथ भी हाथ करते है, उस समय श्रावक को अपूर्व आनंद होता है और उसी आनद के साथ अपना हाथ यू करता है(दान देता है)। तब हमने कहा - बात तो बिल्कुल ठीक है, परतु हाथ कापते किसके है? देने वालो के ही हाथ कापते है, लेने वालो के नहीं। क्यो कांपते हैं ? क्योंकि देने वाला दे तो रहा है परतु क्या पता, कैसे हो जाए, इसीलिए कापते है। लेकिन महाराज निर्भीकता के साथ लेते है।

बधुओ ! राजा हो या महाराजा, जब तक राजकीय मान सम्मान है तब तक तीन लोक का नाथ नहीं बन सकता। चाहे कितनी भी कठिन तपस्या क्यो न कर ले। इसीलिए वृषभनाथ ने दीक्षा ली। इसका अर्थ यही है कि उनके पास भीतर बैठी हुई, क्रोध, मान, माया, लोभ भले ही अनन्तानुबधी न हो पर शेष सभी कषाय तो विद्यमान होगी। इनका जब तक क्षय होगा तब तक उदयावली से उदय में आकर इनका कार्य देखा जा सकता है। वर्धमानचारित्र वालों को भी हो सकता है परंतु वह सज्वलन होगा। अत उसको भी जीतने के लिए बार-बार प्रयास करना, और जो कर रहे है वे धन्य है। समयसारकलश मे एक स्थान पर लिखा है -

वहती रहती कषाय नाली, शान्ति-सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी, वहीं प्यारकर मुक्ति-रमा मन हरती हैं।
तीन लोक भी आलोकित है अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुततम महिमा आतम की जय शीला है।

वहीं पर कषाय नाली है, वहीं अमृत का झरना। वहीं तीन लोक, वहीं मुक्तिरमा। वहीं पर तीनो लोको को आलोकित करने वाला अद्भुत-दिव्य-ज्ञान, लेकिन यह अतिशय लीला चेतना की ही है। धन्य है वे मुनिराज और उनकी चेतना, जो दीक्षा लेने के उपरान्त कषाय रहते हुए भी, कषाय नहीं करते है। कषाय चले जाने के बाद हमने कषाय जीत ली, ऐसा नहीं। जैसे - रणागन मे शत्रु के सामने कूदना ही कार्यकारी है। जब वैरी भाग जाए, उस समय कूदे तो क्या मतलब। शत्रु के सामने

हाथ मे तलवार हो और ढाल तथा छाती यू करके रणागन मे कूद कर किये गये प्रहार से बच, सधि पा अपनी तलवार चलाने से काम होता है। उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य रूपी ढाल को अपने हाथ में लेकर, ज्ञान की तलवार चलाने से अनन्तकालीन कर्म की फौज जो कि भीतर बैठी है, छिन्न-भिन्न हो जाती है। बस अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है। हमे जितना भी पुरुषार्थ करना है वह मात्र मोह को जीतने के लिए ही करना है। मोह को जीतने पर ही विजय मानी जायेगी अन्यथा कोई मतलब नहीं। कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं।

उस श्रावक को भी ऐसा ज्ञान हो गया, कि भगवान् ! इनके साथ जो बैर था, जो गाठ पड़ गयी थी वह कभी खुलेगी, यह सभव नहीं लगता था। कम से कम इस भव में तो कतई सभव नहीं लगता था। उस पर्याय का प्रध्वसाभाव हो गया जिससे कि हमारी गाठ बधी थी। अब मुनिलिग आ गया, मुनिलिग प्राप्त होते ही मेरे भीतर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं आये। कारण कि वे वीतराग होकर आये थे रागी-द्वेषी होकर नहीं। यदि हमारे सामने कोई वीतरागता के साथ आते है तो हमे भी वीतराग भाव की उपलब्धि होगी और यदि मान दिखाते है तो हमारे भीतर भी मान की उदीरणा हो जाती है। सामने वाला व्यक्ति मान नहीं दिखाता तो हमारा भी मान उपशान्त हो जाए। जैसे - सिह देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मेरी ओर किस दृष्टि से देख रहा है, यदि लाल कटाक्षो से देखता है तो सिंह भी इसी प्रकार से कर लेता है। यदि वह शान्तरूप से चलता है तो सिह भी शान्त मुद्रा से चला जाता है।

एक बार की बात। दो सत जगल से चले जा रहे हैं, उधर से एक सिह भी आ गया। सिंह का देखकर दोनों को थोड़ा-सा क्षोभ हो गया अब क्या होगा, क्या पता ? आजू-बाजू खिसकने के लिए कोई स्थान नहीं था। अब क्या करें? अव तो वह जैसा आ रहा है, वैसे ही हम चले। रुकने से क्या मतलब ? जो करना हो कर लेगा। इसलिए चलने मे कोई बाधा नहीं। बस, उस तरफ नहीं देखना है। ईर्यापथ से चलना है। नीचे देखते हुए दोनों चले गये। बीच मे से वह भी क्रास कर चला गया। सिह इधर चला गया और वे उधर। कुछ दूर जाकर इन लोगो ने मुडकर देखा तो उसने भी देखा कि कहीं कोई प्रहार तो नहीं। दोनों शान्त चले गये और सिह भी चला गया।

बधुओ ! कषाय-भाव की दूसरो को देखकर भी उदीरणा होती है। इसलिए बहुत सम्हाल कर चलने की बात है। कषायवान् के सामने जाने से कषाय की उदीरणा बहुत जल्दी हो जाया करती है। जिस प्रकार अग्नि को ईधन के द्वारा बल मिल जाता

है उसी प्रकार कषायवान् व्यक्ति के सामने कोई कषाय करता है तो उसको बहुत जल्दी कषाय आती है।

एक छोटा-सा लडका मा की गोद मे बैठा है। मा दूध पिलाती-पिलाती आखे लाल कर ले तो वह दूध पीना छोड़कर देखने लग जाता है, कि क्या मामला है? गडवड-सा लगता है, तो मुह का भी दूध वहीं छोड़ देगा। ज्यादा विशेष हो गया तो वह वहाँ से खिसकने लगेगा। लेकिन ज्यों ही चुटकी बजाकर प्यार दिखाया तो फिर पीने लगेगा। इसका मतलब यही हुआ कि दूसरो की कषाय समाप्त करना चाहते हो तो हमे भी उपशान्त होते चले जाना चाहिए।

अतृणे पतिता वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति

जहाँ पर तृण नहीं। घास-पूस नहीं है वहाँ पर धधकती एक अग्नि की लकडी भी रख दो तो वह भी पाच मिनिट मे समाप्त हो जाती है। ईधन का अभाव होते ही शान्त हो जाएगी। इसी तरह हमारे पास कषाय है वह शान्त होते ही अपने आप शान्ति आ जाएगी। जब तक ईधन का सहयोग मिलेगा ईधन पटकते रहेगे वह वढती जायेगी। **उपशम भाव ही हमारे लिए अजेय और अमोघ अस्त्र है। इस अमोघ अस्त्र के द्वारा दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को जीतकर चलना है।**

जैसे आदिनाथ ने आज दीक्षा अगीकार कर ली। ऐसे श्रमणत्व को मै बार-बार नमस्कार करता हूँ। ऐसा श्रमणत्व हम लोगों को भी मिले ऐसी भावना करनी चाहिए। अतीत मे कितनी भी कषाय हो गई हो। उसकी याद नहीं करनी चाहिए। अनागत की "प्लानिग" भी नहीं करनी चाहिए। यह सब पर्याय बुद्धि है। आप तो प्रागभाव और प्रध्वसाभाव को घटाकर देख लीजिए सारा माहौल शान्त हो जायेगा।

एक वीरत्व की बात याद आ गई, वह और आपके सामने रख देता हूँ ताकि आप भी उसका उपयोग कर सके -

कौन कहता है कि आसमां में सुराख नहीं हो सकता।
एक पत्थर तो दिल से उछालकर देखो यारो।।

याद रखिये ! आत्मा के पास अनन्तशक्ति है। इस शक्ति का उपयोग कषायो के प्रहार करने के लिए कीजिए। हमारी यह शक्ति अब दवी नहीं रहनी चाहिए, सोई नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो चोरों का साम्राज्य हो जायेगा। क्या आप अपनी सम्पदा को चोरो के हाथ मे देना चाहेगे? नहीं ना। इसलिए दहाड़ मारकर उठो। जैसे सिह कि सामने कोई नहीं आता। वैसे ही उठो। सिह वृत्ति को अपनाओ। **चूहों से वनकर हजार वर्ष जीने की अपेक्षा सिंह जैसा बनकर एक दिन जीना श्रेष्ठ है।** मुनि महाराजों की वृत्ति ही सिह-वृत्ति कहलाती है। वह सिह जैसे क्रूर तो नहीं

होते किंतु सिंह जैसे निर्भीक जरूर होते हैं, निरीह होते हैं। पीठ-पीछे से धावा नहीं बोलते। छुपकर जीवन-यापन नहीं करते। उनका जीवन खुल्लमखुला रहता है। वनराजो के पास जाकर महाराज रहते हैं। भवनो मे रहने वाले वनराजों के पास नहीं ठहर सकते।

आज भगवान् ने दीक्षा ली तो इन्द्र चाकर बनना चाहता था लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उसे कह दिया - तुम पालकी भी नहीं उठा सकते हो। पहले मनुष्य उठा ले, फिर कोई नहीं। ना ये, ना तुम। मैं मात्र अकेला हूँ, था और रहूँगा। इस एकत्व के माध्यम से आज तक हजारों आत्माएं अपना कल्याण कर गई, कर रही है, और आगामी काल मे भी करेंगी। अपूर्णता से अपने जीवन को पूर्णता की ओर ले जायेगी। मै उन वृषभनाथ भगवान् को, जो आज मुनि बने है, यह पंक्ति बोलते हुए स्मरण मे लाता हू–

बल में बालक हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी।
तव गुण-गण की स्तुति करने से, पूर्ण बनूं तुम-सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहले पतली-सी ही चलती है
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है।।

□□

७

आज चौथा दिन है। कल ऋषीकुमार ने दीक्षा अगीकार कर ली है। इसके उपरान्त तप मे लीन है, आज उन्हे केवल ज्ञान की उपलब्धि होने वाली है। इसके पूर्व उन्हे भूख लगे। यह सब कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि तीर्थकर की कोई भी चर्या "आर्टीफिशियल" नहीं हुआ करती, दिखावट नही हुआ करती, प्रदर्शन के लिए भी नहीं हुआ करती। दुनिया को उपदेश देने के लिए भी नहीं हुआ करती, क्योकि छद्मस्थ अवस्था मे वे उपदेश नहीं दिया करते है। दिखावटी कोई नाटक नहीं किया करते हैं। ऋषभनाथ, जो मुनिराज बने है वे, छठवे-सातवे गुणस्थान मे घूम रहे है, क्योकि उनका उपयोग अभी भी श्रेणी के लायक नहीं है। अर्थ यह हुआ कि उनकी चचलता अभी नहीं मिटी और जब चचलता नहीं मिटी तो वह क्रिया, केवल दिखाने के लिए नहीं है।

कल चर्चा चल रही थी कि, महाराज! तीर्थकरो को पिच्छी-कमण्डलु का विधान तो नहीं है और कल तो यहाँ दिया गया? हा ! बात तो ठीक है। ससारी प्राणी को मुनिचर्या की सही-सही पहचान हो, ज्ञान हो इसलिए ये दिया गया है। जो तीर्थकर दीक्षित होते हैं, वे पिच्छी और कमण्डलु नहीं लेते, क्योकि ज्यो ही वे दीक्षित होते हैं, त्यो ही उन्हे सारी ऋद्धिया प्राप्त हो जाती है, एक मात्र केवलज्ञान को छोडकर। उनकी मन, वचन, काय की चेष्टा के द्वारा त्रसो का और स्थावरो का घात नहीं हुआ करता, इस प्रकार की विशुद्धि उनकी चर्या मे आ जाती है। और वे वर्द्धमान चारित्र वाले होते है, इसलिए इसके बारे में कुछ ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे आहार के लिए उठते है, त्यो ही उपकरण का विधान उपस्थित हो जाता है।

प्रवचनसार मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रस्तुत किया है कि, अरे ! तूने तो सब कुछ छोड़ने का सकल्प लिया था। छोडने का सकल्प लेकर, अब ग्रहण करने के लिए जा रहा है। गृहस्थो के सामने हाथ यू करेगा (फैलायेगा), बड़ी अद्भुत बात

है। चाहे तीर्थंकर हो, चाहे चक्रवर्ती हो, चाहे कामदेव हो, कोई भी हो। कर्मो के सामने सबको घुटने टेकने पड़ेगे। जब छोड़ने का सकल्प लेकर दीक्षा ग्रहण की थी, तो इस समय ग्रहण करने क्यो जा रहे है– आचार्य कहते हैं– उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की सूचना आगम मे है। जो व्यक्ति अपवादमार्ग को भूल जाता है वह भी फेल हो जाता है। और जो व्यक्ति उत्सर्गमार्ग को भूल जाता है वह भी फेल हो जाता है। दोनो मे ही साम्य हो। वेतन देना अनिवार्य है। लेकिन यहॉ पर वेतन के साथ "कण्डीशन" भी है कुछ। वेतन के साथ शर्त हुआ करती हैं, उनको जो स्वीकारना है उसे कहते है साधु। साधु शर्तो के साथ ही अपनी आत्मा की साधना करता है। आगम के अनुकूल करता है। भगवान् की चर्या भी आगम के अनुकूल होती है, विपरीत नहीं हुआ करती। २८ मूल गुणो के धारक होते हैं वे। इसलिए एक बार ही आहार के लिए निकलने का नियम होता है, यह बात अलग है कि उनकी क्षमता ६ माह तक की रही, किन्तु ६ माह के उपरान्त वह भी उठ गये।

इस चर्या मे जब चार हजार मुनि महाराज फेल हो गये तभी से प्रारम्भ हो गया है ३६३ मतो का प्रचलन। दिगम्बर होने के उपरान्त जो शोधन करके आहार नहीं करता वह अन्य समिति वाला है। सम्यक्समिति वाला नहीं माना जाएगा। वे मुनिराज श्रावक के घर आकर आहार कब ग्रहण करते है जबकि श्रावक की सारी की सारी क्रिया देख लेते है। नवधा-भक्ति देख लेते है। श्रावक यदि नवधा-भक्ति करता है तो ही आहार लेते हैं, नहीं तो नहीं लेते। तो क्या हो गया था? कल किसी ने कहा था कि उन्हे अन्तरायकर्म का उदय था। बिलकुल ठीक है किन्तु लड्डू लाकर के दिखा रहे थे, क्यो नहीं लिए उन्होने? तब जवाब मिलता है, श्रावको की गलती थी, मुनि महाराज की कोई गलती नहीं थी। श्रावको की क्या गलती थी? तो उन्होने कहा कि– नवधा-भक्ति नहीं की थी। जब तक नवधा-भक्ति नहीं होगी, तब तक लाये गए आहार को वे नहीं लेगे। बहुत कठिन है, यह चर्या। एक माह, दो माह, तीन माह, चार माह, छह माह तक हो गये उपवास किये। उसके बाद ६ माह और अन्तराय चला। फिर भी उस क्रिया– चर्चा की इति नहीं की। इस चर्या से डिगे नहीं वे। यह मात्र जड़ की क्रिया नहीं है, किन्तु यह भीतर में छट्ठे-सातवे गुणस्थान मे झूलता हुआ जो ज्ञानवान् चेतन भगवान आत्मा है, उसी की क्रिया है– काम है।

एषणा के कारण ही ससारमे विप्लव मचा हुआ है। एक दिन के लिए भी भूख सताने लग जाए तो "भरता क्या न करता", "भूखा क्या-क्या करता" ये सब कहावते चरितार्थ होने लगती है। लेकिन कितने ही कठोर उपसर्ग-परीषह क्यो न

हा तो भी मुनि महाराज अपनी चर्या से तीन काल मे भी डिगते नहीं। टस स मस नहीं होते। वे कभी मागते नहीं है, क्योंकि यही एक मुद्रा ऐसी रह गई है ससार मे, जिसके पीछे रोटी है और वाकी जितने भी है वे सव रोटी के पीछे है। मात्र साहित्य से काम नहीं चलने वाला इस जगह। यदि हमारे पास क्रिया है, दिगम्बर मुद्रा है तो साक्षात् महावीर भगवान् को दिखा सकते है। युग के आदि मे जो वृषभनाथ हुए थे उनकी चर्या का पालन करने वाले आज भी हैं। यह हमारा सौभाग्य है।

यह ससारी प्राणी चार सज्ञाओं से ग्रसा हुआ है। आहार की सज्ञा से कोई निर्वृत्त नहीं है छट्टे गुणस्थान तक, अर्थात् यह सज्ञा छठवे गुणस्थान तक होती है। आहार सज्ञा का मतलव है आहार की इच्छा होना। आप लोगो को भी आहार की इच्छा होती है और मुनि महाराज को भी आहार की इच्छा है। किन्तु आप लोगो को आहार की इच्छा के साथ-साथ रस की भी इच्छा होती है। रस की इच्छा जिह्वा की भूख मानी जाती है और मुनिराज को मात्र पेट की भूख होती है। वह भूख वस्तुत भूख नहीं है। रस की भूख ऐसी भूख है कि भूत लगा देती है। ससारी प्राणी इसी भूत के पीछे ही सारा का सारा शृगार करता है। खाते तो आप भी हैं, उतना ही पेट है और मुनि का पेट भी उतना ही है। फिर भी लगता है कि आपके पेट म कहीं गुजाइश अधिक है। जिससे अनथऊ (साय का भोजन) की चिन्ता हुआ करती है आपको। मुनिराज को इसकी चिन्ता नहीं हुआ करती। उन्हें रात-दिन मे एक वार ही चेतन को वेतन देने का काम है। इसीलिए ऋषभनाथ आपके घर आयेंगे।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने पूछा था समयसार पढाते समय, वताओ— तीर्थकर की प्रमत्त अवस्था कैसे पकडोगे? समयसार की व्याख्या पढाने के उपरान्त पूछा था क्योंकि उन्हे यह ज्ञात करना था कि ये किस प्रकार अपनी वुद्धि मे अर्थ निकाल पाता है। मैंने कहा— महाराज जी ! आपने इस प्रकार पढाया तो है ही नहीं? इसीलिए तो पूछ रहा हूँ मैं, कि कैसे पकडोगे? आधा-एक मिनिट सोचता रहा फिर वाद मे मैने कहा कि महाराज ! जव तीर्थकर चर्या के लिये उठते हैं,उस समय विना इच्छा के नहीं उठते। आहार लेते समय मागेंगे, वह भी विना इच्छा के नहीं। तभी एक-एक ग्रास पर हम उनकी प्रमाद चर्या को पकड सकते है। जिस समय वे ग्रास लेते है उस समय छट्ठा गुणस्थान माना जायेगा, जो कि प्रमाद की अवस्था है। कारण कि लेने की इच्छा है। ध्यान रखना वे आहार को ऐसे ही नहीं ले लेते हम लोगो जैसे, किन्तु यू-यू (अजुलि वाधकर शोधन का इशारा) शोधन करते है। शोधन करने का नाम है अप्रमत्त अवस्था। ये यू-यू क्या अगुली से? यह जड की क्रिया है क्या?

नहीं। ऐसा कभी मत सोचना कि यह जड़ की क्रिया है किन्तु यह सप्तम गुणस्थान की क्रिया है। इसको आगम मे एषणा समिति बोलते है। यह अप्रमत्त दशा का द्योतक है। ग्रास को लेने के लिए हाथ को यू नीचे फैलाना, यह तो आहार सज्ञा का प्रतीक है, उस समय छट्ठा गुणस्थान है, प्रमत्त है। किन्तु शोधन के लिए यू-यू अगुली का चलाना, यह सप्तम गुणस्थान है। पुन हाथ फैलाना छट्ठा और शोधन सातवा। इस प्रकार होती है उनकी क्रिया। इतना विशेष ध्यान रखना कि आहार लेते समय रस का स्वाद, रस मे चटक-मटक नहीं करते। यह बहुत सुन्दर है, बढिया है। ऐसा कह देगे या मन मे ऐसा भाव आ जायेगा तो गुणस्थान से नीचे आ जाएगे। लेकिन उन्हे बढ़िया-घटिया से कोई मतलब नहीं रहता। उनके अन्दर तो "अरसमरूवमगंध" वाली गाथा चलती रहती है।

आहार देते समय श्रावक लोग कह देते हैं कि महाराज ! जल्दी-जल्दी ले-लो। हम शोधन करके ही तो दे रहे है, लेकिन नहीं। मै तो देखकर ही लूगा। क्योकि आपकी एषणासमिति तो आपके लिए है, मेरी एषणासमिति मेरे लिए है। तुम्हारी जो क्रिया होगी वह तुम्हारे गुणस्थान की रक्षा करेगी और मेरी जो क्रिया होगी वह मेरी रक्षा करेगी। मेरे गुणस्थान की रक्षा करेगी। आगम की आज्ञा का उल्लघन हम नहीं कर सकते। वह जड़ की क्रिया अपितु जड़हीन अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा की क्रिया है।

क्षुधा होती है– भूख बहुत जोरो से लगी है। तो देख लो। एक पूड़ी भी थोडी-सी देर से आती है तो कैसी गड़बड़ी हो जाती है भैय्या ! या तो पहले भोजन पर नहीं बुलाते, बुलाना है तो पहले पूडी का प्रबन्ध तो कर लेते। दाल के बिना काम चल जाए लेकिन पूडी के बिना कैसे चले। कुछ तो मिल जाए थाली मे। उसी के साथ खाकर, थाली खाली कर दे। होता यह है कि भूख की इतनी तीव्र वेदना होती है कि असह्य होती है। किन्तु मुनि महाराज कितनी ही भूख होने पर अपनी एषणा समिति को पालते हुए ही आगे का ग्रास लेते है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो कहा है– मुनि की परीक्षा समिति के माध्यम से ही होती है। वो जिस समय सोयेंगे, उस समय समिति चल रही है। बोलेंगे उस समय भाषा समिति चल रही है। जिस समय उठेगे-बैठेगे उस समय आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। जब चलेगे, ईर्यासमिति से चलेगे। पूरी की पूरी समितिया चल रहीं है किसी भी क्रिया मे कमी नहीं है। इसका मतलब है– अर्थ है कि प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी चल रही है, यानि चौबीसो घण्टे (हमेशा) स्वाध्याय चल रहा है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में भेद होने का मूल कारण यही है— एषणासमिति। अंजलि में डालते ही खा जाना, यह गायों का काम है। मांगना गायों का काम है। परन्तु महाराज का काम है, अंजलि में आते ही ठीक-ठीक शोधन करके खाना। गायें व्यक्तियों जैसे कभी भी नहीं खाता। शोधन करना बुद्धिमान् की क्रिया है। हमें इस बात का गौरव है, गौरव ही नहीं स्वाभिमान भी है कि कम से कम महावीर भगवान के वीतराग-विज्ञान का जो मूलमन्त्र है उसका पालन तो कर रहे हैं। इसमें गौरव होना भी सहज है। मात्र बातों के जमा खर्च से काम नहीं चल सकता किन्तु आगम की जो आज्ञा है उसका सेवन करना सर्वप्रथम आवश्यक है। जिसका पेट खाली है, वह व्यक्ति कभी भी पेट पर हाथ रखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह आत्माराम को भूखा रखता है। इसलिए मैं कहता हूँ है ! मैं क्या कहता? आचार्यों का कहना है और आचार्यों का भी क्या कहना, दिव्यध्वनि खिरती है मध्याह्न में उसी दिव्यध्वनि का कहना है कि यदि तुम सुख का अनुभव करना चाहते हो तो, अपनी चर्या को ऐसी (सदाचारपूर्ण) बनाओ। यद्वा-तद्वा चर्या बनाओगे तो नियम से मात खा जाओगे— भटक जाओगे। आज तक मार्ग से भटकते रहे, कहीं रास्ता नहीं मिला, यही कारण है। कारण को सही-सही जानना आवश्यक है, क्योंकि कारण में ही विपर्यास हुआ करता है कार्य में नहीं। पहले भी कहा था— मंजिल में और सुख में कोई विसंवाद नहीं हुआ करता, मात्र सुख को प्राप्त कराने वाले कारणों में विसंवाद होता है। हमारी बुद्धि जहाँ पर भी चर्या में कठिनाई होने लगती है तो उसे भूलती-भूलती चली जाती है चलते समय की कठिनाइयां होती हैं, बन्धुओं ! बैठे-बैठे नहीं। इन सभी कठिनाइयों को पार करने का मार्ग भगवान् ने बताया है। वह आज चर्या करके आगे की परम्परा का भी मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। उनकी चर्या के उपरान्त सभी समझ सके थे कि मुनिराज को इस प्रकार चर्या करना चाहिए तथा श्रावकों को भी इसका ज्ञान हुआ।

ऋषभनाथ को १००० वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ, तब ६-६ महिने के उपरान्त वे उठे, हजारों बार उठे। अर्थात् हजारों बार उन्हें भूख लगी, आहार की इच्छा हुई। यह छट्ठे गुणस्थान की बात है। आहार की क्रिया, जबकि सातवें गुणस्थान तक चलती है यह धवला, जयधवला और महाबन्ध के द्वारा ज्ञात होता है। अतः ज्ञानी को कोई रस सम्बन्धी, अन्न सम्बन्धी और कोई सामग्री सम्बन्धी परिग्रह नहीं रहता। जब मांगते हैं तो राग नहीं रहता क्या? रहता है। पर विषय सम्बन्धी नहीं रहता। फिर रहता भी है और नहीं भी रहता, यह क्या कह रहे आप? जैसा कहा है वैसा

कहीं भी २८ मूलगुणों में मुनियों के लिए स्वाध्याय आवश्यक नहीं बताया गया। यदि स्वाध्याय को आवश्यको में गिनना शुरू कर देंगे तो २६ मूलगुण हो जायेंगे, या फिर एक को अलग करके उसे रखना होगा। यह सब ठीक नहीं, अवर्णवाद कहलायेगा। व्युत्क्रम भी नहीं कर सकते, अतिक्रम भी नहीं कर सकते, अनाक्रम भी नहीं कर सकते है हम जिनवाणी मे।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेदयदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।

इस प्रकार ज्ञान की परिभाषा समन्तभद्र स्वामी ने की है। न्यूनता मे रहित होना चाहिए। विपरीतता से भी रहित होना चाहिए। ज्यादा नहीं होना चाहिए। अन्यथा भी नहीं होना चाहिए। "याथातथ्य" जैसा कहा गया है वैसा ही होना चाहिए अन्य नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि हमारे वे मुनिराज तीन काल में अपनी आत्मा को नहीं भूलते, क्योकि यदि भूल करेंगे तो क्रियाओ मे सावधानी नहीं आ सकेगी। ध्यान रखना दिव्य-उपदेश होगा मध्याह्न मे, क्या कहेंगे भगवान्, किसको कहेंगे और किस रूप में कहेंगे? सर्वप्रथम देशनालब्धि का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे, जिसका कि अभी मगलाचरण किया गया है, दिया है। जिसके पास योग्यता नहीं है उसे देशना मत दो। उसको यदि देशना देंगे तो वह अनादर-अपमान करेगा। जिनवाणी का अनादर हो जाएगा। उन्होंने कहा है-- जो आठ अनिष्टकारक है, दुर्द्धर हं, जिनका छोडना बहुत कठिन है। "दुरितायतनानि" पाप की खान है। पाप की मूल खान कौन है, मद्य, मास, मधु और सात प्रकार के व्यसन जो इसमें आते है। "जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय" इन पापो का, इन व्यसनो का त्यागी जो नहीं है, उसको यदि तुम पवित्र जिनवाणी को दोगे तो सम्भव नहीं, उसका वह सही-सही उपयोग करेगा। इसे आप सामान्य चीजे साग-सब्जी जैसा नहीं समझें। कि ठीक नहीं लगा तो बदल लिया दो और रख दो, या कम कर दो। ऊपर से और डाल दो। ऐसा नहीं हो सकता। यह जिनवाणी है जिनवाणी? इसको जो सिर पर लेकर के उठायेगा वही इसका महत्व समझ सकेगा।

मै स्वाध्याय का उस रूप मे निषेध नहीं करता, किन्तु जिस व्यक्ति की भूमिका ही नहीं है स्वाध्याय करने की। उस व्यक्ति को यदि समयसार पढने के लिए दे देते हो तो, आप नियम से प्रायश्चित्त के भागी होगे। ऐसा मूलाचार मे कहा है। मुनिराज को कहा गया है कि जो व्यक्ति जिनवाणी का आदर नहीं करता, उसको आप अपने

प्रलोभन की वजह से यदि जिनवाणी सुना देते हैं तो आप जिनवाणी का अनादर करा रहे हैं। हा, जिस किसी को भगवान् के दर्शन नहीं कराना, किन्तु पूछताछ करके कराना। समझने के लिए यहाँ पर कोई जौहरी भी हो सकता है। जो जवाहरात का काम करता हो। उससे मैं पूछना चाहता हूँ, वह अपनी तश्तरी मे मोती-मणिकाओं को रखकर दिखाता-फिरता है क्या? बहुत सारी दुकाने है जयपुर के जौहरी बाजार में। अन्य दुकानो पर जैसा सामान लटकाए रहते हैं वैसा जौहरी बाजार में जाने के उपरान्त किसी भी दुकान मे नहीं देखा। मैं पूछना यह चाहता हूँ, क्या उन्होंने बेचने का प्रारम्भ नहीं किया? किया तो है, दुकान तो खोली है, फिर ग्राहक आकर पूछता है कि क्यो भैय्या ! आपके पास में ये सामान है? हां ! है तो सही, लेकिन हमारे बड़े बाबाजी अभी बाहर गये हैं, आप यहाँ शान्त बैठिये। गए-बए कहीं नहीं थे। उस ग्राहक की तीव्र इच्छा की परीक्षा की जा रही थी। मात्र वह पूछने तो नहीं आया है। खरीदने के लिए भी आया है या नहीं। आप लोग उस समय तकिए के ऊपर आरामतलबी के साथ बैठे रहते हैं। ३.४ बार के निरीक्षण कर लेने के बाद, जब यह निश्चित हो जाता है कि, ये असली ग्राहक हैं तब आप डिबिया में से डिबिया, डिबिया मे से डिबिया और भी डिबिया मे से डिबिया....... फिर पुड़िया मे से पुड़िया, पुड़िया मे से पुड़िया. .. ऐसे निकालते चले जाने पर. .... फिर लाल रंग का कवर, फिर नीले रंग का कवर, कभी और .... आते-आते अन्त मे एक पुडिया खुल ही जाती है, तो क्या कहते हैं उससे, हाथ नहीं लगाना उसको यूं दूर से ही दिखा देते हैं। किसी को नहीं कहना।

यहाँ पर भी इसी प्रकार की मूल्यवान वस्तु है जिनवाणी ! जो व्यक्ति आत्मा आदि को कुछ नहीं समझता। जानने की इच्छा भी नहीं कर रहा, उसको कभी भी नहीं देना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यो ने कहा है– आत्मा की बात तो सामने रखना, लेकिन इतना ख्याल रखना कि उसका मूल्य किसी प्रकार से कम न हो जाए, इस ढंग से रखना। जबरदस्ती नहीं करना किसी को। क्योंकि वह व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकता। किसी ने कहा है कि– "भूखे भजन न होई गोपाला, ले लो अपनी कण्ठीमाला।'' ऐसा कहेंगे वे आत्मा के बारे में जो उससे अपरिचित व्यक्ति है। उसे अपनी माला की आवश्यकता है, अन्य की नहीं।

स्वाध्याय का निषेध नहीं कर रहा हूँ, बल्कि भूमिका का विधान है यहा स्वाध्याय की क्रिया को करना जिसने प्रारम्भ कर दिया है, वह तो नियम से स्वाध्याय कर ही रहा है। मैं बार-बार कहा करता हूँ– जिस समय आप खिचड़ी

बनाना चाहते है, उस समय भी आप स्वाध्याय कर रहे होते है। कैसे स्वाध्याय कर रहे हैं महाराज? मै कहता हूँ कि आप बिल्कुल सही-सही ढग से स्वाध्याय कर रहे हैं। क्योकि उस समय आप अभक्ष्य से बचने के लिए एक-एक कणो का निरीक्षण कर रहे है। किसी ने कहा महाराज जी ! समता रखना चाहिए? किन्तु कब रखना चाहिए? प्रतिकूल वातावरण मे, या अनुकूल वातावरण मे? बन्धुओ! भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे मे कभी समता नहीं रखना चाहिए, ध्यान रक्खो। भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे मे यदि समता रखोगे तो नियम से पिट जाओगे और गुणस्थान से भी धड़ाम से नीचे गिरोगे। उस समय बुद्धि का पूरा-पूरा प्रयोग करना चाहिए। हां, तो एक-एक का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ पर। हेय चीजें, अभक्ष्य चीजें, अनुपसेव्य चीजे जो कुछ भी मिली हुई है, उनको अलग-अलग निकालना ही तो क्रिया-कलाप का स्वाध्याय है। ऐसा करना भगवान् की आज्ञा का अनुपालन भी है, यही सही स्वाध्याय है। जो प्रकाश रहते हुए तो इधर-उधर घूमता है जबकि अनथऊ का समय है, और जब प्रकाश नहीं रहता, उस समय जल्दी-जल्दी भोजन कर लेना चाहता है, और सोचता है एक बार स्वाध्याय कर लेगे तो सारा का सारा दोष ठीक हो जाएगा, लेकिन ध्यान रखो बन्धुओ ! ऐसा नहीं होगा। वह क्रियाहीन स्वाध्याय फालतु माना जाएगा। उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी आस्था उसके प्रति नहीं है।

आप शका कर सकते हैं महाराज जी ! छहढाला मे आवश्यकों मे स्वाध्याय को शामिल किया है? उसका उत्तर भी सुन लीजिए– छहढाला में जहाँ छटवीं ढाल मे "नित करें श्रुतिरति" ये पाठ है वहाँ उसके स्थान पर सशोधन कर "प्रत्याख्यान" का प्रयोग कर लेना चाहिए। उन्हे, जिन्हे की हमेशा श्रुत की सुरक्षा की भावना रहती है। क्योकि स्वय छहढालाकार ने कहा है कि "सुधी सुधार पढ़ो सदा" इसलिए सुधारना लेखक के अनुकूल है। इसमे दूसरा हेतु यह भी है कि २८ मूलगुणों मे प्रत्याख्यान नाम का एक मूलगुण ही समाप्त हो जाएगा। आप लोग तो मुनि नहीं है अत इस ओर दृष्टि नहीं गई शायद। पर मैं तो मुनि हूँ, २८ मूलगुणो को पालना है– जानना है, अत मेरी दृष्टि इस ओर रही। मैंने इसे देखने के लिए कुन्दकुन्द देव का साहित्य टटोला और जितने भी आचार्य हुए हैं उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थो को देखा। सब जगह प्रत्याख्यान ही मिला। किसी ने भी स्वाध्याय को ६ आवश्यको मे नहीं गिना। इसलिए स्वाध्याय स्वय प्रतिक्रमण, स्तुति और वदना में हो जाता है। जिसका समर्थन कुन्दकुन्ददेव ने अपने नियमसार मे किया है। अत दौलतराम

जी के विनीत भावो का आदर करते हुए जैसा कि उन्होने कहा "सुधी सुधार पढो सदा" प्रत्याख्यान पाठ कर लेना चाहिए।

एक वात का और ध्यान रखना होगा कि स्वाध्याय किस समय करे। हम स्वाध्याय करते है, किन्तु सामयिक के काल मे नहीं करना चाहिए। तथा इसी प्रकार कुछ और समय आगम मे कहे गये हैं उनमे नहीं करना चाहिए। जो कि स्वाध्याय के विधान करते है उस समय मे यदि करना ही चाहे तो "आलस्याभाव स्वाध्याय।" स्वाध्याय का अर्थ लिखना पढ़ना नहीं है। स्वाध्याय की अर्थ वस्तुत आलस्य के भावो का त्याग है, अर्थात् जिस व्यक्ति का उपयोग, चर्या हमेशा जागरूक रहती हे उसका सही स्वाध्याय माना जाता है।

प्रवचनसार के अन्दर उत्सर्ग एव अपवाद मार्ग के प्रकरण मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है कि मुनिराज के पास किसी प्रकार का ग्रन्थ भी नहीं रहता। क्योंकि शुद्धोपयोग ही मुनिराज की चर्या मानी जाती हे। इससे उनके पास पिच्छी-कमण्डलु भी मात्र समिति के समय उपकरणभूत माने जाते हैं। यहॉ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, स्वाध्याय करते-करते आज तक किसी को शुद्धोपयोग नहीं हुआ और ना ही केवलज्ञान, न हुआ है, न हो रहा है और न होगा। अत शुद्धोपयोगी मुनियो के कोई भी उपकरण नहीं होता।

दूसरी बात मै यह कहना चाहूँगा कि, कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थो मे रचयिता का नामोल्लेख करने का श्रेय किसको है? स्वाध्याय करने वालो से पूछते है हम? कुन्दकुन्दस्वामी के साहित्य का आलोडन करने वालो से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी का यह समयसार है, प्रवचनसार है, पचास्तिकाय है, इस प्रकार कहने वालो मे किसका नम्बर है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो द्वादशानुप्रेक्षा के अलावा कहीं लिखा ही नहीं कि यह मेरी कृति है। इसलिए समयसार किसका है? यह कहने का प्रथम श्रेय किसको? भरी सभा मे इसलिए पूछ रहा हूँ कि स्वाध्याय करो—स्वाध्याय करो, ऐसा कहने से कुछ नहीं होने वाला। बन्धुओ ! बहुत ही चिन्तन और मनन करने की वात है यह। जिसने कुन्दकुन्द स्वामी से पहचान करायी, उसका नाम लेओ, कौन है वह? वार-वार कहा जाता है कि अमृतचन्द जी ने टीका लिखकर बहुत महान् कार्य किया, विल्कुल ठीक है। परन्तु उनकी टीका मे कुन्दकुन्ददेव का नाम तक नहीं है। क्यो नहीं है? भगवान् जाने या कुन्दकुन्ददेव जाने या जानें स्वय अमृतचन्द जी। कुन्दकुन्द स्वामी के नामोल्लेख का पूरा-पूरा श्रेय मिलता है जयसेनाचार्य जी को। कुन्दकुन्दस्वामी का नाम अपने मुख से लेने वालो को, बार-बार कहना चाहिए कि धन्य हैं वे जयसेनाचार्य।

यदि आज वे नहीं होते तो समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द है इसे भी नहीं पहचान पाते। धन्य हे वे टीकाये। ऐसी टीकाये लिखी हैं कि सामान्य व्यक्ति भी पढ़कर अर्थ निकाल सकता है। बन्धुओ ! स्वाध्याय करना अलग वस्तु है और भीतरी रहस्य - गहराई को समझना अलग वस्तु है। ये सभी बातें सभा मे रखना आवश्यक नहीं समझ रहा हूँ, अत- यदि विद्वान् आये तो हम उनसे विचार-विमर्श कर लें इसके बारे मे। खुलकर विचार होना चाहिए। जो गुत्थिया है उन्हे समझाना होगा। तभी समझूँगा कि वस्तुत स्वाध्याय क्या वस्तु है।

प्रवचनसार मे, समयसार मे, पचास्तिकाय मे पाच-पाच, छह-छह बार कहा है– "कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्भणित।" उन्होने लिखा है, हम आचार्य कुन्दकुन्द के कृपापात्र हुए है। ऐसे आचार्य महाराज के हम ऋणी है, जिन्होने हमे दिशाबोध दिया है। जिन्होंने भी दिशाबोध दिया, उनका नाम लेना अनिवार्य है, जैसा कल पण्डित जी ने कहा था– **सर्वप्रथम और कोई आचार्य का नाम नहीं आता, मात्र कुन्दकुन्ददेव के अलावा। कुन्दकुन्दाम्नाय-कुन्दकुन्दाम्नाय ऐसा कहना चाहिये। लेकिन यहाँ ध्यान रक्खों कि कुन्दकुन्ददेव का नाम सर्वप्रथम कौन लेता है उसे भी १० बार याद करना चाहिये, अन्यथा हम अन्धकार में रह जायेंगे।** हमे जयसेनाचार्य को योग्य श्रेय देना होगा। अमृतचन्द जी का उपकार भी हम मानेंगे, लेकिन लोगो को जहाँ सदेह होता है, हो रहा है, उसका निवारण करना भी आवश्यक है। अमृतचन्द जी ने अपने नाम का उल्लेख प्रत्येक ग्रन्थ मे टीकाओ के साथ-साथ किया है, अनेक विधियो से किया है, पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम एक बार भी नहीं लिया। क्यो नहीं लेते हैं? भगवान् जाने और अमृतचन्द जी स्वय जाने कि उनसे क्यो नहीं लिया गया कुन्दकुन्ददेव का नाम। आप लोग तो मात्र कुन्दकुन्द का नाम लेते है किन्तु मै कुन्दकुन्द का नाम लेता हूँ और उनके बिना चलता तक नहीं। साथ ही, बीच-बीच मे जयसेनाचार्य को भी, याद किये बिना चल नहीं सकता। कारण कि, मुझे बिना टार्च (जयसेनाचार्य) के चला ही नहीं जाता। वह टार्च दिखाने वाले है, वस्तु को स्पष्ट करने वाले हैं आचार्य जयसेन जयसेन स्वामी है।

मै उनको, उनकी कृपा को, उनके उपकार को कैसे भूल सकता हूँ। आज न जयसेन है न अमृतचन्द जी, न कुन्दकुन्द भगवान्। हम तो जिससे दिशा मिली उनका नाम लेंगे। कई लोग नाम नहीं लेना चाहते, क्यो नहीं लेना चाहते? इसके बारे मे हमारे मन मे शका उठी है अत इस गूढ़ विषय की ओर स्वाध्याय करने वालो को देखना-सोचना चाहिये। यह बात हिन्दी में नहीं मिलेगी। आप प्रशस्ति पढिये, एक-एक

पंक्ति पढ़िये। दिन-रात समयसार का स्वाध्याय करते हैं, फिर भी आज तक आप इस विषय से अनभिज्ञ रहे, कि भगवान् कुन्दकुन्ददेव को प्रकाश में लाने वाले कौन हैं?

बहुत से कुन्दकुन्दाचार्य नाम के मुनिराज हुये हैं, लेकिन प्रकृत कुन्दकुन्दाचार्य जी ने जो चर्या निभायी तथा उस चर्या को सुरक्षित रखकर, हम सभी को देने का श्रेय प्राप्त किया। उनके लिए बड़े-बड़े आचार्यो ने कहा था कि वे महान्-तीर्थकर होंगे। उनका गुणानुवाद करके हम धन्य हो गये।

अमृतचन्द जी समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय की वृत्तियों द्वारा रहस्यों को तो खोलना चाहते हैं पर कुन्दकुन्दचार्य का नाम लिखना क्यों नहीं चाहते, यह बात समझ में नहीं आती। बड़े-बड़े व्याख्याकार यदि उनका नाम नहीं लेंगे तो हमारे लेने का क्या महत्व होगा? वे (अमृतचन्दजी) उन ग्रन्थों पर टीका करने वालों में आदि टीकाकार हैं, फिर नाम क्यों नहीं लेना चाहते। कुन्दकुन्ददेव के साहित्य का स्वाध्याय करने-प्रचारित करने वालों को तो कम से कम सोचना अवश्य चाहिए कि टीकाकार मूलकर्ता का नाम क्यों नहीं ले रहे है, विषय बहुत गंभीर एवं चिन्तनीय है।

आगे मैं यह कहना चाहता हूँ कि वही पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कह रहे हैं कि जब तक सप्तव्यसनों का त्याग नहीं होता, तब तक स्वाध्याय करने की योग्यता किसी भी व्यक्ति के पास नहीं आती। वैसे सप्त व्यसन राष्ट्र की उन्नति के लिए भी हानिकारक है और आत्मोन्नति के लिए भी। इस तरह जब देशनालब्धि की पात्रता के लिए सप्तव्यसनों के त्याग का विधान किया गया है, तब स्वाध्याय करने के पहले इतना तो नियम दिला देना/ले लेना चाहिए, बाद में स्वाध्याय आरम्भ करें। इसे मैं क्रमबद्ध स्वाध्याय कहता हूँ। अन्यथा आप क्रमबद्ध पर्याय की चर्चा तो करते रहेंगे, जिससे कि कुछ भी लाभ होगा नहीं तब तक, जबकि स्वाध्याय को कम से कम क्रमबद्ध नहीं करते।

एक आन्दोलन चला था, ब्रिटिश गवर्नमेंट को भारत से निकालने के लिए। कैसे निकाला जाए? तो उनकी जितनी भी चीजें हैं, परम्परायें हैं, उन सबको समाप्त कर देना आवश्यक होगा। इसी क्रम में शिक्षाप्रणाली को लेकर विरोध चला। गांधीजी ने शिक्षाप्रणाली को लेकर आन्दोलन चलाया। उस समय कई विद्यार्थी उनके पास आकर कहने लगे— भविष्य के साथ अहित कर रहे हैं। बेटा! क्या बात हो गई, बताओ तो? छात्र ने कहा— आप सब कुछ का विरोध करें— कर सकते हैं पर शिक्षण

का तो विरोध मत करो। बापू जी ने कहा– बिल्कुल ठीक है। लेकिन हम शिक्षण का विरोध तो नहीं करते।

वह लडका कहता है– मेरी समझ में नहीं आ रहा, आप हमे घुमाना चाह रहे हैं? घुमाना नहीं चाह रहा हूँ बेटा ! मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षण होना चाहिए और सभी को उससे लाभान्वित होना चाहिए, शिक्षित होना चाहिए। परन्तु शिक्षण की पद्धति भी तो सही-सही होनी चाहिए। जैसे हम दूध पी रहे हैं, लेकिन दूध पीते हुए शीशी मे पी रहे हैं। भारतीय सभ्यता शीशी से दूध पीने की नहीं है। शीशी भी ऊपर से बिल्कुल काली है, जिसमे पता भी नहीं चले कि दूध है या और कुछ भी। एक तो शीशी मे तथा दूसरे काले रग वाली शीशी में और ऊपर से शराब की दुकान पर बैठकर पी रहे हैं। मुझे ऐसा लगा, गाधी जी ने बहुत चतुराई से काम लिया। **उन्होंने शिक्षण का विरोध नहीं किया किन्तु शिक्षा प्रणाली का विरोध किया है।** इसमे रहस्य यही है कि हम जिस शिक्षण प्रणाली से शिक्षा लेगे तो आपके विचार भी तदनुसार ही होगे, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार यदि आपके हाथ मे शीशी है वह भी काली, और उसमें रखा दूध आप शराब की दुकान पर से पी रहे है, तो एक भी व्यक्ति ऐसा न होगा जोकि देखकर आपको शराबी न समझे। इसलिए दूध को दूध के रूप मे पिओ, भले ही दिखाकर पिओ, कि देखो दूध पी रहा हूँ। इसी तरह वस्तु-विज्ञान को दिखाओ पर दूसरो को विचलित न होने दो। जो वस्तु दिखा रहे है वह सत्ता के माध्यम से नहीं किन्तु आगम की पद्धति के अनुसार दिखाना चाहिए। इस प्रकार दिखाने से सामने वाले व्यक्ति का जो उपयोग है वह केन्द्रित होगा और उसका विश्वास हमारे ऊपर शीघ्र तथा ज्यादा होगा। वात्सल्य-प्रेम बढ़ेगा। यदि हठात् कहने लग जाएगे तो एक भी बात मानने वाला नहीं होगा। अत॰ हमें जो शंका है उसे आगम के अनुरूप ही समाधान करके धारणा बनानी चाहिए।

धवला, जयधवला, महावन्ध मे आचार्यो ने कहा है कि श्रावकों का क्या कर्तव्य होना चाहिए– **"दाणं पूया सीलमुववासो"**। जयधवला को सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जिसे भगवद्गुणधर स्वामी ने लिखा है जिसकी टीका वीरसेन स्वामी ने की है उसमे उन्होने श्रावक के चार आवश्यक धर्म बतलाये हैं। आवश्यको को उन्होंने धर्म सज्ञा दी है। **जो व्यक्ति दान को, पूजा को, शील को उपवास को जड़ की क्रिया कहेगा तो उसके उस उपदेश से सारी की सारी जनता विमुख हो जाएगी। क्योंकि यह उपदेश प्रणाली ही आगम से उल्टी है। यह जड़ की किया नहीं, धर्म की क्रिया है।** वस्तुभूत जो धर्म है। **वत्थुसहावो धम्मो** उस धर्म को प्राप्त करने के लिए श्रावको के लिए चार

आवश्यको का मार्ग ही सही प्रणाली-पद्धति है। यही भगवान् का सदेश और आज्ञा भी है। जो व्यक्ति आज्ञा का उल्टा प्रयोग करके केवल बन्ध के कारणो मे इन धर्मो को गिनाता है, इसके द्वारा सवर, निर्जरा नहीं मानता, वह अपने व्याख्यान से जिनवाणी का-धर्म का अवर्णवाद कर रहा है।

यह वाक्य मेरे नहीं है। मैं तो केवल एक प्रकार का एजेन्ट हूँ। एजेन्ट का काम होता है कि सही-सही वस्तु का प्रसार करना। एक दुकान से दूसरी दुकान मे पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ दिखाओ। फिर भले ही कोई उस वस्तु को अच्छा कहे या बुरा। अच्छा कहे तो भी वस्तु वही है तथा बुरा कहने पर भी वही है। उसको तो दिखाने का वेतन कम्पनी से मिल ही रहा है, उसमे कोई बाधा नहीं। इसी प्रकार मुझे भी अरहन्त भगवान् की तरफ से वेतन मिल रहा है। इसलिए इस प्रकार के व्याख्यान जब तक हम समाज के सामने नहीं रखेगे तब तक सही-सही स्वाध्याय की प्रणाली आने वाली नहीं है। यह करना हमारा कर्तव्य है इसलिए इसे करना भी आवश्यक समझता हूँ समय-समय पर।

आज हम देख रहे है कि स्वाध्याय करते हुए भी जिस व्यक्ति के कदम आगे नहीं बढ़ रहे है, उसका अर्थ यही है कि उसे स्वाध्याय करना तो सिखा दिया है, किन्तु भीतरी अर्थ, जो वस्तुतत्त्व था, उससे उसे अपरिचित रखा है। उसको अंधेरे मे रखा है। जो व्यक्ति वस्तुतत्त्व को अधेरे मे रखता है, वह व्यक्ति स्वय भी खाली हाथ रह जाता है। और दूसरे को भी खाली हाथ भेजता है-घुमाता रहता है। लेकिन हमारी (जिनवाणी की) दुकान ऐसी नहीं है। हम भी नीची दुकान-मकान रखते है परन्तु ऊचे पकवान रखते है। "ऊची दुकान फीके पकवान" यह नहीं मिलेगे।

"वक्तृप्रामाण्याद्वचन प्रामाण्यम्" – वक्ता की प्रमाणता से वचन प्रामाणिक होते है। कारण कि वक्ता यद्वा-तद्वा नहीं कह सकेगा। उसके पास किसी प्रकार का पक्षपात नहीं हुआ करता। एजेन्ट जो होता है वह किसी प्रकार से कम-वेशी दाम नहीं बताता। जिसको लेना हो लो, नहीं लेना हो न लो। इससे उसे कोई फर्क नहीं पडता। लोग पूछते हैं हम नहीं लेगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा? वह कहता है कि हमारी दुकान कम्पनी बहुत बड़ी है। जिसमे बिना काम के भी काम चलता है। कभी कम्पनी फेल होने की सभावना भी नहीं। ध्यान रखना, लौकिक कम्पनिया फेल हो सकती है पर वीतराग भगवान् की कम्पनी तीनकाल मे फेल नहीं हो सकती। इसलिए मैने तो भैय्या ऐसी कम्पनी मे नौकरी कर ली है कि, जितना हम काम करेगे उतना दाम मुझे आयु

के अन्त तक मिलता रहेगा।

अब हमे अपने जीवन की आजीविका की कोई चिन्ता नहीं। **आचार्यों ने कहा है जिस चतुर वक्ता की आजीविका श्रोताओं के ऊपर निर्धारित है वह वक्ता वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। उन्होंने कहा है** "क्रोधलोभभीरूत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुर्वीचिभापण च पंच।" वक्ता से पहले श्रोता को जान लेना चाहिए कि वक्ता कैसा-कौन है। जैसा पण्डित जी ने अभी कहा था– किसका लेख है यह किसका प्रवचन है? यह ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। यदि पाठक कुछ भी नहीं जानता और लेखक ठीक है तो वह सब कुछ मानने को तैयार है। नहीं तो वह मानने के लिए तैयार नहीं होगा। **सिद्धान्त कभी भी वक्ता के घर का नहीं चलता। जैसे घर की दुकान हो सकती है, लेकिन नाप-तौल के मापक घर के नहीं हो सकते।** क्यो भैय्या दुकानदारो ! दुकानदार का मतलब है, दो कान वाले। दो कान वाले दुकानदारो ! हम पूछनाचाहते है कि माल आपका, दुकान आपकी, सब कुछ आपका, किन्तु नाप-तौल भी आपका हो तो? पकडे जायेंगे। सब कुछ आपका हो सकता है पर नाप-तौल तो शासकीय ही होगा।

इसी प्रकार प्रवचन आप कर सकते है ग्रन्थ भी प्रकाशित कर सकते हैं। परन्तु घर का लिखा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं कर सकते। आचार्यों के ग्रन्थो का सम्पादन/प्रकाशन करने वालों से हम यह कहना चाहते हैं कि वे ऐसा प्रकाशन करें, ऐसे सम्पादकों को रखे, अनुवादकों को रखें, जो जनसेवी हो और निर्भीक भी हो। विद्वानों के बिना यह काम सही-सही नहीं हो सकता, पर वे भी वेतन पर तुलने वाले नहीं होना चाहिए। कितने ही कष्ट आ जाये फिर भी वह इधर का डंडा (मात्रा) उधर लगाने को मंजूर न करता हो। इतना सयत हो।

वक्ता की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने कहा है कि– वक्ता निरीह हो, वीतरागी हो, पक्षपाती न हो, किसी भी प्रकार से-प्रलोभन से उलट-पलट करने को तैयार न हो। वह होता है वक्ता।

एक वकील होता है और एक जज (न्यायाधीश) हुआ करता है। दोनों एल. एल बी हुआ करते है, किन्तु जजमेन्ट वकील नहीं दे सकता। जजमेन्ट जज का ही माना जाता है। एक बार ही दिया जाता है उसमे फिर हेर-फेर नहीं होता। चाहे अपील करें दूसरी अदालत में, यह दूसरी बात है। अदालत में एक बार लिख दिया जज ने सो लिख दिया। लेकिन वकीलों की स्थिति वह नहीं हुआ करती, उनके तो एक रात मे हजारो "प्वाइन्ट" बदल जाते हैं। आज जज की बडी आवश्यकता है,

वकीलो की नहीं। वकील को पेशी पर जाना पडता है अत पेशी कहलाती है। परन्तु जज की पेशी नहीं हुआ करतीं। कोर्ट मे जज के सामने राष्ट्रपति को भी यू (झुकना) करना पड़ता है। इसी तरह सिद्धान्त के सामने सबको झुकना पड़ता है। तीर्थकर भी नमोऽस्तु करते है। जो वस्तुतत्व जैसा है, जिस रूप मे है, वहीं सिद्धान्त है उसी को नमस्कार करना पड़ता है। अरहन्त परमेष्ठी को भी नमस्कार नहीं करना होता है, आचार्य को भी नहीं, साधु को भी नहीं, लेकिन वस्तुस्वरूप मे अवस्थित सिद्धपरमेष्ठी को उन्हे भी (तीर्थकरो को) नमस्कार करना पडता है। अर्थात तीर्थकर उस हाईकोर्ट को नमोऽस्तु करते है जिससे ऊपर कोई नहीं। जिसके कोट मे कालिमा नहीं है। जज कैसे कपडे पहनते हैं? फक-सफेद। और वकील? काला कोट पहनते है भैय्या ! इसलिए उनकी आज्ञा नहीं मानी जाती। जज की बात मानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी तरह सिद्धरूप शुद्धतत्त्व की बात मानने मे हमारा कल्याण होगा, वीतरागी की बात मानने मे कल्याण होगा, अन्य की मे नहीं। बिना माने हमारा कल्याण सभव नहीं। यह सब हमारे आचार्यो ने कहा है, उसी तत्त्व तक ले जाने की बात उन्होने की है।

बन्धुओ ! हमे शब्दो की ओर से भीतरी अर्थ की ओर झुकना है। कहाँ तक कहूँ कहा नहीं जाता। इन महान् आचार्यो के हमारे ऊपर बहुत उपकार है। हम उनका ऋण तभी चुका सकते है जब हम उनके कहे अनुसार (जैसा कहा वैसा) बनने का प्रयास करेगे। कुन्दकुन्ददेव के समान तो नहीं चल सकते और उस प्रकार चलने का विचार भी शायद नहीं कर सकते, यह माना जा सकता है परन्तु उनका कहना है कि बेटा ! जितनी तुम्हारी शक्ति है उतनी शक्ति भर तो २८ मूलगुणो को धारण कर। उसमे यदि कमी नहीं करेगा तो मै तुमसे बहुत प्रसन्न होऊँगा। तेरा उद्धार हो जाएगा, ऐसा समझो। तत्वार्थसूत्र मे एक सूत्र आता है-- **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि गुरु-शिष्य के ऊपर उपकार करता है और शिष्य गुरु के ऊपर। मालिक मुनीम के ऊपर उपकार करता है और मुनीम मालिक के ऊपर। शिष्य-गुरु से पूछता है कि हमारा उपकार आपके ऊपर कैसे हो सकता है? यह तो आपका ही उपकार मेरे ऊपर है जो कृपा की। तब आचार्य जवाब देते है कि गुरु का उपकार शिष्य को दीक्षा-शिक्षा देने मे है और शिष्य का उपकार गुरु द्वारा जो बताया है उस पर चलने मे होता है। इसी तरह मुनीम का भी। जब तक उनके अनुसार नहीं चलेगे तब तक हम अपने बाप-दादाओं के, अपने गुरुओ के द्वारा किये गये उपकार को नहीं समझ सकते तथा उनके उपकार को

प्रत्युपकार के रूप मे सामने लाना है नहीं तो हम सपूत नहीं कहलायेगे।

"पूत के लक्षण पालने मे" सब लोग इस कहावत को जानते हैं। शब्दो की गहराई मे आप चले जाइये, और वस्तुत शब्दो की गहराई मे चले जाएँ तब कहीं जाकर अर्थ को पा सकेगे। पूत का लक्षण है, माता-पिता-गुरु की आज्ञा को पालने का। जो लडका/पूत माता-पिता-गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह तीनकाल मे भी सपूत नहीं कहलायेगा। कहावत है– "पूत कपूत तो का धन सचय और पूत सपूत तो का धन सचय।" अर्थ यही हुआ सपूत को कुल का दीपक माना गया है। देश की, वश की, कुल की, परम्परा मे जो चार चाद लगा देता है वही सपूत है। हम अपने आपसे पूछ लें कि हम अरहन्त भगवान् के पूत है, सपूत है या । कहने की आवश्यकता नहीं, क्योकि हम उनकी आज्ञा का यथासभव पालन कर रहे हैं, जो हमारा कर्तव्य है, हम जिस तरह भी कदम बढाये, यदि माता-पिता-गुरुओ का वरदहस्त हमारे ऊपर रहेगा तो हम उस ओर अबाधित बढते जायेगे।

आज १२ १३ साल हो गये, मालूम नहीं चला, कोई बाधा नहीं। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का वरदहस्त सदा साथ रहा। और उनके ऊपर रहने वाले अनेक महान् आचार्यो के वरदहस्त भी साथ हैं, ऊपर है।

घवडाना नहीं, जिस समय चक्रवात चलता है तो नाव आगे नहीं बढती और पीछे भी नहीं जाती। तब ताकत के साथ स्थिर रखना होती है हमे नाम नहीं करना जोरदार, काम जोरदार करना है। हमे अपनी नाव मजबूत रखना है, उसे चक्रवात से हटा के अलग नहीं करना है क्योकि नाव की शोभा पानी मे ही है। तथा उसको निश्छिद्र रखना है। जिस समय किसी छिद्र के द्वारा नाव मे पानी आ जाएगा तो नाव डूब जाएगी। हमें कागज की नावो मे नहीं चलना है। कागजी नावो से आज सारा का सारा समाज, सारे प्राणी परेशान हैं। आज नावें भी सही नहीं है बल्कि आज नाव के स्थान पर चुनाव हावी होते जा रहा है, हमे अपने जीवन की नाव की भव-समुद्र मे आये चक्रवात से रक्षा करके उस पार तक ले जाना है जहाँ तक अन्तिम मजिल है।

आज ऋषभनाथ महाराज आहार के लिये उठेगे। आप सभी नवधा भक्ति से खडे होइये। १० भक्ति या ८ भक्ति नहीं करना है। नवधा-भक्ति ही जब पूरी-पूरी होगी तभी वे आहार ग्रहण करेगे। आज हमे उनके माध्यम से दान की क्रिया, ज्ञान की क्रिया समझनी है, जो वस्तुत भीतरी आत्मा के प्राप्त करने की एक प्रणाली है। दिगम्बर चर्या खेल नहीं है। बन्धुओ ! आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस चर्या के लिए महान्

से महानतम् उपमाए दी है— यही प्रव्रज्या है, यही श्रमणत्व है, यही जिनत्व है, यही चैत्य है, यह चैत्यालय हे, यही जिनागम है, यही सर्वस्व है, यही चलते-फिरते सिद्धो के रूप है। केवल ऊपर शरीर रह गया है, भीतर आत्मा वही है, जैसी कुन्दकुन्ददेव की है जैसी सिद्ध भगवान् की है। कहाँ तक कहा जाए। यह पथ, यह चर्या ऐसी है, जिसका स्थान कभी भी आका नहीं जा सकता। अनमोल है यह चर्या, यह व्रत तो आज भी दिगम्बर सन्त पाल रहे हैं। अन्त मे आचार्य ज्ञानसागर जी को स्मरणपथ पर लाकर यह व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

□□

८

जिस समय युग के आदि मे वृषभनाथ को केवलज्ञान हुआ, उसी घडी वहॉ पर दो और घटनाए घटी थीं। "भरत" प्रथम चक्रवर्ती माना जाता है, उसके पास एक साथ तीन दूत आकर के समाचार सुना रहे है। सर्वप्रथम व्यक्ति की वार्ता थी– प्रभो ! आपका पुण्य कितना विशाल है, पता नहीं चलता। कामपुरुपार्थ के फलस्वरूप पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। दूसरा कहता है कि– हे स्वामिन् ! इसकी बात तो घर तक की सीमित है तथा यह अवसर कई वार आया होगा। अभी तक हम लोग सुना करते थे कि आप छह खण्ड के अधिपति है, लेकिन आज आयुधशाला मे एक ऐसी घटना घट गई, जैसे आप लोगो मे चुनाव के लिए उम्मीदवार के रूप मे खडे होने की सभावना पर "फॅलाने को टिकिट मिल गया" ऐसा सुनकर जीप वगैरह की भागा दौडी प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी ही स्थिति वहॉ पर हो गई थी। आयुधशाला मे चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है, जो कि आपके चक्रवर्ती होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है। तीसरा दूत कहता है– यह सब स्वार्थ की बाते है, हमारी बात तो सुनो ! मै इन सबसे अद्‌भुत बात बताऊँगा। अर्थपुरुषार्थ करके कई बार इस प्रकार के दुर्लभ कार्य प्राप्त हुए हें तथा कामपुरुषार्थ करके कई वार पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गई, लेकिन धर्मपुरुपार्थ करके इस जीव ने अभी तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं की, पर आज आपके पिताजी मुनि वृपभनाथ जी को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।

इन तीनो मे बडी बात कौन-सी है भैय्या! आप कहेगे कम से कम लाला का मुख तो देखना चाहिए पहले। फिर दूसरी। अरे ! चक्ररत्न की प्राप्ति हो गई, हुकूमत और सत्ता हाथ मे आयी है। **लेकिन यदि सही सत्ता की बात पूछना चाहते हो तो तीन लोक में वही सही सत्ता मानी जाती है, जिस सत्ता के सामने सारी सत्ताएं असत्ताएं हो जायें। केवलज्ञान-सत्ता ही वास्तविक सत्ता है, जिसके समक्ष अन्य सत्ताएं कुछ भी नहीं है।** तीनो की वार्ता सुनी और उठकर चलने को तैयार हो गये, लेकिन रनवास की ओर नहीं गये और न ही आयुधशाला की ओर, उन्होने कहा यह सब तो बाद की बात है, सर्वप्रथम तो समस्त परिवारजन को तैयार करो, अष्टमगलद्रव्य के साथ

और हाथी को उस ओर ले चलो जहाँ वृषभनाथ भगवान के समवसरण की रचना हो चुकी है। हमें सुनना है कि भगवान् अब क्या कहेगे? पिताजी की अवस्था मे कुछ और बात कहा करते थे, अब तो कुछ भिन्न ही कहेगे। अब मुझे बेटा भी नहीं कहेगे वे, और मै भी तो उन्हे पिताजी नहीं कहूँगा। अब वो ऐसे बन गये, ऐसे बन गये कि जैसे अनन्तकाल से आज तक नहीं बने थे। आज तक उस दिव्य-दीपक का उदय नहीं हुआ था। अनन्तकाल से वह शक्ति छिपी हुई थी, केवलज्ञानावरणी कर्म के द्वारा, जो आज व्यक्त हुई है। इस तरह के विचारो मे निमग्न होते हुए समवसरण मे पहुँचे।

समवसरण मे पहुँचते ही भरत चक्रवर्ती ने नमोऽस्तु कर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनी। सुनकर वे तृप्त हो गये। "मै और कुछ नहीं चाहता, मेरे जीवन मे यह घड़ी, यह समय कब आयेगा, जब मैं अपने जीवन को स्वस्थ बनाऊँगा। भगवान् ने स्वस्थ बनने का प्रयास लगातार एक हजार वर्ष तक किया और आज वे स्वस्थ बन गये, आज उसका फल मिल गया।

मोक्ष-पुरुषार्थ किए बिना, मोह को हटाये बिना, तीनकाल मे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके उपरान्त ही मुक्ति मिलेगी। यह बात अलग है कि किसी को केवलज्ञान होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त मे ही मुक्ति मिल सकती है और किसी को कुछ कम पूर्वकोटी तक भी विश्राम करना पडता है।

अब दिव्यध्वनि क्यो? या यह कहिए कि केवल ज्ञान होने के उपरान्त उनकी क्या स्थिति रहती है, जानने-देखने के विषय मे? यह प्रश्न सहज ही उठता है क्योकि जब श्रेणी मे ही निश्चयनय का आश्रय करके वह आत्मस्थ होने का प्रयास करते है तो केवल ज्ञान होने के उपरान्त दुनिया की बातो को देखने मे लगेगे क्या? ऐसा सवाल तो तीन काल मे भी नहीं होना चाहिए ना, लेकिन नहीं। नियमसार मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि केवलज्ञान होने के उपरान्त केवली भगवान् इस तरह जानते है, देखते है–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

शुद्धोपयोग अधिकार मे कहा है कि केवली भगवान् नियम से अर्थात् निश्चय से या यो कहें नियति से, अपनी आत्मा को छोडकर के दूसरो को जानने का प्रयास नहीं करते। परन्तु व्यवहार से वे स्व और पर दोनो को अर्थात् सबको-सब लोकालोक को जानते है, देखते है।

सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह उनके उज्ज्वल ज्ञान की एक परिणति मात्र

है अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है कि वे सबको जानते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो वस्तुतः अपना, अपने को, अपने साथ, अपने लिए, अपने से, अपने में जानने-देखने से सिद्ध हुआ करता है, ऐसा समयसार का व्याख्यान है। इस तरह का श्रद्धान रखना-बनाना ही निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है तथा अन्यथा श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं इत्यादि। इसलिए–

सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि रज रहस विहीन।।

केवली भगवान् सबको जानते है व्यवहार की अपेक्षा से, किन्तु आनन्द का जो अनुभव कर रहे है वह किसमे? अपने भीतर कर रहे है। यही वस्तुतत्त्व है। णियमेण अर्थात् निश्चय से देखेगे तो सबको नहीं देखेगे, सबको नहीं जानेगे। सबको जानने-देखने का पुरुषार्थ उन्होने किया नहीं था। यदि सबको देखने-जानने का पुरुषार्थ कर ले तो गडबड हो जाएगा। उनका ज्ञान स्वतन्त्र है, वे स्वतन्त्र हैं और उनके गुण भी स्वतन्त्र है। किसी के लिए उनका अस्तित्व, उनका वैभव नहीं, उनकी शक्ति नहीं। स्वय के लिए है, पर के लिए नहीं। हमारे लिए वो केवली नहीं किन्तु स्वय अपने लिए केवली है। हमारे लिए तो हमारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान है, वही साथ-साथ रह रहा है किन्तु केवली का ज्ञान तो हमारे लिए आदर्श होगा। आदर्श से हम भी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को मिटाकर केवलज्ञान मे परिणत कर सकते है, ऐसा आदर्श ज्ञान देखकर हमारे भीतर भी आदर्श बनना चाहिए।

छद्मस्थावस्था मे उपयोग हमेशा अर्थ-पदार्थ को ही लेकर चलता है। छद्मस्थावस्था का सामान्य लक्षण भी यही बनाना चाहिये कि, जो ज्ञान पदार्थ की ओर मुडकर के जानता है वह ज्ञान छद्मस्थ का है और जो पदार्थ की ओर मुडे बिना अपने-आप से अपने-आपको जानता है या अपने आप मे लीन रहता है वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष पूर्णज्ञान है। चाहे मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो या मन पर्यय, चारो ही ज्ञान पदार्थ की ओर मुडकर के जानते है। यही आकुलता है। फिर ज्ञान की निराकुलता क्या है? ज्ञान की निराकुलता यही है कि वह पदार्थ की ओर न मुडकर के अपनी ओर, अपने मे ही रहे। केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो पदार्थ की ओर नहीं मुडता है, मुड़ना ही आकुलता है। स्व को छोडकर के पर की ओर मुडा जाता है और पर को छोडकर स्व की ओर मुडा जाता है। दो प्रकार के मोड हैं। हमारा मोड तो दूसरे की होड के लिए पर की ओर मुडता है। अपनी वस्तु को छोडकर जिसका ज्ञान, पर के मूल्याकन के लिए चला जाता है वह छद्मस्थ

का आकुलित ज्ञान, राग-द्वेषी का ज्ञान है। केवली का ज्ञान सब कुछ झलकते हुये भी अपने-आप मं लीन है, स्वस्थ है।

ज्ञान का
पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही
परम-आर्त
पीड़ा है, दुःख है
और पदार्थ का
ज्ञान में झलक आना ही
परमार्थ
क्रीड़ा है सुख है..........?

हम दूसरो को समझाने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरो के लिए हमारा जीवन होता जा रहा है, लेकिन दर्पण जिस प्रकार बैठा रहता है उसी प्रकार केवलज्ञान बैठा रहता है। उसके सामने जो कोई भी पदार्थमालिका आती है तो वह झलक जाती है। यह केवलज्ञान की विशेषता है। सुबह मगलाचरण किया था जिसमें अमृतचन्दाचार्य जी ने कहा था देखो– "पदार्थमालिका प्रतिफलति यत्र तस्मिन् ज्योतिषि तत् ज्योति जयतु" – वह केवलज्ञान-ज्योति जयवन्त रहे जिस केवलज्ञान मे सारे के सारे पदार्थ झलक जाते हैं लेकिन पदार्थो की ओर ज्योति नहीं जाती। दर्पण पदार्थ की ओर नही जाता और पदार्थ दर्पण की ओर नहीं आते फिर भी झलक जाते है। तो दर्पण अपना मुख वन्द भी नहीं करता। **ज्ञेयों के द्वारा यदि ज्ञान में हलचली हो जाती है, आकुलता हो जाती है तो वह छद्मस्थ का ज्ञान है ऐसा समझना और तीनलोक के सम्पूर्ण ज्ञेय जिसमें झलक जाएँ और आकुलता न हो, फिर भी सुख का अनुभव करें, वही केवलज्ञान है।** यह स्थिति छद्मस्थावस्था मे तीनकाल मे बनती नहीं है। इसलिए छद्मस्थावस्था में केवलज्ञान की किरण केवलज्ञान का अंश मानना भी हमारी गलत धारणा है। क्योकि केवलज्ञान की क्वालिटी का ज्ञान छद्मस्थावस्था में मानने पर सर्वघाती प्रकृति को भी, देशघाती के रूप में अथवा अभावात्मक मानना होगा। जो कि सिद्धान्त-ग्रन्थो को मान्य नहीं है। इस जीव की वह केवलज्ञान शक्ति अनन्तकाल से अभावरूप (अव्यक्त) है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे एक गाथा आती है–

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसि सत्ती
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स।।

पुद्गलके पास ऐसी अद्भुत शक्ति नियम से है, जिस शक्ति के द्वारा उत्तसं जीव का स्वभावभूत केवलज्ञान एक प्रकार से नाश को प्राप्त हुआ है। कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थो मे कर्म के दो भेद वताए गये है। "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" मे प० गोपालदास वरेया ने इसकी परिभाषा स्पष्ट की है, जिसे आचार्यो ने भी स्पष्ट किया है। वे दो भेद है– देशघाती और सर्वघाती। केवलज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव सर्वघाती वताया है। सर्वघाती प्रकृति को वताया है कि वह इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि सूर्योदय के समक्ष अन्धकार का कोई सम्वन्ध नहीं, तथा अन्धकार के सद्भाव के साथ सूर्य का। अर्थ यह हुआ कि केवलज्ञान की जो परिणति है उस परिणति की एक किरण भी वारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक उद्घाटित नहीं होगी, क्योकि केवलज्ञानावरण कर्म की ऐसी "अपोजिट" शक्ति है जिसको वोलते है सर्वघाती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल के पास भी ऐसी शक्ति है कि जो वारहवे गुणस्थान मे जाने के उपरान्त जीव को अज्ञानी घोषित कर देती है। बारहवे गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ माने जाते है, लेकिन वीतरागी इसलिए है कि मोह का पूर्ण रूप से क्षय हो चुका है। वडी अद्भुत वात है, मोह का क्षय होने के उपरान्त भी वहॉ पर अज्ञान पल रहा है, यह भग प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक चलता है। चाहे वो एकेन्द्रिय हो या पचेन्द्रिय, चाहे पशु हो या देव, चाहे मुनि हो या आर्यिका, कोई भी हो वारहवे गुणस्थान तक, जव तक उसका पूर्ण विकास नहीं हो जाता तव तक अज्ञान रूप भग उसके सामने से हट नहीं सकेगा। घातिया कर्मो को नष्ट किये विना केवलज्ञान का प्रादुर्भाव तीनकाल में भी नहीं हो सकेगा। उस केवलज्ञान की महिमा कहॉ तक कही जाये। कितना पुरुपार्थ किया होगा उन्होने, उस पुद्गल की शक्ति का सहार करने के लिए ! वात वहुत कठिन है और सरल भी है कि एक अन्तर्मुहूर्त मेआठ साल का कोई लडका जो कि निगोद से निकल कर आया है, यहॉ पर उसने मनुष्य पर्याय प्राप्त की। आठ साल हुए नहीं कि, वह भी इतना बडा अद्भुत कार्य अपने जीवन मे कर सकता है। इतना सरल है। और कठिनाई को तो आप जानते ही हैं कि १००० वर्ष तक कठिन तप किया भगवान् वृषभनाथ ने तब कहीं जाकर के केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

जीव के पास भी ऐसी-ऐसी अद्भुत शक्तिया है जिनसे कर्मो की चित्र-विचित्र शक्तियो को नष्ट कर देता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ कर्म होते है। आठ कर्मो मे भी १४८ भेद और हो जाते हैं, यह सख्या की अपेक्षा है। परन्तु १४८ कर्म के भी असख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। किसके कर्म किस क्वालिटी के है–

जाति की अपेक्षा, नाम की अपेक्षा से तो मूल में आठ होते हुए भी उनकी भीतरी क्वालिटी के बारे में हम कोई अन्दाजा नहीं कर सकते, क्योकि हमारा ज्ञान छद्मस्थ/अल्प है। इसीलिए किसी को अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान होना सभव है और किसी को हजारो वर्ष भी लग सकते है

केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कई प्रकार की निर्जरा करनी पडती है। निर्जरा अधिकार मे आचार्यो ने कहा है कि कर्म दो प्रकार के है पाप और पुण्य। इनकी निर्जरा किये विना मुक्ति सभव नहीं, केवलज्ञान नहीं और कुछ भी नहीं। पहले-पहल पाप कर्मो की निर्जरा की जाती है, पुण्य कर्म की नहीं। पाप कर्मो से भी सर्वप्रथम घातिया कर्मो की निर्जरा की जाती है अघातिया कर्मो की नहीं, कुछ सापेक्ष रूप से हो जाती है यह वात अलग है। जैसे कुछ पौधो को बो दिया, लगा दिया, रोप दिया, खाद पानी दे दिया तो उसके साथ घास-पूस भी उग आया। तव घास-पूस को उखाड़ा जाता है लेकिन उसके साथ-साथ कुछ पौधे, जो कि रोपे गये थे उखड़ जाते है, उनको उखाड़ने का अभिप्राय नहीं होता। वस्तुत इसी तरह सापेक्षित रूप से कुछ अघातिया कर्मो की भी निर्जरा हो जाती है, की नहीं जाती। सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा करता है तो पाप कर्म की ही करता है, यह जैन कर्म-सिद्धान्त है। मैंने धवला मे कहीं नहीं देखा कि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य कर्म की निर्जरा करता है। बल्कि यह कथन तो धवला मे वार-वार आया है कि "सम्माइट्ठी पसत्थकम्माण अणुभाग कदावि ण हणदि" प्रशस्त कर्मो के अनुभाग की निर्जरा सम्यग्दृष्टि तीनकाल मे कभी भी नहीं करता, क्योकि जो वाधक होता है मार्ग मे, उसी की सर्वप्रथम निर्जरा की जाती है। इसी प्रकार हम पूछते हैं कि आस्रव और वन्ध की क्रिया मे भी वह कौन-सी पुण्य प्रकृति को वन्ध होने से रोक देता है? १० वे गुणस्थान तक की व्यवस्था मे जो प्रशस्त कर्म बधते है तो कर्म सिद्धान्त के वेत्ता वताए कि उनमे से कितने, कौन से प्रशस्त कर्मो को रोकता है? अर्थ यह हुआ कि कर्मो की निर्जरा किये बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, लेकिन कर्मो की निर्जरा का क्रम भी निश्चित है, वह कैसा है? यह देखने की बड़ी आवश्यकता है विद्वानो को, स्वाध्यायप्रेमियो को और साधको को। इस क्रम को देखकर के, जानकर के जव हमारा श्रद्धान वनेगा तव ही हमारा श्रद्धान सही होगा, तीन प्रकार के विपर्यासो से रहित होगा। तीन प्रकार का विपर्यास हुआ करता है— एक कारण विपर्यास, दूसरा स्वरूप विपर्यास और तीसरा भेदाभेद विपर्यास। कौन-सा कारण, किसके लिए वाधक है, इसका सही-सही ज्ञान नहीं है वह कह देता है—

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके

सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों से परे होता है। न वह पुण्य करता है और न ही पाप। तब कहीं आत्मिक सुख का अनुभव करता है। लेकिन यहाँ पर ध्यान रक्खो प. दौलतराम जी संवर भावना का व्याख्यान कर रहे है, इसलिए पुण्य और पाप दोनों के कर्त्तव्य से भिन्नता की बात कही है। न कि कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा से। उन कर्मो की बन्धव्युच्छित्ति आदि की अपेक्षा से भी नहीं। आगम का कथन तो है कि १०वे गुणस्थान तक पुण्य के आस्रव को रोकने का कहीं भी सवाल नहीं। और दसवें गुणस्थान के ऊपर तो ना पुण्य कर्मो का और ना ही पाप कर्मो का साम्परायिक आस्रव होता है यह सब वहाँ भावनाकार प. दौलतराम जी के कथन मे अविवक्षित है कारण कि वहाँ मात्र भावना की ही विविक्षा है। कल पण्डितजी जो कह रहे थे कि "सम्यग्दृष्टि पूर्वबद्ध पुण्य-पाप कर्मो की निर्जरा करता है और नवीन पुण्य-पाप कर्मो को रोक देता है, जो पुण्यास्रव को रोकने का प्रयास नहीं करता, वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह तो अभी विपर्यास मे पडा है। अब आप ही देख लीजिए कि विपर्यास मे कौन है? बात ऐसी है कि जब हम इन (धवलादि) चालीस किताबों का अध्ययन करते है तो बहुत डर लगने लग जाता है कि थोड़ी-सी भूल से हम जिनवाणी को दोषयुक्त करने मे भागीदार हो जायेगे। बहुत ही सावधानी की बात है। सभाल-सभाल कर बोल रहा हूँ भगवान् यहाँ पर बैठे है, दिव्यज्ञानी है।

प० दौलतराम जी ने बहुत मार्क की बात कही है "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इसका अर्थ हुआ कि साम्परायिक आस्रव १०वे गुणस्थान तक होता है। साम्परायिक का अर्थ होता है कषाय, जिसके माध्यम से आगत कर्मो मे स्थिति और अनुभाग पड जाता है। इसके उपरान्त ईर्यापथ आस्रव होता है वह भी एक मात्र सातावेदनीय का। जो दुनिया को साता देता है, उस साता के अभाव मे आप तिलमिला जायेंगे। केवल असाता-असाता का बन्ध कभी नहीं होता है, न ही सभव है। क्योंकि साता-असाता दोनों आवश्यक है ससार की यात्रा के लिए। पुण्य और पाप दोनों चाहिए। अकेला पुण्य का आस्रव दसवे गुणस्थान तक कभी भी नहीं होता और अकेले पाप का भी नहीं। केवल साता का आस्रव ११ १२ १३ वें गुणस्थान इन तीनों मे होता है। इस कर्मास्रव (पुण्यास्रव) से हमारा कोई भी विगाड नहीं होता। मुक्ति के लिए विगाड फिर भी है, लेकिन केवलज्ञान के लिए यह कर्मास्रव (पुण्यास्रव) बेडी नहीं

है, क्या कहा? सुना कि नहीं। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल घातिया कर्मा का नाश करना होता है, घातिया कर्मा मे, चाहे मूल प्रकृति हो या उत्तर प्रकृति, कोई भी प्रकृति प्रशस्त प्रकृति नहीं होती। इसलिए जैनाचार्या का कहना है कि सर्वप्रथम पाप कर्मो की निर्जरा करके नवीन कर्मा को तू रोक ले पुण्य तेरे लिए कोई विपरीत काम नहीं करेगा, बाधक नहीं होगा। पुण्य को रखने की बात नहीं कही जा रही है, लेकिन निर्जरा का क्रम तो यही होगा कि सर्वप्रथम पाप का सवर कर, नवीन पापास्रव को रोके, पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा करे और वर्तमान बन्ध को मिटा दे तो नियम से वह केवलज्ञान प्राप्त करा देगा। यह भी ध्यान रखना कि जब तक साता का आस्रव होता रहेगा तब तक उसे मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं है। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी वह रह सकता है। वैभाविक पर्याय मे और केवल साता का आस्रव होता रहता है। उस आस्रव को रोकने के लिए आचार्य कहते हैं कि तृतीय व चतुर्थ शुक्ल ध्यान आवश्यक है, वे ही भीतर बैठे हुए अघातिया कर्मो का नाश करने मे समर्थ है। अघातिया कर्मा की निर्जरा करने का नम्बर बाद मे आता है, लेकिन घातिया कर्मो की निर्जरा करने का प्रावधान पहले है।

सवर के क्षेत्र मे, बन्ध के क्षेत्र मे भी इसी क्रम की बात आती है। इसलिए "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इस दोहे का अर्थ– मर्म सही-सही वही व्यक्ति समझ सकता है जो कर्म सिद्धान्त के बारे मे सही-सही जानकारी रखता है। यदि इस प्रकार की सही-सही जानकारी नहीं रखता हुआ भी वह कहता है कि सम्यग्दृष्टि पाप-पुण्य दोनो प्रकार के कर्मास्रव को रोक देता है, वह भी चतुर्थगुणस्थान मे रोक देता है, तो उसे तो अपने-आप ही बन्ध होगा और कोई छोटा बन्ध नहीं, बहुत बडा बन्ध माना जायेगा, क्योंकि सामने वाला सोचेगा कि विकल्प तो मिटे नहीं फिर भी यह कह रहे है कि पुण्य नहीं होना चाहिए और हो रहा है तो इसका अर्थ है कि मेरे पास सम्यग्दर्शन नहीं है और धर्मात्मा भी नहीं हो सकता जब तक, तब तक कि पुण्य बन्ध को न रोकू। ऐसा करने वाले व्यक्ति के पास जब खुद के सम्यग्दर्शन का पतियारा (ठिकाना) नहीं है, तो चारित्र की बात करना ही गलत हो जाएगा। इस प्रकार यदि श्रद्धान बना लेता है तो दोनो ही ससार की ओर बढे चले जा रहे है– उपदेश सुनने वाला भी और उपदेश देने वाला भी। जैसा कि कहा है–

"केचित्प्रमादान्नष्टाः केचिच्चाज्ञानान्नष्टाः, केचिन्नष्टैरपि नष्टाः"

कुछ लोग प्रमाद के द्वारा नष्ट हो जाते है, कुछ लोग अज्ञान के द्वारा नष्ट हो

जाते है और कुछ लोग नष्ट हो गये लोगों के पीछे-पीछे नष्ट हो जाते है। हम सिद्धान्त का ध्यान नहीं रख पाते है इनसे वालों-वालों मे कितना गलत कह जाते है यह पता भी नहीं चलता। इसलिए बन्धुओ! यदि आप स्वाध्याय का नियम लेते है तो दूसरो को सुनाने का विकल्प छोडकर लीजिए, तभी नियम ठीक होगा। दूसरो को समझाने की अपेक्षा से भी नहीं। दूसरो को समझाने चले जाओगे तो लाभ कम होगा, हानि ज्यादा होगी। इसके द्वारा जिनवाणी को सदोष बनाने मे और लग जायेगा। भीति लगती है कि ४० किताबो मे कहा-कहा पर कैसे-कैसे भ्रम बन्द है, उन्हें पता नहीं चल पाता और अपनी तरफ से उसमे जजमेंट देने लगते है। जबकि हम उसके अधिकारी नहीं होते। इसलिए सोच लेना चाहिए कि चतुर्थ गुणस्थान मे सम्यग्दृष्टि को कौन-कौन से पुण्य कर्म का संवर होता है? १४८ ही तो कर्मो की सख्या है, और कोई ज्यादा नहीं है जो कि याद न रह सके। यहाँ दुनियादारी के क्षेत्र मे तो हम बहुत कुछ याद कर लेते है लेकिन १४८ मे से चतुर्थगुणस्थान मे कोन-कोन से कर्म का आस्रव रुका, संवर हुआ, उनमे प्रशस्त कितने, अप्रशस्त कितने है? पाप कर्म कितने है, पुण्य कितने है, यह याद नहीं रह पाता? यदि इसको ठीक-ठीक समझ ले तो अपने आप ही ज्ञात हो जायेगा कि हमारी धारणा आज तक पुण्य कर्म को रोकने मे लगी रही, लेकिन आगम मे ऐसा कहीं लिखा नहीं है।

बात खुरई की है जब आगम मे निकला कि "सम्माइट्ठी पसत्थ[illegible] कदावि ण हणदि" तो देखते रह गये। वाह वाह! स्वाध्याय का यह परिणाम निकला। आप इस प्रकार के स्वाध्याय मे लगे रहिये। ऐसा स्वाध्याय [illegible] मे बहुत पसन्द करूगा। इस प्रकार के सही-सही स्वाध्याय से एक-दो दिन मे [illegible] अपनी प्रतिभा के द्वारा बहुत-सी गलत धारणाओ का समाधान हो जायेगा। लेकिन यह ध्यान रखना कि ग्रन्थ आर्षप्रणीत मूल संस्कृत और प्राकृत के [illegible] स्वाध्याय करना। उनमे भाषा सम्बन्धी कोई व्यवधान नहीं [illegible]। यदि [illegible] व्यवधान आ भी रहे हो तो उनसे स्वाध्याय की कमी नहीं, [illegible] बुद्धि मे समझ सकने की कमी हो सकती है। आप बार-बार पढ़िये [illegible] समझ देर लगेगी, ज्ञान बढ़ेगा। महाराज जी ने एक बार [illegible] का एक ही बार अवलोकन करके नहीं छोड़ना चाहिए। [illegible] चाहिए? १०८ बार करना चाहिए, कम से कम [illegible] पाठ करो" किन्तु [illegible] बार मे [illegible] चाहिए, [illegible]

शकाओ का समाधान होता चला जाता है।

आज हमारी स्मरण शक्ति, वुद्धि १४८ कर्मो के नाम भी नही जानती और आद्योपान्त ग्रन्थ का अध्ययन करना तो मानो सीखा ही नहीं, और हम चतुर्थगुणस्थान मे पुण्य-पाप, दोनों कर्मो के आस्रव से उस सम्यग्दृष्टि को दूर कराने के प्रयास चालू कर देते है, लेकिन सफल नहीं हो पाते और न आगे कभी सफल हो सकेगे।

वन्धुओ! यह बात अच्छी नही लग रही होगी। परन्तु मा जिनवाणी की ही है, मै नहीं कह रहा हूँ। मैं तो वीच मे मात्र भाषान्तरकार के रूप मे हूँ। जिनवाणी कह रही है आप सोचिए और प० दौलतराम जी को सही-सही समझने का प्रयास कीजिए। वे सवर के प्रकरण को लेकर के, सर्वप्रथम मुनियो की बात कह रहे है कि बारह भावनाओ का चिन्तन कौन करता है? आप कहेगे महाराज! क्या श्रावक नहीं कर सकते? नहीं। करना तो सभी को चाहिए, बात करने की नहीं। लेकिन भावना फलीभूत किसकी होगी? ठीक-ठीक किसकी होगी? तो उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र मे स्वय कहा है कि--

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"

भावना सही-सही होनी चाहिए। भावना केवल पाठ न रह जाए, अत: चारित्र को अगीकार करके परिषहों के साथ बारहभावनाओ का चिन्तन, धर्म को समीचीन बनाते हुए समितियो में सम्यक्पना लाते हुए, गुप्ति की ओर बढना, यही एकमात्र सवर का यहाँ पर तात्पर्य परिफलित होता है। तो बारह भावनाओं का चिन्तन ज्यो ही तीर्थकरों ने किया, तो वन की ओर चले गए। उस समय ऊपर की ओर से कौन आते है? देवर्षि आते है। कौन होते है वे देवर्षि? लौकान्तिक देवों को कहते है देवर्षि, वालब्रह्मचारी होते है, पचम स्वर्ग के ऊपर उनकी कालोनी बनी है उनमे रहते है। द्वादशांग के पाठी होते है, सफेद वस्त्र धारण करते है, वहाँ कोई भी देवियाँ नहीं होतीं तथा हमेशा बारहभावनाओ का चिन्तन करते रहते है। वे कहाँ से गए हैं? तो, जाते तो है वे मात्र भरत, ऐरावत एव विदेह क्षेत्र की कर्मभूमियो से, भोग भूमि से कोई नहीं जा सकता वहाँ पर! महाराज क्या सम्यग्दृष्टि वहाँ जा सकते है? हा सम्यग्दृष्टि ही जाते हैं लेकिन "अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव नहीं हो सकते है।" किसी एक व्यक्ति से कल हमने सुना-- वह कह रहे थे कि महाराज! वहा पर रात्रि मे चर्चा चल रही थी कि अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकते है, लेकिन आप तो कह रहे थे कि मुनि बने बिना नहीं जा सकते हैं। कौन कहता है कि अविरतसम्यग्दष्टि लौकान्तिक देव हो सकता है? मैं तो अभी भी कह रहा हूँ

कि प्रत्येक मुनि के पास भी लौकान्तिक बनने की योग्यता नहीं। जो रत्नत्रय का पूर्णरूपेण निभाता है वह भावनाओं के चिन्तन में अपने जीवन को खपाता है, महाव्रतो का निर्दोष पालन करता है, इस प्रकार की चर्चा निभाते हुए अन्त मे वह लौकान्तिक बनता है। तिलोयपण्णत्ति को उठाकर के देख लेना चाहिए। जो व्यक्ति मुनि हुए बिना चतुर्थगुणस्थान से लौकान्तिक देव बनने का प्रयास कर रहा है वह व्यक्ति इस ओर नहीं देख रहा है जो तिलोयपण्णत्ति म कहा गया है। इस प्रकार की कई गलतिया हमारे अन्दर घर कर चुकी हैं। यदि अज्ञान के कारण कोई वात अन्यथा हो जाए तो वात एक वार अलग है, क्षम्य है। लेकिन तत्सम्बन्धी जिसे ज्ञान भी नहीं और ऊपर से आग्रह है तो उन्हे इस प्रकार के उपदेश या प्रवचन नहीं देना चाहिए। प्रवचन देने का निषेध नहीं है किन्तु जिस विषय के बारे मे पूर्वापर ज्ञान हमे सही-सही नहीं है और उसका हम प्रवचन दे तो इसमे वहुत सारे व्यवधान हो सकते है। यदि इसमे कषाय और आ जाए तो फिर वहुत गडबड़ हो जाएगा। मोक्षमार्ग वहुत सुकुमार है और वहुत कठिन भी। अपने लिए कठोर होना चाहिए और दूसरो के लिए सुकुमार होना चाहिए किन्तु कपायो की वजह से दूसरो को कठोर वना देते है और अपने लिए नरम बना लेना चाहते है। लेकिन मोक्षमार्ग है आप की इच्छा के अनुसार नहीं वनने वाला, भैय्या।

भगवान् के दर्शन अच्छे ढग से करो, उनकी भक्ति करो। भगवान् की भक्ति करने से हमे कुछ नहीं होता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी कहते हैं कि–

अरिहंत णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।

जो प्रयत्नवान् होकर के अरहन्तो की भक्ति करता है, भावो की एकाग्रता के साथ करता है तो नियम से वह कुछ ही दिनों मे, घडियो मे सभी दु खो से मुक्ति पा जायेगा। "भावेण" यह शब्द वहुत मार्क का है। अर्थ यह है कि अरहन्त भक्ति करो पर "हेयबुद्धि से करना, इस पर मन कुछ सोचने को कहता है। कई लोग ऐसा व्याख्यान देते हैं कि भक्ति आदि क्रियाए हेयबुद्धि से करना चाहिए, लेकिन वह मेरे गले नहीं उतरता है। कई लोग कहते है कि महाराज! कम से कम अरहन्तभक्ति करते समय हमारी हेयवुद्धि कैसे हो? हम तो हैरान हो जाते है कि भैया! इस प्रकार का प्रश्न तो आपने कर दिया हमारे सामने किन्तु इसके लिए उत्तर मैं कहाँ से ढूढू? और यदि इसका उत्तर समीचीन नहीं देता हूँ तो मुझे दोष लगेगा। आपको कुछ

नहीं कहने पर आप और भी इस तरह की गलत धारणा बना लेंगे। दूसरी तरफ आगम में ऐसा कुछ कहा भी नहीं जिससे आपका समाधान हो सके। अब तो फंद में पड़ गये हम। किन्तु फिर भी ढूंढता रहता हूँ कि कौन-सा शब्द कहाँ पर किस रूप में प्रयुक्त होता रहता है? मैं मंजूर करता हूँ कि अरहन्त-भक्ति करते-करते किसी को भी केवलज्ञान नहीं हुआ लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अरहन्त-भक्ति के द्वारा संवर और निर्जरा भी नहीं होती। ऐसा कदापि नहीं मानना। संवर, निर्जरा नियम से होती है। इस संवर-निर्जरा के द्वारा साक्षात्केवलज्ञान नहीं होता। यह बात बिल्कुल अलग है कि जो केवलज्ञान प्राप्ति की भूमिका में है और "अरहन्त-भक्ति (अरहन्त-सिद्ध)" करता रहेगा तो उसे अरहन्त पद नहीं मिलेगा क्योंकि उनकी स्थिति अभी पराश्रित है।

समयसारादि ग्रन्थों में कहा गया है कि अरे! तू मुनि हो गया, अब शुद्धोपयोग धारण कर, शुद्धोपयोग में लीन हो जा। यदि शुद्धोपयोग में लीन हो जाएगा तो तू भी उसी के समान बन जाएगा जिसकी भक्ति कर रहा है।

सुबह प्रार्थना में भजन में कोई सज्जन कह रहे थे कि "भक्त नहीं भगवान् बनेंगे। मैंने सुना क्या बोल रहे हैं भजनकार? भैय्या यह तो बहुत गड़बड़ बात होगी कि जो भक्त तो नहीं बनेगा और भगवान् बनेगा। भगवान् तो बनना है लेकिन "भक्त बनकर भगवान् बनेंगे, ऐसा क्रम होना चाहिए। नहीं तो सारे के सारे लोग भक्ति छोड़कर भगवान् बनने बैठ जायेंगे तो मामला गड़बड़ हो जाएगा। प्रसंग को लेकर अर्थ को सही निकाला जाए तो कोई विसंवाद नहीं, किन्तु उसी पर अड़ जायें तो मामला ठीक नहीं। भक्ति के द्वारा जो केवल ज्ञान माने, तो वह समयसार नहीं पढ़ रहा है और समयसार पढ़ते हुए यदि हम यह कहें कि "भक्ति से कुछ नहीं होता" तो भी समयसार नहीं पढ़ रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

मग्गप्पहावणट्ठं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।।

प्रवचन भक्ति के द्वारा प्रेरित हुई मेरी आत्मा ने इस प्रवचन (आगम) के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र को कहा। मार्ग की प्रभावना की दृष्टि से रखकर ऐसी भावना उद्भूत हुई। भक्ति से ओतप्रोत होकर के जिनवाणी का एक ऐसी सेवा करने का ऐसा भाव यदि इस भूमिका में नहीं होगा तो कौन-सी भूमिका में होगा? क्या सप्तम भूमि में होगा? नहीं होगा। करुणा से युक्त हृदय वाले ही भक्ति कर सकते हैं। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की अरहन्त भक्ति-श्रुतभक्ति नहीं होती तो यह जिनवाणी भी हमारे

सामने नहीं होती। आप भी तो बोलते है कि "तो किस भाति पदारथ पाति, कहाँ लहते रहते अविचारी" हा हा ! जिनवाणी-भक्ति मे क्या मार्मिक बात कही है, कि हमारा अस्तित्व कहाँ, यदि यह जिनवाणी न होती तो? किसी उर्दू शायर ने भी कहा है उसे भी याद ला रहा हूँ, बहुत अच्छी बात कही— उनकी ये दृष्टि हो या न हो, लेकिन मैने तो इसका इस प्रकार अर्थ निकाला है—

नाम लेता हू तुम्हारा लोग मुझे जान जाते हैं।
मैं एक खोई हुई चीज हूं जिसका पता तुम हो।।

मेरा कोई "एड्रेस" नहीं, पता नहीं। अगर कुछ है तो तुम ही हो ! तुम्हारी शरण छूट गयी तो हमारे लिये कोई शरण नहीं भगवान्।

"अन्यथा शरण नास्ति त्वमेव शरण मम" अरहते सरण पव्वज्जामि। हे भगवान्! (पचपरमेष्ठी) आपके चरण कमलो की शरण को छोडकर के कौन-सी मुझे शरण है? भगवान् की भक्ति करते हुऐ यदि हेयबुद्धि लाने का प्रयास करोगे तो बन्धुओ! ध्यान रक्खो "शुद्धोपयोग की भूमिका आपको नहीं मिलेगी और अशुभोपयोग की भूमिका छूटेगी नहीं।" भक्ति शुभोपयोग मे हुआ करती है। लेकिन शुभोपयोग के द्वारा केवल बन्ध होता है, ऐसा नहीं है, शुभोपयोग के द्वारा सवर-निर्जरा भी होती है। सर्वप्रथम प्रवचनसार मे आत्मख्याति लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा की टीका मे लिखा है कि—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।।

यह प्रशस्तभूत जो श्रावको की अरहन्त-भक्ति, दान और पूजादि रूप प्रशस्तचर्या है इसके द्वारा "क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य" ये शब्द अमृतचन्द्राचार्य के है। जयसेनाचार्य जी ने इसका और खुलासा किया है। सर्वप्रथम इन अध्यात्म ग्रन्थो मे क्रमत शब्द का प्रयोग किया है तो अमृतचन्द्राचार्य जी ने ही। जो व्यक्ति (अमृतचन्द्रचार्य) क्रमत अर्थात् परम्परा से परम निर्वाण के सुख को प्राप्त करने के लिए सरागचर्या और अरहन्त-भक्ति को कारण मानते है तो उसके लिए 'एकान्त से ससार का ही कारण मानना ऐसा कह देना, आचार्य अमृतचन्द्राचार्य को दुनिया से अपरिचित कराना है।"

शुद्धोपयोग के साथ कुछ भी आस्रव नहीं होता, बिल्कुल ठीक है। परन्तु शुभोपयोग के द्वारा केवल आस्रव ही होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए तो अमृतचन्द्राचार्य जी ने ये शब्द दिये "क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य"

ओर कुन्दकुन्द भगवान् क्या कहते हे? "ताएव पर लहदि साक्ख" अर्थात् उसी सरागचर्या के द्वारा क्रमश निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहॉ पर यदि मुनि कहे कि हम भी ऐसा ही करे, तो आचार्य कहते है कि– वावला कहीं का ! तुम्हारी शोभा इसमे नहीं आती, तुम्हारी तो भूमिका शुद्धोपयोग की है। शान्ति स वेठ जा, ओर आत्मा का ध्यान कर ले ! तुम्हे क्रमश नहीं "साक्षात" की भूमिका है। लेकिन वर्तमान मे वन्धुओ ! इस विवक्षा को नहीं समझोगे ता उस भक्ति को भी खो दोगे ओर उधर भी कुछ नहीं मिलेगा, तव कहॉ रहोगे? इस सब अवस्था को देखकर भगवान् कुन्दकुन्द को कितना दु ख होगा, अमृतचन्द्राचार्य को कितना दु ख होगा? उन्होंने प्रयास किया लिखने मे, टीका करने मे और हम अर्थ निकालनेवाले ऐसा अर्थ निकाल रहे है? वेचारी इस भोली-भाली जनता का क्या होगा? इसलिए आचार्यो न टीका के ऊपर टीकाए, कुजी, नोट्स ये वो सव कुछ लिखे है। लेकिन टीका की कीमत, कुजी की कीमत, तव तक ही है जव तक मूल है,ताला है मूल नहीं तो टीका, कुजी का वड़ा-सा गुच्छा अपने पास रख ले तो भी कुछ (कोई भी) कीमत नहीं।

आज किताव का तो अध्ययन कोई करता नहीं और कुजियो के द्वारा पास होने वाले विद्यार्थी वहुत है। उन विद्यार्थियो को देखकर ऐसा लगता है कि जव ताला नहीं मिलेगा तो कुजी का प्रयोग कहॉ करेगे ये लोग? उस कुजी की कीमत तव है जव मूल किताव मे कहॉ पर क्या लिखा है, उसको देखने मे "की" लगा दो तो ठीक है, लेकिन जव नवम्वर ओर अप्रैल आ जाता है उस समय कालेज के भी विद्यार्थी पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं तो पास कैसे होगे? "की" पढकर ही जैसे भी हो वेसे पास हो जाये, वस यही सोचते हे। कदाचित् वे पास हो भी जाए लेकिन यहा पर ऐसा नहीं चलेगा भैय्या! यहा पर पूरा का पूरा प्रयास करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अरहन्त-भक्ति मे तो विशेप रूप से कमाल किया है, वे कहते है–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः।।

हे भगवन्! हम आपकी भक्ति कर रहे है, स्तुति कर रहे हैं और आपको स्मरण कर रहे हे, इससे आपका कोई भी प्रयोजन नहीं है, क्योकि आप तो वीतरागी है। हे भगवन्! कोई भी आकर, आपकी निन्दा करे, तो भी आपको कोई प्रयोजन नहीं, क्योकि आप वीतद्वेषी है। आपके चरणो मे भक्ति कर रहा हूँ मै, इससे आपको तो कोई लाभ-प्रयोजन नहीं किन्तु मेरा ही मतलव सिद्ध हो जाता हे, कारण कि अभी

तक विगडा रहा, अव आज आपकी भक्ति क माध्यम से सुधर जाऊगा, इसके लिए आप मना भी नही करते है। उन्होने पाच कारिकाओं के द्वारा वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए मात्र पूजा का ही वर्णन किया है। वे कहते है कि–

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो वहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिकाविषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।

हे भगवन् आपकी स्तुति, पूजापाठ आदि करते-करते कोई श्रावक दोष का भागीदार नही होगा, सावद्य पूजन होने पर भी। क्योकि पूजन के द्वारा इतना फल मिलता है– कर्मो की निर्जरा होती है कि क्या वताऊ? और उनके साथ-साथ यदि कुछ कर्मो का वन्ध भी हो रहा हो तो वह उसक लिए वाधक नहीं होगा। दोष के लिए सिद्ध नहीं होगा। क्या उदाहरण दिया है? समुद्र है, वह भी अमृत का, उसमे यदि विष की एक कणिका डाली जाय तो वह समुद्र को किसी भी प्रकार से विकृत नही वना सकती। मै पूछना चाहता हूँ कि वडी-वडी सिटियो से लोग आये होगे यहाँ पर। वहाँ पर आप सवकी दुकाने तो होगी, भले ही घर की न हो, किराये से ले रखी हो। माल तो आपका ही होता है, मकान आपका नही लेकिन आप चाहते होगे कि दुकान चकराघाट पर या तीनवत्ती पर खुल जाए। ताकि हमारी दुकान चौवीसो घण्टो चलती रहे, ग्राहको का ताता लगा ही रहे। लेकिन मै पूछना चाहता हूँ कि वहाँ पर दुकान मिलेगी कैसे? जो माग वह देने को तैयार है हम दस लाख की पगडी देने को तैयार है, लेकिन मिल तो जाय कम से कम। मामला मिल गई और धडाधड़ चलने भी लगी, मालामाल हो गये। तो मालूम है किराया लेने वाला (मालिक) क्या कहता है कि आपको किराया और वढाना होगा? तव आप कहते है– वढाओ कोई वात नही ले लो और ले लो, एक माह हुआ नहीं कि २६ तारीख के दिन ही निकाल करके रख देते है। आया नहीं कि दे दिया। क्योकि गडवड किया तो दुकान खाली करनी पड़ेगी, तव तो मुश्किल हो जाएगा। इसलिए सव कुछ देने को तैयार हो जाते है। दुकान अच्छी चल रही है। अपनी गाठ का देना होता तो थोडे ही निकालते। जो आ रहा है। उसी मे से थोडा सा दे दिया। ये स्थिति होती है जिसकी निजी दुकान नही है, उसकी यह वात है, तव तो जिसकी दुकान भी घर की है जिसको कुछ भी, एक पाई भी न देना पडे, खुद का घर, खुद की दुकान, नोकर भी नहीं, सव कुछ स्वय करते है तो मालामाल हो जायेगे। देने की आवश्यकता ही नही मात्र लेना ही लेना है।

इसी प्रकार अरहन्त-भक्ति मे, पूजा मे लाभ ही लाभ है। अत भक्ति आदिक

धार्मिक कार्य ''हेयबुद्धि'' से नहीं किये जाते किन्तु आचार्यो ने कहा है ''परमभक्तया एव अरहन्तभक्ति कुरु'' परम भक्ति के द्वारा अरहन्त भक्ति करो किन्तु उस भक्ति के द्वारा जो भी पुण्यबन्ध होता है, उस पुण्यबन्ध के उदय का जब फल मिलेगा तब उसमे आकाक्षा– रागद्वेष– हर्षविषाद नहीं करना। प० दौलतराम जी कहते है कि–

पाप पुण्य फल मांहि हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपज विनसे थिर नाई।।

क्या कहते है वे? पुण्य और पाप के फल काल मे न तो हर्ष होना चाहिये, न ही विषाद। किन्तु ससारी प्राणी का बिना इसके (हर्षविषाद के) चल नहीं सकता। फल के लिए जो व्यक्ति पुण्य करता है उसका वह पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है और जो व्यक्ति अरहन्त भक्ति, सवर और निर्जरा के निमित्त करता है, कर्मक्षय के लिए करता है, वही सार्थक है।

शुद्धोपयोग की भूमिका नहीं है तब क्या करू? तो आचार्य कहते हैं कि चिन्ता मत कर बेटा! मै कह रहा हूँ, रास्ता यही है तेरे लिए ''क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य''। इस भव मे नहीं तो ना सही, किन्तु मिलेगा तो परम आह्लाद की प्राप्ति होगी नियम से। सभी को आह्लाद पहुँचाने का प्रयास करो, जिससे व्यक्ति अरहन्त भक्ति करने लग जायेगा ऐसा प्रवचन दीजिये, ऐसा नहीं कि ''मुक्ति की भक्ति'' शुरू कर दे। ''अर्हन्त भक्त'' बनेगा तो नियम से वह मुनि बनेगा और अपनी आत्मा मे स्वस्थ होगा। यह सब यदि करना चाहते हो तो नियम से अच्छे ढग से अरहन्त भक्ति करना चाहिए।

अरहन्त भक्ति करते-करते प्राण निकल जाये, ऐसा आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द भगवान् का कहना है। सल्लेखना के समय पर जिस व्यक्ति के मुख से अरहन्त भगवान् का नाम निकलता है वह बहुत ही भाग्यशाली है। जिसके मुख से ''अरहन्त'' नाम भी नहीं निकलता है, उसका तो कर्म ही फूट गया, खोटा है। महान् बडभागी होते है वे जो जीवन पर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का काम करते है और अन्त मे भी ''णमोकारमन्त्र'' दूसरो को सुनाते जाते है, बहुत भाग्य की बात है। ''अरहन्त-सिद्ध'' मुख से नहीं निकलता, किन्तु कहते है– ''हाय रे! जल लाओ, भीतर तो सभी कुछ जला जा रहा है''। जीवन भर समयसार भी पढ़ लो गोम्मटसार भी रट लो, प्रवचनसार के प्रवचन भी कर लो, लेकिन जब अन्तसमय प्राणपखेरू उड़ने लग जाते है तो ''अरहन्त'' कहते नहीं पाये जाते, ऐसे भी कई उदाहरण आगम मे दिये गये है। ४८ मुनियो को वैय्यावृत्ति मे लगाया जाता है और बार-बार कहा

जाता है कि "आपके माध्यम से हमें मार्ग मिला है" और आप कह रहे हैं कि जल लाओ, भोजन लाओ। रात तो देखो, अपनी अवस्था को भी देखो, आप किस अवस्था में है ओर यह क्या कह रहे है। पूर्व की याद करो! नरकों की याद करो, जहाँ–

सिन्धु नीर तें प्यास न जाए तो पण एक न बूंद लहाय

यह प्यास, भूख तो अनन्तकाल मे साथ दे रही है। अब तो केवली भगवान् की बात सुनिए– घबडाओ नहीं, अरहन्त-भक्ति को याद रखो आज भी नियमपूर्वक विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला जघन्य से ३ भव और उत्कृष्ट से ७ ८ भव में मोक्ष जाता है।

प० दौलतराम जी कहते है कि यदि तू मुनि नहीं बन सकता तो कम से कम श्रावक के व्रत तो पालन कर/धारण कर। दो ही धर्मो का व्याख्यान शास्त्रों मे आता है– एक अनगार, दूसरा सागार। तीसरा कोई धर्म नहीं है। आप कहीं भी चले जायें, दो ही धर्म मिलेंगे, दोनो में चलने को कहा है। एक बात और कहना चाहूँगा कि अमृतचन्द्राचार्य जी ने पुरुपार्थसिद्धयुपाय में कहा है आप लोग बहुत पढते है उनको, जब भी उपदेश देओ तो सर्वप्रथम मुनि बनने को उपदेश देना, बाद मे श्रावक धर्म का" क्योंकि सामने वाला यदि मुनि बनने की इच्छा से आया है और आप उसे गृहस्थाश्रम के योग्य धर्म का उपदेश देंगे तो दण्ड के पात्र होंगे। केवल एक धर्म का कभी भी वर्णन नहीं होना चाहिये। मात्र सम्यग्दर्शन कोई धर्म नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनो मिलाने पर ही धर्म बनते हैं, ऐसा आचार्यो का कहना है।

बन्धुओ! या तो श्रावक बनो या मुनि बनो, तीसरा कोई उपाय नहीं है। यदि धर्म का पालन नहीं कर सकते तो, भाव तो रक्खो मन में कम से कम। इस प्रकार की भावना होना भी महादुर्लभ है।

कृष्णजी के सामने समस्या आ गई। वे कह देते हैं प्रद्युम्न आदि सब लोगों को चले जाओ, सबको हमारी तरफ से छुट्टी है मुनि बनने की, दीक्षा लेने की। बेटे ने कहा– आप भी चलेंगे पिताजी। मेरी भावना नहीं हो रही है। क्यों नहीं हो रही है पिताजी? कितने मार्के की बात है देखो, "सिद्धान्त कहता है कि जिस जीव को मनुष्यायु, तिर्यंचायु या नरकायु का बन्ध हो चुका है उसको कभी भी संयम लेने की भावना तक नहीं होती। लेकिन वह सम्यग्दृष्टि है तो दूसरे को दीक्षा लेने में कभी व्यवधान नहीं डालेगा।" जो व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा का निषेध करता है वह व्यक्ति नियम से संयम के प्रतिपक्षी होने के कारण मिथ्यादृष्टि है। बन्धुओ! यह ध्यान रखो,

खुद मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकते तो कोई बात नहीं किन्तु "तुम चलो बेटा, तुम चलो बेटा, तुम चले जाओ। हम बाद में आ जायेंगे, जब कभी हमारी शक्ति आ जायेगी तब, ऐसा प्रोत्साहन तो देता है। "मैं नहीं चल रहा हूँ इसलिए तुम कैसे आगे पहुँच सकते हो' इस घमण्ड से दूसरों के मार्ग में बाधक का कार्य नहीं करो, "आज मोक्षमार्ग पर कोई नहीं बढ़ सकता'', ऐसा भी कभी मत कहना, क्योंकि नियमसार की एक गाथा है आचार्य कुन्दकुन्ददेव की– "अनेक प्रकार के भाव होते हैं, अनेक प्रकार के कर्म होते हैं, अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं। इसलिए आपस में इस प्रकार का संघर्ष, कषाय करके "स्व'' और "पर'' के लिए कभी भी ऐसे बीज मत बोओ जिसके द्वारा विषफल खाना पड़े। और नरक-निगोद आदि गतियों में जाना पड़े।

दिव्यध्वनि में भगवान् ने दो ही धर्मों का वर्णन किया है और सम्यग्दर्शन के साथ दोनों धर्म हुआ करते हैं। इनमें से एक परम्परा से मुक्ति का कारण है और एक साक्षात्। मुनिधर्म साक्षात मुक्ति का कारण है और श्रावकधर्म परम्परा से, परन्तु आज तो दोनों ही धर्म परम्परा से हैं क्योंकि आज साक्षात् केवलज्ञान नहीं होगा। इसलिए इस सत्य को, इस तथ्य को सही-सही समझकर के अपने मार्ग को आगे तक प्रशस्त करने का ध्यान रखियें। क्योंकि–

ज्ञान ही दुःख का मूल है, ज्ञान ही भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल।।
चुन-चुन इनमें उचित को, मत चुन अनुचित भूल।
सब शास्त्रों का सार है, समता बिन सब धूल।।

□□

९

अभी-अभी बोलिया हो रही थीं। मै सोच रहा था कि वोली लेने वाले यह जानते हैं और करने वाले भी जानते है कि पैसा अपने से बिल्कुल भिन्न है। तव भी मुझे समझ मे यह नहीं आ रहा था कि २ २ ३ ३ वार वोलने के उपरान्त जैसे क्रेन के द्वारा कोई वड़ी वस्तु उठती है धीरे-धीरे, ऐसी ही वोलिया उठ रही थीं, ऐसा क्यो? जवकि धन विभिन्न पदार्थ है। उसके साथ हमारा कोई सम्वन्ध नहीं फिर भी ऐसा लग रहा था कि जेसे गोंद से आपका और उन नोटो का गठवन्धन हो गया है। नोट ट्रेजरी मे है और आप यहॉ आकर वैठे हैं, फिर भी नहीं निकल रहे है। वोली लेने वालो के तो नहीं निकल रहे है क्योकि उन्हे मोह है, लेकिन यहॉ जो वोली करा रहे थे वह भी दो के साथ-साथ ढाई वोल रहे थे यानि उनका भी मोह और वढ रहा था।

आज मोह को छोडकर ही शरीरातीत अवस्था प्राप्त हुई। कितना घनिष्ठ सम्वन्ध है आत्मा के साथ, देख लीजिए। आज द्रव्य कर्म से, भावकर्म से और नोकर्म से, इन तीन कर्मो से अतीत होकर के उस आत्मा का जन्म हुआ है। सिद्धपरमेष्ठी की ही सही जन्म जयन्ती है आज के दिन। अनन्तकाल क लिए यह जन्म, ज्यो का त्यो रहेगा। अनन्तकाल के लिए मरण का मरण हो चुका अब। ऐसा उत्पाद हुआ, और ऐसा उत्पात हुआ कि कहना सभव नहीं। यह तो ऋषभनाथ ही जान सकते है। हम नहीं जान सकते।

आज इस वात को देखने (निर्वाणकल्याण) मे इतना आनन्द आता है कि जितना कि अन्य म नहीं आता। निर्वाण कल्याणक मे मुझे विशेष ही आनन्द आता है। हालाकि दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक भी कल्याणक है, लेकिन निर्वाण कल्याणक को देख अपूर्व ही आनन्द उमडता है। कल तक तो समवसरण की रचना थी, अव समवसरण विखर गया। वृषभनाथ भगवान का समवसरण लगभग २६ दिन पहले ही बिखर गया, मुक्ति पाने से पहले। यानि २६ दिन तक समवसरण के बिना

रहे वे। समवसरण मे विराजमान होते है तो अर्हन्त परमेष्ठी माने जाते हैं। छत्र, चवर, सिहासन और कमल के चार अगुल ऊपर अधर मे बैठे रहते है। अर्हन्त परमेष्ठी एक प्रतिमा जैसे हो जाते है। समवसरण मे जब तक विराजमान रहेगे तो उन्हे केवलज्ञान तो भले ही रहा आवे, लेकिन मुक्ति तीनकाल मे मिलने वाली नहीं। किसी को भी आज तक कुर्सी पर बैठे-बैठे, किसी सस्था के सचालक को मुक्ति नहीं मिली। केवलज्ञान होने मे तथा मुक्ति मे उतना ही अन्तर है, जितना कि १५ अगस्त और २६ जनवरी मे। केवलज्ञान हुआ यह स्वतन्त्रता दिवस है और मुक्ति गणतन्त्र दिवस। यह बिल्कुल नियम है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले बात होती है, और कह दिया जाता है कि तुम्हे स्वतन्त्रता मिलेगी-दी जाएगी। लेकिन सत्ता जो है वह गणतन्त्र दिवस के दिन आती है। आज भगवान को अपनी निजी सत्ता हाथ लगी, जो कि पर के हाथ चली गई थी, उसके लिए उन्होने बहुत कोशिश की, अनशन भी प्रारम्भ किये, तब कहीं जाकर के सत्ता मिली है। आप सोचते है सत्ता को ले लेना आसान है, लेकिन नहीं दूसरो की सत्ता पर अधिकार नहीं करना है। अपनी सत्ता को प्राप्त करने के लिये आचार्यो ने कहा है कि अन्तर्मुहूर्त पर्याप्त है, पर यह सब व्यायाम करना आवश्यक है तभी जो ग्रन्थिया है छूट सकेगीं, जो कि आपकी नहीं है। उसी साधना मे कठिनाई है। इसलिए साधु की यह विशेषता होती है कि वह केवल आत्मसाधना करता है। वही साधु हुआ करता है। कुछ इससे आगे के होते है जो अपनी साधना को करते हुए भी दूसरो को उपदेश दे देते हे वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते है। यदि कोई उपदेश ग्रहण कर मार्ग को, पथ को अपनाना चाहता है तो उसे शिक्षा-दीक्षा देकर के पथ के ऊपर आरूढ़ करा देते है। "चरति आचारयति वा इति आचार्य"। वह आचार्य परमेष्ठी कहलाते है। ओर "मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्। ज्ञातर विश्वतत्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये"।। अरहन्त परमेष्ठी वे माने जाते है जो कि हितोपदेशी होते हैं, सर्वज्ञ होते है, मोक्षमार्ग के नेता होते है।

अरहन्तो मे तीर्थकर भी होते हें जो कि सिद्ध परमेष्ठी को नमोऽस्तु करते है। ऐसा क्यो? सभी के आराध्य देवता तो सिद्ध ही हुआ करते है। शेष सारे के सारे आराधक है, अरहन्त परमेष्ठी को मुनि माना जाता है। सिद्ध परमेष्ठी मुनियां की कोटि मे नहीं आते। वे तो मुनियो से पूज्य हैं, शाश्वत सत्य है। अर्हन्त परमेष्ठी को भी साधु-जीवन की उपासना करनी पडती है। तब यह पद लिया ही क्यो उन्होने? पूर्व जीवन मे उन्होने भावना भायी थी कि "क्षेम सर्वप्रजाना"। दर्शनविशुद्धि आदि

षोडशभावनाए, जिनमे "सबका कल्याणहो, ससार मे तिलतुष मात्र भी सुख नही, सभी को सही-सही दिशा वोध मिले, इन्ही का तो फल हे। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी भावना नहीं हुआ करती, यदि होने लग जाए तो सभी को तीर्थकर पद के साथ मुक्ति मिले। पर ऐसा असम्भव हे। असख्यातो मे एक-आध ही सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना वाले होते है।

अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था कोई भगवद् अवस्था नहीं है। उन्हे उपचार से भगवान् कह देते है। उनके चार घातिया कर्मो के नाश हो जाने पर, अव जन्म से छुट्टी मिल गई, इसी अपेक्षा से या उपचार से कह देते है। दूसरी वात और कहूँ-- उनको (अरहन्त) मुक्ति कव मिलती है? अरहन्त परमेष्ठी को मुक्ति तीनकाल मे नही मिल सकती। आचार्य परमेष्ठी को भी नही मिल सकती, उपाध्याय परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती। मुक्ति के पात्र साधु परमेष्ठी हैं। मोक्षमार्ग के नेतृत्व को अपनाये रहेगे जव तक, तव तक मुक्ति नहीं। उनके समवसरण मे वैठे-वैठे कोई उपदेश सुनकर के भावलिगी मुनि को मुक्ति हो सकती है, पर समवसरण के सचालक (तीर्थकर) को मुक्ति नहीं होती। कितनी वडी वात है। हम लोग कम से कम कुर्सी का तो मोह छोड दे, कुर्सी मिल भी नहीं रही है सवको। लेकिन सभी झगडा करते हैं कुर्सी के लिए मात्र उस मोह के कारण। चुनाव भी लड़ते है। आज तो तीर्थकर प्रभु की भी कुर्सी (सिहासन) छूट गयी। तीन लोक मे कहीं भी ऐसी सम्पदा नहीं मिलती है। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर के द्वारा समवसरण की रचना होती है, सारे भण्डार को खाली करके। समवसरण की रचना केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त क्यो हुई? सारी की सारी सम्पदा पहले भी कुवेर के भण्डार मे थी, वह अपने लिए अथवा इन्द्र के लिए समवसरण की रचना क्यों नहीं कर सकता? नहीं। यह तो मात्र तीर्थकर प्रकृति के उत्कृष्ट पुण्य का विपाक हैं उन्हीं के लिए यह सव कुछ सम्पदा मिलती है।

आचार्य परमेष्ठी भी जव तक आचार्य परमेष्ठी वने रहेगे तव तक श्रेणी मे आरोहण नहीं हो सकता। उपाध्याय परमेष्ठी को भी श्रेणी नहीं मिलेगी। और यहाँ तक की तीर्थकर को भी, जव तक अर्हन्त परमेष्ठी के रूप मे रहेगे तब तक मुक्ति नहीं। सब कुछ यहाँ पर छोडना पडता है। सारा का सारा ठाट-वाट यहीं पर धरा रह जायेगा। आठ कर्मो को भी यहीं छोड जायेगे और जाकर ऊर्ध्वलोक में विराजमान हो जाएगे, अनन्तकाल के लिये।

इससे सिद्ध हो गया कि साधु की साधना छठवे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें

गुणस्थान तक चलती है। आप लोगों के यहाँ भी चौदह कक्षाएँ होती हैं। उनमें एक स्नातक और एक स्नातकोत्तर। ये चौदह गुणस्थान संसारी जीव की चौदह कक्षाएं हैं। एक-एक गुणस्थान चढ़ते-चढ़ते अर्हन्त परमेष्ठी स्नातक हुए हैं और तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ और वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त रह करके स्नातकोत्तर हुए। ज्यों ही स्नातकोत्तर हुए तो निरुपाधि अवस्था की उपलब्धि हो गई उन्हें। जब तक कक्षाएं शेष रहती हैं तब तक छात्र ही माना जाता है। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान तक तो सभी मुनि महाराज माने जाते हैं। किन्तु चौदहवें गुणस्थान के ऊपर चले जाते हैं तो वे नियम से सिद्ध परमेष्ठी होते हैं, शाश्वत सिद्धि प्राप्त हो जाती है उन्हें। धन्य है वह दिन, इस प्रकार से आत्मा का विकास करते-करते अन्त में उन्हें इस पद की उपलब्धि हुई जो कि आत्मोपलब्धि कही जाती है। उन्होंने अपना कुछ भी नहीं छोड़ा। जो परगत था वह सारा का सारा यहीं पर रह गया। जो निजी था वह शाश्वत सत्य बन गया। एक उदाहरण देता हूँ कि अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में कितना अन्तर है।

दूध है और घृत है। दोनों एक दूध में विद्यमान रहते हैं। पर जब आप दूध पीते हैं तब घृत का स्वाद नहीं आता आपको। घी, दूध में तो है परन्तु घी का स्वाद नहीं आता। घी का स्वाद अलग है और दूध का अलग। इसी तरह दूध की गन्ध और घी की गन्ध की बात है। दूध की गन्ध दूर से नहीं आती जबकि घी की महक तो कहीं रखो अर्थात् दूर से भी आती है। दूसरी, दूध के द्वारा अर्थात् दूध से भरे बर्तन में आप अपनी मुखाकृति को नहीं देख सकते जबकि घी में आपकी मुखाकृति स्पष्ट दिखाई दे जाएगी। दूध में कभी भी मुख नहीं झलकेगा। यह बात अलग है कि मुख का मात्र बाहरी आकार ही दिखे। यदि दूध में आपका, अवतरण नहीं हो सकता। तीसरी बात, दूध हमेशा कच्चा होता है अर्थात् कभी परिणमन (दही, तक्र) को प्राप्त हो जाता है, लेकिन घी में अवस्थान्तर अब होता नहीं, क्योंकि वह पूर्ण शुद्ध हो गया है। चौथी बात, दूध से कभी भी प्रकाश नहीं किया जा सकता, अर्थात् दीपक में भरने पर प्रकाश नहीं देता जबकि घी जब चाहे प्रकाश देता है जब आप चाहें। इसीलिए घी से आरती भी उतारी जाती है, दूध से नहीं। पांचवीं बात, दूध में देखें तो उसकी पूर्णता (गहराई) नजर नहीं आती, जबकि घी में देखने पर उसकी सतह तक स्पष्ट दिखाई देता है। उससे पता चल जाता है कि कितना है। ऐसा ही अन्तर सिद्ध और अर्हन्त में होता है। क्योंकि सिद्ध परमेष्ठी शुद्धात्म रूप से परिणमन करने लगे। एक काँच होता है और एक दर्पण। दोनों में किन्तु,

अन्तर है उतना ही मिद्ध और अर्हन्त म है। सिद्ध परमेष्ठी काच होते है, अर्हन्त परमष्ठी दर्पण। काच तो शुद्ध साफ होने से जो कुछ भी आर-पार है स्पष्ट दिखा देता है परन्तु दर्पण हमारी दृष्टि को पकड लेता है, हम उस पार नहीं देख मकते दर्पण म।

इस प्रकार होने पर णमो "अरहनाण" ऐसा क्यो हो जाता है पहले? कारण यही है कि मिद्ध परमष्ठी हम दिखत नही और अर्हन्त परमेष्ठी हम दीखते है, उपदेश देते है। सिद्ध प्रभु हितोपदेशी नहीं। सर्वज्ञ तो है, कर्मा से मुक्ति भी है पर हितोपदेशी नहीं। हम तो स्वार्थी हैं। जिसके द्वारा हमारा काम निकले उन्ही को हम पहले याद कर लेते है। अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा हमे स्वरूप का उद्‌बोधन मिलता है एक प्रकार से नेतृत्व भी करते है ओर चल भो रहे है। इसलिए अर्हन्त परमष्ठी को इन मूर्त आखो से देख सकते है। सर्वज्ञत्व को हम दख नही सकते, यह भीतरी भाव ह। हम भगवान् के दर्शन करते है लेकिन उनके अनन्तगुणो मे से एक के अलावा शेष गुणो को देख नहीं सकते हैं। मात्र वीतरागता वह गुण है जो दिखे विना रह भी नहीं सकता। वीतरागता हमारी आखों मे आ जाती है। भगवान् को देखने से उनके कोई भी ज्ञान का पता नहीं चलना कि उनके पास केवलज्ञान है कि नही अथवा श्रुतज्ञान या मतिज्ञान। कुछ भी नजर नही आता मात्र नासादृष्टि पर बैठे वीतरागमुद्रा के। केवलज्ञान हमारी दृष्टि का विपय भी नहीं वन सकता, वह मात्र श्रद्धान का विषय है। लेकिन मुद्रा के देखने से ज्ञान हो जाता है कि हमारे प्रभु केसे हे? हमारे प्रभु वीतरागी है। वीतरागता आत्मा का स्वभावभूत गुण है। वीतरागता के विना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में केवलज्ञान नहीं झलकता, सर्वज्ञत्व नहीं झलकता किन्तु मिथ्या दृष्टि की दृष्टि मे भी मे भी भगवान् की वीतरागता झलकती है। इसलिए वह भी विना विरोध के वीतराग के चरणो मे नतमस्तक हो जाता है। यदि अरहन्त भगवान हमारे लिए पूज्य है तो वीतरागता की अपेक्षा से ही। पूरा का पूरा समाज आकर उनकी पूजा करता है। कौन म भगवान सही है? तो हर कोई कहेगा– जो रागी है, वह सही नहीं, जो द्वेपी है वह भी नहीं, जो परिग्रही वह भी नहीं। लेकिन जो वीतराग हो वेठे है, इनके पास कितना ज्ञान है, इनसे किसी को कोई मतलव नहीं। वीतरागता जहाँ कहीं नहीं मिल सकती है। इसलिए धन्य है वह घडी आदिनाथ के लिए, जव उन्होने अपने आपको इस ससार से पार कर लिया तथा हमारे लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया। युग-युग व्यतीत हो गये, इस प्रकार का कार्यक्रम किये। यद्यपि ससार अनादिकाल से चल रहा है तो

सिद्ध होने का क्रम भी अनादि ही है, फिर भी हम लोगों का नम्बर सिद्धों में नहीं आ पाया। अतः हमें अब इसके लिये पुरुषार्थ करना होगा। एक ही पुरुषार्थ है, मोक्ष पुरुषार्थ जो आज तक नहीं किया।

जानने के लिये तो तीन लोक हैं, परन्तु छद्मस्थ के ज्ञान से यह कार्य नहीं बनने वाला। और छोड़ने को मात्र राग, द्वेष और मोह, ये तीन हैं। इन राग, द्वेष और मोह को छोड़े बिना हमारा ज्ञान सही नहीं कहलायेगा। इसलिए संघर्ष करो, और जो कुछ भी करना पड़े करो, मात्र राग-द्वेष-मोह छोड़ने के लिये। जिसने संघर्ष किया, वह अपनी आत्मसत्ता को लेकर के बैठ गया। उसका साम्राज्य चल गया। आज तक जो नौकर था, वह सेठ बन गया। जो सेठ था वह नौकर की चाकरी कर रहा है, गुलामी कर रहा है। इस शरीर के पीछे क्या-क्या अनर्थ करना पड़ता है इस आत्मा को। कैसे-कैसे परिणाम करता रहता है। आप्तपरीक्षा में विद्यानन्द जी महाराज ने लिखा है कि—

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः॥

उन्होंने इसको (शरीर को) जेल बनाया है। इसीलिये कल तक भगवान् को अनन्तसुख था लेकिन अव्याबाध नहीं था। कुछ लोग पूछते हैं मुझसे— महाराज! अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। मैं कहता हूँ— जैसे जेल में किसी को कह दिया "कल तुझे जेल से छुटकारा मिल जाएगा।" अभी नहीं मिला है। जब तक जेल से बाहर नहीं जायेगा तब तक वस्तुतः सुख नहीं है। सुखानुभव के लिये तो जेल से बाहर आना होगा। जिस प्रकार जेल से बाहर आते समय, जेल का जो ड्रेस होता है, एड्रेस होता है, सबका सब उतार दिया जाता है। इसी प्रकार यह संसार का ड्रेस है इसको छोड़ने पर ही सही सुख अव्याबाध-सुख मिलता है। यही अन्तर है अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में। लेकिन हम हैं कि एक ड्रेस के ऊपर और ड्रेस पहनते जा रहे हैं। और ये सोचते हैं कि तुम्हारे पास तो ऐसा ड्रेस ही नहीं, ऐसा मुझे अभी तक मिला ही नहीं था। उन सबको छोड़कर आज ऋषभनाथ सिद्ध हो गये। और क्या-क्या छोड़ दिया उन्होंने? तीनों कर्मों को छोड़ दिया और साथ-साथ। "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव आदि भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं जो पारिणामिक भाव में भव्यत्व भाव था उसको भी छोड़ दिया। क्या मतलब है महाराज? मतलब समझाते हैं जैसे—

आप स्टेशन पर चले गये। आपको देहली जाना है। रेल का टिकिट ले लिया,

जितने पैसे मांगे उतने दे दिये। टिकिट लेकर रख लेते है। कहॉ रखते है! वहाँ रखते है महाराज! जहॉ गुम न हो सके। सब कुछ सामान गुम जाए सभव है लेकिन टिकिट गुम जाए तो क्या होगा? कम से कम दोनो कान पकडो और उठ्ठक-बैठक करो स्टेशन पर, (आजकल यह नहीं होता) तलाशी होगी, कहॉ से आये, क्यो आये, कहॉ जा रहे हो, ये सभी प्रश्न और उसके साथ सजा या जुर्माना। अत अच्छे ढग से रख लेते हैं। ज्यों ही स्टेशन आ गया, प्लेटफार्म आ गया। गाडी रुकी और उतर जाते है, उस समय वह टिकिट, टिकिट-चेकर के हाथ मे थमा देते है और गेट के पार हो जाते है। टिकिट नहीं देते है तो बाहर नहीं जाने देगा। क्योकि टिकिट यहीं तक के लिये था। बाहर चले जाने पर टिकिट का कोई काम नहीं। चेकर टिकिट को लेकर फाड देता है। वह जब फाडता है तब आप रोते नहीं, दु खी नहीं होते। कारण, अब फाडो या अपने पास रखो, यह सभी कुछ तुम जानो। हम तो अपने स्थान पर आ गये।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभिव्यक्ति का कारणभूत जो भव्यत्व परिणाम उत्पन्न हो गया था वह इनके साथ ही समाप्त हो गया, हो जाता है। जिस तरह टिकिट स्टेशन पर। चौदहवे गुणस्थान की बार्डर आते ही यह रत्नत्रय की टिकिट को कोई भी ले ले, क्योकि ससार की अपेक्षा से है। मेरा ज्ञायक तत्त्व तो कोई भी ले नहीं सकता। ऐसे मे एक समय मे सात राजु पार करके फिर वहॉ लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते है।

यहॉ पर यह शका हो सकती है कि ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, जो स्वभाव होता है वह अमिट होता है, अनन्त होता है फिर वहीं तक जाकर क्यो रुक गये सिद्ध भगवान्? भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार मे कहा है धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण, लोक के शिखर पर जाकर के वे सिद्ध प्रभु विराजमान हो जाते है। उनकी मात्र वह सात राजु की योग्यता नहीं, किन्तु उनकी योग्यता तो अनन्त है, किन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण आगे गमन नहीं होता।

इस प्रकार तो उन्होने अपनी गति को प्राप्त कर लिया। अब आप भी फेंगी के बाद अपनी-अपनी गति पकडेंगे। किसी की मोटर पर, किसी की मोटरसाइकल पर तो किसी की साइकल पर। आप पूछ सकते है कि महाराज! आप भी तो गति करेंगे, कौन-सी और किस ओर करेंगे? भैय्या हमारी सदागति रहती है। कहीं टिकती ही नहीं। ना हमारे पास ड्रेस है और ना ही एड्रेस। भगवान का कहना है कि "ड्रेस रखोगे तो पकड मे आ जाओगे। एड्रेस रखोगे तो पुलिस आ जायेगी। इसलिए बिना

ड़ेस, एड्रेस के रहा'''। इसलिए अनियत विहार करता हूँ, पता नहीं पडता। सदागति तभी तो होती है। ऐसा होना भी आवश्यक है।

आप सभी ने पाच-छह दिनो मे जो कुछ भी देखा, सुना, अध्ययन किया, मनन किया, भावना की वह वस्तुत. दुनिया मे कहीं भी चले जाये, मिलने वाली नहीं। कई दुकाने मिलेगी, लेकिन इस प्रकार की चर्या, दृश्य कहीं भी नहीं मिलेगा। यहाँ पर कोई कडीशन (शर्त) नहीं है। "विदाउट कडीशन'' ही आत्मा का स्वभाव है। कडीशन से ही दु ख का अनुभव हो रहा है। उस भव्यत्व की टिकिट को छोडकर के भी उन्होंने मार्ग को पूरा कर लिया और मजिल पर ली। धन्य है यह मोक्षमार्ग, धन्य है यह मोक्ष और धन्य हैं वे, जिन्होंने मोक्ष और मोक्षमार्ग का कथन किया। यह स्वरूप अनन्तकाल से चला आ रहा है, आज हमे भी उसका पाठ पढकर के अपने जीवन मे उपलब्ध करने का प्रयास करना है।

□□

१०

बन्धुओ! जैसी भावना की थी, आज उससे भी बढ़कर [illegible] है। ऐसी स्थिति में कितने अपार आनन्द की अनुभूति नहीं होगी? निश्चित ही होगी। जब कोई एक छात्र ३६५ दिन अध्ययन करता है और अन्तिम [illegible] दिनों में उत्तीर्ण हो जाता है, उस समय उसे खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहती किन्तु अपनी मित्र मण्डली को खूब मिठाई बाटने में लग जाता है। इसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है। जब कोई धार्मिक अनुष्ठान करता है तो उसके चित्त में (हृदय में) आनन्द की ऐसी बाढ़ आती है। ऐसे महान् [illegible] पंचकल्याणक में भी इसी प्रकार का महान् सत्पुण्य वाला कार्य हो जाता है तो सहज ही आनन्द का अनुभव हो जाता है।

मैं आज आपके सामने यह बात कहना चाह रहा हूँ, जिसकी [illegible] करके जैनियों के यहां कमी रह गई, क्योंकि हम यदि पूरी की पूरी 'प्रभावना' [illegible] तो [illegible] की गति के रुकने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है, लेकिन यह बात हो ही नहीं सकती। इसीलिए जैनियों को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हम जैनियों की सीमा तक ही धर्म का प्रचार-प्रसार करें। आज मैं [illegible] वर्ष बाद में दक्षिण से उत्तर की ओर आया हूँ। दक्षिण में प्रायः करके जो धार्मिक आयोजन होते हैं उनमें [illegible] जनता सभी आती है उसमें इसका भी पता नहीं चलता कि कौन जैन है और कौन अजैन।

आज यहां इस गजरथ महोत्सव में भी मात्र जैन ही नहीं आये हैं— सभी [illegible] हैं। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने यह बात कही है कि जब कोई भी धार्मिक आयोजन सम्पन्न होता है तो यह ध्यान रखना कि सर्वप्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सब की नियुक्ति होना अनिवार्य है। हम जड़रूप काल की तो प्रशंसा कर [illegible] हैं, [illegible] अभी पण्डित जी ने कहा कि— '[illegible] काल के अनुसार हो [illegible]', इसलिए हम अचेतन की प्रशंसा नहीं सुनना चाहते हैं। जो चेतन जीव है जिनसे [illegible] संयोग प्राप्त होता है उसके संयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

आचार्यो ने अपनी मागलिक लेखनी के माध्यम से शास्त्रो की रचना करके लिखा है कि एक आचार्य परमेष्ठी अपने जीवन काल मे तपस्या के माध्यम से, शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से धर्म की जो प्रभावना करते है, उसका छठवा भाग उस क्षेत्र के नेता (राजा) को प्राप्त हो जाता है। सुना आप लोगो ने। मै यह कह रहा हूँ कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करता है, धर्म कार्य करता है तो उस क्षेत्र के नेता को छठा भाग चला जाता है। उन लोगो का सहयोग यदि नहीं मिलगा तो आज इस धर्म-निरपेक्ष देश मे जो धार्मिक बात मच लगा करके कर रहे है, वह सब नहीं कर सकेगे। क्योंकि देश के सामने विदेश का आक्रमण, विदेशी आक्रमण के लिए उन्हे क्या-क्या करना पड़ रहा है मालूम है आपको? नहीं! जो व्यक्ति राजकीय सत्ता का अतिक्रमण करके कोई कार्य करता है तो वह अपनी तरफ से धार्मिक कार्य में बाधा उपस्थित करता है। शास्त्रो मे आचार्यो के ऐसे कई उल्लेख हैं। इसलिए हमे यह सोचना चाहिए कि अहिंसा ही विश्व धर्म है।

पुराण ग्रन्थो मे, शास्त्रो मे उल्लेख किया गया है कि जो धर्म से स्खलित है, पथ से दूर है, उन्हे धर्ममार्ग पर लाने का प्रयास करना चाहिए। बीस साल से मै देख रहा हूँ कि सम्यग्दृष्टि को ही उपदेश देना चाहा जा रहा है। लेकिन सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जहा पर अन्धकार हो, वहा पर प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश मे यदि आप लाइट जलाते है तो देश को— धर्म को खतरा है सभी को खतरा है। मतलब यह हुआ कि जहां पर जिसकी उपयोगिता है वहा पर उसको करना चाहिए। दूसरी बात धर्म प्रभावना की है, तो जो पतित से पतित है, आचार-विचारो मे उन्हे जाकर के गले लगाना चाहिए। आज कल तो ५ ६ व्यक्ति बैठ जाते है। एक मीटिंग कर लेते है और कहते है कि हम अखिल भारतीय दिगम्बर समाज की कमेटी वाले है। ऐसी कमेटिया समाज मे बहुत सारी हैं, किन्तु इन पार्टियो से कोई मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है। जो धर्म करता है उसे सोचना चाहिए कि जो अधर्मात्मा है, जो मानव जन्म को प्राप्त करके भी भीतर की चीज की पहचान नहीं पा रहा है, उसके पास जा करके, उसकी कमियाँ को देख करके, उसकी आवश्यकता को पूर्ण करके उसे आकृष्ट किया जाना चाहिये।

दान के बिना अहिंसाधर्म की रक्षा ना आज तक हुई है और न आगे होगी। यदि पैसे वाला, पैसे वाले को दान दे, तो कुछ नहीं होगा। जैनाचार्यो का कहना है कि जो सेठ है, साहूकार है उन्हे, गरीबों के पास जाकर के अपनी सम्पदा का उपयोग-प्रयोग करना चाहिए। भूदान, आवासदान, शैक्षणिक दान आदि-आदि जो

अनेक प्रकार के दानों के विधान किये गये हैं वे आज जैनियों के यहां से प्रायः कर निकल चुके हैं। चार दानों में, अभयदान भी हमारे यहां माना गया है, लेकिन आज तो जो दान के नाम से केवल अन्नदान या शास्त्रदान को ही समझते हैं, उन जैनी भाईयों से मेरा कहना है कि वह अभी दान की नामावली भी नहीं जानते हैं।

दान कितने होते हैं– मालूम है आपको? सर्वप्रथम कहेंगे शास्त्रदान। शास्त्रदान नाम का कोई दान नहीं है। उपकरण दान कहा गया है। शास्त्र भी एक प्रकार का उपकरण है। आज एक सज्जन ने अपने वित्त का उपयोग करके एक चैत्यालय का निर्माण किया। जिनबिम्ब का निर्माण कराया। हजारों-लाखों व्यक्तियों को जो दर्शन दिलाने में निमित्त हुआ, वह भी उपकरण दान है। कल या परसों हमने एक बात कही थी कि जो व्यक्ति अपने दर्शन-धर्म-विचारों से दूसरों को आकृष्ट करना चाहता है। तो उसका कर्तव्य है कि, उनकी कमियां क्या हैं? यह जाने। यदि बच्चा रोता है तो उसे खिलाने की आवश्यकता है या पिलाने की या खेल खिलाने की आवश्यकता है, यह जानना जरूरी है। ऐसा नहीं है कि जब वह रोने लग जाए तो उसे केवल खाना खिलावें और दूध पिलावें। किन्तु वह आपकी गोद में बैठना चाहता है और आप उसे नीचे रख दें तो उसका पेट भरा होने पर भी रोने लग जाएगा। यही स्थिति धार्मिक व्यक्तियों की हुआ करती है। इसलिए आज दिनों-दिन जैनियों की बहुत कमी होती जा रही है। आज तक कभी भी सुनने में नहीं आया कि जो व्यक्ति बिल्कुल अभक्ष्य-भक्षी है उसे भक्ष्य-भक्षी, शाकाहारी बनाने का भी कोई उपक्रम किया जा रहा है।

भारतवर्ष शाकाहार प्रधान देश माना जाता है। विश्व में कई देश हैं। उन देशों में गणना करने पर ८० % जनता मांसाहारी सिद्ध हुई और केवल १० % ही शाकाहारी बच रही, उसमें से छुप-छुप कर मांसाहार करने वालों की बात शामिल नहीं है। आज "डायरेक्ट" खाने वाली वस्तुओं में शाकाहार जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है। इसलिए वर्तमान में अहिंसा को मुख्यतया देकर– अहिंसा ही हमारा धर्म है अहिंसा ही हमारा उपास्य देव है, उसकी रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कदम बढ़ाना चाहिए।

आज भारतवर्ष में कई स्थानों पर अनेक प्रकार की हत्याओं के माध्यमों से औषधियां और प्रसाधन सामग्री निर्मापित की जा रही है (बनाई जा रही है) और "इन्डायरेक्ट" रूप में आप लोग ही उनका उपयोग करते हैं। अभी सर्वप्रथम पण्डित जी ने कहा था कि यह बुन्देलखण्ड है, लेकिन बुन्देलखण्ड में भी ऐसी हवा आने लगी है जहां पर अनेक प्रकार की आचार-विचार विधान की व्यवस्थाएं थीं लेकिन यहां पर भी ऐसी सामग्री आने लगी है। समझने के लिए साबुन को ले लीजिए।

पहले साबुन को जैनी लोग नहीं बेचते थे। बीड़िया वगैरह भी नहीं बेचते थे। तम्बाखू की बिक्री करते थे, तो अष्टमी-चतुर्दशी को इसे भी बन्द कर दिया जाता था। सोडा-साबुन अष्टमी-चतुर्दशी और अन्य पर्वों के दिनों मे उपयोग नहीं करते थे। आज के साबुन मे तो अनेक प्रकार की चर्बियां आ गई है। साबुन मे ही क्या? खाने-पीने की चीजो मे भी चर्बियां आ चुकी है, भले ही आप लोगो को ज्ञात ना हो। पहले दिन ही मैंने कहा था कि "मद्य-मास-मधु का त्याग" इस त्याग का मतलब मात्र "डायरेक्ट" सेवन त्याग से नहीं है, किन्तु ऐसी-ऐसी वस्तुए आपके खाने-पीने मे आ चुकी है, जिनमे बहुमात्रा मे मद्य का, मास का, मधु का पुट रहता है। इन चीजो को त्यागकर ही अहिसा धर्म की रक्षा कर सकते है, अन्यथा नहीं।

दूसरी बात, शिक्षणप्रणाली भी ऐसी आ चुकी है कि आज का लडका, जो पढा-लिखा है वह हमारे सामने आकर के कहता है– महाराज! अण्डा तो शाकाहार है और दूध तो अभक्ष्य है। मास के अन्तर्गत आता है। आप सोचिये! जीवन कितना परिवर्तित होता चला जा रहा है, अब केवल "सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन" ऐसा चिल्लाने से कोई चीज प्राप्त होने वाली नहीं है। जो व्यक्ति इन बातो को नहीं समझ रहा है, वह प्रभावना नहीं कर रहा है, बल्कि अप्रभावना की ओर जनता को आकृष्ट कर रहा है। "खाना-पीना, क्रियाकाण्ड की बात है" ऐसा कह करके टालना, एक प्रकार से अहिसा देवता को धक्का लगाना है।

मै कह रहा था कि आचार्य जो कि जीवन पर्यन्त तपस्या करते है तो उसका छठवा हिस्सा एक राजा को मिला करता है। भले ही वह राजा धार्मिक कार्य कुछ भी न करता हो, लेकिन रात-दिन उसकी दृष्टि मे रहता है कि राजकीय सत्ता की सुरक्षा हो, अन्य देशो की सत्ता का आक्रमण न हो। यदि सत्ता पलट जाए और विदेशी आ जाए तो आप को एक घण्टे क्या, एक समय के लिए भी धर्मध्यान करने का अवसर न मिले।

आज भारतीय सेना "बार्डर" पर खडी है अपने शस्त्रो को लेकर। आप सोचेगे कि इन शस्त्रो को लेना हिसा है? लेकिन शस्त्रो को लेना हिंसा नहीं है किन्तु आप सभी के अहिंसाधर्म की रक्षा के लिए इन लोगों ने हाथो में शस्त्र ले रखे है। ध्यान रक्खो? इनकी प्रशसा, उनके गुणगान यदि करते हो तो आप अहिसक माने जाएगे। यह बात अलग है कि वे कैसी दृष्टि वाले है? हमे यह कहने की आवश्यकता नहीं, लेकिन वस्तुस्थिति तो यही है कि जिस जीव की जीवो के ऊपर उपकार करने की दृष्टि है जीवो की पीड़ा मे सुख-दुख मे पूरक बनने की दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा समझता हूँ। उस सम्यग्दृष्टि की देवता लोग भी आरती उतारते है। आप लोगों

को इस वात का विशेष ध्यान रखना हागा कि सम्यग्दर्शन कोई खिलौना नहीं है जो वाजार से खरीद सके अथवा समयसारादि ग्रन्थो को पढकर प्राप्त हो जाए और यह भी नहीं है कि मन्दिर मे बैठने से या मात्र सन्तसमागम से ही वह प्राप्त होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन की स्थिति बडी विचित्र है, वह कब,किसे, कैसे प्राप्त हो जाए कुछ कह नहीं सकते। क्योकि धर्म किसी की वपौती नहीं है।

कुछ लोगो की धारणा होती है कि जैनधर्म, जैन जाति से सम्वन्धित है। लेकिन जाति जो होती है, वह शरीर से सम्बन्ध रखती है, जवकि धर्म का सम्वन्ध भीतरी आत्मा, भीतरी उपयोग से होता है। ऐसे ही धर्म का आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर भगवान् के द्वारा तीर्थ का सचालन हुआ है। आज हम लागो के पाप कर्म का उदय है, जो ऐसे साक्षात् तीर्थकरो का दर्शन नहीं हो पा रहा है, किन्तु आज भी उनका तीर्थ अवशिष्ट है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के रूप मे हमारे सामने उपस्थित है, यही सौभाग्य है।

जड के प्रति तो राग सभी रखते है और जड की रक्षा के लिए अपने जीवन को वलिदान भी कर देते है। किन्तु जो व्यक्ति चेतन-आत्मा की वात देखकर दु खी जीवो को देखकर यदि आखो मे पानी नहीं लाता, उस पत्थर जैसे हृदय से हम कभी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमारा हृदय कोमल होना चाहिए। जिसके ऊपर "एटमबम" भी फोड़ दिया जाये तो भी भीतर के रत्नत्रय धर्म को सुरक्षित रख सके। राम का जीवन देख लीजिए, पाण्डवो के जीवन को देख लीजिए। उसके साथ-साथ कौरवो और रावण के जीवन को देखिये। रागी-विषयी, कषायी पुरुषो के जीवन का कैसा अवसान हुआ? किस रूप मे जीवन का उपसहार हुआ? तथा वीतरागपुरुषो के जीवन का, धर्म की रक्षा करने वालो का क्या उपसहार हुआ। वन मे रहकर भी राम ने प्रजा की सुरक्षा की और भवन मे रहकर के भी रावण प्रजा के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ।

आज हम केवल चर्चा वाला धर्मध्यान करना चाहते है। लेकिन ऐसा सभव नहीं है। ग्रन्थो मे ऐसा उल्लेख है कि जव निर्ग्रन्थ साधु यत्र-तत्र विचरण करते है तो वहा के जीव आपस मे वैरभाव को छोडकर, उनके चरणो मे वैठ जाते है। यह किसकी महिमा है? आचार्य कहते है– यह वीतरागता की महिमा है, प्रेम का, वात्सल्य का प्रभाव है। जीवों को देखकर के हमे आह्लाद पैदा होना चाहिए, लेकिन हम कैसे है? हमारी दृष्टि कैसी है? जैसे कि नेविला और सर्प के वीच में हुआ करती है, वस वैसी ही है। ऐसे वातावरण मे हम धर्मात्मा वनना चाहते है जो कि असम्भव है।

जैनधर्म की विशालता यही है कि वह व्यक्ति को जन्म से जैन न होते हुए भी

उसे कर्म से जैन बनाता है। आठ साल तक वह एक प्रकार से पशुओ जैसा आचरण कर सकता है, इसके बाद यदि वह धार्मिक सस्कार पा लेता है तो, उसके जीवन मे धर्म आ सकता है। चेतन की परीक्षा करने की चेष्टा करिये। कहा पर कौन दु खी है, पीडित है, इसको देखने की आवश्यकता है। ऐसे फोन लगा लीजिए, कैसे फोन? बिना तार के बिना ''वायरलेस'' के ही दुखी प्राणियो तक आपका उपयोग पहुच जाए और मालूम हो जाये कि कौन-सा जीव कहा पर पीडित है। कोन-से जीव को क्या आवश्यकता है। एसा भी कभी हो सकता है? हा, हो सकता है एक उदाहरण दू आपको।

एक बार की बात, एकदम हिचकिया लग गई। एक व्यक्ति ने कहा कि पानी पीला, पानी पियगे तो हिचकिया आना बन्द हो जाएगा। मैंने पूछा– वह हिचकिया आती क्यो है? उसने कहा– तुम्हे इस समय किसी ने याद किया होगा। दूर स्थित व्यक्ति ने याद किया वहा और हिचकियो की प्रक्रिया यहा चालू हो गई। ऐसा सुनकर मे सोचता रहा, विचार करता रहा। इसी प्रकार धार्मिकभाव को लेकर के अपने उपयोग को भेज दो, जहा कभी भी दु खी जीव हो, नियम से उन पर प्रभाव पडेगा। उन विचारो के अनुरूप कल्याण का मार्ग मिलेगा। बस ऐसा करने की चेष्टा प्रारम्भ करिये फल अवश्य मिलेगा।

आज करोडो रुपया बरसाया जा रहा है, लेकिन गरीब व्यक्तियो को, पतित विचारवालो को धार्मिक बनाने का भाव किसी के मन मे नहीं आ रहा है। इसलिए इस प्रकार (पचकल्याणक महोत्सव) के आयोजनो के माध्यम से, उस प्रकार के कार्यक्रम आज से ही प्रारम्भ किये जाये। जो गरीब है, अशिक्षित है, अनाथ है, उसके लिये सनाथ बनाने का प्रयास किया जाए। बाद मे उन्हे धार्मिक शिक्षण देने का प्रयास करो तो आज का यह आयोजन ठीक है, अन्यथा नाममात्र के लिए ही आयोजन रह जाएगा। दस व्यक्ति बैठकर इसकी प्रशसा करने लगे, करे लेकिन मै इस सिघई पदवी का समर्थन-प्रशसा नहीं कर सकूँगा। एक जमाना था जब इस प्रकार का आयोजन कर उपाधिया दी जाती थीं पर आज यह जरूरी नहीं है।

इन उपाधियो का मै निषेध कर रहा हूँ किन्तु इनके माध्यम से अड़ोस-पडोस मे जब तक सौहार्दमय व्यवहार नहीं बढता तब तक इन उपाधियो का क्या प्रयोजन? हमारे भगवानो ने तो कहा है कि– आधि, व्याधि और उपाधियां ससार मे भटकने वाली है। अत उपाधियो से दूर हो समाधि की साधना करे, तो वृषभनाथ भगवान् की जय जयकार करने मे सार्थकता आ जायेगी। अन्यथा मात्र प्रशसा से कुछ भी सार्थकता नहीं होने वाली।

विश्व मे क्या हो रहा है? इसको देखने की चेष्टा करो। धर्म कहा नहीं है? हमारे पास धर्म है, दूसरे के पास नही। हम सम्यग्दृष्टि है दूसरे मिथ्यादृष्टि। हम जैनधर्म की ज्यादा प्रभावना कर रहे हैं, दूसरे नहीं। इस प्रकार के भाव जिसके मन मे हैं वह अभी जैनधर्म की बात समझ ही नहीं रहा है। वह जैनधर्म से कोसो दूर है।

"न धर्मो धार्मिकैर्विना"

दो हजार वर्ष लगभग हो चुके है आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने डका बजाया था। बन्धुओ ! जो मद के आवेश मे आकर धर्मात्माओ के प्रति यदि अनादर का भाव व्यक्त कर रहा है तो वह अपने शुद्ध अहिसा धर्म की ही हत्या कर रहा है। क्योकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना" कहा है। हमारे अन्दर सकीर्णता आ चुकी, आती जा रही है। सन्तो का कहना है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्"। आज जैनी-जैनी, हिन्दू-हिन्दू भी एक प्रकार के दायरे/सीमाओ मे वधते चले जा रहे हैं। यह सकीर्णता धर्म का परिणाम नही है, इसे ध्यान रखिये। वातो से धर्म नहीं होता, कारण कि जो वहिरा है वह भी धर्म कर रहा/सकता है। जो अन्धा है, लूला है वह भी धर्म को कर सकता है। परन्तु जो पचेन्द्रिय होकर के हाथ-पैर अच्छे होकर भी, मात्र ऊपर-ऊपर वाते करता है तो वह कर्मसिद्धान्त से अभी भी सौ कोस दूर है। पास आने की चेष्टा करनी चाहिए उसे। एक वार तो कम से कम, गरीवो की ओर देखकर दया का अनुभव करो। धर्मात्मा यही सोचता रहता है, ऐसा सोचना ही अपायविचय धर्म ध्यान है।

अपाय विचयधर्मध्यान का अर्थ क्या है व उसका क्या महत्व है? आचार्य कहते है कि जितना आज्ञाविचय धर्मध्यान का महत्व है उतना ही अपायविचय धर्मध्यान का है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लघन नहीं करना, सर्वज्ञ की आज्ञानुसार चलना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसकी सच्चाई से अपायविचय धर्मध्यान की महत्ता कहीं अधिक है। "ससारी प्राणी का कल्याण हो, इनका दु ख दूर हो, सभी मार्ग का अनुसरण करे" ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार की ही भावना में जव वृषभनाथ भगवान् की पूर्वावस्था की आत्मा तल्लीन हुई थी, उससमय तीर्थकरप्रकृति का वन्ध हुआ था। उसी का परिणाम दूसरे जीवन मे असख्यात जीवो का कल्याण, एक जीव के माध्यम से हुआ। सुभिक्ष हुआ दिशावोध दिया और सर्वोसर्वा वने। आज भी उनके नाम से असख्यात जीवों का कल्याण हो रहा है। ऐसा कौन-सा कमाल का काम किया उन्होने? यही किया जो उनके दिव्य-उपदेश से स्पष्ट है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया ना छोड़िये, जव लौं घट में प्राण।।

क्या कहता है यह दोहा? जब तक इस ससार मे रहे, घट मे प्राण रहे तब तक दया धर्म करो, तभी सबका, स्व-पर का कल्याण हो सकता है। यदि दया की जगह अभिमान घट मे आया हुआ है तो तीन काल मे भी कल्याण होने वाला नहीं। पाप का मूल अभिमान है। लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति अन्याय-अत्याचार के साथ वित्त का सग्रह करता है और मान के वशीभूत होकर यदि दान करता है तो वह कभी भी प्रभावना नहीं कर सकता, ना ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है। सबस पहले नीति-न्याय से वित्त का अर्जन करे, फिर दानादिकार्य के माध्यम स अड़ोस-पड़ोस की सहायता करे, जैन आयतनो की रक्षा करने के लिए कदम बढ़ाये। इस प्रकार करना प्रत्येक सद्गृहस्थ का कर्तव्य है– ऐसी सन्तो की वाणी है। इस वाणी का जव तक अनुसरण होगा, धर्म का अभाव नहीं होगा, लेकिन जिस दिन जिनवाणी का अनुसरण वन्द हो जायेगा और अभिमान के वशीभूत हो जायेगे उस दिन रावण-राज्य आने मे देरी नहीं।

एक उदाहरण दे रहा हूँ जिसमे धर्म क्या है? कैसा है? क्या तिर्यच धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करते है? क्या कभी तिर्यच आपके सामने आपके ऊपर उपकार करते हैं? क्या वे कोई धार्मिक अनुष्ठान करते हैं? कभी मन्दिर भी आते-जाते है? यदि आ जाते हैं तो उन्हे धर्मलाभ होता है क्या? आचार्यो ने कहा– धर्मलाभ हो यह कोई नियम नहीं। अभी पण्डित जी ने भी कहा था– आयोजन जितने भी है सभी साधन के रूप मे है, साध्य के रूप मे तो धर्म रहेगा। ये साधन है इनमे उलझे रहे, उपाधियो मे उलझे रहे तो तिर्यच हमसे कहीं आगे बढ़े हुए होगे, जो इनसे सर्वथा दूर है।

रामायण आपने पढ़ी होगी, सुनी होगी। पद्मपुराण मे भी यह कथा आती है। जटायू पक्षी की वह कथा जिसने रामायण की पृष्ठभूमि बना दी है। राम जव वनवास पर थे। सीता और लक्ष्मण भी साथ-साथ है। जगल में अपना काल व्यतीत कर रहे है। एक दिन की वात, एक सन्त आये। सभी ने आहार दान दिया। आहार दान के समय सन्त के पैर धोए गये थे। उस जल मे एक जीव आकर वैठ गया और उसमें लोट-पोट करते ही, उसका सारा का सारा बदन व बाल स्वर्ण के हो गये। उसकी सभी ने प्रशसा की। तभी एक पेड पर बैठा जटायु पक्षी यह दृश्य देख रहा था। सन्त चले गये और बात भी जाती रही। . . एक दिन की बात। सीता को रावण हरणकर ले जाने वाला है तो जटायु पक्षी सोचता है– एक अबला, उसको हरण कर रहा है, उसके ऊपर प्रहार कर रहा है। और मैं यहा बैठा देख रहा हू। जबकि मै सकल्पित हूँ–

"रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जायें पर वचन न जाई।"

राम ने मुझे प्रतिज्ञा दिलाई कि अनाथ के ऊपर यदि किसी का हाथ उठता है तो देखते न बैठना। हम लोग नश्वर जीवन को नहीं समझ रहे है, इसे अविनश्वर बनाने का प्रयास कर रहे है। **जिस समय किसी धर्मात्मा के ऊपर संकट आ जाता है उस समय दूसरा धर्मात्मा यदि छुपने का प्रयास करता है तो वह कायर है। उसे नश्वर जीवन के सदुपयोग के लिए सिंह के समान गर्जना करते हुए आना चाहिए। मुझे कोई भय नहीं। जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं। यही मेरा धर्म है, यही जीवन।** धर्म सदा ही मेरे साथ रहेगा। मैं जीवित रहू या नहीं। यह सोच वह आक्रमण करने के लिए तैयार हो जाता है। वही सच्चा धर्मात्मा माना जाता है।

धर्मात्मा के ऊपर आज पहाड टूट रहे है और हम देख रहे है, फिर भी अपनी आत्मा को धर्मात्मा मानते है। उसे मै तो जीवित भी नहीं मानता। जड का धर्म मानना भले ही स्वीकार कर लूगा। आप लोग जिस प्रकार धन की रक्षा करते है, उससे भी बढ़कर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म के द्वारा ही जीवन बन सकता है। यदि धर्मात्मा का अनादर मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से स्वप्न में भी करते हैं, तो उसके धर्म का नहीं, वरन् स्वय के अहिसा धर्म को अनादृत करते है, ऐसी गर्जना इसयुग में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसे महान् आचार्यो ने की है। मान वहुत बढता जा रहा है, यह सब पचम काल की देन है। हमारा जीवन ऐसा वनना चाहिए, जैसी सिगड़ी के ऊपर भगौनी का। उसमे दूध तप रहा है दो किलो। तीन किलो और भी हो सकता है उसमे। लेकिन उतना ही दूध तपने के उपरान्त ऊपर आने लग जाता है। तपन के कारण वह ऊपर आता रहता है। ज्यों ही ऊपर आता है, त्यो ही तपाने वाला दूध समाप्त न हो जाए, इस भय से पास आ जाता है और क्या करता है उस समय? उस समय वह जल्दी-जल्दी शान्तिधारा छोड देता है, दूध नहीं ढाकता, बल्कि एक चम्मच जल पटक देता है। पटकते ही दूध नीचे चला जाता है। इसका क्या मतलब हुआ? मतलब तो ये हुआ कि जब अग्नि ने दूध मे जो जल था उसे जलाया तो दूध ने भी सोचा कि जब मेरे मित्र, दोस्त, मेरे सहयोगी के ऊपर यदि अग्नि ने धावा बोला है, तो मै भी इसे समाप्त करूगा। यही सोचकर वह उबलता हुआ, अग्नि की ओर आने लगा। लेकिन दूध खाने वाले ने डर करके के अग्नि के प्राण न निकल जाए, शान्तिधारा छोड दी। अरे भैय्या! तुम्हारे मित्र को हम दे देते है, तुम बैठ जाओ। तो दूध बैठ जाता है।

ऐसी होनी चाहिए मित्रता। उसको ही मित्र, दोस्ती, साथी और सहयोगी कहते हैं, जो विपत्ति के समय पर, प्रसग पर साथ दे। अन्यथा ना तो वह साथी माना जाएगा,

ना धर्मात्मा ही। बन्धुओ ! मान प्रतिष्ठा के लिए ससारी प्राणी सब कुछ त्याग कर देता है, लेकिन अपने आत्मोदय के लिए कुछ भी नहीं करता। मै इन सभी कार्यक्रमो की प्रशसा तभी करता हू, जब आप लोगो के कदम इस दिशा की ओर भी बढ़ते है। यह जीवित कार्य है। इस युग मे यह कार्य हुआ की नहीं है। हुआ भी है तो बहुत कम हुआ है।

विनोबा जी, जिस समय दक्षिण की ओर भूदान को लेकर के आए थे, तभी मुझे महापुराण के भूदान की बात याद आ गई। वहा पर गहृस्थो के चार धर्मा मे पूजा भी रखी है। पूजा का अर्थ भूदान लिखा गया है। जी हॉ ! महापुराण का उल्लेख है। जो व्यक्ति खाने के लिए मुहताज हो रहा है, उसके लिए आश्रय दे दीजिए तो वह नियम से धर्म को अपनायेगा-अपनायेगा। आज हम तात्कालिक उपदेश तो दे देते हैं। उसके द्वारा ही उसके कार्य की पूर्ति होने वाली है। इस कारण वह धर्म के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता। युग बदल चुका है। विनोबा जी की बात को सुनकर मैने सोचा— हा, आज भी भूदानयज्ञ की बात जीवित है जो कि जैनाचार्य के द्वारा घोषित की गई थी।

आज कौन-कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो आवासदान देने को तैयार है। कभी आपने सोचा जीवन मे कि जो गर्मी-सर्दी से पीड़ित है उसे आवास दान दे, एक मकान बनवा दे। आवास देने के उपरान्त उनको ऐसा ही नहीं छोडा जाए, किन्तु उन्हे कह दिया जाए कि देखो भैय्या ! तुम्हारी आवास सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति तो हो गई, अब कम से कम धर्म-कर्म करना चाहिए।

राजस्थान की बात है। जहा पर सेठ जी ने एक फैक्टरी (मिल) खोली थी। उसमे जो गरीब-गरीब व्यक्ति थे। उनको काम पर लगाया और उनकी सारी की सारी, वेतनादि की भी रक्षा कर दी गई। फिर कहा गया— हमने इतना सारा प्रबन्ध आपका कर दिया है अब प्रत्येक व्यक्ति को रात्रिभोजन, मद्य, मास, मधु का त्याग और देवदर्शन के उपरान्त ही मिल मे काम करना चाहिए। जब तक वे रहे, तब तक तो कार्यक्रम वैसा ही चलता रहा, बाद मे वह समाप्त हो गया और मिल भी उनके हाथ से निकल गया।

बन्धुओ ! जो कोई भी कार्य किया जाता है। धर्म के लिए किया जाता है। वह भी क्रम से, विधिपूर्वक करना चाहिए। मात्र जय-जयकार करने से कुछ नहीं होगा। अभी मै देख रहा था कि, जुलूस प्रारभ हो गया, रथ भी प्रारभ हुआ हम आगे-आगे चल रहे थे। इस आयोजन को देखने के लिए हजारो-लाखो की जनता आई पर चलने वाले लोग प्रशस्त चाल से नहीं चल रहे थे, साथ मे लाठी वाले तो धूल भी

उडा रहे थे, जिसमे दृश्य देखना ही बन्द हो गया था। यहा इन अवसरों पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो दूर-दूर से व्यक्ति आये हैं, उन्हे भी पूरा-पूरा लाभ मिले। यही प्रेम है, वात्सल्य है। उन्हे पहले व आगे बैठाना चाहिए। लेकिन हम आगे बैठ जाते है। वे हमारे सर्वप्रथम अतिथि हैं, उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए। हम तो यहीं के है। इस प्रकार का वातावरण हो जाए तो इसी का नाम राम-राज्य है।

आज हम कहते तो हैं कि राम-राज्य आ जाये। भगवान् महावीर स्वामी का राज्य आ जाये। महावीर भगवान का सन्देश मिल जाए, लेकिन कहने मात्र से तीन काल में भी मिलने वाला नहीं। बातों के जमा-खर्च से कभी कुछ नहीं होता। जिस प्रकार दूध मे ज्यो ही पानी डाला, वह शान्त हो गया। उसी प्रकार हम भी यदि अपने साधर्मियो के प्रति वात्सल्य रखेंगे सद्व्यवहार करेंगे तो मैं कहता हू कि स्वप्न में भी किसी के ऊपर कोई सकट आने वाला नहीं। अभी पण्डित जी ने कहा था— धर्मसकट मे है, धर्मगुरू सकट में है। जिनवाणी भी सकट में है। किन्तु मै कहता हूँ कि ये तीनो सकट मुक्त है तभी मुक्ति के साधन है। सकट तो हमारे ऊपर है। सकट तभी आते हैं जब हमारे भीतर ये तीनो जीवित नहीं रहते। धर्म-कर्म से हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा तो जीवन विना सकट के रह नहीं पायेगा। इनकी रक्षा की जाए तो कोई आपत्ति नहीं। इनकी रक्षा का अर्थ यही है कि हम धर्म को ही जीवन समझ ले। मात्र लिखना-पढना धर्म नहीं है, धर्म तो जीवित वस्तु का नाम है।

हम अहिंसा परमो धर्म की जय बोलते है, "अहिंसा अमर हो" ऐसा कहते है। लेकिन गाधी जी ने, जिनके पास मात्र दो सूत्र थे, अहिंसा और सत्य। इन दोनो सूत्रो के माध्यम से ढाई सौ वर्षो से आई हुई ब्रिटिश सत्ता से विना, शस्त्र, पिस्तौल, विना रायफल, तलवार, ढाल, तोप और विना एटमवम के ही स्वतन्त्रता दिलाई। उन्होने सत्य, अहिंसा का ऐसा "एटमबम" छोड दिया कि सभी देखते रहे गये औरसोचते रहे, ऐसी कैसी खोपडी है। हम लाखो रुपये भी दे दे तो भी नहीं मिलने वाली। लाख क्या? कई लाखो मे भी मिलने वाली नहीं। यह अहिंसा की उपासना है, उसी का यह प्रभाव है कि ब्रिटिश सरकार को यहा से भागना पड़ा। आज ३५ ४० वर्ष हो गये स्वतन्त्रता मिले इस देश को लेकिन इसका सदुपयोग, सही-सही नहीं हो रहा है। आज हम आपस में लड रहे हैं कुर्सी के लिए। ऐसी-ऐसी भी लडाई हमने देखी-सुनी है कि एक कुर्सी के लिए दस व्यक्ति लड रहे है तो कुर्सी नियम से टूटेगी ही। पहले तो ऐसा नहीं था कि— कहते थे कि कुर्सी पर आप वैठिये, आप ही इस पर वैठने के पात्र हैं। हम तो आपके निर्देशन के अनुसार चलेंगे। पर आज?

प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है। कोई पीछे चलना नहीं चाहता। पागल भी हमेशा आगे चलता है उसके पीछे हसने वाला। पागल कभी भी हसता नहीं। क्या नेता वन जाएगा वह? नहीं ऐसा, तीन काल मे भी नहीं हो सकता। कुर्सी केवल एक निमित्त है। उस कुर्सी का प्रयोजन इतना ही है कि उस पर बैठकर अपनी आंखों से देख सके कि– कहा पर, कैसे-कैसे रह रहे है। हम उनके दु ख-दर्द को समझ सकें और मिटाने का प्रयास रात-दिन करे। एक जगह लिखा है–

"परिहर्तुमनागसि"

जो निरपराध जीव है, उनके ऊपर प्रहार करने के लिए क्षत्रियो के हाथ म तलवार नहीं दिए गये। किन्तु अपराधियो को मारने नहीं। अपराधियों को भयभीत करने के लिए शस्त्र दिये गए है। उपदेश भी इसीलिए होता है कि दु ख दूर हो और शान्ति की प्रस्थापना हो।

आप लोगो का कार्य आगे होने वाला है। मै भगवान् से यही प्रार्थना करता हूँ, कि आपकी भावना, धर्म के प्रति दिन दूनी रात चौगुनी निष्ठा के साथ बढती रहे। तीन घण्टे हो गये किसी को भी ना खाने की चिन्ता है, ना पीने की। पीछे क्या हो रहा है इसका ख्याल भी नहीं रहा। गर्मी मे भी सभी लोग पैदल चल रहे है, उस पर भी नग्न पैरों। फिर भी सभी के मुख पर आनन्द की लहरे दिखाई दे रहीं है। मुझे देखकर यही लगता है कि आज भी अटूट श्रद्धा है, ऐसी ही बनी रहे यही भगवान् से प्रार्थना करते है। कैसा भी युग आ जाये, उसको भी शान्ति के साथ, वात्सल्य-प्रेम के साथ निभाये। रूखी-सूखी रोटी हो, इसकी भी कोई परवाह नहीं, बस ! प्रेम के साथ दो व्यक्ति मिलकर एक रोटी भी खाते हैं तो पहलवान बन जाते हैं। एक अकेला ही व्यक्ति दस रोटी भी ईर्ष्या के साथ खाता है तो उसे अस्पताल जाने की आवश्यकता पड़ती है। वाजरे की सूखी-रूखी खाओ, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए धर्मात्मा वन कर खाओ। तीन काल मे भी आपको कष्ट नहीं होगा। देव आकर आपकी रक्षा करेगे। दानव जब उपसर्ग करेगे तो देव आकर हटायेंगे, खदेड़ेगे और रक्षा होगी।

अहिंसा धर्म एवं धर्मात्मा की रक्षा करना देवताओं का काम है। इसीलिए उन्हे शासनदेवता भी कहते हैं। जब हम धर्म करते हैं– उसमे दृढ रहते हैं तो वे ऊपर से आ जाते हैं। वे भी देखते रहते हैं कि कौन क्या कर रहा है। जैसे पुलिस लड़ते हुए व्यक्तियों के बीच नहीं आती और ना ही आने की आज्ञा शासन की है। लड़-भिड़कर गिर जाते हैं, जब उठाना भी मुश्किल हो जाता है, उस समय पुलिस पहुचकर पकड़ती है। कॉलर पकड़कर कहती है क्या कर रहे हो ! अपराधी कहते हैं– आप जो कहो मैं वह करने को अब तैयार हू। इसी प्रकार देवता

लाग भी आकर सहायता करते हैं। यदि आपका कार्य ठीक-ठीक चल रहा है तो उनके सहयोग की आने-जाने की कोई आवश्यकता नही। उस समय तो वह अपनी प्रशसा करके वदना करेंगे और अपने आपको कृतकृत्य मानेगे।

धन्य है यह नर साधना
इन्द्र पद ने भी की हो, जिसकी आराधना।

ऐसे इन्द्र भी, आप लोगो की प्रशसा के लिए आये। अत धन्य है। अन्तिम मगलाचरण के रूप मे यह दोहा आपके सामने है—

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोड़।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।।

□□

☐ प्रारम्भ

दरबार में आसीन हैं चक्रवर्ती सिंहासन के ऊपर प्रसन्न मुद्रा में एक सेवक आनंद विभोर होता हुआ नतमस्तक होकर कहता है कि प्रभो! आपका पुण्य अतुलनीय है आप महान भाग्यशाली हैं और हम भी भाग्यशाली है कि आप जैसी भाग्यशाली पुण्य का उपभोग करने वाली आत्मा को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। तब चक्रवर्ती पूछते हैं कि बताओ आखिर बात क्या है? ऐसी कौन सी घटना घट गयी, तो सेवक कहता है कि आपको काम पुरुषार्थ के उपरान्त वह सफलता प्राप्त हुई है कि आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। आप आदेश दीजिये कि हम उत्सव मना सकें और क्षणभर व्यतीत हुआ कि दूसरा सेवक उससे भी ज्यादा प्रशंसा के साथ गद्गद होता हुआ आकर कहता है कि यह तो महलों के भीतर की बात हो गयी। हम तो बताने आये हैं कि आपका यश आपकी कीर्ति आपकी ख्याति सब ओर फैलने वाली है।

आयुध शाला में अर्थ पुरुषार्थ के फलस्वरूप आपको चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है। अब आप चक्रेश हो गये, नरेश हो गये। अभी तक सुनते थे हम कि ३२ हजार मुकुट बद्ध राजा जिनके चरणों में आकर अभिवादन करते हैं, वह चक्रवर्ती कहलाते हैं आप ऐसे ही चक्रवर्ती हो गये।

और अगले ही क्षण भागता-भागता हुआ एक सेवक आ जाता है कि क्या बतायें हम शास्त्रों में पढ़ते थे सुनते थे और भगवान से प्रार्थना करते थे कि आँखें उस दृश्य को साक्षात् देखकर कब पवित्र होंगी। साक्षात् दिव्य ध्वनि सुनकर कान कब पवित्र होंगे। आप भाग्यशाली हैं कि आपके जीवनकाल में ऐसा महोत्सव देखने को मिल रहा है। मुक्ति मानो साक्षात् आकर खड़ी हो गयी है। आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है। (तालिया)

आप तालिया बजाकर हर्ष प्रकट कर रहे हैं। ठीक भी है। एक भव्यात्मा को केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उसके प्रकाश में सारा अंधकार भी अन्तर्धान हो जाता है और चलने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अभी तक तो उस प्रकाश की बात सुनी थी आज तो प्रकाश में स्नपित होने का अवसर आया है। केवल ज्ञान से विभूषित होकर अब आपके पिता (व्यवहार की अपेक्षा कह रहा हूँ) जगत पिता हो गये हैं। आदिम तीर्थंकर,

तीर्थ के सचालक हो गये है।

इतना सुनते ही उसी समय चक्रवर्ती ने कहा कि चलो सपरिवार धूमधाम से भगवान के समवशरण मे चलेंगे और शेष काम तो बाद मे होते रहेंगे। अभी न हुकूमत की ओर दृष्टि है न सतान की ओर दृष्टि है अभी तो ज्ञानगुण जो हमारा है उसकी एक सतान को शुद्ध पर्याय जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई वही वास्तविक संतान है जो दुनिया को प्रकाशित करेगी। उसी का दर्शन करेंगे। "तज्जयति परं ज्योति , सम समस्तैरनन्तपर्यायै। दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।" – वह कैवल्य ज्योति जयवन्त हो जिसमें दर्पण के समान सभी पदार्थ अपने अनंत पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते है।

सम्यग्दृष्टि को अपनी सतान की इतनी चिन्ता नहीं रहती अपने धन के बारे में भी कोई चिन्ता नहीं रहती और हुकूमत चलाने में भी विशेष उल्लास नहीं होता। सम्यग्दृष्टि का अपनी आत्मा के बारे में सुनने का उल्लास अधिक होता है। यह अपेक्षकृत बात कह रहा हूँ और सभी बातों की अपेक्षा अधिक उल्लास तो धर्म की बात का ही होना है चक्रवर्ती सोचता है कि हमें अभी केवलज्ञान नहीं हुआ कोई बात नहीं लेकिन वृषभनाथ को केवल ज्ञान हुआ वहाँ समवशरण की रचना होगी और हमें अपने भविष्य के बारे में अपने धर्म के बारे में, अपनी आत्मा के बारे में सुनने का अवसर मिलेगा। यह घडी धन्य है और वह सभी बातो को गौण करके केवल ज्ञान की पूजा करने चला जाता है।

वह अपना द्रव्य अपना तन मन धन सभी कुछ लगा देता है और पूजा करके अपने आप को कृतकृत्य अनुभव करता है। धन्य है यह अवसर। आप दुनिया की बाते करते हो, आत्मा की बात करनी चाहिये। आप दूसरे की बात करते हो अपनी बात करनी चाहिये और अपनी भी मात्र ऊपर ऊपर की नहीं भीतरी बात करनी चाहिये। आनन्द बाहर नहीं भीतर है। आँख के अभाव में ज्ञान के अभाव में भीतरी दृश्य का अवलोकन नहीं हो पा रहा। आत्मा का वैभव इस भव में रचे-पचे होने के कारण लुटा हुआ है।

दर्पण बहुत उज्ज्वल है बहुत साफ है ठीक है लेकिन अपना मुख, उसमे जो प्रतिबिम्बित हुआ है, उसका भी उज्ज्वल होना महत्वपूर्ण पहले है, दर्पण की धूल हम हटाते हैं साफ करते है उज्ज्वल बनाते है इसलिये कि अपना मुख देख सके। अपने आप को देखना मुख्य उद्देश्य है। दर्पण सहायक है। इसी प्रकार परमात्म पद को हमें प्राप्त करना है तो जो परमात्मा बना है उसे देखकर हम प्रयास करे। केवल ज्ञान हमें प्राप्त करना है तो जिसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया उसकी वाणी को श्रवण करके धर्मामृत का पान करके हमे अपनी ओर आना है। हमे अपनी ओर यात्रा की दिशा मोड लेनी है जो बाहर हम भाग रहे हैं वह भीतर की ओर आना प्रारम्भ हो जाये तो सौभाग्य है।

युग के आदि में वृषभनाथ भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो समवशरण की रचना हुई। भरत चक्रवर्ती को उनकी पूजा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और प्रथम

श्रोता-श्रावक के रूप में हजारों प्रश्न करके अपनी भीतरी जिज्ञासा शान्त की। आप बाहरी बात पूछते है। भविष्य की बात पूछ लेते है लेकिन चक्रवर्ती ने आत्मतत्त्व की गहराई की बात पूछी। जो चक्रवर्ती अभी रागी है वीतरागी नहीं है। गृहस्थ है सन्यासी नहीं है। असयमी है सयमी नहीं है लेकिन सयम की ओर सयम की गध का आस्वादन करने के लिये भ्रमरवत् अपनी वृत्ति रखने वाला है। रागद्वेष मे कमी करता हुआ आत्मा के रहस्य को सुनने का भाव रखने वाला है। यही विशेषता स्वभाव की ओर दृष्टि रखने वाले प्रत्येक मुमुक्षु की होनी चाहिये।

बधुओ ! आज ध्वजारोहण का कार्य सपन्न हुआ है जो अभी पचकल्याणक होगे। आज उसकी भूमिका बन रही है। युग के आदि मे कैसे कैसे यह पचकल्याणक की घटना घटित हुई होगी उसको आज से एक-एक दिन उसी रूप मे चित्रित किया जायेगा। इसका मूल उद्देश्य यही है कि हम निर्मोही बने। हम वीतरागी बने। हम असयम से सयम की ओर चले और सयम के बल पर अपने भीतर बैठी हुई मोह की सत्ता पर प्रहार करते चले जायें। हमे मोहाविष्ट नहीं होना किन्तु मोह को वश मे करना है। मन के काबू मे नहीं रहना, मन को अपने काबू मे रखना है। इन्द्रियो के वशीभूत नहीं होना, इन्द्रियो को अपने वश मे रखना है। यह सब हमारे आधीन है।

यह सब हमारे साधन हैं और हम अपने साध्य स्वय है। इस श्रद्धान के साथ हमे आगे बढना चाहिये। धन्य हैं वह चक्रवर्ती का जीवन जिनकी दृष्टि कितनी पैनी होगी कि अर्थ की ओर नहीं गये। काम के फल की ओर नहीं गये किन्तु एकमात्र केवलज्ञान से प्रकाशित सूर्य के दर्शन के लिये गये। यह चित्रण (उदाहरण) आप अपने सामने रखकर देखिये। आप कितने सासारिक प्रलोभन से ग्रसित है। आप कितने ससार के लोभो से आकृष्ट है। आप कितने विषयो की ओर झुके हुये है। एक बात और ध्यान मे लाइये कि छयान्नवे हजार रानियाँ जिनके साथ है जिनके हजारो पुत्र और अपार सम्पदा, हाथी, घोड़े, नव निधियाँ और चौदह रत्न है। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा और स्वर्ग से नीचे उतरकर आया हुआ दिव्य वैभव जिनके चरणो मे पड़ा है। जिन्हे आदिम तीर्थंकर के आदिम पुत्र होने का गौरव प्राप्त है लेकिन जब भीतरी बात आती है तो ऐसा लगता है कि किस कोने मे बैठा हुआ है वह आत्मन् और वहाँ से पूछ रहा है कि तेरा वैभव क्या है? तेरा स्वभाव क्या है? तेरा वास्तविक रूप और लावण्य क्या है? और तू "पर" के ऊपर क्यो इतना मुग्ध हुआ है। ऐसा विचार आते ही कभी-कभी विस्मय हो जाता है। कभी-कभी खेद खिन्नता भी आ जाती है और कभी-कभी स्वभाव की ओर दृष्टिपात होने से यह सब बाहरी तरगे है लहरे है ऐसा मालूम पड़ने लगता है।

स्वभाव तो यथावत् चल रहा है अनादि अनिधन। थोड़ा हवा का झोका आ जाता है तो ध्वजा लहरदार हो जाती है। वस्तुत ध्वजा लहरदार नहीं है। इसी प्रकार मोह

का प्रवाह चलता है, झोंका आ जाता है तो ससारी आत्मा मे, मै सुखी हूँ, मै दुखी हूँ, मै राजा हूँ, मे वडा हूँ, या मै छोटा हूँ, आदि आदि अनेक लहरे, सकल्प-विकल्प उत्पन्न हो जाते है और जैसे ही तत्त्वज्ञान की भूमिका मे अपने आपके स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेते है तो वहाँ सरोवर तो सरोवर है ध्वजा तो ध्वजा है सब एकदम शान्त, निर्मल और निस्तरग।

स्वभावनिष्ठ वह भगवान हमारे सामने हैं। उनमे आप स्वय को देखे, वहा तरगे नहीं हे, मात्र अतरग है, शान्त स्तब्ध एकमात्र स्वभाव का साम्राज्य फैला है। जो अथाह अगम्य हे। और वही स्वरूप की दृष्टि से देखा जाये तो हमारे पास भी विद्यमान है। उसे देखने की आवश्यकता है उस पर श्रद्धान करके उसे प्राप्त करने की आवश्यकता है। भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि हे इसलिय उनके जीवन म इतनी गभीरता ओर इतनी सादगी हे जा अपार वैभव मिलने के उपरान्त भी कायम है।

थोडा सा वैभव मिल जाता हे तो वही बात होती है कि अधजल गगरी छलकत जात या कहो उछलत जात। आधा भरा कुम्भ हो तो छलकता जाता है और वही जब भरपूर हो जाता हे ता कुछ बोलता नहीं। स्वभाव निष्ठ हो जाता है। "आवाज निकलने स अर्थात् व्याख्यान देने मात्र से स्वरूप का भान होता है" – यह गलत धारणा है। धारणा तो यह होनी चाहिये कि भरपूर होन के उपरात ही स्वरूप का व्याख्यान प्रारभ हो जाता है। स्वभाव हमेशा उमडता रहना ह। उसे सप्रयास लाने की आवश्यकता नहीं पडती।

जब सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, भगवान के स्वरूप को जानने वाला मुमुक्षु इस स्वभाव को परिचय मे लाता है। प्रभु के दर्शन से या इस प्रकार के धार्मिक आयोजनो के माध्यम से तब उसे लगता है कि मेरे भीतर भी यही एकमात्र मानसरोवर है जिसमे अनन्तता छिपी हुई हे और वह अपने इस शात स्वभाव मे ठहर जाता है किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होती, और इस प्रकार जितना जितना अपने भीतर जाने का उपक्रम, प्रयास चलता है उतनी उतनी शाति मिलनी प्रारभ हो जाती है। आप जितने सतह की ओर, बाहर की ओर आयेगे उतनी ही आपको आकुलता सताने लगेगी। इन बाह्य आयोजनो के माध्यम से अतर्मुखी दृष्टि आ जाये, यही उपलब्धि है।

दृष्टि के ऊपर ही हमारे भाव निर्भर है। जैसी हम दृष्टि बनाते है वैसा ही भावो के ऊपर प्रभाव पडता हे। जैसे-जैसे अतर्दृष्टि होती जाती है भाव भी अपने आप शात होते चले जाते है। उबलता, उफनता हुआ दूध हानिकारक है लेकिन तपने के उपरात वही जब स्वस्थ/शात हो जाता है तो लाभप्रद हो जाता है। आज विश्व मे कषायो की तपन और उद्वेग बढता जा रहा है। एक व्यक्ति के जीवन मे बढता हुआ कषाय का उद्वेग विश्व मे प्रलय लाने मे कारण बन सकता है,वहीं यदि एक व्यक्ति का मन मानसरोवर

की तरह शांत और निर्मल हो तो उसके तटों पर बहुत दूर-दूर से आये भव्य जन रूपी हंस बैठकर शांति का अनुभव कर सकते हैं। एक की शांति अनेकों में क्षोभ को शांत करने के लिये पर्याप्त है और एक का क्षोभ अनेकों की शांति को भंग करने में निमित्त बन सकता है। इसलिये बंधुओ! स्वभाव की ओर दृष्टि लानी चाहिये जिससे भावों में शांति आये।

जिसके जीवन में स्वभाव से अभी परिचय नहीं हुआ है उसी के जीवन में आकुलता होती है। एक हाथी उन्मत्त हो जाये, स्वभाव से च्युत हो जाये तो उसके सामने खड़े होना संभव नहीं है, लेकिन जब वह अपने आप में शांत हो जाता है और अपनी मंद चाल से चलने लगता है तो बालक और वृद्ध सभी उसके सामने नृत्य करने लग जाते हैं। उस पर बैठ भी जाते हैं। स्वस्थ और उन्मत्त हाथी— यह दोनों कषायों के उपशमन और उद्वेग के प्रतीक हैं जो स्वभाव से अपरिचित है वह प्रलय में कारण बनता है और जो स्वभाव में लीन हैं तो उस लय में अनंत जीव अपना कल्याण कर लेते हैं।

धर्म का प्रवाह आज का नहीं। जब से संसार है तब से अबाध चल रहा है। पूरे के पूरे संसार का कल्याण हो ऐसी भावना भायी जाये तो आज भी ऐसी लहर उत्पन्न हो सकती है जो हमारे कल्याण में निमित्त बन सकती है। सर्व कल्याण की पवित्र भावना भाने वाले, वे आर्य, वे सद्पुरुष, वे महामानव युग के आदि में ऐसे कार्य कर गये जो आज भी लोगों के लिये आदर्श बने हुये हैं। आदर्श का एक अर्थ दर्पण भी होता है। दर्पण में देखकर, आदर्श (भगवान) के दर्शन करके हमें ज्ञात हो जाता है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमारे प्रभु कौन हैं? और हमारे लिये उन्होंने क्या संदेश दिया है। इतना यदि हम समझ लें तो जीवन कृतकृत्य हो जायेगा।

आज इस पंचमकाल में भी हम कृतकृत्यता का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि अलौकिक कार्य की शुरूआत में भी तृप्ति का अनुभव होता है। आम जब पक जाते हैं तो रस निकालते हैं पीते हैं तृप्ति मिलती है यह तो ठीक है लेकिन जिसे अधपके/गदरे आम आप बोलते हैं उसका अपने आप में अलग स्वाद होता है। खटमिट्ठा भले ही रहता है पर वह भी तृप्तिकर लगता है। इसी प्रकार तृप्ति का अनुभव मुक्ति में तो यह आत्मा करेगी ही लेकिन जिस समय वह सम्यक् श्रद्धान के साथ मोक्षमार्ग पर अपने कदम रखता है उस समय मार्ग में भी उसे अलग आनंद और तृप्ति का अनुभव होता है।

जैसे घर में भोजन करो और वन में जाकर पिकनिक में भोजन करो तो उसका अलग आनंद आता है। भूख नहीं भी लगी हो तो खाने का मन हो जाता है। यह क्यों होता है? क्योंकि वातावरण चेन्ज होने से भावों में भी अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार जिन्हें केवलज्ञान हो गया हो उनकी छाव में जाकर उनके प्रवचन सुनने और दर्शन करने से जो एक तृप्ति का अनुभव होता है वह भी अपने आप में अलौकिक है।

वधुओ ! नदी/सरिताये सागर से मिलने को आतुर हो जाती है लेकिन बात ऐसी है कि सागर भी मिलने को आतुर था आज। अभी-अभी हमने देखा था। सागर तटस्थ नहीं था, वह रहा था। बहता हुआ सागर कौन सा है यहाँ, और कहाँ जाकर मिलना चाहता है? यह निश्चित है कि सागर यदि बहता है तो वह मीठा हो जाता है। यदि तटस्थ रहता है तो प्रसिद्ध है कि खारा तो वह है ही। बहता हुआ सागर यही है कि सारा सागर-नगर धर्म की ओर वह रहा है। धर्मामृत को पीने के लिये आतुर है। यही तो वे क्षण है जब आबालवृद्ध हर्षित होकर उसमे डूब जाते है। यह क्षण बहुत दुर्लभ होते है यह पैसे खर्च करने से नहीं, किसी व्यक्ति विशेष को आमत्रित करने से नहीं, कोई मवा-मिष्ठान खाने से भी नहीं किन्तु भावो की निर्मलता से आते है।

जब आप अपने आपको/अपने अहकार को भूल जाते है और मात्र आदर्श सामने रह जाता है और उसी मे लीनता आ जाती है तो सभी का मन उल्लास से नाचने लग जाता है। युवको और वालको के साथ वृद्ध भी झूमने लगते है। दादाजी के पैर भी नाती के साथ नृत्य के लिये उठ जाते है। हमारी अहकार वृत्ति, हमारी दीनता, हीनता, हमारी जो भी कमिया है सारी की सारी समाप्त हो जाती है। धर्म मे लीनता जब आती है तो दीनता-हीनता चली जाती है। अभी विषयो मे आपकी लीनता है इसलिये आप दीनहीन बनते जा रहे है। अहकारी बनते जा रहे है।

जब हम देखते है उस अपार को और विराट की ओर दृष्टिपात करते है तब अपने आप की लघुता हमे प्रतीत हो जाती है। जब सागर मे मिलने के लिये वडी गंगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्र जैसी नदिया जिनमे बडे-वडे जहाज चलते है मिलने के लिये आ जाती हैं। उस समय अपने आपको देखती है तो वहुत पतली वहुत छोटी, नहीं के वरावर मालूम पडती है। अपारता का दर्शन इसी प्रकार हमे भी करना है।

इस अपारता के माध्यम से ही हम पार पा जायेगे। हमारी लघुता समाप्त हो जायेगी उस विराटता मे। धन्य है वे प्रभु जिन्होने हमारे अधूरे/अपूर्ण व्यक्तित्व को पूर्ण होने का सदेश दे दिया। उनका दिया उजाला हम लोगो के लिये पथ प्रदर्शक वन गया।

अत मे इतना ही कहना चाहूगा कि चक्रवर्ती के समान भावना हमारे/आप लोगो के जीवन मे भी आये। आज जो स्थिति है वह कर्म के उदय में है उसमे रचे-पचे नहीं, यथावत् उसको देखने का प्रयास करे। पुरुषार्थ अधिक से अधिक आप करे। अर्थ के क्षेत्र मे, काम पुरुषार्थ के क्षेत्र मे ही नहीं वल्कि धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को अपने सामने रखकर पुरुषार्थशील वने। जिस महान पुरुषार्थ के फलस्वरूप वृषभनाथ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी प्रकार जीवन मे भी वह शुभ घडी आयेगी, ऐसा सत्-पुरुषार्थ हम करे जिसके द्वारा कैवल्य की उपलब्धि हो। धर्म की ध्वजा फहराती रहे।

□□

समग्र/४/५६८

□ श्रेष्ठ संस्कार

सुनते है कई प्रकार के मोती होते है। जल की बूदे मोती के रूप मे परिणित हा जाती हैं। वह जल की बूँदे धूल मे मिलकर अपने आप के जीवन को समाप्त न करके एक मोती का रूप धारण कर लेती है तो वह कण्ठहार वन जाती है। कभी सोचा आपने कि जब जल मोती बन सकता है तो जो अविरल धारा वहती रहती है वर्षा ऋतु मे, वह जल मोती का रूप धारण क्यो नहीं करता। उपादान जल है तो वह मोती के रूप मे परिवर्तित हा जाये लेकिन विना निमित्त क ऐसा सभव नहीं है। इसलिए निमित्त की सार्थकता को ओझल नहीं किया जा सकता।

मोती एकेन्द्रिय है पृथ्वीकायिक है और जल भी एकेन्द्रिय है जलकायिक है लेकिन जब सीप जल की बूदो को स्वीकार कर लेता है तभी वे मोती का रूप धारण करती हैं। निमित्त की यही विशेषता है। उपादान जो भीतरी की शक्ति है उसका प्रस्फुटन उसकी अभिव्यक्ति सामने तब आती है जवकि योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निमित्त जुट जाते है। अन्यथा वही बूदे नीम की जड मे चली जाती है तो कटुता का अनुभव करने लग जाती है। बबूल की जड मे चली जाती है तो काटे का रूप धारण कर लेती हैं। सर्प के मुख को प्राप्त हुई वही बूद हालाहल का रूप धारण कर लेती है। सूर्य के ताप को वह प्राप्त कर लेती है तो वाष्प वनकर उड जाती है। वस्तु का परिणमन वडी अद्वितीय शक्ति को लेकर चलता रहता है।

आज जो जीव गर्भ मे आया है वह कहाँ से आया? वह क्यो तीर्थकर वना और कैसे? किन परिणामो के द्वारा माता-पिता ने उसे धारण किया? तो उत्तर मे यही कहा जायेगा कि यह सब सस्कार की देन है। आज यह दिन भी सस्कार का दिन है। एक ऐसा जीव सीप मे प्रवेश करेगा तो कालान्तर मे मोती का रूप धारण कर लेता है। इनकी अधिकारी वही सीप होगी जो जल को वड़ी सावधानी से ग्रहण करती है। प्रत्येक सीप मे मोती बने यह नियम नहीं है। स्वाति नक्षत्र में जव कोई सीप अपना मुख खोलती है और ऊपर मेघो से गिरती जल की बूद भीतर प्रवेश करती है तब सीप अपने मुख को बद करके सागर के नीचे चली जाती है। ऐसा यह नैसर्गिक सस्कार का कार्य होता है। परिष्कार का कार्य होता है तभी मोती की उपलब्धि होती है।

आज परिष्कार की बात तो चलती है लेकिन सस्कार की बात नहीं होती। एक सीप के सस्कार को देखो। कैसा सस्कार डाला भीतर कि वह बाहर का जल जो खारा था भीतर वही मोती का रूप धारण कर गया। जल का उपादान, इस भीतरी सस्कार के कारण मोती के रूप मे परिवर्तित हो गया। जब किसी के लिये बुखार टाइफाइड हो जाता है जिसे हिन्दी मे मोतीझरा बोलते है ना एक दो मोती पानी में उबालकर दिये जाते है तो वह पानी भीतर के बुखार को निकालने में सक्षम हो जाता है। मोती मे मोतीझरा बुखार भी झर जाता है। साधारण पानी मे यह गुण नहीं होता। मोती के द्वारा सस्कारित होने पर यह क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार तीर्थंकर होने वाले जीव को अपने गर्भ मे प्रवेश होने के पूर्व मे माता पिता ने कितनी निर्मल भावना भायी होगी। तीन लोक का कल्याण जिसके ऊपर निर्धारित है ऐसा वह महान् जीव आने वाला है। उसे आधार देने वाला भी कितना कल्याणकारी होगा। यह बात बहुत कम लोगो को समझ में आती है। लेकिन जो वस्तु के उद्गम स्थान की ओर दृष्टिपात करते है तो ज्ञात होता है कि वर्तमान, वर्धमान तभी बनता है जब अतीत भी उज्ज्वल होता है। जडें मजबूत होती है तभी वृक्ष विकास पाता है। सस्कार की ओर अर्थात् मूलभूत जडो की ओर भी देखना आवश्यक है। आज तो कलम (क्रास वीड) का युग आ गया। आम की गुठली नहीं बोयी जाती। आम की कलम लगा दी जाती है। सस्कार नहीं दिया जाता मात्र बाहर से थोडा परिष्कार कर दिया जाता है। आम भले ही बहुत आते हो लेकिन खान का स्वाद और पौष्टिकता नहीं मिल पाती।

जो पहले से सस्कार डालना प्रारम्भ कर देता है भावो के माध्यम से कि हमारे निमित्त से कोई लोकोत्तर जीव आ जावे जो तीन लोक को दिशा बोध दे सके। तो हम धन्य हो जायेगे। यह भी एक उज्जवल भावना है। धन्य है वह माता और वह पिता। आप लोग तो आज क्या भावना करते है कि हमारा लडका वकील बन जाये, इजीनियर बन जाये, डाक्टर बन जाये, प्रोफेसर बन जाये। कुछ भी बन जाये लेकिन कमाऊ बन जाये, साधु न बने जाये (हसी)

यै शान्तरागरुचिभि परमाणुभिस्त्व— हे भगवान् शाति के जितने भी परमाणु थे आपकी देह उनके द्वारा निर्मित हो गयी। आप इसी से अद्भुत है। ऐसी शक्ति के परमाणुओं से निर्मित देह की भावना भाने वाले विरले ही माता पिता होते हैं। भारतीय सस्कृति मे प्रत्येक क्षण सस्कार के साथ बीते, इस बात को महत्व दिया गया है। प्रत्येक क्रिया सस्कार के साथ चलती है। विवाह सस्कार मात्र वासना की पूर्ति के लिये नहीं है बल्कि सतान की उत्पत्ति और धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये

किया जाता है। ऐसा महापुराणादि ग्रन्थो मे आप देख सकते है। कब कैसे सस्कार डाले जाये। मन वचन काय की प्रवृत्ति कैसी रखी जाये, कितने बार खाया जाये, कब खाया जाये, क्या खाया जाये और क्यो खाया जाये। इन सभी बातो की सावधानी रखी जाती है।

सस्कार ऐसे हो कि जिससे आने वाली सतान धार्मिक/सात्विक जीवन का सस्कार लेकर आये। उसका तामसिकता की ओर झुकाव न हो। जब विभिन्न प्रकार के सुगधित फूलो की प्रजातियो को पैदा करते समय आवश्यक हवा, पानी और वातावरण आदि की सावधानी रखी जाती है तो आप विचार करे कि जिसके द्वारा तीन लोक में सुगधमय वातावरण बनेगा ऐसा जीव यहाँ गर्भ मे आया है तो कितनी सावधानी रखी गयी होगी। कैसे अद्भुत पवित्र सस्कार किये गये होगे। तीन लोक के सकल चराचर पदार्थो को अपने मे धारण करने की क्षमता जिसके ज्ञान मे आ जाये, जो प्राणिमात्र के दुख दारिद्र्य को दूर करने मे निमित्त बन जाये। यह सब सस्कार का ही प्रतिफल है।

साधना अभिशाप को वरदान बना देती है। भावना पाषाण को भगवान बना देती है। पर आज का युग स्वयं एकदम भगवान बनना चाहता है। साधना के नाम पर कुछ करना नही चाहता। महान आत्माओं के चरणो मे झुकना नहीं चाहता। सब समय के भरोसे छोड देता है। बधुओ!- साधना भगवान बनने से पूर्व की बात है और अनिवार्य है। भगवान बनने के उपरान्त साधना नही की जाती। फल पक जाने के उपरान्त पानी का सिचन नही किया जाता। साधना से ही सस्कार पड़ते है।

पहले मत्रो के द्वारा सहज ही कार्य सिद्ध हो जाते थे, इसका कारण है कि मत्र सिद्ध होने के उपरान्त ही कार्य सिद्ध हो जाता है। मत्र सिद्ध न हो, मत्र की साधना न हो तो मत्र पढने मात्र से कार्य सपन्न नहीं होता। साधना पहले आवश्यक है। जीवन को वासना से दूर रखने की साधना की जाये तभी आने वाली सतान, आत्मा की उपासना करने में सक्षम होगी, उपादान की योग्यता के साथ-साथ निमित्त का भी प्रभाव पड़ता है।

गाधी जी ने नहीं कहा लेकिन लोगो ने स्वय उन्हे महात्मा गाधी कहा। वे तो अत तक यही कहते रहे कि मेरी महानता तो माता-पिता के ऊपर निर्धारित है। उन्होने ही मेरे ऊपर सस्कार डाले। विदेश मे जा रहे हो तो ध्यान रखना मॉस-मदिरा का सेवन मत करना। यह गाधी जी के जीवन की घटना है। विदेश जाते समय उनकी माता ने यह शपथ दिलायी थी।

आयुर्वेद मे औषधियो की शक्ति भावना पर ही आधारित है। जितना ज्यादा

औषधि को भावित किया गया होगा भावना दी गयी होगी, पुट दिया गया होगा उतनी ही वह शक्तिशाली होगी। जैनाचार्यो ने इस शक्ति को अनुभाग कहा है। जिस भावना के साथ जो कर्म आ जाता है उनमे ऐसी शक्ति पड जाती है कि दुनिया की कोई शक्ति आ जाये पर उसे समाप्त नहीं कर सकती। पुण्य कर्म की स्थिति तो ऐसी है कि यदि उसे मिटाना/हटाना चाहो तो जितना उससे बचने के लिये जायेंगे उतनी ही उसकी शक्ति और बढ जायेगी। पापो से मुक्त होकर जो पुण्य मे लग जाते है और पुण्य के फल का त्याग करते जाते है उन्हे और अधिक पुण्य का सचय होने लगता है।

स्वर्ण यदि असली हो तो उसको आप कितनी ही वार कसौटी पर परखो वह खरा ही उतरेगा। उसे जितना तपाओ समाप्त करना चाहो वह उतना ही उज्ज्वल हो जाता है। कचन तो कचन ही है वह भावना का फल है। साधारण पीपल नहीं यदि चौंसठ प्रहरी पीपल हो तो क्षय रोग को भी दूर करने मे सक्षम होता है। चौसठ प्रहर तक मूसल की चोट जिस पीपल के ऊपर पडती है वह पीपल आयुर्वेद म चोसठ प्रहरी पीपल कहलाता है। पल पल उस पीपल ने चौंसठ प्रहर के प्रहारो को अपने मे पी लिया। वह सस्कारित हो गया। आप मशीन के द्वारा एक घटे मे उतनी ही चोट डाल दो वह शक्ति नहीं आयेगी, ध्यान रखना क्योंकि वहाँ चोट तो जुडी है लेकिन भावना नहीं जुडी। एक मे व्यवसाय है एक मे साधना स्वाध्याय है।

बधुआ ! तीन लोक का दारिद्र्य जो मोह के कारण है उसे यदि दूर करना चाहते हो तो वित्त के द्वारा नहीं, धन सपदा के द्वारा नहीं बल्कि चेतन भावों के द्वारा ही, वीतराग भावों के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। लोक कल्याण की भावना का यह सस्कार अद्भुत है। धन्य है वह माता पिता जो अपनी सतान मे ऐसे भाव पैदा करने के लिये प्रयास करते है। हमे मन वचन काय की ऐसी चेष्टा करनी चाहिये ताकि विश्व का कल्याण हो।

भावो में ऐसी उज्ज्वलता लाये जैसे मोती के लिये सीप प्रयासरत है। सीप मे मोती भले ही एक हो जैसे तीर्थकर अपने माता पिता के एक ही होते है पर सारा लोक आकृष्ट हो जाता है। एक मोती ही पर्याप्त है। एक तीर्थकर की योग्यता वाला पुत्र ही पर्याप्त है। हमारा पुत्र हमारे लिये ही नहीं बल्कि विश्व के कल्याण के लिये हो ऐसी भावना बिरला ही कोई कर सकता है। इतना ही नहीं उस पुत्र को लोक के लिये समर्पित करके आनदित भी होता है। उसे स्वय से अधिक समझदार मानता है। नाभिराज और माता मरुदेवी किसी के कुछ पूछने पर उसे समाधान के लिये अपने पुत्र आदिकुमार के पास भेज दिया करते थे। यहाँ पर्याय बुद्धि छोड़नी पडती है। छोटा/बडा कोई उम्र से या शरीर से नहीं मापा जाता अतरग योग्यता देखनी चाहिये।

आप इन कार्यक्रमो को लौकिक कार्यक्रम न समझे। किन्तु पारलौकिक आत्मा की ओर ले जाने के लिये प्रतीक माने, प्रेरणा ले। आप भी माता-पिता है आपके भी सतान है उसे सस्कारित करे। अतर्दृष्टि दे और स्वय भी सस्कारित हो जिससे सबका भविष्य उज्जवल बने।

एक दीप हजारो दीपक जलाता है। एक दीपक के साथ बुझे हुये हजार दीपक अपने आप जल जाते है। परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती और एक वह भी दीपक होता है जो रत्न दीपक कहलाता है। इस माटी के दीपक मे तो बाती होती है तेल डाला जाता है और वह बुझ भी सकता है लेकिन रत्न दीपक के लिये बाती और तेल की आवश्यकता नहीं होती वह हवा के द्वारा बुझता भी नही है। किसी को जलाता नहीं स्वय जलता रहता है ऐसे रत्न दीपक से भी श्रेष्ठ दीपक गर्भ मे आ चुका है। उसकी पात्रता को ध्यान मे रखकर कल पूर्वपीठिका के रूप मे सीप और मोती की बात कही थी।

आज उस श्रेष्ठ दीपक की बात करना चाहता हूँ जिसके गर्भ मे आते ही सब ओर शाति का वातावरण बन जाता है। मगल छा जाता है और आत्मा का महात्म्य सुनाई देने लगता है। एक विकासमान दीपक एक प्रकाशमान दीपक जो विश्व को शान्ति प्रदान करने वाला है, वह गर्भ मे भले ही है लेकिन अपनी प्रभा को बाहर बिखेर रहा है। कैसी अद्भुत भावना पूर्व जीवन मे भायी होगी कि जो आज गर्भावस्था मे रहकर भी विश्वप्रिय है। सब आतुर है कि कब भगवान का दर्शन होगा? पर्याय की दृष्टि मे देखे तो वे कुमार की तरह जन्म लेगे, अभी भगवान नहीं है लेकिन अतर्दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक आत्मा भगवान है।

एक ऐसी आत्मा जो इसी पर्याय से अपनी आत्मा को जगमगायेगी। जिसके माध्यम से तीन लोक अपने आप के स्वरूप को पहचानेगा। ऐसी आत्मा/परमात्मा के प्रभाव से उनके परिवार का ही नहीं सभी का दारिद्र दूर हो जाता है मात्र शारीरिक रोग ही नहीं, भव रोग का भी अत होने लग जाता है और दिन रात शुद्धात्मा की चर्चा/अर्चा प्रारभ हो जाती है। पूरा का पूरा परिवार राग से वीतरागता की ओर चला जाता है। यह सब पूर्व भव मे इस जीव के द्वारा स्व और पर के कल्याण की भावना का परिणाम है।

इस तरह जिस आत्मा का गर्भ मे आना कल्याणकारी होता है और इतना ही नहीं बल्कि अब इस जीव को दुबारा गर्भ मे नहीं आना पडेगा और न ही उसकी माँ का अधिक गर्भ धारण करने होगे वह भी एकाध दो भव मे मुक्ति का भाजन बनेगी। इसलिये भी यह गर्भ कल्याण रूप है। गर्भ मे आना भी कल्याणक के रूप मे मनाया जाता है।

किसी कवि ने छोटी सी कविता लिखी है कि 'मै एक अवयस्क वृद्ध हूँ।' कविता

का रहस्य अपने आप मं वहुत है। अभी जीव गर्भ मे आया है लेकिन उसका अनुभव वृद्धत्व को प्राप्त हे जेसे दीपक छाटा सा लगता है लंकिन रात्रि कं साम्राज्य को छिन्न भिन्न करने मे सक्षम है फिर यह कोई सामान्य दीपक नहीं है जिसके तले अधेरा हो। यह सामान्य रत्न दीपक भी नहीं है बल्कि विशिष्ट चैतन्य रत्न दीपक है। इसकी गरिमा शब्दो मे नहीं कही जा सकती। शब्द बहुत वौने पड जाते हैं। शब्दो मे विराटता का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है लेकिन भावो की उमडन रुक नहीं पाती जिससे बार-बार गुणानुवाद का मन हो जाता है जैसे सूर्य की आरती दीपक से की जाती है।

हीरा वहुमूल्य होता हं लंकिन आत्मतत्त्व रूपी हीरा तो अमूल्य है। अद्वितीय हे। इस एक आत्म तत्त्व के प्रति अपने आपको समर्पित करने वाली यह महान् आत्मा धन्य हे जिसनं अतीत म भी रत्नत्रय की साधना की, और आगे भी रत्नत्रय की आराधना करकं मुक्ति को पायेगी। जन्म के उपरान्त देखने मे भले ही कोमल बालक दिखेगा लंकिन तीन लोक का पालक होगा। आज का प्रत्यंक वालक कल का नागरिक वन सकता है लेकिन प्रत्येक नागरिक राष्ट्रपिता नहीं बन सकता। उसके लियं अलग योग्यता चाहिये। फिर यह गर्भस्थ शिशु तो मात्र राष्ट्रपिता नहीं वल्कि तीन लोक का नाथ वनने वाला हं उसकी योग्यता कितनी होगी। यह इस अवसर पर विचार करना चाहिये।

आज की यह धर्मसभा गर्भस्थ आत्मा का कल्याणक मनाने के लिये आतुर है वहीं दूसरी ओर विज्ञान के माध्यम मे यह परीक्षा की जाती है कि गर्भस्थ आत्मा लडका है या लडकी है। यदि लडकी हं तो हटा दो। लडका है तो रहने दो। कौन-से ऐसे सविधान मे लिखा है, किस देश की सस्कृति इस जघन्य अपराध को इस पाप को ठीक मानती है। कुछ समझ मे नहीं आ रहा। यह कहाँ का न्याय है, यह तो अन्याय है। यह विज्ञान का दुरुपयोग हं। आप धर्म की बात सुनना चाहतं है लेकिन गर्भस्थ शिशु की पीडा को नहीं सुनना चाहते।

गर्भस्थ शिशु पर किये गये इजेक्शन और दवाईयो के प्रयोग से उसे जो मर्मान्तक पीडा होती होगी वह आप देखना नहीं चाहते। ऐसा जघन्य काम हो रहा है इस भारत वर्ष मे और लोग चुप है। दड की बात दूर है धन के द्वारा पुरस्कृत किया जा रहा है। मैं आलोचना नहीं कर रहा हूँ आपके लोचन खोलना चाह रहा हूँ। आज गर्भ कल्याणक के अवसर पर इस युग की यह समस्या विचारणीय है।

क्षत्रियो का धर्म तो यही है कि अबोध बालक-बालिका पर, उन्मत्त/पागल व्यक्ति पर, नारी के ऊपर और नि शस्त्र योद्धा के ऊपर प्रहार कभी न किया जाये। लेकिन आज क्या हो रहा है दोनों कुलो के यश को वृद्धिगत करने वाली बालिका पर प्रहार किया जा रहा है। नारी जगत ने इतिहास में कितना कुछ किया है और आगे भी करने

की क्षमता रखती है। यह किसी से छिपा नहीं है। जीव का परिणमन है। शरीर को लेकर कर्म प्रकृति का लेकर अतर सभव है लेकिन आत्मा जो सभी मे वही है। अनत शक्तिवान है, बधुओ, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया अर्थात् सभी जीव अतर्दृष्टि से देखा जाये तो शुद्धत्व को प्राप्त करने की क्षमता वाले है। अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानने वालो थोड़ा तो विचार करो।

यदि आप जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो आपको जीवन लेने का क्या अधिकार है? वह जीव तो स्वय जीवन लेकर आया है। उसका कल्याण वह स्वय करेगा। भगवान महावीर की धरती पर, भगवान वृषभनाथ की धरती पर, भगवान राम की धरती पर, माता मरुदेवी और राजा नाभिराज की धरती पर यह जघन्य कृत्य ठीक नहीं है। इसका समर्थन शासन क्यों करता है, शासन तो आपके हाथ मे है प्रजातत्र है आप ही शासक है और शासित भी आपको होना है। लोकतत्र मे "टके सेर भाजी टके सेर खाजा, अधेर नगरी और चौपट राजा" यह नहीं चलेगा। आत्म गौरव होना चाहिये। स्वाभिमान होना चाहिये। अपनी उज्ज्वल सस्कृति का ख्याल होना चाहिये।

ऐसा आज कोई अहिंसा को मानने वाला जैन क्यों नहीं है जो खुले आम निडरता से इसे बद कराने का प्रयास करे? होना चाहिये। आप सोचते हैं, अकेले धार्मिक कार्य करने से पुण्य सचित होता है ऐसा एकान्त नहीं है। पुण्य सचय तो सादगी पूर्ण जीवन से, संयत जीवन जीने से होता है। दु शासन का शासन भी भग हो गया था, द्रोपदी के आत्मानुशासन के सामने। भरी सभा मे दु शासन ने द्रोपदी को निरावरित करना चाहा था लेकिन पसीना पसीना हो गया था पर वस्त्र हट नहीं पाया। ऐसी शीलवान द्रोपदी की कथा आप पढते है और गर्भस्थ बालक पर प्रहार करते है कुछ समझ मे नहीं आता।

गर्भस्थ शिशु का भविष्य कैसा है। यह कोई नहीं जानता। क्या पता कौन सा शिशु महात्मा गाधी वन जाये। कौन अकलक निकलक जैसा धर्म रक्षक बन जाए। कौन जिनसेन स्वामी जैसा महान् बन जाये और कौन बालिका चंदनबाला जैसी आर्यिका बनकर सघ का नेतृत्व सभालकर युग को सबोधित करे। आपके सागर नगर से क्षमा सागर जी, सुधासागर जी, जैसे मुनि निकले है और दृढ़मती जैसी आर्यिका गणिनी भी है जिसके अनुशासन मे पच्चीस, तीस-तीस आर्यिकाये है।

बधुओ! सब अपने-अपने कर्म लेकर आते हैं। ससार मे किसी का पालन पोषण हमे करना है— ऐसा व्यर्थ है। कर्म सिद्धान्त पर अगर आपको विश्वास है तो सकल्प कीजिये कि हम अपने जीवनकाल में कभी गर्भस्थ शिशु की हत्या नहीं होने देंगे। जीवनदान बड़ा महत्वपूर्ण दान है। एक महान आत्मा का जन्म ही सारे विश्व में उजाला करने के लिये पर्याप्त है। धर्मात्मा यदि बचा रहेगा तो सारी प्रऔति धर्ममय बनी रहेगी। सब ओर सुख शाति होगी।

□□

☐ जन्म मरण से परे

सत का नाम सुना था। आज उनके चरणों मे आकर वह अवला रो रही है। अपने दुख की अभिव्यक्ति कर रही है। वह क्या माग रही हे, अभी यह भाव खुल नहीं पाया है। वह कह रही है कि जव आपने दिया था ता बीच मे ही वापिस क्यो ले लिया। एक अवला के साथ यह तो अन्याय हुआ है। हम कुछ और नहीं चाहते जैसा आपने दिया था वेसा ही वापिस कर दीजिये। क्योंकि हमने सुना है आप दयालु है। प्राणो की रक्षा करने वाले है। पतितों के उद्धारक हैं और इस तरह अपना दुख कहकर दखी होकर वह अवला वहीं गिर पड़ी।

सत जी उसका दुख समझ रहे हैं उसका एक ही वटा था। आज अकस्मात् वह मरण को प्राप्त हो गया है। यही दुख का कारण है। सत जी ने उसे सान्त्वना दी लेकिन अकेले शब्दों से शान्ति कहाँ मिलती है। वह कहने लगी कि आप तो हमारे बेटे को वापिस दिला दो। सत जी ने अव थोडा मुस्कराकर कहा विल्कुल ठीक हे। पूर्ति हो जायेगी। वेटा मिल जायेगा। लेकिन सारा काम विधिवत् होगा। विधि को मत भूलो। सबके लिये जो रास्ता है वही तुम्हें भी वताता हूँ।

वह अवला तैयार हो गयी कि वताओ क्या करना है? अपने बेटे के लिये सब कुछ करने को तेयार हूँ। वेटा जीवित होना चाहिये। सत जी ने कहा ऐसा करो कि अपने अड़ोस-पडोस मे जाकर कुछ सरसो के दाने लेकर आना। मैं सब ठीक कर दूँगा। इतना सुनते ही वह वुढिया अवला जाने को तैयार हो गयी तो संत जी ने रोककर कहा कि सुनो। मै भूला जा रहा था एक शर्त है कि जिस घर से सरसो लेना वहाँ पूछ लेना कि तुम्हारे घर मे कोई मरा तो नहीं है। जहाँ कोई कभी नहीं मरा हो वहाँ से सरसो ले आना वस।

अवला ने सोचा कि दुनिया मे एक मै ही दुखी हूँ और शेष सारे के सारे सुखी हैं। मरण का दुख मुझे ही है। शेष किसी के यहाँ कोई नहीं मरा और वह जल्दी से पड़ोस मे गयी और जाकर कहा कि सतजी ने कहा है कि तुम्हारा बेटा वापिस मिल जायेगा लेकिन एक मुट्ठी सरसो के दाने लेकर आओ। तुम मुझे मुट्ठी भर सरसो दे दो और पडोसिन से सरसों लेकर वह जल्दी-जल्दी चार कदम भाग गई पुन. वापिस

लौटकर आयी और कहा कि पहले यह तो बताओ कि तुम्हारे घर मे कोई मरा तो नहीं। तो पडोसिन वोली अभी फिलहाल कोई नहीं मरा लकिन तीन वर्ष पहले आज के दिन ही उनकी मृत्यु हो गयी थी। अरे तव ऐसे सरसो तो ठीक नहीं ऐसा सोचकर वह वुढिया सरसो वापिस करके दूसरी सहेली के पास चली जाती है।

वहॉ भी ऐसा ही हुआ। सरसो लेकर चार कदम आगे वढी कि गुरू के वचन याद आ गये कि जहॉ कोई मरण को प्राप्त न हुआ हो वहॉ से सरसो लाना।

वधुओ। मोक्षमार्ग मे भी गुरुओ के वचन हमेशा-हमेशा काम मे आते है। "उवयरण जिणमग्गे लिग जहजादरूवमिदि भणिद। गुरुवयण पिय विणओ, सुत्तज्झाण च णिद्दिट्ठ।।" आचार्य कुदकुंद स्वामी ने हम लोगो के लिये जो मोक्षमार्ग मे आरूढ है कहा है कि मोक्षमार्ग में चार वातो का ध्यान रखना तो कोई तकलीफ नहीं होगी। पहली वात यथाजात रूप अर्थात् जन्म के समय जैसा वाहरी और भीतरी रूप रहता है। बाहर भी वस्त्र नहीं भीतर भी वस्त्र नहीं। वैसा ही निर्ग्रथ निर्विकार रूप होना चाहिये।

पहले आठ दस साल तक वच्चे निर्वस्त्र निर्विकार भाव से खेलते रहते थे। ऐसा सुनने में आता है कि ऐसे भी आचार्य हुये हैं जिन्होने वालक अवस्था से लेकर मुनि वनने तक वस्त्र पहना ही नहीं और मुनि वनने के उपरात तो निर्ग्रथ रहे ही। आचार्य जिनसेन स्वामी के बारे मे ऐसा आता है, दूसरी वात गुरू वचन अर्थात् गुरू के वचनो का पालन करना। गुरूमत्र का ध्यान रखना, शास्त्र तो समुद्र है शास्त्र से ज्ञान वढता है लेकिन गुरू के वचन से ज्ञान के साथ अनुभव भी प्राप्त होता है। गुरू, शास्त्र का अध्ययन करके अपने पूर्व गुरू महाराज की अनुभूतियो को अपने जीवन मे उतार करके और स्वय की अनुभूतियों को उसमे मिलाकर देते है, जैसे— मा, बच्चे को दूध में मिश्री घोलकर पिलाती है और कुछ गाती वहलाती भी जाती है।

तीसरी बात है विनय, नम्रता, अभिमान का अभाव। यदि विनय गुण गुम गया तो ध्यान रखना, शास्त्र-ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होगा। अंत मे रखा है शास्त्र का अध्ययन चितन, मनन करते रहना, जिससे उपयोग मे स्थिरता वनी रहे, मन की चंचलता मिट जाये। तो गुरुओ के द्वारा कहे गये वचन वडे उपकारी हैं।

उस अबला वुढिया को सरसों मिलने से खुशी हो जाती लेकिन जैसे ही मालूम पड़ता कि इस घर मे भी गमी हो गई है तो वह आगे वढ़ जाती। ऐसा करते-करते उस वुढिया को धीरे-धीरे आने लगी बात समझ मे "अनागत कब मरण मे, अतीत कब विस्मरण मे ढल चुका पता नहीं, स्वसवेदन यही है," संसार मे इसी स्वसंवेदन के अभाव मे ससारी प्राणी भटक रहा है। यहां कोई अमर वनकर नहीं आया। ऐसा सोचते-सोचते वह वुढिया संतजी के पास लौट आयी।

सतजी ने कहा— कि विलम्ब हो गया कोई बात नहीं। लाओ सरसो ले आयी। मै तुम्हारा बेटा तुम्हे दे दूगा। बुढ़िया बोली— सतजी आज तो हमारी आखे खुल गयी। आपकी दवाई तो सच्ची दवाई है। आपने हमारा मार्ग प्रशस्त कर दिया। आपका उपकार ही महान उपकार है। मेरा बेटा जहॉ भी होगा वहॉ अकेला नहीं होगा क्योकि अडौसी-पडौसी और भी हैं जो पहले ही चले गये है। यह ससार है यहाँ यह आना-जाना तो निरतर चलता रहता है।

आप लोग सॅनराइज कहते हैं। सॅनवर्थ कोई नहीं कहता और सॅनसेड सभी कहते हैं लेकिन सॅनडेथ कोई नहीं कहता, यह कितनी अच्छी बात है। यह हमें वस्तुस्थिति की ओर वास्तविकता की ओर ले जाने मे बहुत सहायक है। सॅनराइज अर्थात् सूर्य का उदय होना और सॅनसेड अर्थात सूर्य का अस्त हो जाना। उदय होना, उगना कहा गया, उत्पन्न होना नहीं कहा गया। इसी प्रकार अस्त होना, डूबना कहा गया, समाप्त होना नहीं कहा गया। यही वास्तविकता है। आत्मा का जन्म नहीं होता और न ही मरण होता है। वह तो अजर-अमर है।

ससारी दशा मे जीव और पुद्गल का अनादि सयोग है और पुद्गल तो पूरण गलन स्वभाव वाला होता है कभी मिल जाता है कभी बिखर जाता है। उसी को देखकर आत्मा के जनम-मरण की बात कह दी जाती है। केवलज्ञान के अभाव मे अज्ञानी ससारी प्राणी शरीर के जन्म होने पर हर्षित होता है और मरण मे विषाद करता है और यही अज्ञानता संसार में भटकने में कारण बनती है।

आज यह बात वैज्ञानिक लोग भी स्वीकार करते हैं कि जो नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता और जो है उसका कभी नाश नहीं हो सकता उसका रूपांतरण अवश्य हो सकता है। रूपातर अर्थात् पर्याय का उत्पन्न होना या मिट जाना भले ही हो लेकिन वस्तु का नाश नहीं होता। बधुओ! जो पर्याय उत्पन्न हुई है उसका मरण अनिवार्य है किन्तु ऐसा मरण आप धारण कर लो कि जिसके बाद पुन मरण न हो। और ऐसी सिद्ध पर्याय को उत्पन्न कर लो जो अनतकाल तक नाश को प्राप्त नहीं होती।

आज जिसका जन्म कल्याणक मनाया जा रहा है वह ऐसी आत्मा का जन्म है जिसे अब आगे बार-बार जन्म धारण नहीं करना पड़ेगा। यह अंतिम जन्म है। शरीर के जन्म को हम आत्मा का जन्म न माने और न ही शरीर के मरण को अपना मरण माने बल्कि आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को पहचानकर उसे प्राप्त करने के लिये कदम बढायें। यही इस जन्म कल्याणक की उपलब्धि होगी। □□

समग्र/४/६०८

☐ समत्त्व की साधना

समय अत्यल्प रह गया है। आज अभी-अभी भगवान की दीक्षा के उपरान्त आर्यिका दीक्षाये सम्पन्न हुई हैं। भगवान ऋषभदेव के समय जब भगवान का वहाँ दीक्षा-कल्याणक महोत्सव मनाया जा रहा है तो पूरी नगरी मे उल्लास छाया हुआ है। सब अपने अपने कर्त्तव्य मे लगे हुये हैं। सबका मनोयोग उसी में लगा हुआ है। आज कैसा भावो का परिवर्तन होने जा रहा है। अभी तक जो आदि कुमार राजा सभी के स्वामी थे अब अपने स्वय के स्वामी बनने जा रहे हैं। द्रव्य क्षेत्र और काल का परिवर्तन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना भावो का परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। आज भावो के परिवर्तन का दिन है।

किसी को यह अच्छा भले ही न लगे (पराभिप्राय निवृत्तयशक्यत्वात् दूसरे के अभिप्राय का निवारण करना वैसे भी अशक्य है।) किन्तु मोक्षमार्ग में भावों की प्रधानता है। अभी तक राजसत्ता थी। दडसहिता चल रही थी साम-दाम, दंड भेद की बात चलती थी किन्तु अब तो अभेद की यात्रा प्रारभ हो रही है। अब कोई आज्ञा मागे तो भी आज्ञा नहीं दी जायेगी। अब तो 'दु खे-सुखे वैरिणी बंधु वर्गे, योगेवियोगे भवने वने वा। निराकृता शेष ममत्वबुद्धि, सम मनो मेस्तु सदापि नाथ।।'

अब तो सभी के प्रति ममत्वबुद्धि को छोडकर आत्मा समत्व में लीन होना चाह रही है। भीतर से वैराग्य उमड रहा है। यह घटना आत्मोन्नति के लिये प्रेरणादायी है। भारत की सस्कृति आज जीवित है तो इन्हीं आत्मोन्नति की घटनाओं के माध्यम से जीवित है। धन सम्पदा के कारण नहीं। ज्ञान-विज्ञान के कारण नहीं बल्कि त्याग, तपस्या के कारण भारतभूमि महान् है।

वैभव तो "वै" अर्थात् निश्चय से "भव" यानी ससार ही है। इसलिये वैभव, वैरागी को नहीं चाहिये। उसे तो भव से दूर होने के लिये चरित्र वृक्ष की छाव चाहिये है। 'स भव विभव हान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्ष' -भव भव की पीड़ा समाप्त हो जाये इसीलिये चरित्ररूपी वृक्ष का सहारा लिया जाता है।

कुछ लोग वैराग्य के आदर्श के रूप में आदिनाथ भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती का नाम लेते हैं। मुझे तो लगता है कि वैराग्य के आदर्श पात्र यदि कोई है तो रामचद्र

जी के छोटे भ्राता भरत हैं। जिन्होने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शान को, राजा दशरथ के वश की और अपनी माता की कोख को भी शोभा प्रदान की है। जिन्हे सिहासन की भूख नहीं थी। वैराग्य की भूख थी। उन्हे भवन नहीं चाहिये वन चाहिये था। उनके आग्रह को सुनकर राम ने कहा कि "भइया मुझे पिताजी की आज्ञा है वन जाने के लिये और तुम्हें पिताजी की आज्ञा से सिहासन पर बैठना है। तुम राज्य मुझे देना चाहते हो तो ठीक है। मैं तुम्हारा बड़ा भ्राता वह राज्य तुम्हे सौंपना चाहता हूँ।

एक तरफ पिताजी की आज्ञा और ज्येष्ठ भ्राता जो पिता तुल्य है उनकी आज्ञा और दूसरी तरफ भीतर मन मे उठती वैराग्य की भावना। मुनि बनने की प्यास। परीक्षा की घड़ी है और अत में भरत जी ने कहा कि भइया जैसी आपकी आज्ञा। मैं सब मंजूर करता हूँ। मै यहाँ पर रहूँगा आपका कार्य करूँगा। आपका जैसा निर्देशन मिलेगा वैसा ही करूगा। लेकिन आपके चरण चिह्न इस सिहासन पर रखना चाहता हूँ।

कैसी अद्भुत घटना है यह इतनी त्याग-तपस्या घर में रहकर भी। यह है राजनीति, कि राजा बनना पडता था, बनाया जाता था। राजा बनने की इच्छा नहीं रखते थे क्योंकि क्षत्रिय कभी पैसे के भूखे नहीं रहते। अब तो वैश्य वृत्ति आ गयी। पैसे और पद का राग बढ गया है। सिहासन के ऊपर ज्येष्ठ भ्राता के चरण चिह्न रखकर उनको तिलक लगाकर उनकी चरण-रज माथे पर लगाकर प्रजा के सरक्षण के लिये एक लघुभ्राता और पिता की आज्ञा से वन जाने वाले एक ज्येष्ठ भ्राता की बात अब मात्र पुराण मे रह गयी है। रामायण में रह गयी है।

इस दीक्षा कल्याणक के आयोजन मे कि जिसमें मुकुट उतारे जा रहे हैं सिहासन त्यागा जा रहा है। वैराग्य की बाढ आ रही है सब कुछ देखकर भी आपकी सत्ता की भूख शासन की भूख बढ़ती जाये तो क्या कहा जाये। बंधुओ ! उन राम को याद करो। लघुभ्राता भरत को याद करो। अपने ज्येष्ठ भ्राता के पीछे-पीछे चलने वाले लक्ष्मण और महलो मे रहने वाली रानी सीता के त्याग को याद करो। सारे प्रजाजनो की आंखो मे आसू हैं लेकिन राजा राम अपने कर्त्तव्य में अडिग हैं।

कैसी विनय और वैराग्य का आचरण है। यह वैराग्य की कथा आज के श्रमणों को भी आदर्श है, गृहस्थो के लिये तो आदर्श है ही। श्रमण की शोभा राग से नहीं, वीतराग निष्कलक पथ से है। दैगम्बरी दीक्षा ही निष्कलक पथ है। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने कहा है कि– "मेदनी पति भी यहाँ के भक्त और विरक्त थे। होते प्रजा के अर्थ ही रोज कार्यासक्त थे" प्रजा के लिये राजा होते थे मात्र सिंहासन पर बैठने के लिये या अहकार प्रदर्शित करने के लिये नहीं। उनकी प्रभुभक्ति और संसार से विरक्ति हमेशा

बनी रहती थी। आज भी ऐसे ही नीति-न्यायवान्, भक्त और विरक्त भरत और राम के आये बिना शाति आने वाली नहीं है।

अत मे यही कहना चाहता हूँ। धन्य हैं वे वृषभनाथ भगवान जिन्होने राष्ट्र पद्धति को अपनाते हुये प्रजा को अनुशासित किया और बाद मे स्वय आत्मानुशासित होकर दीक्षा लेकर वन की ओर बिहार कर गये। भरत चक्रवर्ती आदि भी उनकी आज्ञा के अनुसार प्रजा का पालन करते हुये मुक्त हुये। हमे क्षात्र-धर्म की रक्षा के लिये और दिगम्बरत्व की सुरक्षा के लिये वीतरागता को ध्यान मे रखना चाहिये। जगल मे भले ही न रह पाये लेकिन जगल को याद रखना चाहिये। वीतरागता के बिना न शिरपुर मिलेगा और न ही शिवपुर ही मिलेगा। वीतरागता की उपासना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। वही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

☐ धर्म-देशना

रथ आगे बढता जा रहा है। अश्वगतिमान है। गन्तव्य तक पहुँचना है। मगल का अवसर है। जीवन मे वह अवसर वह घडी एक ही वार आती है। उस घडी की प्रतीक्षा मे लाखो जनता लगी हुई है। यात्री पथ मे है, और अवाधित पथ को लाघता हुआ चला जा रहा है। अपने मनोरथ की पूर्ति हेतु सकल्प उसके पास है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वह आतुर है। लेकिन सयत होकर अपने कदम वढा रहा है और कुछ ही दूरी रह गयी है पर लग रहा है कि सकल्प पूरा नहीं हो पायेगा। सकल्प परिवर्तन के योग्य भी नहीं है क्योकि सकल्प तो जीवन की उन्नति के लिये जीवन के उत्थान के लिये किया जाता है।

सकल्प मात्र जीवन निर्वाह के लिये नहीं होता वह तो जीवन के निर्माण के लिये होता है। लेकिन मुक्ति के स्थान पर बधन नजर आने लगे। जीवन परतत्रता मे फसता चला जाये तो वह सकल्प ठीक नहीं माना जायेगा। आनद के स्थान पर चीत्कार सुनाई पडे तो ठीक नहीं। यही बात हुई और उस पथिक ने कहा – कि रोकिये, रथ को रोकिये। रथ रुक जाता है। वह यात्री नीचे उतर जाता है और कहता है कि ठहरिये आप लोग यहीं पर। मै अकेला जा रहा हू और वह अकेला ही आगे बढ जाता है।

कोई उसके पीछे जाने का साहस नहीं कर सका। अब क्या सकल्प उसके मन मे आया है। यह तो वही आत्मा जानता है या तीन लोक के नाथ जानते है। इतना अवश्य सभी के समझ मे आ रहा है कि रास्ता बदल गया है। यह वार्ता हवाओ मे फैलती चली गयी। सभी चकित हैं कि यह कैसा हुआ। हमने बहुत सोच समझकर मुहुर्त निकाला था लेकिन यह अकस्मात परिवर्तन कैसे हो गया। सब किकर्तव्यविमूढ हैं। आप समझ गये होगे। विवाह का मगल अवसर था और पशुओ का क्रन्दन सुनकर उन्हे बधन मे पडा देखकर नेमिनाथ कुमार ने पथ परिवर्तित कर लिया।

अब जीवन का लक्ष्य बधन मुक्त होना है। जीवन आज तक बधनमय रहा अब बधन का सहारा नहीं चाहिये। अव आजादी के स्वर कानो मे प्रविष्ट हो रहे हैं। मूक पशुओ की आजादी के साथ अपनी कर्म बधन से आजादी की बात आ गयी है। निमित्त मिल गया। निमित्त हमे भी मिलता है लेकिन हमारा पथ परिवर्तित नहीं होता और सारी

बात सुनकर वहाँ एक दूसरी आत्मा भी उसका अनुकरण करती चली जाती है। वह रास्ता चला गया है गिरनार की ओर गिरनार पर्वत का नाम पहले उर्जयन्त था बाद मे गिरनार पड़ा। राजुल ने जहाँ गिर गिरकर भी अपने सकल्प को नहीं छोड़ा। केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये पथ बदलने वाली वह आत्मा नहीं थी।

जो अहिंसा का उपासक है वह उसी पथ पर बढ़ता है जिस पथ मे अहिसा का पोषण होता है। गिरनार के झाड़ झखाड़ मे भी उसे मार्ग प्रशस्त अनुभव हुआ। अहिंसा के पथ का पथिक अपने पथ का निर्माण स्वय करता चला जाता है। पथ का निर्माण तो चलने से ही होता है। महाव्रती ही अहिंसा के पथ पर चल सकता है। महाव्रती इसीलिये कहा जाता है कि वह अकेला ही महान पथ पर चल पड़ता है फिर उसके पीछे बहुतो की सख्या चली आती है।

'अयनिज परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम् उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्'' यह मेरा है वह तेरा है ऐसी मनोवृत्ति सकीर्णता का प्रतीक है। उदार आचरण वाले उदारमना तो सारी वसुन्धरा को ही अपना कुटुम्ब मानते है, अपना परिवार मानते है। ऐसे ही उदार चरित्र वाले मुक्ति के भाजन बनते है। जिस पथ के माध्यम से मेरा उद्धार हो और दूसरे का मथ भी प्रदर्शित हो ऐसे पथ पर वे चलते हैं। भले ही उस पथ पर कटक बिछे हो। वह पथ मेरे लिये नहीं है जिसके द्वारा हिंसा का पोषण होता हो जिसके द्वारा जीवो को धक्का लगता हो, जिसके द्वारा जीवन पतित बनता हो, जिसके द्वारा एक दूसरे के बीच दीवार खड़ी हो जाती हो। स्वार्थ परायणता आती हो, वह पथ अहिसा का पथ नहीं है।

यही कारण था कि तोरणद्वार के पास पहुँचकर भी पथ बदल गया। कानो में वह दयनीय जीवो की आर्तध्वनि पड गयी। लाखो जनता ने भी सुनी लेकिन इस पथिक का पथ बदल गया। मूक प्राणियो की वेदना भरी आवाज वास्तव मे यदि किसी ने सुनी तो वे नेमिकुमार थे और उनका अनुकरण करने वाली राजुल थीं, उन्होने अपना ही नहीं दुनिया का पथ प्रदर्शित किया। धन्य है अहिसा के पथ के पथिक, बारात को खुश करने के लिये वन्य जीवो की हिंसा मेरे लिये ठीक नहीं है। आज पर्यावरण प्रदूषण की बात चलती है। बधुओ पर्यावरण के प्रदूषण मे न वन्य प्राणियो का, न वनस्पति जगत का, न ही अन्य किसी देवता का हाथ है यह प्रदूषण मात्र मानव के मनोदूषण से उत्पन्न हो रहा है। अहिंसा के समर्थक जीवों के ऊपर दया करके अपनी सुख सुविधा को छोडकर सबके कल्याण के मार्ग पर चलने वाले वे उदार चरित्र वाले नेमिनाथ जैसे महान पुरुष ही वास्तव मे पर्यावरण को सुरक्षित रखने मे सहयोगी हैं।

यदि दया है तो जीवन धर्ममय है, दयामय धर्म अहिंसा धर्म एक वृक्ष की तरह

है शेष सभी सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य उसी के संवर्धन सरक्षण और पोषण के लिये हैं।

जैन समाज मे परिग्रह की बात आती है कि परिग्रह बहुत है। बंधुओ, मात्र धन सपदा का सग्रह करना परिग्रह नहीं है। परिग्रह का अर्थ तो मूर्छा है। मूर्छा का अर्थ है गाफिलता, वस्तुओ के प्रति अत्यन्त आसक्ति। दयाधर्म के विकास के लिये शान्ति और आनद के विस्तार के लिये जो अपने वित्त (धन सम्पदा) का समय-समय पर बूंद-बूंद कर सग्रह किया है यदि उसे वितरण कर देता है तो वह परिग्रह एवं पाप का संग्रहकर्ता नहीं माना जाता। जैन समाज का इतिहास है आज तक उसने राजा महाराजाओ के लिये देश पर विपत्ति आने पर अपने भडार खोल दिये हैं। संग्रहीत धन का वितरण करके सदुपयोग किया है। अपनी इसी सस्कृति का अनुकरण करते हुये आज भी अपरिग्रह वृत्ति को अपने जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिये।

वीतरागता, उज्ज्वल परिणाम और परोपकार की भावना ही जैन धर्म की शान है। "धम्मो मगल मुक्किट अहिंसा सजमो तवो। देवा वि तस्स पणमति जस्स धम्मे सया मणो।" अहिंसा तप और सयम ही मंगलमय धर्म है। जिसका मन सदा उस धर्माचरण में लगा है उसे देव लोग भी नमस्कार करते हैं। यह जैन धर्म विश्व-धर्म है। आदिनाथ भगवान के समय जो धर्म था वही तो जैन धर्म है और आदिनाथ भगवान ही आदिब्रह्मा है। जिनका उल्लेख वेदो मे आता है और उनके पुत्र भरत के नाम से ही यह देश भारत देश माना जाता है। हमे भी उन्हीं का अनुकरण करते हुये जीवन मे अहिंसा को धारण करना चाहिये।

जैनियो ने कभी परस्परोपग्रहों जैनानाम् नहीं कहा। जैनधर्म में तो परस्परोपग्रहो जीवानाम् की बात आती है। साम्प्रदायिकता के नाम पर अपने-अपने घर भरना, अपना स्वार्थ सिद्ध करना और अह को पुष्ट करना ठीक नहीं है, आज अह वृत्ति नहीं सेवा वृत्ति को फैलाना चाहिये। जीवन भले ही चार दिन का क्यों न हो लेकिन अहिंसामय हो तो मूल्यवान है जो धर्म के साथ क्षणभर भी जीता है वह धन्य है।

भगवान ऋषभदेव ने तपस्या के उपरान्त कैवल्य प्राप्त होने पर हमें यही उपदेश दिया कि प्रत्येक आत्मा अपना आत्मकल्याण करने के लिये स्वतत्र है। हमें सभी जीवों के आत्म कल्याण मे करुणावान होकर दया धर्म से ओतप्रोत होकर परस्पर उपकार की भावना रखकर, यथा सम्भव मदद करनी चाहिये। □□

□ निष्ठा से प्रतिष्ठा

आज यह पचकल्याणक एव गजरथ महोत्सव का समापन सागर की इस विशाल जन-राशि के सामने सानद सम्पन्न हुआ। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य होता है उसकी भूमिका महीनो/वरसों पहले से चलती है और वह कार्य सम्पन्न हो जाता है कुछ ही दिनों मे। आज तक इस सागर की एक यही लगन रही कि पचकल्याणक महोत्सव सानद सम्पन्न करना है और आज यह कार्य सपन्न हुआ तो सब ओर हर्ष छाया है सारी थकान भूल गयी है।

बधुओ ! हमारे सामने हमेशा कर्तव्य रहना चाहिये। कर्तापन नहीं आना चाहिये। कोई भी कार्य होता है तो वह उपादान की योग्यता के अनुरूप होता है लेकिन उसके लिये योग्य सामग्री जुटाना भी आवश्यक होता है। सभी के परस्पर सहयोग से ऐसे महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। भावों मे आस्था होनी चाहिये। धर्म के प्रति आस्था जब धीरे-धीरे निष्ठा की ओर बढ़ती है प्रगाढ होती है तभी प्रतिष्ठा हो पाती है और जब प्रतिष्ठा की ओर दृष्टिपात नहीं करते हुये आगे बढ़ते हैं तो सस्था बन जाती है तभी सारी व्यवस्था ठीक हो पाती है। और हमारी अवस्था सुधर पाती है। यह जिन बिब प्रतिष्ठा आस्था के साथ हमारी अवस्था को सुधारने में सहायक है।

इस समारोह के सानद सम्पन्न होने में पुद्गल द्रव्य भी काम कर रहा है। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सभी सहयोगी बने हैं। चैतन्य परिणाम तो उपादान के रूप मे माना ही गया है जो सामूहिक रूप से इस कार्य को सम्पन्न करने में साक्षात कारण है। ऐसे भव्य आयोजन इसीलिए एकता के प्रतीक बन जाते हैं। यह एक दूसरे के सहयोग की भावना का परिणाम है कि विस्मय में डालने वाला इतना वृहत् कार्य सम्पन्न हो गया। मानव एक मात्र ऐसा प्राणी है जो सब कुछ कर सकता है। लेकिन इतना ही है कि उसका दिल और दिमाग ठीक काम करता रहे। उसमे लगन और एकता बनी रहे। तब देवता भी उसके चरणों मे नतमस्तक हो जाते हैं और सहयोगी बनते हैं।

प्रकृति का सहयोग दो प्रकार का है। एक बाहरी प्रकृति जो दिखायी पड़ती है और एक भीतरी प्रकृति जो हमारा स्वभाव है वह दिखाई नहीं पड़ती। यदि उस भीतरी स्वभाव

में, प्रकृति मे विकार उत्पन्न हो जाये तो बाहरी प्रकृति अनुकूल होन पर भी संकट आ जाता है। यदि उज्ज्वल भाव हो, भीतरी प्रकृति शान्त हो तो बाहरी प्रकृति रूष्ट नहीं होती वरन् संतुष्ट हो जाती है। कल सुना था कि व्यवस्था में लगे हुये डी आई जी. कलेक्टर और सभी प्रशासनिक अधिकारी वगैरह का कहना है कि रथ की फेरी के समय धूल न उड़े इसलिये पानी के सिचन की व्यवस्था होनी चाहिये वह हम करेंगे, तो प्रकृति ने स्वय ही मेघो के माध्यम से रात्रि में मानो सिचन ही कर दिया। आशय यही है कि प्रत्येक समस्या का समाधान संतोष शान्ति सयम और परिणामों की उज्ज्वलता से सभव है।

आज महान तीर्थकर, केवली, श्रुतकेवली या ऋद्धिधारी मुनि महाराज आदि तो नहीं है जिनके पुण्य से सारे कार्य सानद सम्पन्न हो सकें पर सामूहिक पुण्य के माध्यम से आज भी धर्म के ऐसे महान आयोजन सानद सम्पन्न हो रहे है। यही धर्म का महामात्य है। यही सयम की महिमा है। सयमी के साथ असयमी भी सयमित होकर चले यह बहुत कठिन होता है लेकिन आप सभी ने इस कठिनाई को भी बडी लगन से संयमित होकर पार कर लिया। यदि इसी प्रकार आगे भी करते जायेंगे तो सयमी बनने में देर नहीं लगेगी। सयम से हमारा यहाँ तात्पर्य सयम की ओर रुचि होने से है जिसका उद्देश्य परम्परा से निर्वाण प्राप्त करना है।

जो जीवन शेष है वह आप धार्मिक आयोजनो मे व्यतीत करें और परस्पर उपकार और सहयोग के महत्व को समझे। जो जीव शान्ति और सुख चाहते हैं। अपना उत्थान चाहते हैं उनके लिये यथोचित सामयिक सहयोग यदि आप करेंगे उन्हे अपने समान मानकर अपना मित्र समझकर उनका हित चाहेगे तो परस्पर एक दूसरे का कल्याण होगा।

सिगडी के ऊपर एक बर्तन रखा है उसमे दूध तपाने के लिये रखा गया है। नीचे आग जल रही है। दूध तप रहा है। तपता-तपता वह दूध मालिक की असावधानी के कारण ऊपर आने लगा। लगता है मानों वह कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के पास रहना चाहता है और चूकि उसका मालिक कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं है इसलिये उसे छोडना चाह रहा है या कहो कि जो उसे सता रहा है, पीड़ा दे रहा है उस अग्नि को देखने के लिये बाहर आ रहा है और इतने मे ही थोड़ी सी जल की धारा उसमें छोड़ दी गयी और वह दूध जो उबल रहा था उफन रहा था वह बिल्कुल शान्त हो गया।

यह सोचने की बात है कि थोड़ी सी जल की धारा दूध की शान्ति के लिये कारण बन गयी। इसका रहस्य यही है कि दूध का मित्र जल है। जल के कारण ही दूध, दूध माना जाता है। यदि दूध में जल तत्त्व खो जाये तो उसे आप कहते हैं– खोवा, और खोवा की लोकप्रियता दूध के समान नहीं है। दूध को रस माना गया है। दूध बालक

से लेकर वृद्ध सभी को प्रिय है और सभी के योग्य भी है। तो दूध मे जो जल मिला है उसी से सभी उसको चाहते है। दूध की जल से यह मित्रता अनोखी है।

विजातीय होकर भी दूध और जल मे गहरी मित्रता है। दूध की दूध से मित्रता भले ही न हो लेकिन जल से तो हमेशा रहती है। गाय का दूध यदि अकौआ के दूध से मिल जाये तो फट जाता है। विकृत हो जाता है। दोनो की मैत्री कायम नहीं रह पाती। दूध का उपकारी इस प्रकार एक मात्र जल ही है। हमें सोचना चाहिये कि जब दूध और जल में मैत्री हो सकती है तो हम मनुष्यो मे परस्पर मैत्री भाव सहयोगी भाव नहीं रह सकता। रहना चाहिये।

वर्तमान में विभिन्न प्रकार के यान तीव्रगति से अतरिक्ष मे प्रक्षेपित किये जाते है और वे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण कक्षा से बाहर निकलकर अतरिक्ष मे प्रवेश कर लेते हैं। यह क्षमता पुद्‌गल के पास है। इसे हम विज्ञान की प्रगति और उन्नति मानते हैं तो क्या हम ऐसे धार्मिक आयोजनो के माध्यम से अपने जीवन को सवेगवान व सयमित करके अपने भावो को उज्ज्वल बनाकर के मोह की कक्षा से अपने आप को ऊपर नहीं उठा सकते। जो महान् आत्माये अपने भावो की उज्ज्वलता और तपस्या के प्रभाव से अनतकाल के लिये मोह की कक्षा से ऊपर उठ गयी हैं उनका स्मरण अवश्य करना चाहिये और उन्हे अपना आदर्श मानकर अपने जीवन का कल्याण करना चाहिये।

अत मे यही भावना करता हूँ कि–

यही प्रार्थना वीर से
अनुनय से कर जोड़।
हरी भरी दिखनी रहे
धरती चारों ओर।

□□

❑ प्रवचनामृत

फिरोजाबाद नगर मे पावन वर्षायोग (१९७५) के दौरान आयोजित धर्मसभा मे सोलहकारण भावनाओ पर हुए प्रवचनो का सग्रह।

सकलन - प्रो. जगरूपसहाय जैन;

सपादन - प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन;

प्रकाशन - प्रबघ समिति चन्दप्रभ; दिगम्बर जैन मंदिर, फिरोजाबाद

पहली बार - १९७५, द्वितीय एव तृतीय सस्करण (१९८६ व ८८)

श्री मुनिसघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर (म.प्र.)

❑ गुरुवाणी

जयपुर नगर मे आयोजित धर्मसभा मे हुए प्रवचनो का सग्रह।

सपादिका - प्रीति जैन;

प्रकाशन - गुरुवाणी प्रकाशन, ११३०, महावीर पार्क रोड,

जयपुर (राज.),

पहली बार - १९७९

द्वितीय संस्करण - १९९४.

❑ प्रवचन पारिजात

जैन तीर्थ स्थल नैनागिरि मे वर्षावास (१९७८) के दौरान आयोजित सप्त दिवसीय धर्मसभा मे सात तत्त्वो पर हुए प्रवचनो का संग्रह

प्रस्तुति - वीरेन्द्र सिघई (वर्तमान मुनि. श्री क्षमासागर),

प्रकाशन - श्री मुनिसघ स्वागत समिति, सागर;

पहली बार - १९८०, द्वितीय सस्करण - १९८२

तृतीय सस्करण - १९८४

❑ प्रवचन पंचामृत

मदनगढ किसनगढ मे पच कल्याणक महोत्सव (१९७९) के अवसर पर आयोजित धर्मसभा मे हुए प्रवचनो का सग्रह ;

सपादन - मुनि श्री क्षमासागर,

प्रकाशन - मूलचन्द लुहाड़िया, लुहाडिया सदन,

जयपुर रोड, मदनगज, किसनगढ (राज.) पहली बार १९९१.

❑ प्रवचन प्रदीप

दुर्ग राजनांदगाँव (१९८४) आदि स्थानो पर आयोजित धर्मसभा मे हुए प्रवचनों का संग्रह।

संपादन - मुनि श्री समतासागर एवं ऐलक श्री सम्यक्त्वसागर;

प्रकाशन - रजकण प्रकाशन, आनंद लॉज, टीकमगढ (म.प्र.);

पहली वार - १९८७.

❑ प्रवचन पर्व

जैन तीर्थ क्षेत्र आहारजी में दशलक्षण पर्व (१९८५) पर आयोजित धर्मसभा में दशधर्मो पर हुए प्रवचनो का संग्रह;

सपादन - मुनि श्री क्षमासागर एवं ऐलक श्री अभयसागर;

प्रकाशन - श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर (म.प्र.);

पहली बार - १९९३

❑ पावन प्रवचन

कलकत्ता, जयपुर एव खुरई नगर मे विशिष्ट अवसरो पर आयोजित धर्मसभा मे हुए तीन विशिष्ट प्रवचनों का संग्रह।

संपादन - मुनिश्री समतासागर एव ऐलक श्री सम्यक्त्व सागर;

प्रकाशन - रजकण प्रकाशन, आनद लॉज, टीकमगढ (म.प्र.),

पहली बार - १९८६;

द्वितीय सस्करण - नया बाजार, दिगम्बर जैन मदिर, ग्वालियर (म.प्र.) १९९४

❑ प्रवचन प्रमेय

सागर के समीपवर्ती ग्राम केसली में आयोजित गजरथ महोत्सव (१९८६) के अवसर पर आध्यात्मिक प्रवचनो का सग्रह।

प्रस्तुति - राकेश जैन, जबलपुर;

प्रकाशन - ज्ञानोदय प्रकाशन जबलपुर;

पहली बार - १९८७

❑ प्रवचनिका

सागर नगर मे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा गजरथ महोत्सव (१९९२) के अवसर पर आयोजित धर्मसभा मे पंच-कल्याणक पर हुए प्रवचनो का सग्रह।

सपादन - मुनि श्री क्षमासागरजी;

प्रकाशन - स्मृति (गजरथ स्मारिका) प्रकाशन, सागर

समग्र ४ परिशिष्ट

■ **प्रवचनामृत -**

प्रथम सस्करण — १६७५
प्रकाशक — प्रबन्ध समिति श्री चन्द्रप्रभ दिग जैन
मन्दिर, फीरोजाबाद

■ **प्रवचन - पारिजात -**

प्रथम सस्करण — १६८०
द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ
प्रकाशन — श्री मुनिसघ स्वागत समिति सागर (म प्र)

■ **गुरुवाणी -**

प्रथम सस्करण १६७६
गुरुवाणी प्रकाशन, ११३० महावीर पार्क रोड
जयपुर (राज)
द्वितीय सस्करण

■ **प्रवचन - प्रमेय -**

प्रथम सस्करण १६८७
ज्ञानोदय प्रकाशन, लार्डगज, जबलपुर (म.प्र)

■ **प्रवचन - प्रदीप -**

प्रथम सस्करण १६८७,
द्वितीय सस्करण १६६१
रजकण प्रकाशन, टीकमगढ (म प्र)

■ **प्रवचन पंचामृत -**

प्रथम सस्करण १६६१
प्रकाशक — मूलचद लुहाडिया, जयपुर रोड
मदनगज — किसनगढ (राज)

■ **प्रवचन पर्व - प्रथम संस्करण १६६४,**

द्वितीय सस्करण १६६५
प्रकाशन — श्री मुनिसघ स्वागत समिति सागर (म.प्र)

समग्र/४/६१८

■ **पावन प्रवचन -**

प्रथम सस्करण १९९४
प्रकाशन – नया बाजार मदिर, ग्वालियर (म प्र)

■ **प्रवचनिका -**

प्रथम सस्करण, १९९६
प्रकाशन – श्री मुनिसघ स्वागत समिति,
सागर (म प्र)

■ **प्रवचन - संग्रहों से निकालकर पृथक-पृथक प्रकाशित किये गये प्रवचन -**

१ डबडबाती आँखे – ११ अगस्त ८५ आहार जी क्षेत्र
२ अपर नाम – मानवता (प्रवचन प्रदीप)
३ जैनदर्शन का हृदय – १६ जून ८० सागर
अपरनाम – अनेकान्त (प्रवचन प्रदीप)
४ जयन्ती से परे – ३ अप्रेल ८५ खुरई
अपरनाम – अतिम तीर्थकर भगवान महावीर (पावन – प्रवचन)
५ ब्रह्मचर्य चेतन का भाग – (गुरुवाणी)
६ आत्मानुभूति ही समयसार है (गुरुवाणी)
७ मूर्त से अमूर्त की ओर – (गुरुवाणी)
८ मर हम, मरहम बने – मार्दव धर्म (प्रवचन – पर्व)
९ भक्त का उत्सर्ग/परम – पुरुष भगवान हनुमान।
(पावन – प्रवचन)
१० भोग से योग की ओर (प्रवचन – प्रदीप)
११ व्यामोह की पराकाष्ठा / व्यामोह (प्रवचन – प्रदीप)
१२ मानसिक सफलता (प्रवचन – प्रदीप)
१३ प्रवचन पीयूष (प्रवचनामृत १–२)
अनेकान्त प्रवचनामृत – (प्रवचनामृत के साथ अनेकान्त वाला प्रवचन जोडकर प्रकाशित किया गया सग्रह)
१४ सागर मथन – प्रवचनामृत, पावन – प्रवचन एव अन्य प्रथक् – प्रथक् प्रकाशित प्रवचनो का सग्रह
१५ सर्वोदय – प्रवचन सग्रह –(वीर विद्या सघ गुजरात से प्रकाशित विविध प्रवचन सग्रहो का सेट)